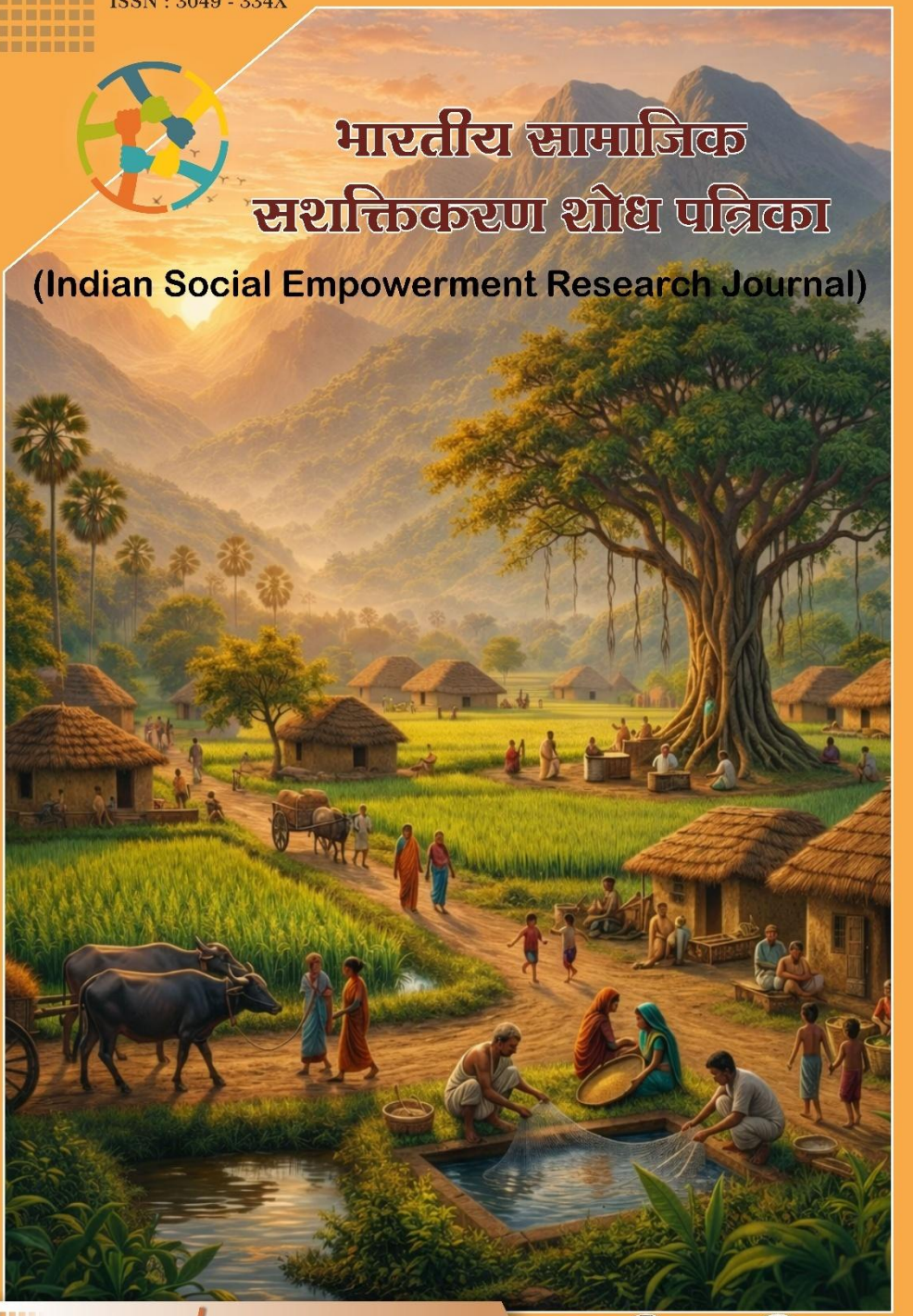
ISSN : 3049 - 334X

भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका

(Indian Social Empowerment Research Journal)



Volume : 02 Issue : 03 - September - December 2025 E - Journal

प्रधान संपादक / श्री प्रेमकुमार नाईक

https://samajiksashakteekaran.org.in

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका
(Indian Social Empowerment Research Journal)

वर्ष 02, अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025
विषय: सामाजिक विज्ञान ई – पत्रिका

प्रधान संपादक : (Chief Editor)

श्री प्रेमकुमार नाईक
अध्यक्ष : सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था वर्धा, महाराष्ट्र

सहायक संपादक (Executive editor)

डॉ. नरेश कुमार गौतम
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाज कार्य विभाग
श्री रावतपुरा सरकार विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ़

संपादक मंडल (Editorial Board)

डॉ. अमित राय
एसोसिएट प्रोफेसर, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी
विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ . शम्भू जोशी
एसोसिएट प्रोफ़ेसर, दूर शिक्षा निदेशालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी
विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. आमोद गूजर
असिस्टेंट प्रोफेसर, मातृ सेवा संघ
सामाज कार्य संस्थान, नागपुर, महाराष्ट्र

डॉ. विनोद जी. गजघाटे
प्राचार्य, डॉ. आम्बेडकर इंस्टीट्यूट
ऑफ सोशल वर्क नागपूर, महाराष्ट्र

डॉ. मिलिंद सवाई
प्राचार्य, डॉ. आंबेडकर कॉलेज
ऑफ सोशल वर्क वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. चित्रा माली
असिस्टेंट प्रोफेसर, कोलकाता केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

सहकर्मी समीक्षा समिति और सलाहकार बोर्ड/ समिति
(Peer Review Committee And Advisory Board)

प्रो. बंशीधर पाण्डेय
समाज कार्य विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

प्रो. विवेक कुमार सिंह
सेंटर फॉर सोशल वर्क, प्रो. राजेंद्र सिंह
(रज्जू भैया) विश्वविद्यालय, प्रयागराज उत्तर प्रदेश

प्रो. रमेशकुमार एच. मकवाना
समाजशास्त्र विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय,
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात (भारत)

प्रो. दीपा मिलिंद बलखंडे
मनोविज्ञान विभागाध्यक्ष,, श्रीमती बिंजानी महिला
महाविद्यालय, नागपुर (राष्ट्रसन्त तुकडोजी महाराज
नागपुर विश्वविद्यालय) महाराष्ट्र

डॉ. सुप्रिया पाठक
एसोसिएट प्रोफ़ेसर, स्त्री अध्ययन विभाग, प्रयागराज केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार तिवारी
सहायक प्रोफेसर, समाज कार्य विभाग, प्रयागराज केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

डॉ. सरोज कुमार ढल
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश

डॉ. गजानन निलामें
असिस्टेंट प्रोफेसर, वर्धा समाज कर्या संस्थान
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा

डॉ. माधुरी हरिभाऊ झाडे
असिस्टेंट प्रोफेसर, डॉ. आंबेडकर कॉलेज ऑफ
सोशल वर्क वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ.जोंगदंड शिवाजी रघुनाथराव
असिस्टेंट प्रोफेसर, वर्धा समाज कर्या संस्थान
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

डॉ. हिना एच. खान
असिस्टेंट प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष, PGTD
मनोविज्ञान, (राष्ट्रसन्त तुकडोजी महाराज नागपुर
विश्वविद्यालय) महाराष्ट्र

डॉ. शिरिष मा. सुतार
असिस्टेंट प्रोफेसर, श्री कृष्णदास जाजू ग्रामीण सेवा
महाविद्यालय पिपरी वर्धा (राष्ट्रसन्त तुकडोजी
महाराज नागपुर विश्वविद्यालय) महाराष्ट्र

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

व्यक्तिगर और संस्थागत सदस्यता

- **वार्षिक सदस्यता**
  (Annual Subscription) Rs. 600
- **द्विवार्षिक सदस्यता**
  (Biennial Subscription) Rs. 1200
- **त्रिवर्षीय सदस्यता**
  (Three Year Subscription) Rs.1800
- **पंचवर्षीय सदस्यता**
  (five year Subscription) Rs. 3000

बैंक खाता विवरण

State Bank of India Wardha
(Maharashtra)
Account Name :
samajik sashakteekaran
sasthan(ngo)

- **Account No. 41851337167**

IFSC No. SBIN0000500

प्रकाशन

सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था वर्धा, महाराष्ट्र
(कपिल वस्ती, सुतगिरणी ले आउट वरूड वर्धा, महाराष्ट्र)
Social Empowerment Multipurpose Organization Wardha, Maharashtr
(Kapil Vasti, Sutgirni Layout Warud Post Sevagram, Wardha,
Maharashtra Pin-442102)

Home Page : http://samajiksashakteekaran.org.in

E-mail : ise.researchjournal@gmail.com

Mobile number : 9130331541, 9960331541

About the Journal:-
https://samajiksashakteekaran.org.in/abouttheJournal

Editorial Board :-
https://samajiksashakteekaran.org.in/editorialboar

Published issues:-
https://samajiksashakteekaran.org.in/publishedissues

Hyperlink:-
https://samajiksashakteekaran.org.in/hyperlink

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका

(Indian Social Empowerment Research Journal)

परिचय

'भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका' ऑनलाइन, पीयर-रिव्यूड (सहकर्मी-समीक्षित) एवं रेफर्ड (संदर्भित) बहुभाषिक शोध पत्रिका है, जिसका प्रकाशन हिंदी, अंग्रेज़ी और मराठी भाषा में किया जाता है। यह सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था, वर्धा, महाराष्ट्र द्वारा वर्ष 2024 से नियमित रूप से प्रकाशित की जा रही है।

पत्रिका का उद्देश्य सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में उत्कृष्ट, नवाचारपरक और समाजोपयोगी शोध को प्रोत्साहित करना है। यह मंच सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, प्रशासनिक तथा सामुदायिक स्वास्थ्य से जुड़े विभिन्न आयामों पर केंद्रित शोध कार्यों, आलेखों एवं समीक्षाओं के माध्यम से ज्ञान के प्रचार-प्रसार, विचारों के आदान-प्रदान और सामाजिक जागरूकता को प्रोत्साहित करता है।

हमारी दृष्टि

पत्रिका का मूल उद्देश्य समाज के विविध पक्षों को समझने, विश्लेषित करने और सकारात्मक बदलाव हेतु संवाद की संस्कृति को विकसित करना है। यह प्रयास न्यायसंगत, समावेशी और संवेदनशील समाज की दिशा में एक वैचारिक पहल है, जो ज्ञान के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन और जनजागृति को बढ़ावा देती है।

उद्देश्य

- नवीन शोध कार्यों और वैचारिक लेखन को प्रोत्साहन देना।
- शैक्षणिक, सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक विषयों पर संवाद स्थापित करना।
- सामाजिक वैज्ञानिकों, शोधार्थियों, शिक्षकों, नीति-निर्माताओं एवं पाठकों को एक साझा मंच उपलब्ध कराना।
- सिद्धांत और व्यवहार के मध्य सेतु निर्माण कर, समाज में ज्ञान आधारित हस्तक्षेप को संभव बनाना।

पत्रिका में निम्न प्रकार की विषयवस्तु आमंत्रित की जाती है:

- सामाजिक विज्ञान विषयों पर मौलिक शोध-पत्र
- अवधारणात्मक या विश्लेषणात्मक आलेख

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

- पुस्तक समीक्षाएँ
- नीति एवं कार्यक्रम आधारित समीक्षा लेख
- क्षेत्रीय अध्ययन व केस स्टडी

प्रकाशन नीति

प्राप्त सभी लेखों की पूर्ण रूप से समीक्षा की जाती है। पत्रिका गुणवत्तापूर्ण, प्रासंगिक और शोध की दृष्टि से समृद्ध सामग्री के प्रकाशन हेतु प्रतिबद्ध है।

'भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण' पत्रिका का प्रयास है कि समाज के विभिन्न वर्गों, विद्यार्थियों, शोधार्थियों, शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा आम नागरिकों को एक साथ जोड़ते हुए विचार-विमर्श की एक सकारात्मक, ज्ञान-संपन्न और संवेदनशील संस्कृति को विकसित किया जाए, जिससे समाज को नई सोच, नया दृष्टिकोण और नई दिशा प्राप्त हो सके।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

संपादकीय

भारतीय समाज एक जटिल और बहुरंगी संरचना है, जो सदियों से अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ बना है। इस समाज के निर्माण में स्त्रियों की चुप्पी और उनके छोटे-छोटे प्रतिरोध, जनजातीय समुदायों की सांस्कृतिक दृढ़ता, वृद्धों के अनुभवों का भंडार, दलितों की बराबरी की आकांक्षा और लोकसंस्कृति के माध्यम से अभिव्यक्त जनचेतना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इतिहास की मुख्यधारा ने इन सभी आवाज़ों की भूमिका को या तो सीमित किया है या पूरी तरह नज़रअंदाज़ किया है। उपनिवेशकाल में सत्ता के औजारों ने इन स्वरों को दबाया और स्वतंत्रता के बाद भी लोकतांत्रिक संस्थाएं इन समूहों को समाज की मुख्यधारा में बराबरी के साथ शामिल नहीं कर सकीं। इसका परिणाम यह हुआ कि असमानता की खाई और गहरी होती गई, और समाज का नैतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक संतुलन भी डगमगाने लगा।

आज यह ज़रूरी हो गया है कि समाज के विमर्शों में, चाहे वह नीति-निर्माण हो, समाज कार्य हो, साहित्य हो, शिक्षा हो या मीडिया। इन सभी उपेक्षित आवाज़ों को केंद्र में लाया जाए। स्त्रियों के संघर्षों को महज करुणा के रूप में नहीं, बल्कि परिवर्तन की ताकत के रूप में समझा जाए। जनजातीय जीवन को 'पिछड़ेपन' की निगाह से नहीं, बल्कि उनके पारंपरिक ज्ञान, जीवनशैली और पर्यावरण संतुलन की दृष्टि से देखा जाए। वृद्धजनों को समाज का बोझ नहीं, बल्कि अनुभव और मार्गदर्शन का स्रोत माना जाए। दलित और आदिवासी चेतना को केवल आरक्षण के संदर्भ तक सीमित न रखकर, उनके विचार और जीवन-दृष्टि को समाजिक संवाद का हिस्सा बनाया जाए। लोकसंस्कृति को केवल प्रदर्शन और उत्सव की वस्तु नहीं, बल्कि जनसंघर्ष और सामाजिक चेतना के माध्यम के रूप में स्थापित किया जाए।

समकालीन समय में जब समाज वैश्वीकरण, तकनीकी विकास और उपभोक्तावाद की दौड़ से गुजर रहा है, तो यह और भी ज़रूरी हो गया है कि हम करुणा, मानवीयता और सामाजिक न्याय को पुनः केंद्र में रखें। समाज कार्य को केवल सेवा या कल्याण के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में विकसित किया जाए। साहित्य को केवल सौंदर्यबोध तक सीमित न रखते हुए, समाज की वास्तविकताओं का आईना बनाया जाए। शिक्षा को केवल जानकारी का माध्यम न मानकर, मूल्य आधारित समाज निर्माण का उपकरण समझा जाए।

समाज, संघर्ष और संवेदना: ये तीनों केवल विचार नहीं, बल्कि वे ताकतें हैं जो किसी भी समाज को जीवंत, बराबरी पर आधारित और न्यायपूर्ण बनाती हैं। वर्तमान समय की सबसे बड़ी मांग यह है कि हम

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

इतिहास की उन धाराओं को मुख्यधारा में स्थान दें जिन्हें अब तक हाशिए पर रखा गया है। यह सिर्फ उपेक्षित अनुभवों को दर्ज करने की बात नहीं है, बल्कि उन्हें दिशा, सम्मान और दायित्व देने की प्रक्रिया है। यही वह आधार है जिस पर एक नया, समावेशी और न्यायपूर्ण भारत खड़ा हो सकता है। जहाँ नीति, विचार, संघर्ष और संवेदना मिलकर एक मानवीय समाज की संरचना करें। मगर यह विडंबना है कि आज राजनीति और कुछ सामाजिक शक्तियां समाज को जोड़ने के बजाय अपने स्वार्थों के लिए उसे बांटने में लगी हैं। इस प्रवृत्ति को बदलना होगा और एक ऐसे समाज की ओर बढ़ना होगा जहाँ हर आवाज़ सुनी जाए, हर अनुभव का सम्मान हो और हर व्यक्ति को बराबरी का हक़ मिले।भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका



डॉ. नरेश कुमार गौतम
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाज कार्य विभाग
श्री रावतपुरा सरकार विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ़

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भारतीय सामाजिक सशक्तिकरण शोध पत्रिका

(Indian Social Empowerment Research Journal)

ISSN: 3049-334X वर्ष 02, - अंक 3 सितंबर – डिसेंबर 2025

अनुक्रमणिका

अ.क्र.		पृष्ठ.क्र.
1.	**Health Status After the COVID-19 Pandemic in India: A Comprehensive Analysis** Dr. Priyanka Thakur, Sunil Kumar	1
2.	**A Study of Digital Literacy and Women Empowerment in India** Dr. Kunjan Pandey, Dr. Raju Patel	12
3.	**Impact Of Emotional Intelligence, Self Efficacy And Psychological Well Being Of Adolescents** Smriti Tripathi	21
4.	**Postural Ergonomics and Biomechanical Challenges in Contemporary Work -From-Home Arrangements** Tulika A. Khare	28
5.	**From Classroom to Cyberspace: Role of Teachers in Social Empowerment** Dr. Abha Gupta	39

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

6. **Parental Well-Being And Law: Investigating The Parenthood Happiness Gap In Indian Context** 53

Dr. Bhanupriya Kumawat

7. **Analyzing The Reasons Behind Inadequate Contraceptive Use In Women: A Sociological Examination In Meerut** 68

Dr. Arshi

8. **IP-Centric Digital Brand Building: How MSMEs Can Legally Protect Their Name, Logo, Content & Online Identity** 90

Dr. Kavyani Kumawat

9. **Social Justice in Modern India: From Constitutional Promise to Transformative Politics** 113

Dr. Nirmala Kumari

10. **Cycles of Deprivation: Period Poverty and Gender Inequality in Jharkhand** 120

Pallavi Sarkar

11. **Discrimination of Persons with Disabilities at Workplace and Participation in the Gig Economy in India** 132

Shiv Kumar Gupta

12. **Improving Support Systems For Return Migrants During Covid-19: A Sociological Perspective** 142

Dr. Anurag, Dr. Sujit Payla

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

13. **Livelihood Obstacles And Constraints Of Transgender People: Miles Away From Social Inclusion** 156
Dr. Aruna Kumari, Saif Ali

14. **Nurturing Innovation And Growth In Learning And Development: Relevance Of Kautilya Arthashastra** 176
CS Dr. Chetan V. Gandhi

15. **Help Provided To Return Migrants During And After Return Covid-19: A Sociological Study** 189
Dr. Sujit Payla, Dr. Anurag

16. **जल जीवन मिशन : ग्राम्य जल उपलब्धता की स्वदेशी परियोजना** 203
डॉ.अमित राय

17. **उपनिवेशवाद और महिला आंदोलन में भीकाजी कामा का योगदान, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में स्त्री शक्ति की भूमिका** 212
कु. सोनम

18. **आयुर्वेद और भारतीय चिकित्सा पद्धतियों की अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति** 221
अभिषेक द्विवेदी

19. **1942 के आंदोलन में सातारा (महाराष्ट्र) में घटित प्रति-सरकार : एक ऐतिहासिक जनआंदोलन की पृष्ठभूमि** 228
प्रविण दामोधरराव कोल्हे

20. **भारत में आयुर्वेद चिकित्सा : एक सूक्ष्म अवलोकन** 235
डॉ. विनय कुमार पटेल

21. **वैश्विक परिस्थितियों में उभरता हुआ भारत** 246
डॉ. सर्वेश्वर उपाध्याय

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

22. **भारतीय संविधान में मानव अधिकारों का विकास : विश्लेषणात्मक अध्ययन** 259

डॉ. श्वेता श्रीवास्तव

23. **परिवार विधि के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी समझौते: विधिक जटिलताएँ, चुनौतियाँ एवं संरक्षणात्मक तंत्र** 267

डॉ. शिल्पा मिश्रा

24. **भारत में शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता: नियामक संस्थाओं की भूमिका** 276

डॉ. शशिकांत त्रिवेदी

25. **भारतीय समाज में महिलाओं की धार्मिक स्थिति तथा भूमिका का सूक्ष्म अध्ययन** 284

सत्यार्थ सिंह, डॉ. मनोहर बी. येरकलवार

26. **एकात्म मानववाद दर्शन के हेतु में दलित उत्थान की संभावनाएं : एक समीक्षा** 293

अमर्त्य उपाध्याय

27. **बाबू जगजीवन राम का दलित विमर्श एवं स्वाधीनता संग्राम में योगदान** 301

अंकित सिंह

28. **दिव्यांग व्यक्ति और समाज : चयनित हिंदी कहानियों के संदर्भ में** 307

सुमय्या एस

29. **भारत उद्भूत धर्म और परंपराएं (नरेंद्र कोहली कृत 'अभ्युदय', 'महासमर' तथा 'तोड़ो कारा तोड़ो उपन्यासों के विशिष्ट संदर्भ में)** 313

तरुण किशोर नौटियाल

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

30. **भारतीय साइबर सुरक्षा से संबंधित मुद्दे: चुनौतियां और संभावनाएं एक सामाजिक अध्ययन** 321

किरण बिलोनिया

31. **हिंदी कहानी में अभिव्यक्त पुरुषों की मानवीय संवेदना (चयनित कहानियों के विशेष सन्दर्भ में)** 330

आतिश कुमार विश्वकर्मा

32. **उत्तराखंड की भोटिया जनजाति: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन** 338

राजपाल सिंह

33. **न्यायालय एवं विधिक अधिकारों में महिलाओं की भूमिका एक विधिक विश्लेषण** 347

डॉ. फूल चंद सैनी

34. **नगर पंचायत स्तर पर ठोस अपशिष्ट उत्पादन और उसके स्वास्थ्य-पर्यावरणीय प्रभाव : जिला राजनांदगांव का एक अध्ययन** 353

डॉ. छोटे लाल साहू

35. **"सांस्कृतिक सक्षमता के निर्माण में खादी की भूमिका"**

डॉ. स्नेहा कुमारी, डॉ.राजन प्रकाश

36. **साहित्य में स्त्री-अस्मिता विमर्श एवं यथार्थ स्थिति** 372

पूनम दीक्षित

37. **विहार और उत्तर प्रदेश की कुछ जिले की रामलीला का सामान्य अध्ययन** 379

मौसुमि दोलइ

38. **खेती से स्टार्टअप तक: ग्रामीण महिलाओं की बदलती भूमिका और विकसित भारत की संकल्पना** 387

डॉ. प्रीति

39. **जवाहर नवोदय विद्यालय में अध्ययनरत विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताएँ (विशेष संदर्भ: जवाहर नवोदय विद्यालयए वाराणसी उत्तर प्रदेश का एक अध्ययन)** 394
नंदलाल मौर्य

40. **उत्तराखंड की थारू जनजाति: एक समाजशास्त्रीय परिचय** 403
राजू

41. **An Analytical Study of Cyber Crime and Related Laws in India with Special Reference to Banking Frauds** 412
Arvind Kumar, Dr. Phool Chand Saini

42. **Social Capital and Empowerment of Marginalized Communities in India** 423
Dr. Sonia Rajoria

43. **'सेवाग्राम आश्रम: राष्ट्र के पुनर्निर्माण हेतु महात्मा गांधी की रचनात्मक प्रयोगशाला'** 445
डॉ. प्रिंस कुमार सिंह

44. **वर्तमान परिदृश्य में भारतीय युवाओं में मानवीय मूल्यों का संकट: मूल्य आधारित शिक्षा** 459
सुनील पटेल

45. **घुमंतू समाज की शैक्षणिक स्थिती, समस्या एवं समाजकार्य हस्तक्षेप** 465
प्रतीक रमेश पावडे

46. **वर्तमान में प्रदर्शित फिल्मों एवं वेब सीरीज़ों का युवाओं पर पड़ने वाले प्रभावों का एक अध्ययन** 473
डॉ.दुर्गेश्वर मधुकर साठवणे

47. **स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओं की सक्रियता का चिकित्सक अध्ययन : भंडारा जिले के विशेष संदर्भ में** 483
आकाश थानथराटे

48. **भाजपा सरकार की नीतियाँ और जनजातीय समाज का सामाजिक-आर्थिक विकास** (2014-2025): **एक विस्तृत समालोचनात्मक अध्ययन** 491
नागसेन शामराव पुंडगे

49. **Social Support and Stress Management: The Role of Social Psychology in Promoting Mental Health** 501
Harshita Jain, Dr Ratna Dixit Sharma

50. **Digital Devotion: The Influence of Online Platforms on Youth Religious Identities in Contemporary India** 510
Arzoo, Swalika chaturvedi

51. **Study on impact of social media on life satisfaction and body image perception among lawyers** 538
Dr. Rajeev Misra

52. **पहचान बनाम विकास : आधुनिक लोकतंत्र में प्राथमिकताओं का संघर्ष** 556
डॉ. सुमीत कुमार गुप्ता

53. **दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि और शैक्षिक आकांक्षाओं का अध्ययन** 575
डॉ.पूजा कुमारी शाह, डॉ.हेमचंद्र लक्ष्मणराव ससाने

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

54. **जननायक कर्पूरी ठाकुर सामाजिक न्याय की राजनीति का शिल्पकार** 585

डॉ. गणेश कुमार कोशले

55. **पश्चिमी उत्तर प्रदेश के स्थानीय नेताओं का स्वतंत्रता संग्राम में योगदान: एक सूक्ष्म-ऐतिहासिक अध्ययन** (1915–1947) 595

मुकुल सैनी

56. **From Untouchables to Dalits: The Political Construction of Dalit Identity in Modern India** 603

Krishna Mohan Upadhyaya

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Health Status After the COVID-19 Pandemic in India: A Comprehensive Analysis

Dr. Priyanka Thakur
Assistant Professor
Government Mahamaya College,
Ratanpur, Bilaspur, Chhattisgarh

Sunil Kumar
Research Scholar,
Department of Social Work
Guru Ghasidas Vishwavidyalaya,
Bilaspur, Chhattisgarh

Abstract

The COVID-19 pandemic has had an unprecedented impact on the health status of populations worldwide. In India, the pandemic not only challenged the country's healthcare infrastructure but also left long-lasting effects on the physical, mental, and social well-being of its citizens. This research paper examines the multifaceted health outcomes in India following the COVID-19 pandemic. By synthesizing findings from academic literature, government reports, and international agency publications, this study assesses both the immediate and long-term health consequences of the pandemic. Key issues discussed include the resurgence of non-communicable diseases, mental health challenges, changes in healthcare delivery, and the transformation of public health policies. The paper concludes with recommendations for strengthening the healthcare system, addressing mental health needs, and enhancing policy coordination to build resilience against future public health crises.

Keywords: COVID-19, Health Status, India, Public Health, Mental Health, Healthcare Infrastructure, Pandemic Recovery

Introduction

The outbreak of COVID-19 in early 2020 brought global disruption, placing enormous strain on healthcare systems and altering the health landscape of nations. India, with its vast and diverse population, experienced significant challenges during the pandemic, ranging from acute shortages in hospital beds and oxygen supplies to the rapid adoption of digital health services. As the country transitions into the post-pandemic phase, understanding the residual impact on health status has become imperative for policymakers, healthcare providers, and researchers.

Beyond the direct toll of the virus, the COVID-19 pandemic has triggered profound changes in healthcare access, disease management, and public mental health. Lockdowns, social isolation, economic uncertainty, and changes in lifestyle have contributed to an array of secondary health outcomes. The pandemic has also exposed pre-existing gaps in the health system, particularly in the management of non-communicable diseases (NCDs) and mental health services. This paper aims to offer a comprehensive analysis of health status in India following the COVID-19 pandemic by reviewing existing literature, analyzing secondary data, and discussing policy implications for the future.

Literature Review

The Direct Health Impact of COVID-19

India recorded millions of COVID-19 cases and hundreds of thousands of deaths during the peak waves of the pandemic. Research by Kumar et al. (2021) demonstrated that the virus had a disproportionate impact on older adults and those with pre-existing conditions. In addition, the strain on critical care resources led to challenges in managing not only COVID-19 but also other acute health

emergencies. Early studies reported that delays in treatment and overburdened facilities contributed significantly to excess mortality (Gupta & Singh, 2020).

Secondary Health Outcomes

As healthcare resources were diverted to manage the crisis, routine care for chronic diseases was disrupted. Multiple studies (Reddy et al., 2021; Patel et al., 2021) indicate that the interruption in care for conditions such as diabetes, hypertension, and cardiovascular diseases resulted in worsened health outcomes. Moreover, the postponement of elective procedures and screenings has raised concerns about long-term morbidity and mortality trends in India.

Mental Health and Psychosocial Impact

The psychological consequences of the pandemic have been a critical area of research. Studies have documented a surge in anxiety, depression, and post-traumatic stress disorder (PTSD) among various population groups, including frontline healthcare workers, patients, and the general public (Sharma & Verma, 2021). Lockdowns, job losses, and social isolation have contributed to the deterioration of mental well-being, with rural and marginalized populations often facing greater barriers to accessing mental health care.

Changes in Healthcare Delivery and Policy

The pandemic accelerated the adoption of telemedicine and digital health technologies. Research by Joshi et al. (2021) found that telehealth services increased significantly, offering a viable alternative for routine consultations during periods of restricted mobility. Simultaneously, the government introduced several reforms aimed at improving public health infrastructure and preparedness for future pandemics. However, implementation challenges remain, particularly in ensuring equitable access across urban and rural areas.

Long-Term Socio-Economic Effects

The health impact of the pandemic is inextricably linked with its socio-economic fallout. Loss of income, food insecurity, and reduced access to education have all contributed to adverse health outcomes, especially among vulnerable groups (Banerjee & Kumar, 2021). Studies emphasize that a holistic approach is necessary to address the intertwined challenges of economic recovery and public health improvement.

Objective

1. To examine the overall health status of the Indian population in the post-COVID-19 period.
2. To analyze the impact of the COVID-19 pandemic on healthcare delivery systems in India.
3. To assess the socio-economic and policy-related factors influencing post-pandemic health outcomes.

Methodology

Research Design

This study employs a qualitative research design based on a comprehensive review of secondary data. The methodology involves synthesizing information from academic journals, government reports, and publications from international agencies. This mixed-source approach allows for a multi-dimensional understanding of the health status in India after the COVID-19 pandemic.

Data Sources

Key data sources for this research include:

Academic Journals and Books: Peer-reviewed articles and scholarly texts that provide empirical data and theoretical frameworks on COVID-19's impact.

Government Reports: Publications from the Ministry of Health and Family Welfare, National Family Health Survey (NFHS) reports, and state-level evaluations offer statistical insights into health outcomes.

International Agency Publications: Reports from the World Health Organization (WHO), United Nations Development Programme (UNDP), and other global health organizations provide comparative perspectives and policy recommendations.

Case Studies and News Articles: Documented experiences and case studies of healthcare facilities and communities illustrate the lived impact of the pandemic.

Data Analysis

Data were analysed thematically by categorizing the literature into core topics: direct COVID-19 impact, secondary health outcomes, mental health consequences, healthcare delivery transformations, and socio-economic influences. Comparative analysis was employed to identify variations between different regions and population groups within India. The synthesis of quantitative and qualitative data provided a comprehensive perspective on post-pandemic health status.

Limitations

This study is based on secondary data and is therefore limited by the availability and quality of published sources. Regional disparities in data collection and reporting may affect the generalizability of findings. Nonetheless, by integrating diverse sources, this paper aims to provide a robust overview of the multifaceted impact of COVID-19 on health in India.

Findings

Direct Impact and Immediate Health Outcomes

During the peak waves of COVID-19, India experienced significant morbidity and mortality. Data from the Ministry of Health and Family Welfare (2020) reveal

that COVID-19 was particularly lethal among the elderly and those with co-morbidities. Hospitals in major cities faced severe shortages of ICU beds and oxygen, leading to critical delays in treatment. Gupta and Singh (2020) estimate that the direct mortality rate exceeded official figures due to under-reporting and overwhelmed health systems.

Disruption of Routine Healthcare Services

The pandemic led to widespread disruption in routine healthcare services. Regular outpatient services, preventive screenings, and elective surgeries were postponed or canceled, resulting in unintended consequences for patients with chronic diseases. Reddy et al. (2021) reported that many individuals with conditions like diabetes and hypertension experienced deterioration in their health status due to reduced access to care. Additionally, vaccination programs and maternal healthcare services faced interruptions, posing risks for long-term public health.

Mental Health and Psychosocial Well-Being

Mental health emerged as a critical area of concern in the post-pandemic phase. A surge in anxiety, depression, and stress has been documented in both urban and rural areas. Sharma and Verma (2021) found that the psychological burden of prolonged isolation, fear of infection, and economic uncertainty significantly impacted mental health. Frontline workers and survivors of severe COVID-19 also exhibited signs of PTSD and burnout. The stigma associated with mental health issues, compounded by limited mental health infrastructure, exacerbated these challenges.

Transformation in Healthcare Delivery

In response to the pandemic, the Indian healthcare system rapidly adopted digital health technologies. Telemedicine services expanded dramatically, facilitating remote consultations and reducing the risk of virus transmission. Joshi et al. (2021) noted that telehealth not only helped manage routine care during lockdowns but

also provided a model for addressing healthcare access in remote areas. However, disparities in digital literacy and internet connectivity have limited the reach of these services, particularly among the elderly and low-income populations.

Impact on Non-Communicable Diseases and Preventive Health

The reallocation of healthcare resources to manage COVID-19 had a knock-on effect on the management of non-communicable diseases (NCDs). Delayed diagnoses and treatment interruptions have contributed to a potential rise in the incidence and severity of conditions such as cardiovascular diseases, cancers, and respiratory illnesses (Patel et al., 2021). The pandemic underscored the need for robust preventive health strategies and a balanced allocation of resources that address both acute emergencies and chronic health needs.

Socio-Economic Influences on Health Outcomes

The economic fallout from the COVID-19 pandemic has had significant health implications. Loss of employment, reduced income, and food insecurity have contributed to deteriorating nutritional status and overall health, particularly among vulnerable groups (Banerjee & Kumar, 2021). The stress associated with economic instability further compounds mental health challenges. Additionally, disruptions in education and social services have long-term consequences for community health and well-being.

Regional and Demographic Disparities

The impact of the COVID-19 pandemic on health status has not been uniform across India. Urban centers, while initially more affected by high case loads, generally benefited from better healthcare infrastructure and digital connectivity. In contrast, rural areas experienced prolonged service disruptions, limited access to quality care, and a slower recovery process. Data from the NFHS (2020) indicate that rural populations faced higher rates of indirect mortality due to disruptions in maternal and child health services. Furthermore, marginalized communities-often

burdened by pre-existing social and economic disadvantages - suffered disproportionately from both the direct and indirect impacts of the pandemic.

Discussion

The Multifaceted Legacy of COVID-19 on Health

The findings of this study suggest that the COVID-19 pandemic has left a complex legacy on the health status of the Indian population. While the direct impact of the virus was devastating, the indirect effects—stemming from healthcare disruptions, mental health challenges, and socio-economic hardships—are likely to persist for years to come. The interplay between acute infectious disease management and the continuity of chronic and preventive healthcare has emerged as a critical area for policy intervention.

Strengthening Healthcare Systems

The pandemic exposed significant weaknesses in India's healthcare infrastructure, particularly the capacity to respond to emergencies while maintaining routine care. Strengthening primary healthcare networks, increasing the availability of critical care resources, and expanding digital health platforms are essential steps for enhancing resilience. The expansion of telemedicine services, as evidenced by the rapid digital transformation during the pandemic, offers a promising avenue; however, equitable access must be ensured through investments in digital literacy and connectivity, especially in rural and underserved regions.

Addressing Mental Health Needs

The mental health crisis that emerged during the pandemic calls for urgent attention. Integrating mental health services into primary care, expanding community-based support networks, and reducing the stigma associated with mental illness are critical priorities. Innovative approaches, such as digital mental health platforms and tele-counseling, should be scaled up to reach populations that traditionally face barriers to accessing psychological care. Targeted interventions

for frontline workers and COVID-19 survivors, who have borne a disproportionate burden of psychological trauma, are also needed.

Promoting Preventive Health and Managing NCDs

The disruption in routine care during the pandemic has highlighted the need for robust preventive health strategies. Strengthening screening programs, ensuring the continuity of care for chronic conditions, and developing community outreach initiatives are necessary to mitigate the long-term health consequences of delayed treatment. Policies must prioritize the integration of NCD management into emergency preparedness plans so that the health system remains balanced during crises.

Socio-Economic Policies for Health Recovery

The socio-economic fallout from the pandemic has deep implications for public health. Economic recovery programs, including job creation, food security initiatives, and targeted support for vulnerable populations, are critical for restoring community health. By addressing the economic determinants of health, policymakers can help reduce the indirect morbidity and mortality associated with financial and social instability. Cross-sectoral collaboration between health, education, and social welfare departments is essential to implement holistic recovery strategies.

Policy Coordination and Future Preparedness

The experience of COVID-19 has underscored the need for coordinated, adaptive policy frameworks that can respond to multifaceted health crises. Establishing integrated service centers that combine clinical care, mental health support, and social services may improve overall recovery and resilience. Additionally, continuous monitoring and evaluation of policy interventions will be crucial for identifying best practices and areas for improvement. Future research should focus

on longitudinal studies that track health outcomes over time, helping to refine strategies for both recovery and future pandemic preparedness.

Conclusion

The COVID-19 pandemic has had a profound and multifaceted impact on the health status of the Indian population. Beyond the immediate crisis of managing an infectious disease, the pandemic has exposed vulnerabilities in the healthcare system, disrupted routine services, and exacerbated mental health and socio-economic challenges. Although India's rapid adoption of digital health technologies and policy reforms has provided some relief, significant gaps remain—particularly in rural areas and among marginalized communities.

To rebuild a resilient and equitable healthcare system, India must focus on strengthening primary care, integrating mental health services, and ensuring the continuity of preventive and chronic disease management. Addressing the socio-economic determinants of health through targeted recovery programs is equally vital. The lessons learned from the COVID-19 pandemic offer an opportunity to reimagine and reform India's health system to be more responsive, inclusive, and prepared for future public health emergencies.

Ultimately, empowering communities, enhancing public awareness, and fostering multi-sectoral collaboration will be key to improving the health status of the nation. With concerted effort and evidence-based policy interventions, India can not only recover from the pandemic but also build a stronger foundation for future public health and social well-being.

References

1. *Banerjee, P., & Kumar, A. (2021). Socio-Economic Implications of the COVID-19 Pandemic in India. Journal of Economic Studies, 48(3), 465–480.*

2. *Goel, I., Sharma, S., & Kashiramka, S. (2021). Effects of the COVID-19 pandemic in India: An analysis of policy and technological interventions. Health policy and technology, 10(1), 151-164.*
3. *Gupta, R., Pal, S. K., & Pandey, G. (2020). A comprehensive analysis of COVID-19 outbreak situation in India. MedRxiv, 2020-04.*
4. *Gupta, S., & Singh, R. (2020). COVID‑19 and the Strain on India's Healthcare System. Indian Journal of Public Health, 64(2), 123–130.*
5. *Joshi, R., Mehta, S., & Patel, V. (2021). Telemedicine and Digital Health in Post‑COVID‑19 India: Opportunities and Challenges. Journal of Health Informatics, 12(1), 57–70.*
6. *Khera, R. (2015). Women, Health, and Society in India: A Cultural Perspective. New Delhi: Oxford University Press.*
7. *Ministry of Health and Family Welfare, Government of India. (2020). Annual Report 2020‑2021. Retrieved from https://www.mohfw.gov.in.*
8. *Patel, S., & Gupta, P. (2021). The Impact of COVID‑19 on Non‑Communicable Disease Management in India. Asian Journal of Medical Sciences, 12(3), 200–210.*
9. *Reddy, M., Rao, N., & Thomas, P. (2021). Healthcare Disruptions During COVID‑19: Lessons from India's Experience. International Journal of Health Policy, 15(4), 345–360.*
10. *Sharma, A., & Verma, P. (2021). Mental Health in the Wake of COVID‑19: A Study of Psychological Distress Among Indian Populations. Asian Journal of Psychiatry, 55, 102–112.*
11. *Singh, K., Kondal, D., Mohan, S., Jaganathan, S., Deepa, M., Venkateshmurthy, N. S., ... & Eggleston, K. (2021). Health, psychosocial, and economic impacts of the COVID-19 pandemic on people with chronic conditions in India: a mixed methods study. BMC public health, 21(1), 685.*
12. *United Nations Development Programme (UNDP). (2019). Gender Inequality and Health: Global Perspectives. New York: UNDP. Retrieved from https://www.undp.org*

A Study of Digital Literacy and Women Empowerment in India

Dr. Kunjan Pandey
Professor
Department of commerce,
Ashoka School of Business
Varanasi, U.P

Dr. Raju Patel
Assistant Professor
Department of commerce,
Ashoka School of Business
Varanasi, U.P.

Abstract

Digital literacy has emerged as a pivotal driver of socio-economic transformation in the 21st century. In India, where digital technologies increasingly shape access to education, employment, governance, finance, and healthcare, women's ability to benefit from these technologies is central to their empowerment. Despite significant progress in internet and mobile penetration, a stark digital gender divide persists, limiting women's participation in digital economic and social spheres. This paper examines the current state of digital literacy among Indian women, evaluates its impact on empowerment outcomes, and explores recent initiatives aimed at bridging the gendered digital divide. Using evidence from government reports, national surveys, civil society data, and recent program evaluations, the study highlights key barriers and opportunities. The analysis reveals that digital literacy enhances women's confidence, access to formal services, economic opportunities, and civic engagement. However, social norms, digital safety concerns, infrastructural gaps, and unequal access continue to constrain progress. Policy recommendations include expanding gender-sensitive digital skills

programs, promoting safe online environments, and enhancing women's participation in digital decision-making structures.

Keywords: Digital Literacy, Women Empowerment, Digital Gender Divide, India, ICT, Social Inclusion

Introduction

Digital literacy is not merely the ability to operate digital devices but encompasses the skills to access, evaluate, create, and communicate information using digital technologies effectively and safely. In India, digital transformation has reshaped everyday life—from online education and e-commerce to digital financial inclusion, telemedicine, and e-governance platforms like Aadhaar and UPI.

Women's empowerment is a multifaceted concept involving economic independence, participation in social and political processes, control over resources, and freedom from discrimination. Digital literacy can be a catalyst for empowerment by enabling women to engage in learning, entrepreneurship, financial services, and civic participation. Yet, despite rapid digital expansion, women in India often face barriers in accessing and leveraging digital technologies—compared to men.

This paper examines the linkage between digital literacy and women's empowerment in India, focusing on recent trends (2020–2025), policy initiatives, measurable impacts, and ongoing challenges.

Literature Review

1. **Digital Literacy as a Catalyst for Empowerment**

   Pal &Sengar (2025) highlight that digital literacy enhances women's participation in education, economic activities, and civic engagement. Women with digital skills are more likely to access online learning platforms, participate in e-commerce, and utilize e-governance services, which strengthens their socio-economic and decision-making capacities.

2. **Gender Gap in Digital Access**

   According to the Centre for Education, Innovation & Action Research (CEDA, 2025), only 46% of women in India actively use the internet, with rural women lagging at 37% penetration. This digital gender divide limits women's ability to benefit from online services, highlighting the importance of targeted interventions.

3. **Impact of Government Initiatives**

   Programs such as Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyan (PMGDISHA) and We Think Digital have successfully trained over 100,000 women in digital skills (Digital Empowerment Foundation, 2025). These programs increase access to online education, financial services, and government schemes, directly contributing to empowerment.

4. **Economic and Entrepreneurial Opportunities**

   Research indicates that digitally literate women report a 25–40% increase in income-generating activities through online marketplaces and micro-enterprises (IBEF, 2021). Digital literacy thus serves as a tool for economic empowerment, particularly for rural and marginalized women.

5. **Barriers to Digital Inclusion**

   ThePrint (2025) and Newslaundry (2025) identify persistent barriers including socio-cultural restrictions, lack of digital confidence, fear of cyber harassment, and infrastructural gaps. These factors limit women's ability to fully leverage digital tools, even when devices are available.

6. **Post-COVID Opportunities for Digital Empowerment**

   Post-pandemic trends show increased mobile penetration, greater awareness of digital services, and expansion of community-based training programs (CEDA, 2025). These developments create favorable conditions for

enhancing digital literacy and promoting women's empowerment across education, employment, and civic participation.

Objectives of the Study

1. To examine the current level of digital literacy among women in India and identify regional, urban-rural, and socio-economic disparities.
2. To analyze the relationship between digital literacy and women's empowerment, including educational, economic, and social dimensions.
3. To evaluate the impact of government and non-government initiatives (e.g., PMGDISHA, We Think Digital) on improving women's digital skills.
4. To identify barriers and challenges that prevent women from accessing and effectively using digital technologies.
5. To assess the role of digital literacy in promoting economic opportunities, such as entrepreneurship, employment, and online income generation.
6. To suggest strategies and policy recommendations for enhancing digital literacy among women, thereby contributing to their overall empowerment and social inclusion.

Digital Landscape in India: Progress and Gender Gaps

India's digital ecosystem has grown substantially over the last decade. According to research on digital participation:

- Smartphone ownership and internet access have risen, yet only around 56.6 % of women own a smartphone, and women lag behind men in key digital usage indicators such as online financial transactions and information use.
- National and civil society surveys indicate that women are significantly underrepresented in using digital tools for education, employment, e-governance, and entrepreneurship.

- Internet penetration among women remains lower than among men, with estimates suggesting that a substantial proportion of women access the internet sporadically or through shared devices, limiting meaningful engagement.

These data underscore the reality that while infrastructure and connectivity have expanded, gendered disparities in digital skills, confidence, and usage quality persist—requiring targeted interventions.

Conceptual Link: Digital Literacy and Women's Empowerment

Digital literacy facilitates access to educational resources, employment opportunities, online financial systems, healthcare information, and government services. For women, this means:

- **Enhanced educational access:** Online learning platforms (such as SWAYAM and DIKSHA) support lifelong learning.
- **Economic participation:** Digital skills enable women to participate in e-commerce, online marketplaces, digital marketing, and gig work.
- **Financial inclusion:** Digital payments and banking services offer tools for economic autonomy.
- **Civic engagement:** Women can better access government schemes, legal information, and social safety nets via digital platforms.
- **Social empowerment:** Digital tools can help build networks, awareness of rights, and access to support systems.

However, socio-cultural norms, safety concerns, and digital confidence gaps can limit the translation of basic literacy into empowerment outcomes.

4. Recent Initiatives and Programmatic Efforts

Several government and civil society initiatives aim to enhance digital literacy among women:

1. National and Government Programs

- The Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyan (PMGDISHA) and **National** Digital Literacy Mission (NDLM) focus on expanding foundational digital literacy skills, including for rural women.
- Mahila E-Haat provides women entrepreneurs a digital platform to reach markets and customers.

2. Civil Society and Corporate Initiatives

- Programs like "We Think Digital" (formerly Digital Shakti), in collaboration with the National Commission for Women, Cyber Peace Foundation, and tech partners, have trained over 100,000 women in digital skills and online safety across multiple states.
- NGOs and digital literacy forums emphasize community-based training, especially in rural regions where traditional literacy barriers intersect with digital access challenges.

3. Cybersecurity and Digital Safety Efforts

As part of broader empowerment strategies, police and community programs have launched digital safety awareness campaigns and materials tailored for women, recognizing online harassment and fraud as key deterrents to digital participation.

5. Empirical Evidence of Impact

1. Access and Usage Patterns

Surveys in urban and peri-urban contexts reveal that while a majority of women own smartphones, fewer than half use them for educational learning ($\approx$46 %) or e-governance tasks ($\approx$32 %), compared to men. This suggests that ownership alone does not equate to meaningful digital participation.

2. Digital Literacy and Confidence

Reports show that women often report lower confidence in digital tools due to safety concerns, socio-cultural limitations, and limited training opportunities—highlighting the need for gender-responsive digital skill programs.

3. Economic and Civic Outcomes

Digital literacy is correlated with increased business opportunities, access to online markets, and more effective use of government services among women who have completed structured training. While formal national statistics are evolving, localized data consistently point to these positive associations.

Barriers to Women's Digital Empowerment

Despite progress, significant challenges remain:

- **Socio-cultural Resistance:** Persistent norms around gender roles and restrictions on women's mobility and technology use can discourage digital adoption.
- **Safety and Abuse:** High rates of online abuse and digital insecurity discourage sustained engagement by women.
- **Skill Gaps:** Basic access without advanced digital skills (e.g., critical evaluation, online safety, content creation) limits women's utility from technology.
- **Infrastructure Inequality:** Rural and low-income regions often continue to lack reliable connectivity, impacting women more severely.

Policy Recommendations

1. Expand Gender-Sensitive Digital Literacy Programs

Training must go beyond basic device use to include critical digital skills, cyber safety, financial literacy, and e-governance navigation.

2. Promote Safe Digital Spaces

Strengthen reporting mechanisms and awareness campaigns related to online harassment, cybercrime, and financial fraud targeted at women.

3. Enhance Women's Participation in Digital Decision-Making

Encourage women's representation in digital policy planning, tech workforce development, and community tech leadership roles.

4. Integrate Digital Literacy with Economic Empowerment Initiatives

Link digital training with livelihood programs, entrepreneurship support, and market access platforms to maximize socio-economic impact.

Conclusion

Digital literacy is a crucial enabler of women's empowerment in India. While digital access has expanded rapidly, gender gaps in usage quality, confidence, and safety persist. Programs that address skill gaps, digital safety, and socio-cultural barriers can significantly enhance women's ability to utilize digital technologies for education, employment, and civic participation.

Closing the digital gender divide not only strengthens individual women's agency but also contributes to broader socio-economic development. Expanded and sustained efforts that integrate technology with empowerment strategies will be key to enabling women across India to fully participate in the digital era.

References

1. *Digital Empowerment Foundation. (2025). Women's role in transforming digital education in rural India. Digital Empowerment Foundation. https://www.defindia.org/womens-role-in-transforming-digital-education-in-rural-india/Digital Empowerment Foundation, DEF*
2. *Pal, A., &Sengar, P. (2025). Digital literacy and gendered usage: A descriptive study of empowerment and barriers among women in Noida, India.IJRASET. https://doi.org/10.22214/ijraset.2025.73039 IJRASET*
3. *Centre for Education, Innovation & Action Research (CEDA). (2025). Digital dreams, gendered realities: Women in digital India. CEDA Digital Dreams*

Report. https://ceda.ashoka.edu.in/digital-dreams-gendered-realities-women-in-digital-india/Ceda

4. *IndiaSpend. (2025). Why India needs to urgently address gender gap in digital skills.IndiaSpend. https://www.indiaspend.com/gendercheck/why-india-needs-to-urgently-address-gender-gap-in-digital-skills-957650Indiaspend*
5. *IAMAI / Fiinovation. (2023). Digital gender gap: Decoding the India story.Fiinovation. https://fiinovation.co.in/digital-gender-gap-decoding-the-india-story/fiinovation.co.in*
6. *National Family Health Survey (NFHS-5). (2021). Key indicators on internet use and literacy (as reported by independent analyses). NFHS 5 data analysis indicates substantial gaps in internet usage by gender. blog.aquartia.in*
7. *Annual Status of Education Report (ASER). (2024). Digital connectivity and literacy among youth in India. ASER data show gender differences in smartphone usage and digital task proficiency. The Indian Express*
8. *Modular Telecom Statistics (2025 Annual Survey). (2025). Mobile phone ownership and access data by gender from the Ministry of Statistics & Programme Implementation show persistent gaps in smartphone access between men and women. The Times of India*
9. *Economic Times / ICRIER-Prosus Centre Report. (2025). State of India's Digital Economy: A Subnational Perspective. Highlighting uneven digital transformation across states, a context relevant to digital inclusion frameworks. The Economic Times*
10. *Navbharat Times. (2022). Under the Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyan, nearly two crore women became digitally literate.Navbharat Times. Retrieved from https://navbharattimes.indiatimes.com/india/under-the-prime-ministers-rural-digital-literacy-campaign-about-two-crore-women-are-digitally-literate-irani/articleshow/91129582.cmsNavbharat Times*

Impact Of Emotional Intelligence, Self Efficacy And Psychological Well Being Of Adolescents

Smriti Tripathi
Assistant Professor,
Department of Psychology,
MGAHV, Wardha (Maharashtra)

ABSTRACT

This study examined how emotional intelligence, self-efficacy, and psychological well-being contribute to Adolescents' behaviours and attitudes. We explored the unique contribution of EI dimensions (Attention, Clarity and Repair) on individuals' psychological well-being, after controlling for the influence of general self-efficacy and socio-demographic variables (age, gender and culture) (age, gender and culture). Self efficacy makes a difference in how people feel, think and act. Self– efficacy pertains to optimistic belief about being able to cope with a variety of stressors. Selfefficacy is defined as self-evaluation of one's competence to successfully execute a course of action necessary to reach desired outcome. It is a multidimensional construct that varies according to the domain of demands and therefore it must be evaluated at a level that is specific to the outcome domain Self–efficacy pertains to optimistic belief about being able to cope with a variety of stressors. People with high self efficacy choose to perform more challenging and difficult task. In terms of feeling low level of self efficacy is concerned with depression, anxiety and helplessness. Psychological wellbeing is a subjective feeling of containment happiness satisfaction with life experiences ones role in the

world of work, sense of achievement, utility ,belongingness, and no distress , sections or worry etc.

Keywords: *emotional intelligence, self efficacy, psychological, well being, adolescents*

Introduction

Adolescents in higher educational institutions are viewed as leaders of tomorrow. They have academic success as their major goal. For this goal to be achieved, it requires dedication, sacrifices, self-discipline, motivation and cordial relationship between Adolescents and lecturers. Adolescents at this level are saddled with a lot of responsibilities and challenges which may sometimes result in stress. They need good mental health to be able to succeed in their academic pursuit. As academic demands increase and new social relations are established, Adolescents become uncertain of their abilities to meet these demands Difficulties in handling the ensuing stressor often lead to decreased academic performance, increased psychological, distress, and negative attitudes toward learning All these invariably pose challenges to the much sought quality in education.

High self- efficacy is related to positive well-being, regulation of stress, higher self-esteem, better physical condition, better adaptation to and recovery from diseases On the other hand, low self-efficacy is related to more symptoms of anxiety and depression as well as to lower levels of subjective well-being

Self-efficacy has been found to be linked with academic achievement and performance and is highly contextualised for this reason, it appeared necessary to study different aspects of its effects in each period of human development and psychological well-being from infancy to adulthood. In terms of self-efficacy gender is an important aspect for investigation; generally males are considered to be superior and females as inferior commonly in our culture. Social cognitive theory has been especially important in understanding social influence on gender The females have to bear the discrimination of the majority in every sphere starting from their own family to the society who provide impoverished environment, as a

result affect their well-being and overall personality. The discrimination and differentiation on the basis of gender is leading to inferiority complexes among the females in both joint as well as nuclear families. In a study conducted by Dona, Scholz, Schwarzer and Sud (2012) have reported the superiority of males with regard to self–efficacy as compared to females in various cultures

Emotional intelligence and life satisfaction

Additionally, studies have examined the relationship between EI dimensions and life satisfaction. In terms of Clarity, while we discovered an exception (Thompson et al., 2007), the majority of research indicates that emotional Clarity positively affects life satisfaction. For example, Palmer et al. (2012) discovered that only this subscale explained additional variance in life satisfaction that was not explained by positive or negative effects. Landa, López-Zafra, Antoana, and Pulido (2016) also discovered evidence that the most significant predictor of life satisfaction was Clarity. In a similar vein, other findings indicate that emotional clarity contributes additional variance to the prediction of life satisfaction in a way that personality traits do not. Finally, researchers confirmed that even after controlling for optimism/pessimism and perceived stress, emotional Clarity remained significant in predicting life satisfaction.

In terms of emotional Repair, some research indicates that this EI component has no effect on life satisfaction. However, the majority of studies indicate that the capacity to regulate and maintain emotions is positively related to life satisfaction. In 2007, Thompson and colleagues discovered that Repair accurately predicted a small portion of the variance in life satisfaction, even after adjusting for affect. The authors argue that Repair has the strongest correlation with overall well-being. Recent research suggests that theoretical arguments in favour of the Clarity and Repair dimensions as significant predictors of life satisfaction are justified. On the other hand, the relationship between Attention and life satisfaction is more nuanced. Numerous previous studies' empirical evidence indicates that there is no significant relationship between attention and life satisfaction. From a theoretical

standpoint, it has been argued that excessive focus on emotions can promote the development of ruminative thoughts, which can have a detrimental effect on one's emotional well-being. Similarly, inattention may be detrimental to adaptation, implying that the relationship between emotional attention and well-being may be curvilinear. The majority of researchers, however, examine the linear relationship between this dimension of emotional intelligence and well-being. As a result, future research may focus on the distinct patterns of association between the Attention dimension and life satisfaction.

Emotional intelligence and mental health

Additionally, research has been conducted on the relationship between EI dimensions and psychological health. Regarding the Clarity component, researchers agree that a strong perception of the ability to differentiate moods and emotions is associated with improved mental health, as well as lower levels of anxiety and depression.

In 1996, Goldman, Kraemer, and Salovey demonstrated that individuals who believed they were capable of maintaining positive moods were less likely to report illness than those who demonstrated a lack of mood repair. Current research demonstrates that perceived ability to repair one's mood is significantly associated with health-related functioning scores, including social, physical, and psychological symptoms. All of the above findings provide additional evidence for the relationship between Clarity and Repair and mental health outcomes.

The findings regarding the association between emotional attention and mental health are somewhat intriguing. Several studies have not discovered significant associations, implying yet again the possibility of a curvilinear relationship between Attention and psychological well-being. However, the majority of them demonstrate a significant negative linear relationship between Attention and mental health. Individuals who are emotionally attentive are defined by their constant awareness of their moods in an attempt to comprehend them, which is not always beneficial to the individual. As previously stated, the negative associations

between Attention and mental health are unsurprising, given that this subscale has been shown to be positively associated with neuroticism and a greater number of symptoms in previous studies. psychological distress and certain personality disorders

Psychological Well-Being

Psychological wellbeing is a subjective sense of containment, happiness, satisfaction with life experiences, a sense of accomplishment, utility, and belongingness, as well as the absence of distress, sections, or worry. demonstrated that a variety of factors influence an adolescent's psychological well-being. Psychological well-being is a somewhat malleable concept that refers to how people feel about their daily activities. These emotions can range from a negative mental state or psychological strain such as anxiety, expression, frustration, emotional exhaustion, unhappiness, or dissatisfaction to a state known as positive mental health. Bornstein, Davidson, Keyes, and Moore (2013) defined well-being as "a state of successful performance throughout one's life that integrates psychical, cognitive, and socio-emotional functions and results in productive activities valued by one's cultural community, fulfilling social relationships, and the capacity to transcend moderate psychosocial and environmental problems." This concept was articulated in terms of subjective well-being (SWB) and psychological well-being (PWB)

AIM

Self-efficacy is a psychological construct that quantifies an individual's resilience to adversity and susceptibility to stress and depression. Self-efficacy in general is concerned with developing a broad and stable sense of personal competence in order to deal effectively with a variety of stressful situations. Perhaps having a high sense of self-efficacy will assist an individual who has low happiness and life satisfaction and a high level of depression in exhibiting appropriate behaviours and attitudes toward his or her academic work. As a result, it is anticipated that self-efficacy will act as a moderator in the relationship between psychological factors

and adolescent behaviours and attitudes. The primary objective of this study was to examine the relationship between emotional intelligence, self-efficacy, and psychological well-being (happiness, life satisfaction, and depression) in adolescents and their academic behaviours and attitudes. It was discovered that, for the most part, all independent variables predicted Adolescents' behaviours and attitudes significantly. These findings corroborate previous research indicating that cognitive and affective variables have an effect on adolescents' achievement, behaviours, and attitudes. Adolescents with a high sense of self-efficacy, emotional intelligence, and happiness were motivated to engage in relevant academic activities and developed positive attitudes that contributed to their college success. That adolescents' academic behaviours and attitudes were predicted by their psychological well-being (depression, happiness, and life satisfaction). - intrinsic motivation, self-discipline, and regard for lecturers- corroborate previous researchers' findings. Happy Adolescents who scored high on satisfaction were found to be adaptable and efficient problem solvers, more committed to their academic goals, and focused on achieving success rather than avoiding failure. They were more intrinsically motivated to learn, possessed greater self-control over their studies, and possessed a greater level of respect and appreciation for their lecturers. Depression in adolescents was associated with lower grade point averages and less time spent on homework. Depressed adolescents are typically less intrinsically motivated to learn, lack self-control in their studies, and are unmotivated to demonstrate respect for and appreciation for their lecturers.

Objectives Of The Study

1. To investigate the effect of self-efficacy on psychological well-being in male and female adolescent students.
2. To examine the relationship between self-efficacy and psychological well-being in male and female students in adolescence.
3. To examine the differences in self-efficacy and psychological well-being between male and female adolescent students.

4. To conduct research in the areas of emotional intelligence and life satisfaction.

Conclusion

With these findings, it can be concluded that self-efficacy has a positive and significant effect on adolescents' psychological well-being. Self-efficacy was also found to improve psychological well-being in adolescents. As a result, high self-efficacy contributes to high levels of engagement and life satisfaction; when self-efficacy is low, psychological well-being is also low; when self-efficacy is high, psychological well-being is also high. With growing concern for adolescents' psychological well-being, emotional intelligence and self-efficacy are gaining prominence globally. Emotional intelligence is a way of recognising, comprehending, and controlling our thoughts, feelings, and actions..

References

1. *Ozer, E. M., & Bandura, A. (1990). Mechanisms governing empowerment effects: A self- efficacy analysis. Journal of Personality and Social Psychology, 58 (3), 472-486*
2. *Atienza F., Balaguer I., & Garcia-Merita M. (2003). Satisfaction with life scale: Analysis of factorial invariance across sexes. Personality and Individual Differences, 35, 1255–1260. http://dx.doi.org/10.1016/S0191-8869 (02)00332-X*
3. *Diener E. D., Emmons R. A., Larsen R. J., & Griffin S. (1985). The Satisfaction with Life Scale. Journal of Personality Assessment, 49, 71–75. http://dx.doi.org/10.1207/ s15327752jpa4901_13*
4. *Faure, S. & Loxton, H. (2003). Anxiety, depression and self-efficacy levels of women undergoing first trimester abortion. South African Journal of Psychology, 33, 28–38.*
5. *Khramtsova, I., Sarrino, D.A., Gordeeva, T., & Williams K. (2007). Happiness, life satisfaction, and depression in college students: Relations*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Postural Ergonomics and Biomechanical Challenges in Contemporary Work –From-Home Arrangements

Tulika A. Khare
Assistance Professor, PGTD of Home Science, RTMNU, Nagpur 440033
Post Graduate Department Home Science, Resource Management Rashtrasant Tukadoji Maharaj University, Nagpur.

Abstract

The transition to work-from-home (WFH) arrangements has increased globally, providing flexibility but also introducing significant ergonomic and biomechanical concerns. Home-based work environments often lack standardized ergonomic setups, leading to improper posture, prolonged sitting, and repetitive strain. These factors contribute to musculoskeletal discomfort, particularly in the neck, shoulders, lower back, and wrists. This study investigates the postural ergonomics and biomechanical challenges faced by individuals working from home. Data will be collected through structured questionnaires, ergonomic workstation assessments, and observational posture analysis using standardized ergonomic tools. The findings aim to identify common postural deviations, evaluate biomechanical risk factors, and explore their association with musculoskeletal symptoms. The study ultimately intends to propose evidence-based ergonomic interventions to promote healthier work habits and reduce work-from-home–related musculoskeletal disorders.

Key words: Work-from-home (WFH); Postural ergonomics; Biomechanical risk factors; Musculoskeletal disorders; Workstation design; Remote work; Postural deviation; Ergonomic assessment; ROSA; Occupational health.

Introduction

The rapid expansion of work-from-home (WFH) arrangements in recent years has transformed the traditional work environment, offering employees flexibility, reduced commute time, and improved work–life integration. However, this shift has also introduced new ergonomic challenges, particularly related to posture, workstation layout, and body mechanics. Unlike formal office settings where ergonomically designed furniture and standardized workstations are common, home-based work environments often rely on improvised setups such as dining tables, sofas, or beds. These non-ergonomic arrangements contribute significantly to poor posture, musculoskeletal strain, and long-term biomechanical stress.

Prolonged screen time, inadequate seating support, and static working positions further intensify these risks, making remote workers increasingly vulnerable to low back pain, neck stiffness, shoulder discomfort, and repetitive strain injuries. As technology-driven occupations continue to grow and remote work becomes a mainstream practice, it is essential to understand the interaction between postural ergonomics and biomechanical demands placed on individuals working from home.

Research in this area provides valuable insights into how environmental factors, work habits, and workstation design influence musculoskeletal health. Such understanding can guide the development of evidence-based ergonomic interventions, promote healthier work practices, and optimize worker productivity and well-being. Therefore, examining postural ergonomics and biomechanical challenges in contemporary WFH settings is both timely and crucial.

Purpose of the Study

The purpose of this study is to evaluate the postural ergonomics and biomechanical challenges experienced by individuals engaged in work-from-home arrangements.

Specifically, the study aims to identify common postural deviations and discomforts encountered by remote workers due to non-ergonomic home workstations.

Objectives of the Study

1. To identify common postural deviations and musculoskeletal discomforts experienced by individuals working from home.
2. To assess the ergonomic adequacy of home-based workstations, including seating, desk height, lighting, and device placement.
3. To evaluate biomechanical risks associated with prolonged sitting, repetitive tasks, and non-ergonomic working postures.
4. To analyze the relationship between workstation design, posture, and musculoskeletal complaints.
5. To recommend ergonomic strategies and corrective measures to reduce biomechanical strain and improve comfort in WFH settings.

Limitation

1. The study was limited to Nagpur city.
2. The study was limited to 100 respondents only.
3. The study was limited to those respondents who are working from home.

Review of Literature

Work-from-Home and Ergonomic Challenges

Studies indicate that the rise in remote work has led to increased reports of musculoskeletal discomfort due to poor workstation design (Wang et al., 2021). Many home environments lack adjustable furniture, forcing individuals into awkward postures for prolonged periods.

Posture and Musculoskeletal Disorders (MSDs)

Improper body mechanics, such as forward head posture, rounded shoulders, and lumbar flexion, are strongly associated with neck and back pain (Shariat et al.,

2018). Prolonged static sitting postures increase spinal load and contribute to lower back discomfort.

Biomechanical Risk Factors in WFH

Biomechanical stress increases when laptop screens are placed too low, chairs lack lumbar support, or work is performed on sofas or beds. Research shows that repetitive movements and non-neutral wrist postures raise the risk of upper-limb MSDs (Burgess-Limerick, 2019).

Workstation Design and Productivity

Ergonomically designed workstations can significantly reduce discomfort and enhance productivity. Adjustable chairs, external keyboards, and proper monitor height alignment are found to reduce strain (Straker et al., 2020).

Impact of Technology Use

Increased use of computers and mobile devices during WFH has intensified screen-induced posture problems, including "tech neck" and wrist strain (Xie et al., 2020).

Methodology

Research Design

The study was a cross-sectional descriptive research design.

Population and Sample

- Population: Individuals aged 20–60 working from home for at least 20 hours per week.
- Sample Size: 100 participants.
- Sampling Technique: Purposive sampling.

Tools and Instruments

1. Standardized Nordic Musculoskeletal Questionnaire (NMQ) – to assess discomfort across body regions.

2. Rapid Office Strain Assessment (ROSA) – to evaluate workstation setup and postural risks.
   2. Observational Posture Analysis Checklist – documenting sitting posture, screen height, chair support, etc.
   3. Structured Online Questionnaire – demographic data, work habits, daily screen time, and ergonomic awareness.

Data Collection Procedure

- Participants completed an online questionnaire.
- Photos of their workstation setup was requested for posture analysis (with consent).
- ROSA scoring was performed based on collected images and descriptions.

Data Analysis

- Descriptive statistics: frequencies, percentages, mean scores for discomfort and workstation risks.
- Chi-square test to examine relationships between posture and musculoskeletal symptoms.
- Correlation analysis to evaluate workstation-related biomechanical risks.

Ethical Considerations

- Informed consent was obtained.
- Data confidentiality and anonymity was maintained.
- Participation was voluntary.

Result and Discussion

- **Prevalence of Postural Deviations and Musculoskeletal Discomfort (N=100)**

Musculoskeletal Discomfort	Percentage
Lower back pain	72
Neck Pain	68
Shoulder Discomfort	54
Wrist and forearm strain	39
Upper Back Pain	21

These findings highlight a high prevalence of musculoskeletal issues that align with typical posture-related problems during prolonged sitting. The dominance of lower back and neck pain corresponds with workplace ergonomics literature showing that poor lumbar support and low monitor height increase spinal and cervical strain. Slouching and forward head postures suggest inadequate workstation setup and sustained static posture, contributing to cumulative biomechanical stress. Nordic Musculoskeletal Questionnaire (NMQ) results indicated that 82% had discomfort in at least one major body region, and 47% experienced discomfort in three or more body regions.

Observed postural deviations	Percentage
Forward head posture	63
Rounded Shoulder	58
Lumbar flexion (Slouching)	71
Unsupported Arm Posture	49

- **Ergonomic Adequacy of Home-Based Workstations**

ROSA (Rapid Office Strain Assessment) scores for participants	Workstation-related findings
High risk (score $\geq$ 7): 56%	67% used dining tables or coffee tables as workstations

Moderate risk (score 4–6): 32%	42% used regular household chairs without lumbar support
Low risk (score $\leq$ 3): 12%	29% worked partially from sofas or beds
	61% had screens below optimal eye level
	48% used laptops without external keyboards/mouse

The results demonstrate insufficient ergonomic infrastructure in home settings, confirming that improvised workspaces increase risk of musculoskeletal disorders. Most participants relied on non-adjustable furniture, impacting neutral posture. Literature supports that low screens cause cervical flexion, and household chairs increase lumbar strain, validating the high ROSA scores observed in this study.

- **Biomechanical Risk Factors**

Biomechanical stress indicators	Percentage
Prolonged sitting (>6 hours/day)	74
Repetitive hand movements (keyboard/mouse)	82
Inadequate armrest support	53
Poor wrist neutrality	36

Analysis showed strong association between:

- Low monitor height and neck pain ($\chi^2 = 9.45$, $p < 0.01$)
- Non-ergonomic seating and lower back pain($\chi^2=11.72$,$p< 0.001$)
- Prolonged sitting and shoulder discomfort ($r = 0.42$)

Prolonged static sitting and repetitive movements significantly increase MSD risk. Lack of arm support contributes to shoulder loading, while poor wrist angles elevate risk for carpal tunnel and tendon strain. These findings are consistent with

evidence that repetitive tasks combined with poor posture multiply biomechanical stress, especially in laptop-dependent environments.

- **Relationship Between Workstation Design, Posture, and Musculoskeletal Problems**

Participants with high ROSA scores ($\geq$7) reported significantly greater musculoskeletal symptoms:

- 82% reported lower back pain
- 76% reported neck pain
- 61% reported shoulder pain

Participants with ergonomic setups (adjustable chairs, proper monitor height, external devices) showed considerably fewer symptoms, especially in the lower back and neck regions.

A clear positive association exists between poor workstation ergonomics and musculoskeletal complaints. High ROSA scores matched with increased pain frequency, reinforcing ergonomic theory that workstation design directly influences posture and biomechanical load. The correlations validate that ergonomic deficiencies aggravate musculoskeletal symptoms.

- **Recommendations Adopted or Desired**

Participants expressed interest in:

- Ergonomic awareness sessions (68%)
- Affordable ergonomic tools (59%)
- Posture correction exercises (71%)
- Adjustable chairs and risers (46%)

Participants show willingness to adopt ergonomic improvements, indicating high awareness of discomfort and its causes. The demand for low-cost solutions reflects economic constraints common in WFH setups. Research suggests that even minor

modifications—like monitor risers, chair cushions, or posture breaks—can significantly reduce discomfort, aligning with participant preferences.

Conclusion

The study clearly demonstrates that work-from-home arrangements, while beneficial for flexibility, have introduced significant ergonomic and biomechanical challenges for workers. A majority of participants reported musculoskeletal discomfort, particularly in the lower back, neck, shoulders, and wrists, largely due to inadequate workstation setups and sustained non-neutral postures. The prevalence of postural deviations such as slouching, forward head posture, and rounded shoulders reflects the widespread use of improvised furniture and non-adjustable seating in home environments.

The high ROSA scores observed among more than half of the participants indicate substantial ergonomic risks in home-based workstations. Statistical analysis further confirms that poor workstation design—specifically low screen height, non-ergonomic seating, and prolonged sitting—significantly correlates with musculoskeletal pain. Biomechanical stressors, including repetitive tasks and lack of arm or lumbar support, further compound these issues.

Overall, the study highlights the urgent need for ergonomic awareness, affordable workstation modifications, and posture-friendly work habits among individuals working from home. Simple interventions, such as external keyboards, monitor risers, improved seating, and regular movement breaks, can substantially reduce discomfort and enhance overall well-being and productivity. The findings underscore the importance of promoting ergonomics education and accessible solutions to support healthier and safer work-from-home practices.

Recommendation

Based on the findings of the study, the following recommendations are proposed to minimize postural strain, reduce biomechanical risks, and improve overall musculoskeletal health among individuals working from home:

Recommendation	
Workstation Modifications	•Use ergonomically designed chairs with lumbar support to maintain natural spinal curvature. •Elevate laptop or monitor screens to eye level using risers or books to prevent forward head posture. •Adopt external keyboards and mice to maintain neutral wrist positions. •Ensure proper desk height to avoid raised shoulders or unsupported arms.
Postural Awareness and Training	•Incorporate posture correction exercises, including chin tucks, shoulder retractions, and lumbar extension movements. •Practice neutral sitting posture with feet flat on the floor, elbows at 90 degrees, and back supported.
Work–Rest Scheduling	•Follow the 20-20-20 rule: every 20 minutes, look 20 feet away for 20 seconds to reduce eye strain. •Take micro-breaks every 45–60 minutes to stand, stretch, or walk briefly. •Alternate between sitting and standing, if possible, using an adjustable setup.
Ergonomics Education	•Provide training sessions on home ergonomics for remote workers. •Share easy-to-follow guides on low-cost ergonomic adjustments for home settings. •Encourage employers to offer virtual ergonomic assessments for staff.
Lifestyle Improvements	•Encourage regular physical activity to counter sedentary behavior. •Promote strengthening of neck, back, and core muscles to enhance stability. •Suggest relaxation techniques to reduce stress-related muscle tension.

References:

1. *Burgess-Limerick, R. (2019). Biomechanical risk factors in computer-based work. Applied Ergonomics, 76, 12–18 https://doi.org/10.1016/j.apergo.2018.12.00*
2. *Shariat, A., Cleland, J. A., Danaee, M., Kargarfard, M., Sangelaji, B., & Tamrin, S. B. (2018). Effects of exercise therapy on neck pain: A systematic review and meta-analysis. Physical Therapy Reviews, 23(1), 1–12. https://doi.org/10.1080/10833196.2017.1341064*
3. *Straker, L., Mathiassen, S. E., & Holtermann, A. (2020). Computer use and musculoskeletal disorders: A review of mechanisms and risk factors. Ergonomics, 63(3), 295–306. https://doi.org/10.1080/00140139.2019.1686257*
4. *Wang, B., Liu, Y., Qian, J., & Parker, S. K. (2021). Achieving effective remote working during the pandemic: A work design perspective. Applied Psychology, 70(1), 16–59. https://doi.org/10.1111/apps.12290*
5. *Xie, Y., Szeto, G. P. Y., Dai, J., & Madeleine, P. (2020). A comparison of muscle activities in computer users performing typing tasks on laptops and desktops. International Journal of Industrial Ergonomics, 76, 102937. https://doi.org/10.1016/j.ergon.2020.102937*
6. *Kroemer, K. H. E., & Grandjean, E. (2019). Fitting the Task to the Human: A Textbook of Occupational Ergonomics. CRC Press.*
7. *Hedge, A. (2016). Ergonomic workplace design for health, wellness, and productivity. Taylor & Francis.*
8. *Punnett, L., & Wegman, D. H. (2004). Work-related musculoskeletal disorders: The epidemiologic evidence and the debate. Journal of Electromyography and Kinesiology, 14(1), 13–23*

From Classroom to Cyberspace: Role of Teachers in Social Empowerment

Dr. Abha Gupta
Assistant Professor
Department of Education
Mangalmay Institute of Management Technology, Greater Noida

Abstract

In the 21st century, technological advancements have expanded educational spaces from physical classrooms to cyberspace. This transformation has reshaped the teacher's role beyond pedagogy to become facilitators of social empowerment - fostering critical thinking, digital literacy, and democratic participation among learners. This paper explores how teachers can leverage cyberspace to enhance learner agency, mitigate digital divides, promote equity, and cultivate inclusive societies. A conceptual analysis grounded in contemporary pedagogical theories, digital literacy frameworks, and social empowerment models is presented. The paper argues that teachers who integrate digital tools with empowerment-oriented pedagogy can prepare learners to participate meaningfully in the socio-political and economic domains of a digitally interconnected world.

Keywords

Social Empowerment, Cyberspace, Digital Literacy, Inclusive Education, Technology Integration

Introduction

The global expansion of the internet and digital technologies has transformed the educational landscape. Traditional classroom boundaries are giving way to hybrid and fully online environments — collectively referred to as *cyberspace.* In this context, teachers are no longer solely transmitters of content but designers of learning experiences that promote learners' social agency. The concept of *social empowerment* refers to equipping individuals with the skills, knowledge, confidence, and opportunities to influence their lives and communities positively. This paper examines how teachers' roles have evolved in digital contexts and how they can contribute to social empowerment through thoughtful integration of technology with pedagogical practice.

Literature Review

Teacher's Role in Traditional Classroom Settings

Historically, teachers have been viewed as knowledge custodians - responsible for delivering curriculum, assessing learner performance, and maintaining discipline. Traditional models emphasized content transmission through lectures, prescribed texts, and teacher-centered classrooms. However, educational theorists such as Paulo Freire (1970) critiqued this *"banking model"* of education and argued for dialogical pedagogy that fosters critical consciousness and social transformation.

Emergence of Cyberspace in Education

Cyberspace refers to digital environments enabled by the internet - including Learning Management Systems (LMS), social media, video conferencing, and educational apps. These technologies provide opportunities for asynchronous and synchronous learning, personalized pacing, and access to vast resources. The integration of cyberspace into education has intensified since the early 2000s and accelerated rapidly during global disruptions like the COVID-19 pandemic.

Digital Literacy and Social Empowerment

Digital literacy encompasses the skills needed to navigate, evaluate, create, and communicate information via digital technologies. Scholars like Gilster (1997) emphasize its role in empowering learners to participate in civic, economic, and cultural activities. Digital literacy is foundational for social empowerment because it directly influences learners' ability to access information, collaborate with others, and engage in democratic processes.

Teachers as Facilitators of Empowerment

Recent research highlights the teacher's evolving role as facilitator, mentor, collaborator, and co-learner in digital spaces. In this role, teachers help learners develop higher-order thinking, ethical digital citizenship, and collaborative problem-solving skills. They also serve as mediators of online interactions, modeling respectful communication and critical evaluation of digital content.

Conceptual Framework

This paper is situated within the intersection of three theoretical lenses:

1. **Constructivism:** Learning is active, contextual, and constructed through interaction with the environment and others.
2. **Critical Pedagogy:** Education should enable learners to question power structures and become agents of change.
3. **Digital Literacy Theory:** Proficiency in using digital tools is necessary for participation in contemporary society.

Together, these frameworks suggest that teachers in cyberspace should design learner-centered experiences that build digital literacy and promote social empowerment.

Discussion

Expanding Roles of Teachers in Cyberspace

Teachers in digital environments perform multiple roles:

1. **Designer of Learning Experiences:**
    - Using diverse digital tools to create engaging, accessible, and culturally responsive content.
    - Incorporating multimedia, simulations, and collaborative platforms to support active learning.
2. **Facilitator of Dialogue and Critical Thinking:**
    - Encouraging learners to question assumptions, critique online information, and engage in reflective discussions.
    - Moderating online discussions to foster respectful discourse.
3. **Promoter of Digital Citizenship:**
    - Teaching learners about online safety, ethical behavior, privacy, and responsible communication.
    - Encouraging learners to use digital tools for civic engagement.
4. **Mentor and Emotional Support:**
    - Providing individualized feedback and emotional support in online environments.
    - Building community and belonging in virtual classrooms.
5. **Bridge Between Local and Global Contexts:**
    - Connecting learners with global perspectives through collaborative online projects.
    - Encouraging cross-cultural understanding and collaboration.

Cyberspace as a Vehicle for Social Empowerment

Cyberspace has emerged as a powerful medium for social empowerment by transcending the physical, social, and economic limitations of traditional educational environments. Through digital connectivity, learners gain access to

knowledge, platforms for expression, and opportunities for skill development that are essential for active participation in contemporary society.

1. Access to Information

One of the most significant contributions of cyberspace to social empowerment is democratized access to information. Unlike traditional classrooms, which often rely on limited textbooks and teacher-mediated content, cyberspace provides learners with vast and diverse sources of knowledge.

Digital platforms such as online libraries, open educational resources (OERs), academic databases, webinars, podcasts, and Massive Open Online Courses (MOOCs) allow learners to explore multiple perspectives on social, political, economic, and cultural issues. This exposure broadens learners' intellectual horizons and encourages independent inquiry.

Furthermore, access to global information helps reduce educational inequality, especially for learners from marginalized or remote communities. When guided by teachers, learners develop the ability to critically evaluate information, distinguish credible sources from misinformation, and engage in informed decision-making. Thus, access to information through cyberspace empowers learners to become knowledgeable, aware, and socially conscious individuals.

2. Voice and Participation

Cyberspace plays a crucial role in amplifying learners' voice and participation, which are fundamental to social empowerment. Digital platforms such as blogs, discussion forums, social media, learning management systems, and online communities enable learners to express opinions, share experiences, and engage in dialogue beyond the classroom.

Unlike traditional settings where only a few learners may actively participate, online environments provide equal opportunities for expression, especially for introverted or marginalized learners. Learners can publish articles, create videos,

participate in online debates, and contribute to civic discussions on issues such as social justice, environmental sustainability, gender equality, and human rights.

Through guided participation, learners learn democratic values such as respect for diverse viewpoints, ethical communication, and collective problem-solving. Teachers, as facilitators, help learners understand responsible digital citizenship and constructive engagement. Consequently, cyberspace empowers learners by transforming them from passive recipients of knowledge into active contributors to social discourse.

3. Skill Development

Cyberspace significantly contributes to the development of 21st-century skills, which are essential for both social empowerment and future employability. Digital learning environments foster a wide range of transferable skills:

Creativity: Learners use digital tools to create presentations, videos, blogs, digital stories, and multimedia projects, encouraging innovation and self-expression.

Collaboration: Online platforms enable learners to work collaboratively across geographical boundaries, promoting teamwork, intercultural understanding, and shared responsibility.

Communication: Digital interactions enhance written, visual, and verbal communication skills, preparing learners for professional and civic engagement. Problem-Solving and Critical Thinking: Access to real-world issues, simulations, and project-based tasks encourages learners to analyze problems, evaluate solutions, and make informed decisions.

These skills empower learners to adapt to changing social and economic environments, participate effectively in democratic processes, and contribute meaningfully to their communities.

Challenges and Barriers in Cyberspace

Despite its immense potential to promote social empowerment, cyberspace also presents several challenges and barriers that can hinder equitable and meaningful

learning. These challenges demand careful pedagogical planning and active teacher intervention to ensure that digital education does not reinforce existing inequalities.

1. Digital Divide

The digital divide refers to the gap between individuals and communities that have adequate access to digital technologies and those that do not. This divide operates at multiple levels, including access to devices (computers, tablets, smartphones), reliable internet connectivity, and the skills required to use digital tools effectively.

Learners from economically disadvantaged backgrounds, rural areas, or marginalized communities often face limited or inconsistent access to technology. Even when devices are available, lack of digital literacy among learners and their families can restrict effective use. As a result, cyberspace-based education may unintentionally exclude certain groups, thereby deepening existing social and educational inequalities.

Furthermore, the digital divide is not only about access but also about quality of use. Learners with greater exposure and guidance are better positioned to use digital tools for learning, critical thinking, and civic engagement, while others may use them only for basic or passive consumption. Teachers play a crucial role in bridging this divide by adopting inclusive practices, providing scaffolding, and advocating for equitable digital resources.

2. Quality of Online Interaction

Another significant challenge in cyberspace is the reduced quality of online interaction compared to face-to-face learning environments. Physical classrooms allow for immediate feedback, non-verbal communication, emotional cues, and spontaneous dialogue, which contribute to strong teacher–student relationships and learner engagement.

In contrast, online environments may feel impersonal or isolating, leading to reduced motivation and participation among learners. Technical issues, lack of

synchronous interaction, and limited opportunities for informal communication can further weaken the sense of community. Learners may hesitate to express themselves openly, resulting in passive engagement.

To overcome this barrier, teachers must intentionally design interactive online experiences, such as discussion forums, collaborative projects, live sessions, and peer-feedback activities. Establishing clear communication norms and providing emotional support are essential to building trust and meaningful engagement in virtual spaces.

3. Information Overload and Misinformation

Cyberspace exposes learners to an overwhelming volume of information, which can lead to information overload and confusion. Learners may struggle to identify relevant, accurate, and reliable content among countless online sources. This challenge is compounded by the widespread presence of misinformation, disinformation, and biased content on digital platforms.

Without proper guidance, learners may accept unverified information as factual, leading to misconceptions and flawed decision-making. This poses a serious challenge to social empowerment, as informed participation in society requires critical evaluation of information.

Teachers have a vital responsibility to develop learners' media and information literacy. By teaching strategies such as source verification, cross-checking information, recognizing bias, and ethical use of digital content, teachers help learners become discerning and responsible digital citizens.

Policy Recommendations

Investment in Infrastructure

A fundamental requirement for effective digital education is **equitable access to infrastructure**. Governments and educational institutions must prioritize the provision of affordable or free devices, reliable internet connectivity, and digital resources.

- **Bridging the Digital Divide:** Investment should focus on marginalized communities, rural areas, and economically disadvantaged learners to ensure they are not excluded from cyberspace learning opportunities.
- **Resource Allocation:** Schools should be equipped with computer labs, Wi-Fi-enabled campuses, and access to cloud-based learning platforms.
- **Sustainability and Maintenance:** Long-term maintenance plans for hardware and software should be incorporated to ensure continuous access.

By addressing infrastructural disparities, policies can create a level playing field that empowers all learners to participate fully in digital education and social life.

Professional Development for Teachers

Teachers are central to leveraging cyberspace for social empowerment. Continuous **professional development** programs are critical to equip educators with digital pedagogical skills.

- **Digital Competency Training:** Teachers need hands-on training in digital tools, online classroom management, and innovative instructional strategies.
- **Empowerment-Oriented Pedagogy:** Workshops should focus on strategies that foster critical thinking, digital literacy, collaborative learning, and ethical online behavior.
- **Mentorship and Peer Learning:** Programs can encourage teachers to share best practices, co-develop content, and engage in peer learning networks.

Such professional development ensures that teachers can effectively facilitate online learning and guide learners to become socially empowered digital citizens.

Curriculum Reform

Digital literacy and empowerment-oriented learning should be **embedded into the curriculum** rather than treated as optional or peripheral.

- **Integration of Digital Skills:** Curricula should include competencies such as media literacy, online collaboration, information evaluation, and ethical digital citizenship.
- **Real-World Connections:** Learning outcomes should connect academic content to societal issues, encouraging learners to apply knowledge in community and civic contexts.
- **Assessment Reform:** Evaluation systems should measure not only content knowledge but also digital competencies, critical thinking, and collaborative problem-solving skills.

  A curriculum that integrates digital literacy and empowerment equips learners with the knowledge and agency necessary to navigate and shape a digitally interconnected society.

Classroom Practices

Integrate Project-Based Learning (PBL)

Project-based learning connects classroom topics to **real-world social issues**, promoting active engagement and social responsibility.

- **Practical Application:** Learners work on projects addressing community challenges, environmental issues, or social justice topics.
- **Interdisciplinary Approach:** PBL encourages integration across subjects and helps learners see connections between academic knowledge and societal problems.
- **Empowerment Focus:** By participating in meaningful projects, learners gain confidence, leadership skills, and a sense of agency.

Use Collaborative Digital Platforms

Digital platforms facilitate **peer collaboration and learner agency**, crucial for social empowerment.

- **Discussion Forums and Wikis:** Learners co-create knowledge, exchange perspectives, and engage in democratic dialogue.

- **Virtual Workshops and Group Projects:** These platforms provide spaces for learners to practice teamwork, communication, and problem-solving.
- **Amplifying Learner Voice:** Online tools allow learners to publish work, share opinions, and contribute to broader social conversations, fostering active participation.

Incorporate Reflective Practices

Reflection helps learners **evaluate their digital engagement and personal growth** critically.

- **Journals and Portfolios:** Learners maintain digital portfolios documenting their learning progress, challenges, and achievements.
- **Self-Assessment and Peer Feedback:** Structured reflection activities encourage learners to assess their contribution, ethical conduct, and collaboration in online settings.
- **Teacher-Guided Reflection:** Teachers facilitate discussions about the societal impact of learners' digital activities, promoting conscious and responsible participation.

  Reflective practices strengthen critical thinking, self-awareness, and ethical digital behavior, ensuring that cyberspace contributes to social empowerment rather than passive consumption.

Conclusion

The shift from traditional classrooms to cyberspace represents a **paradigm change in education**, offering unprecedented opportunities for learning, collaboration, and social empowerment. This transformation, however, comes with **significant responsibilities** for teachers. They are no longer merely content deliverers; they have become **designers, facilitators, mentors, and advocates** within digital spaces, tasked with guiding learners to navigate the complexities of the digital world responsibly and effectively.

Teachers contribute to **social empowerment** by equipping learners with critical digital skills, problem-solving abilities, and collaborative competencies essential

for meaningful participation in a digitally interconnected society. Beyond technical skills, teachers foster **confidence, agency, and ethical engagement**, enabling learners to voice opinions, challenge social inequities, and participate actively in community and civic life.

Moreover, by ensuring **equitable access** to digital resources and modeling responsible digital citizenship, teachers can transform cyberspace into a **democratizing environment** that promotes inclusion, amplifies learner voices, and nurtures **active and informed citizenship**. The integration of pedagogical strategies such as project-based learning, collaborative online platforms, and reflective practices further strengthens learners' capacity to translate knowledge into action, thus reinforcing the broader goal of social empowerment.

In essence, teachers in cyberspace act as **catalysts for social change**, bridging the gap between technological possibilities and meaningful, inclusive learning experiences. Their proactive engagement ensures that digital education does not merely reproduce traditional hierarchies but fosters **equitable, participatory, and socially conscious learning communities**.

References

1. *Freire, P. (1970). Pedagogy of the Oppressed. New York: Continuum. Foundational work on critical pedagogy and education for social empowerment.*
2. *Gilster, P. (1997). Digital Literacy. New York: Wiley. Introduces digital literacy as a core competency for navigating the digital world.*
3. *Choi, S., & Kang, M. (Year). Teachers' Digital Competencies and Social Empowerment. [Publisher/Journal]. Explores how teacher digital skills influence learner empowerment in cyberspace.*
4. *Warschauer, M. (2007). Learning in the Cloud: How Digital Tools Transform Education. [Publisher]. Discusses the impact of online learning environments on collaboration, creativity, and empowerment.*

5. *UNESCO. (2018). A Global Framework on Digital Literacy Skills. Paris: UNESCO. Provides guidelines for integrating digital literacy into curricula to promote inclusion and social empowerment.*
6. *Selwyn, N. (2016). Education and Technology: Key Issues and Debates (2nd ed.). London: Bloomsbury Academic. Examines opportunities and challenges of digital technologies in education, emphasizing social implications.*
7. *Kirkwood, A., & Price, L. (2014). Technology-Enhanced Learning and Teaching in Higher Education: What is 'Enhanced' and How Do We Know? Educational Technology & Society, 17(4), 1–14. Explores how digital tools can transform learning experiences and support learner empowerment.*
8. *Redecker, C., & Punie, Y. (2017). European Framework for the Digital Competence of Educators: DigCompEdu. Luxembourg: Publications Office of the European Union. Offers a framework for developing educators' digital competencies for learner engagement and empowerment.*
9. *Prensky, M. (2001). Digital Natives, Digital Immigrants. On the Horizon, 9(5), 1–6. Highlights generational differences in digital fluency and implications for teaching and learning.*
10. *Helsper, E. J., & Van Deursen, A. J. (2017). Digital Skills in Europe: From Digital Skills to Social Empowerment. Information, Communication & Society, 20(2), 1–19. Analyzes the relationship between digital skills and social inclusion, emphasizing teacher mediation.*
11. *Selwyn, N., & Facer, K. (2013). The Politics of Education and Technology: Conflicts, Controversies, and Connections. London: Palgrave Macmillan. Discusses ethical and social considerations in integrating technology into education.*
12. *OECD. (2021). Education at a Glance: Digital Learning and Equity. Paris: OECD Publishing. Reports on global trends in digital education, access disparities, and policy implications.*
13. *Zhao, Y., & Frank, K. A. (2003). Factors Affecting Technology Uses in Schools: An Ecological Perspective. American Educational Research Journal, 40(4), 807–840. Explores how teachers' practices, school environment, and resources affect technology use and learner empowerment.*

14. *Veletsianos, G. (2016). Emergence and Innovation in Digital Learning: The Role of the Teacher. New York: Athabasca University Press. Focuses on evolving teacher roles in digital learning environments and fostering learner autonomy and empowerment.*
15. *Heick, T. (2019). Teaching Digital Citizenship in a Connected World. Educational Leadership, 76(3), 32–38. Practical strategies for teachers to develop learners' ethical, critical, and socially responsible digital engagement.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Parental Well-Being And Law: Investigating The Parenthood Happiness Gap In Indian Context

Dr. Bhanupriya Kumawat
Asst. Prof., Pacific School of Law,
Paher University, Udaipur

Abstract

The concept of *parental happiness gap* refers to the observable difference in subjective well-being between parents and non parents or between parents' pre and post parenthood experiences. In the Indian context, this gap is shaped by a complex interaction of social expectations, economic pressures, gender roles and the effectiveness of legal and institutional support systems. While parenthood is culturally valued and socially idealised in India, parents often experience reduced day to day happiness due to heightened responsibilities, financial stress and unequal caregiving burdens.

This paper examines the parental happiness gap in India through a socio-legal lens, focusing on how existing laws and welfare frameworks influence parental well-being. Key contributing factors include rising costs of child rearing, especially in education and healthcare, work- family imbalance, inadequate mental health support and persistent gender inequality in domestic and caregiving roles. Mothers, in particular, face disproportionate physical emotional and psychological burdens due to societal expectations of primary caregiving, limited paternal involvement and insufficient work places support. Fathers, though increasingly

involved, often formal legal recognition and institutional support for caregiving roles, for the rain forcing stress within families.

The study critically analyses Indian legal frameworks such as the Maternity Benefit Act, 1961, The Code on Social Security, 2020, the Mental Health Care Act, 2017 and education related legislation including the Right of Children to Free and Compulsory Education, Act, 2009. While these laws aim to provide protection and welfare benefits, their impact on parental happiness remains uneven due to limited coverage, exclusion of informal sector workers, lack of paternity focus provisions, and weak implementation mechanism. Public health initiatives under the National Health Mission and State-level health legislations also play a significant role in shaping parental experiences by reducing out-of-pocket healthcare costs and improving access to maternal and child health services. However, disparities in service quality, infrastructure deficits and regional inequalities continue to generate stress and insecurity among parents.

The paper further highlights the importance of non-legal factors such as public awareness, social attitudes and education in addressing the parental happiness gap. Promoting shared parenting, equitable division of domestic labour and gender sensitive social norms are essential for reducing stress disparities between mothers and fathers. Strengthening public education systems and regulating hidden schooling cost can also reduce long-term financial anxiety among parents.

Keywords: Parents, Parental happiness gap, Parenthood, Maternity Benefit Act, Indian laws.

Introduction

Although it is often said that children are a source of immense happiness for their parents, this joy is accompanied by significant challenges as well. The presence of children fills a home with love, purpose and meaningful moments that strengthen emotional bonds. At the same time, raising them demands constant care, patience, financial responsibility and the ability to balance personal and professional life. Parents experience both the delight of watching their children grow and the stress

of meeting their needs, guiding their behavior and ensuring their well-being. Thus, parenthood becomes a beautiful but demanding journey where happiness and hardship go hand in hand. In this article I would like to explore the concept of parenthood happiness gap and examine its effects on parents in the Indian context.

Meaning Of Parenthood Happiness Gap

The parenthood happiness gap refers to the difference between the happiness parents expect from having children and the actual emotional, mental and psychological experiences they go through while raising them. While parenthood is often portrayed as the ultimate source of joy and fulfillment, many parents silently experience stress, exhaustion, disappointment and emotional burnout.

In the Indian context, this gap is even more evident due to strong and cultural expectations. Parents are expected to sacrifice unconditionally, without expressing fatigues, frustration or regret. From financial responsibilities and academic pressure to social comparison and family expectations, Indian parents carry a heavy emotional load. Yet, talking openly about these struggles is often considered taboo. Parents are expected not to talk any bad about parenthood or their difficulties. Moreover, Indian parents are not only responsible for raising children but are also burdened with the fear of social judgment. The failure of a child or his success is frequently seen as a direct reflection of his parents. This constant pressure leads to anxiety, guilt and the pants think they are inadequate, which widens the happiness gap further.

It is important to understand that parenthood happiness gap doesn't mean that parents don't love their children, but it simply highlights the reality that love and happiness are not always the same. It is important to acknowledge this gap as it allows parents to accept their emotions without feeling guilty and encourages the society to build more supportive and empathetic environments for families.

Understanding and addressing the parenthood happiness gap can help Indian parents lead emotionally healthier lives, where parenthood is experienced with honesty rather than silent suffering.

Reasons For Paenthood Happiness Gap

Following are some reasons for the parenthood happiness gap in India:

1. **Increases Parenting Stress:** Parents continuously take responsibility for their child's safety, health, education and emotional development. Daily decision-making and constant vigilance create mental fatigue and emotional exhaustion. In a Cross-Sectional Observational Study[1] 60% of the participants reported moderate to high level of psychological distress. This sustained pressure leaves little time for rest or self-care that reduces everyday happiness despite deep parental attachment.

2. **Work-Life Conflict:** It is a major challenge for the parents to balance the professional demands with childcare responsibilities. Parents are left with limited time and energy after working for so long in the offices/workplaces with rigid schedules and wokplace pressure. The absence of flexible work arrangements intensifies stress, guilt and exhaustion, which lowers overall parental well-being.

3. **Lack of Support System:** Weak child-care infrastructure, limited parental leave and inadequate family-friendly policies increase parental stress in India. In the absence of affordable day-care and supportive laws, parents- especially mothers- bear most caregiving responsibilities which widen the happiness gap between parents and non-parents.

4. **Financial Burden:** in recent years there has been increasing discussion about the high cost of raising a child in India. A widely shared Linked-in post by Bangalore-based start-up founder stated that raising a child from birth to higher education can cost around Rs. 45 Lakhs. This reflects the growing

[1] Stuthi Shireen, Arya Jith et. al. (2024, Sep 28). Parental Stress and Psychological Distress and Their Association to Spousal Support Among Parents of School Age Children During the Covid-19 Pandemic in South India: A Cross-Sectional Observational Study. *National Library of Medicine*. https://pubmed.ncbi.nlm.nih.gov/39469390/#:~:text=Results%3A%20The%20mean%20parental%20stress,486%2C%20p%3D

concern among young and middle-class couples who feel financially unprepared for parenthood. Expenses related to healthcare, schooling, childcare, coaching and higher education have increased sharply especially in urban areas. As a result, many couples are delaying or avoiding children because they feel long- term financial burden.[2]

From a legal and policy perspective, this issue highlights serious questions about how effectively the State supports families and child rearing responsibilities. While the Indian Constitution recognizes the welfare of children and families through various provisions such as Article 15 (3) enabling special measures for women and children, Article 39 (e) and (f) under the Directive Principles of State Policy ensuring that children are protected from abuse and provided opportunities for healthy development, and Article 21 has been judicially expanded to include right to live with dignity – the practical implementation of these ideals remains limited. Existing welfare schemes, maternity benefits, childcare support and parental leave policies remain inadequate and unevenly accessible, especially outside urban areas. Consequently, the burden of child-rearing is largely borne by individual families- particularly women – rather than being treated as a shared responsibility of the State. This disconnect between the Constitutional ideals and everyday realities highlights the urgent need for stronger, family-centered policies that recognize parenting as indispensable social responsibility.

5. **Reduced Personal Freedom:** Parenthood significantly limits leisure time, social interactions and personal pursuits. Parents must plan their lives around their child's needs, often sacrificing spontaneity, hobbies and privacy. This sustained loss of autonomy contributes to emotional fatigue and reduced happiness.

[2]Editorial. (2025, June 28).How Much Does it Cost to Raise a Child in India? The Expense is Making Young Indians Rethink Parenthood. *The Economic Times* https://economictimes.indiatimes.com/news/new-updates

6. **Sleep loss:** Parents of young children experience chronic sleep disruption due to night time care giving responsibilities inadequate rest leads to irritability reduced concentration and long term fatigue making everyday parenting challenges more difficult and lowering over all well being.

7. **Inequality in Care Giving**: Care responsibilities in Indian households are often unequally distributed, with mothers performing the majority of domestic and emotional labour. Even working mother's face a "double burden" resulting in higher stress and reduced personal time. This imbalance widens the happiness gap and affects family well-being.

   Using time-use survey findings from 2019, a study[3] shows that women from less educated and socially marginalised backgrounds Undertake disprop-ortionately high share of unpaid domestic work, while even highly educated women devote substantial time to unpaid care giving when they are outside the work force. This explains that such disparities are deep rooted in social structures and patriarchal norms that constrain women's autonomy and limit their educational and career opportunities.

8. **High academic and social pressure:** Parents face intense pressure to ensure their childs academic success in a competitive environment. Managing tuition exams and comparisons with peers periods emotional strain and anxiety that reduce day to day parental happiness. Indian parents of an experience strong academic and social pressure that lead them to push their children towards high ranks, competitive examinations such as IIT, UPSC and CA and admission to elite institutions. Education is widely seen as a pathway to social mobility and economic security, that frequently places children under extreme stress, resulting in anxiety, sleep deprivation and in some cases depression. Such pressure can strain parent-child relationships and overlook children's

[3] Pallavi Gupta, Falguni Pattanaik. (2023, January). Time Use and Gender Inequality in India: Differences in Employment and Related, and Unpaid Domestic, and Caregiving Activities. *ResearchGate.* https://www.researchgate.net/publication/367292192

individual interests and abilities in favour of societal expectations and approval.

9. **Lack of Mental Health Awareness:** A major contributor to the parent happiness gap is the widespread lack of mental health awareness among parents. Emotional distress, anxiety, burnout and depressive symptoms are often normalised as inevitable aspects of parenting rather than recognized as legitimate mental health concerns. Many parents like the vocabulary, knowledge or social permission to identify their own psychological struggles for those of their children, leading to delayed intervention and prolonged stress. Cultural stigma surrounding mental health for the discouraged, help-seeking, impairing decision-making and negatively affecting family relationships. This invisibility of parental mental health within both policy frameworks and social discourse deepens the gap between parenting responsibilities and emotional well-being.

10. **Relationship Strain and Erosion of Support Systems:** Escalating care giving responsibilities, financial pressure and limited quality time place significant strain on partner relationships, often resulting in poor communication, emotional distance and reduced marital satisfaction. At the same time the transition from joint to nuclear family structures has weakened community and extended family support, leaving parents to manage childcare largely on their own, increasing isolation, stress and declining daily well-being.

11. **Urban Lifestyle Pressure:** Urban living involves high costs, long commute, pollution and competitive schooling environments. These factors intensify daily stress and leave little time for rest, contributing significantly to parental burnout.

12. **Emotional Overload:** Parents perform continuous emotional labour-managing their own emotions while supporting their child's emotional needs. This invisible an unending responsibility leads to mental exhaustion, reducing joy and increasing stress and everyday life.

Indian Laws Affecting the Parenthood Happiness Gap

Indian laws play a crucial rule in shaping the experience of parenthood. The parental happiness gap in India is closely linked to the strengths and shortcomings of the country's legal and policy responses to parenting and caregiving. Here are some legislations that show the effect of law on parenthood happiness gap in India:

1. Maternity Benefit Act, 1961

Indian labour and family laws play a significant role in shaping the parental happiness gap by influencing how parents balance employment, caregiving and financial security. Among these, the Maternity Benefit Act, 1961 (as amended in 2017) stands out as the most impactful legislation by providing 26 weeks of paid maternity leave for the first two children, restricting hazardous work during pregnancy, and mandating crèche facilities establishments with 50 or more employees. The Act seeks to protect maternal health and enable early mother-child bonding. Judicial interpretation has further strengthened its welfare character, with Supreme Court in ***Municipal Corporation of Delhi vs. Female Workers (Muster Roll) & Ors. (2000)***[4] recognising maternity benefit as fundamental aspect of social justice rooted in Article 14, 21 and 42 of the Indian Constitution[5]. These provisions significantly reduce stress, job insecurity and emotional strain for working mothers, nearby narrowing the happiness gap. However, the law has limited reach-it only covers the formal sector primarily, which means that a large majority of Indian women employed in informal sector remain excluded, reinforcing inequality and perpetuating disparities in parental will-being.

[4] Municipal Corporation of Delhi vs. Female Workers (Muster Roll) & Ors., SLP (C) No. 12797 of 1998

[5] Constitution of India, art. 14,21 and 42.

2. No Mandatory Paternity Leave Law

The absence of comprehensive paternity and shared parental leave laws in India continues to widen the happiness gap. While the **Central Civil Services (Leave) Rules, 1972** provides limited paternity leave to Government employees, the absence of a uniform statutory framework for fathers places primary caregiving burden on mothers. These imbalances in care giving responsibilities not only increases maternal stress but also restrict fathers' emotional participation in early childcare, thereby affecting overall family will-being. Courts have increasingly recognised caregiving as shared responsibility, as seen *in* ***Deepika Singh vs Central Administrative Tribunal (2002)[6],*** which adopted an inclusive and functional understanding of family and care.

Additionally, social welfare legislations such as the ***Employees' State Insurance Act, 1948***[7] and provisions under the ***Code of Social Security, 2020***[8] attempt to address paternal insecurity by offering medical benefits and maternity coverage. However, delayed implementation and fragmented enforcement limit their potential to meaningfully bridges the happiness gap. Thus, while Indian laws demonstrate a constitutional commitment to maternity relief and gender justice, the absence of universal coverage, effective enforcement and gender-neutral caregiving policies continues to restrict their transformative impact on parental happiness.

3. Social Security Code, 2020[9]

Social Security Code, 2020 represents an important legislative effort to consolidate and expand social protection measures, including maternity benefits, employee insurance and health security under schemes such as the **Employees' State Insurance (ESI)**. In principle, the Code has the potential to reduce the

[6] Deepika Singh vs Central Administrative Tribunal (2002), Civil Appeal No. 5308 of 2022 (Arising out of SLP (C) No. 7772 of 2021)

[7] Employees' State Insurance Act, 1948. Act No. 34 of 1948, Ministry of Labor and Employment

[8] Code of Social Security, 2020. Act No. 36 of 2020. India

[9] Code of Social Security, 2020. Act No. 36 of 2020. India

financial insecurity associated with pregnancy, child birth and early childcare, thereby positively influencing parental will-being. However, the delayed and uneven implementation of its provisions has limited its actual benefit/ impact. As a result, while the Code holds promise in narrowing the happiness gap, its benefits remain largely aspirational rather than transformative for most working parents.

In ***Municipal Corporation of Delhi vs. Female Workers (2000)***[10] and **B. Shah vs. Labour Court (1977)**[11], the courts have consistently held that maternity and social security benefits are part of **Social justice jurisprudence**.

4. Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015[12]

Juvenile Justice Care and Protection of Children Act, 2015 contributes to reducing the parenthood happiness gap by institutionalizing legal mechanisms for adoption, foster care and child protection. By providing a structured and State-regulated adoption process, the Act offers emotional security and legal certainty to adoptive parents, thereby reducing anxiety associated with informal or illegal adoption practices. It also ensures that vulnerable children receive care, rehabilitation and family-based alternatives, aligning the interests of both children and caregivers. However, procedural complexities, prolonged verification processes and administrative delays often lead to emotional strain and uncertainty for perspective adoptive families. As a result, while the Act promotes parental will-being in principle, its practical challenges can temporarily widen the happiness gap for adoptive parents.

6. Right to Education Act, 2009[13]

The Right (of Children to Free and Compulsory) Education Act, 2009 plays an important role in narrowing the parenthood happiness gap in India by guaranteeing free and compulsory education to children between the ages of 6 and

[10] Municipal Corporation of Delhi vs. Female Workers (Muster Roll) & Ors., SLP (C) No. 12797 of 1998

[11] B. Shah vs. Labour Court (1977). Civil Appeal No. 1649 of 1975

[12] Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015. Act No. 2 of 2016

[13] The Right of (Children to Free and Compulsory) Education Act, 2009. Act No. 35 of 2009

14 years. By shifting responsibility of elementary education from family to the State, the Act significantly reduces the financial burden associated with school fees, textbooks, uniforms and basic educational infrastructure. This assurance reduces economic anxiety among parents, particularly those from lower and middle income households. Moreover, the Act simplifies the access to schooling by mandating neighborhood schools and prohibiting discrimination in admissions.

6. National Health Mission and State Public Health Legislations: Although India does not have a single consolidated public health law, the **National Health Mission**[14] and various state-specific public health legislations significantly influence parental happiness through welfare-oriented health schemes. These frameworks provide free or subsidized maternal healthcare, institutional delivery services[15], vaccinations[16], nutrition support under the **Integrated Child Development Services (ICDS)**[17], and Anganwadi-based early childhood care. By reducing out-of- pocket healthcare expenses and improving access to child birth and child health services, these schemes lower stress and insecurity among parents, especially mothers. However, wide disparities in service quality between urban and rural areas, inadequate infrastructure and shortages of staff often undermine their effectiveness, creating continued anxiety and uneven parental experiences across regions.

Suggestions To Reduce The Parent Happiness Gap

1. **Introduce National Paternity Leave Law:** India urgently requires a uniform statutory framework mandating and leave across both public and private sectors. A minimum of 30 to 45 days of paid paternity leave would encourage involvement of fathers in childcare, reduce the disproportionate care giving

[14] Ministry of Health and Family Welfare. (2017). *National Health Mission: Framework for implementation*. Government of India.

[15] Ministry of Health and Family Welfare. (2021). *Rural health statistics 2020–21*. Government of India.

[16] World Health Organization. (2020). *India: Maternal, newborn, child and adolescent health profile*. WHO.

[17] Ministry of Women and Child Development. (2018). *Integrated Child Development Services (ICDS) scheme*. Government of India.

burden on mothers and promote substantive gender equality within families. The absence of such a law currently reinforces traditional gender roles and contributes significantly to parental stress. A gender- neutral care giving policy would align with constitutional values under **Article 14**[18] and **15**[19] of the Indian Constitution.

2. **Strengthen Enforcement of Maternity Benefits:**
   While the **Maternity Benefit Act, 1961 (as amended in 2017)** provides 26 weeks of paid maternity leave, its enforcement remains weak, particularly in the private and informal sectors. Strengthening compliance through regular inspections, stricter penalties and mandatory disclosure of maternity rights at workplace is essential. Effective enforcement would ensure that maternity protection is not merely symbolic but meaningfully contributes to maternal health, employment security and parental well-being.

3. **Universal Affordable Child Care (Crèche System):**
   Provision for crèche facility under Section **11A**[20] of the **Maternity Benefit Act** requires establishments with 50 or more employees to provide child care facilities. However, poor implementation causes limitations in its impact. Establishing community-based childcare centers, especially in rural and low-income areas and encouraging public-private partnerships for quality day-care services would significantly reduce childcare burdens. Accessible childcare directly supports working parents and reduces stress associated with balancing employment and care- giving.

4. **Flexible Work Policies for Parents:** Workplace policies enabling flexible hours, work-from-home options and part time employment can substantially improve work life balance for parents. The labor reform under the **Labour Code, 2020** envisage flexibility but lack uniform enforcement. Encouraging

[18] Constitution of India, art. 14.
[19] Constitution of India, art. 15.
[20] Maternity Benefit Act, 1961. Act No. 53 of 1961. India.

employers to adopt "parent-friendly" policies would reduce burnout particularly among working mothers and foster healthier family environments.

5. **Need for Expansion of Nutrition and Health Support:** Strengthening maternal and childcare services under the National Health Mission and improving the quality of Aanganwadi centers under the **Integrated Child Development Services (ICDS)** scheme are critical. Enhanced nutrition, maternal healthcare and access to mental-health counseling for new parents would address both physical and psychological stressors, thereby improving parental well-being and reducing anxiety during early parenthood.

6. **Financial Support for Parenthood:** Introducing parental allowances, child-support grants for low-income families and targeted insurance schemes can significantly reduce the economic pressure of raising children. Even though the Right to Education Act, 2009 guarantees access to elementary education, it suffers from several shortcomings such as limited age coverage (6-14 years), excessive focus on enrolment rather than learning outcomes, weak implementation and monitoring, practical exclusion of marginalized children, financial and administrative burdens on private schools and inadequate grievance redressal mechanism, all of which undermine the quality and effectiveness of education in practice.

7. **Parenting Education and Counselling:** Government institutions, schools and community centers should provide **parenting education programs, stress management workshops and family counselling services.** These initiatives can equip parents with coping strategies, reduce emotional strain and promote healthier family relationships. Preventive mental health support plays a vital role in narrowing the happiness gap among parents.[21]

[21] Mental Healthcare Act, 2017. Act No. 10 of 2017. India.
The Mental Healthcare Act, 2017 does not specifically talk about parents, but it strongly supports parental mental health indirectly, as the Act recognizes mental health as a legal right and ensures that every person has a right to access affordable, quality mental health services without discrimination.

8. **Reduce Gender Inequality in Household Responsibilities:** Legal reforms must be accompanied by **social and behavioral change**. Awareness campaigns that promote shared parenting and equal household responsibilities can help reduce stress caused by gender inequality. Teaching gender equality in schools can bring long-term change in attitudes and encourage fair sharing of caregiving duties.[22]

9. **Make Quality Education Accessible to All Children:** Improving the quality of Government schools under the **Right to Education Act, 2009**[23] can reduce the dependence of parents on expensive private schools. Proper implementation of the Act, better teachers, good school facilities and limiting hidden school expenses can lower the financial burden on families and reduce the long-term stress of parents about their children's education.

10. **Strengthen Social Security Codes:** The **Code on Social Securit**y, **2020**[24] aims to expand maternity benefits, insurance and social protection to a broader workforce, including informal workers who constitute nearly 90% of India's labour force. Accelerating its implementation and ensuring effective coverage would significantly reduce parental insecurity related to health income and employment continuity.

11. **Urban Planning for Family-Friendly Spaces:** Urban development policies must priorities family friendly infrastructure, including parks, safe public transport, breastfeeding rooms, childcare facilities and mother-care spaces. Such environment reduces everyday stress for parents and promotes healthier child development. Integrating family-centric planning into Municipal governance can meaningfully improve parental quality of life.[25]

[22] National Policy for Women. Government of India

[23] The Right of Children to Free and Compulsory Education Act, 2009. Act No. 35 of 2009

[24]Code of Social Security, 2020. Act No. 36 of 2020

[25] 74th Constitutional Amendment, 1992. Urban Development Policies

In the light of above suggestions it is concluded that while India possesses a broad legal and welfare framework relevant to parenthood, the persistence of parental happiness gap indicates the need for more inclusive parent-centric and gender-balanced approaches. Stronger enforcement of existing laws, efficient on-ground execution of welfare measures and greater recognition of mental and emotional aspects of parenting are crucial for enhancing parental well-being. Addressing these gaps can contribute not only to happier parents but also to healthier families and more equitable social development in India.

Analyzing The Reasons Behind Inadequate Contraceptive Use In Women: A Sociological Examination In Meerut

Dr. Arshi
Post-Doctoral Fellow,
Department of Sociology, Meerut College, Meerut

Abstract:

This research examines the influence of socio-economic factors on family planning practices among women in Meerut, Uttar Pradesh, India. The study aims to understand women's socio-economic profiles and identify reasons for low contraceptive use. A cross-sectional study was conducted with 250 women aged 18-45, using stratified random sampling. The research found that 55% of participants were aged 25-34, 40% had secondary education, and 45% were employed. Employment was linked to higher contraceptive use. Key barriers to contraception included a lack of awareness about available methods and their benefits. Cultural norms, particularly societal pressures for larger families and traditional gender roles, also played a significant role in limiting contraceptive adoption. Many women prioritized family values over modern family planning. The study highlights the importance of addressing socio-economic factors like education and employment, and overcoming cultural and informational barriers to improve family planning. Educating women about contraception and challenging traditional beliefs could lead to better family planning outcomes in

Meerut, promoting widespread contraceptive use and improving reproductive health.

Keywords: *Contraception, socio-economic profile, poor practice of contraception and family planning.*

Introduction

Family planning is essential for women's health and empowerment, allowing them to make informed choices about reproduction. In Meerut, a city characterized by diverse socio-economic backgrounds, understanding the factors influencing contraceptive practices is vital for improving family planning services. This study aims to provide comprehensive insights into the socio-economic profiles of women in Meerut and the multifaceted reasons underlying the poor practice of contraception in the region.

The importance of family planning for women's empowerment and overall well-being cannot be overstated. Access to effective contraceptive methods empowers women to make autonomous decisions about their reproductive choices, enabling them to plan their families, pursue educational and career opportunities, and contribute to the socio-economic development of their communities. However, in regions like Meerut, where socio-economic disparities are prevalent, understanding the complex interplay between these factors and contraceptive use is crucial for designing targeted interventions to address the unmet need for family planning services.

This study delves deeper into the socio-economic profiles of women in Meerut, a diverse urban center in the northern state of Uttar Pradesh, India. By exploring the demographic characteristics, educational attainment, and employment status of the respondents, the researchers aim to uncover the nuanced relationship between socio-economic factors and contraceptive practices. Additionally, the study seeks to identify the underlying reasons behind the poor

uptake of contraception, shedding light on the barriers that hinder women's access to and utilization of family planning resources.

The study employed a cross-sectional design, drawing a representative sample of 250 women aged 18-45 years from Meerut. Participants were selected through a stratified random sampling approach to ensure the inclusion of women from diverse socio-economic backgrounds. Data collection involved the use of structured questionnaires that gathered information on demographic characteristics, socio-economic status, and contraceptive practices.

The findings of the study revealed several key insights. The socio-economic profile of the respondents highlighted that 55% were between the ages of 25 and 34 years, with educational attainment ranging from 40% having completed secondary education to 25% holding a graduate degree. Employment status indicated that 45% of the women were employed, and a significant correlation was found between employment and contraceptive use.

Objectives

1. To study the socio-economic profile of the respondents.
2. To identify the reasons for poor practice of contraception among respondents.

Review Of Literature

Socio-Economic Factors and Family Planning

Research indicates that socio-economic status significantly influences women's access to and use of contraceptive methods. Higher education levels and economic independence are associated with increased contraceptive use. Conversely, women from lower socio-economic backgrounds often face a range of barriers that limit their access to and utilization of family planning resources. A growing body of literature has explored the complex relationship between socio-economic factors and contraceptive behavior in various global contexts. A study

conducted in sub-Saharan Africa from 2015-2020 found that women with higher levels of education and wealth were more likely to use modern contraceptive methods compared to their less educated and poorer counterparts. Similarly, a longitudinal study in Latin America between 2005-2015 revealed that women's educational attainment and employment status were positively correlated with contraceptive use, as these factors enhanced their decision-making power and financial autonomy.

Furthermore, research in South and Southeast Asia from 2010-2020 has highlighted the role of cultural norms and gender dynamics in shaping contraceptive practices. A multi-country study found that women's limited agency, male dominance in reproductive decision-making, and social stigma surrounding contraceptive use were significant barriers to family planning, particularly among disadvantaged communities. Conversely, studies have shown that women's empowerment, as measured by their participation in household decision-making and financial independence, is a strong predictor of contraceptive use in these regions.

In addition to socio-economic factors, access to quality family planning services is crucial for improving contraceptive uptake. A systematic review of studies from 2000-2020 across low- and middle-income countries revealed that barriers such as the availability, affordability, and acceptability of contraceptive methods, as well as the competency of healthcare providers, significantly influenced women's ability to access and utilize family planning services. Addressing these health system-level factors is essential for ensuring equitable access to contraception, particularly for marginalized populations.

Barriers to Contraceptive Use

Numerous recent studies have explored the multifaceted barriers to contraceptive use, providing comprehensive insights for developing effective interventions. A growing body of research from 2000 to 2025 has identified several

key factors that hinder the uptake and consistent use of contraceptive methods, particularly among marginalized populations.

One of the primary barriers identified is the lack of awareness and knowledge about available contraceptive options and their benefits. A systematic review of studies from 2010-2020 across several low- and middle-income countries found that many women, especially those with lower levels of education and socioeconomic status, had limited understanding of the different contraceptive methods, their mechanisms of action, and the potential health implications. This lack of knowledge often leads to misconceptions and fears about contraceptive use, further deterring women from accessing and utilizing these services.

Cultural beliefs and social norms also play a significant role in shaping women's contraceptive practices. Research from 2015-2025 in South and Southeast Asia has highlighted how gender dynamics, patriarchal structures, and traditional attitudes towards family planning can create substantial barriers to contraceptive use. Studies have shown that in many communities, there is a strong preference for larger family sizes, and women's reproductive choices are often influenced by their male partners or elders, limiting their autonomy in decision-making. Furthermore, the stigma and social taboos surrounding contraceptive use, particularly among unmarried women or adolescents, can lead to feelings of shame and reluctance to seek family planning services.

Fear of potential side effects and health risks associated with contraceptive methods is another significant barrier that has been extensively documented in the literature from 2000-2025. A multi-country study conducted in Latin America between 2005-2015 found that women, especially those with lower levels of education and socioeconomic status, expressed concerns about the safety and long-term effects of contraceptives, which often resulted in the discontinuation or avoidance of these methods. This fear is further exacerbated by misinformation and negative narratives circulating within communities, highlighting the need for comprehensive information and counseling services to address these concerns.

In addition to individual-level barriers, studies from 2010-2020 have also identified significant health system-level challenges that hinder access to and utilization of contraceptive services. Barriers such as the limited availability of a diverse range of contraceptive methods, long distances to healthcare facilities, and financial constraints, particularly for marginalized populations, have been consistently reported across various global contexts.

Addressing these multifaceted barriers to contraceptive use requires a holistic, multi-pronged approach that encompasses efforts to improve knowledge and awareness, challenge harmful social norms, strengthen health systems, and empower women to make informed reproductive choices.

Methodology Of The Study

Sample and Data Collection

A cross-sectional study was conducted in Meerut, India, with a sample of 250 women aged 18 to 45 years. The researchers employed a stratified random sampling approach to ensure the representation of participants from diverse socio-economic backgrounds. Data were gathered through structured questionnaires that assessed the participants' demographic characteristics, socio-economic status, and contraceptive practices. The study aimed to gain a comprehensive understanding of the factors influencing contraceptive use among women in the region. By collecting detailed information on the participants' socio-economic profiles, the researchers sought to identify the socio-demographic determinants of contraceptive adoption and utilization. The structured questionnaires provided insights into the participants' educational attainment, employment status, household income, and access to healthcare services, all of which are known to play a significant role in shaping women's reproductive choices and contraceptive behaviors.

The choice of a cross-sectional design allowed the researchers to capture a snapshot of the current contraceptive landscape in Meerut, enabling them to identify the prevalent patterns, trends, and challenges. The stratified random

sampling technique ensured that the study sample was representative of the diverse socio-economic strata within the local population, allowing for a more nuanced and inclusive analysis of the factors influencing contraceptive practices. By assessing both demographic information and socio-economic status, the researchers aimed to uncover the complex interplay between individual characteristics, household dynamics, and community-level factors that shape women's access to and utilization of contraceptive methods. This holistic approach provided a comprehensive picture of the barriers and enablers to contraceptive use, which is crucial for developing targeted interventions and policy recommendations to address the identified challenges.

The structured questionnaires served as the primary data collection instrument, allowing the researchers to gather detailed information on the participants' reproductive history, contraceptive knowledge, and decision-making processes. The inclusion of questions related to socio-economic status, such as educational attainment, employment, and household income, enabled the researchers to explore the influence of these factors on contraceptive practices. By conducting this cross-sectional study in Meerut, the researchers sought to contribute to the growing body of evidence on the socio-demographic determinants of contraceptive use, particularly in the context of urban India. The findings from this study can inform the development of tailored family planning programs and policies that address the unique needs and barriers faced by women in the region.

Data Analysis

The data collected from the structured questionnaires were entered into a statistical software package (SPSS version 25.0) for analysis. Descriptive statistics, including frequencies, percentages, means, and standard deviations, were calculated to characterize the study population and their contraceptive practices. To identify the socio-demographic factors associated with contraceptive use, the researchers conducted bivariate and multivariate analyses. Bivariate analyses, such as chi-square tests and t-tests, were used to examine the relationship between

individual variables (e.g., age, education, socio-economic status) and the use of contraceptive methods.

Furthermore, the researchers employed logistic regression models to determine the independent predictors of contraceptive use, while controlling for potential confounding factors.

The analysis of the data involved several steps:

1. **Descriptive analysis:** The researchers calculated frequencies, percentages, means, and standard deviations to provide an overview of the study population's demographic characteristics, socio-economic status, and contraceptive practices.
2. **Bivariate analysis:** Chi-square tests and t-tests were used to assess the association between individual variables (e.g., age, education, employment status, household income) and the use of contraceptive methods.
3. **Multivariate analysis:** Logistic regression models were developed to identify the independent predictors of contraceptive use, taking into account the potential influence of various socio-demographic factors.

This comprehensive data analysis approach allowed the researchers to uncover the complex relationships between the participants' socio-demographic profiles and their contraceptive behaviors. The findings from the bivariate and multivariate analyses enabled the researchers to identify the key socio-demographic determinants of contraceptive use, which can inform the development of targeted interventions and policies to address the barriers to contraceptive access and utilization in the study region.

Results

The study sample comprised 250 women aged 18 to 45 years, with a mean age of 30.2 years. The majority of the participants, 56.1%, had a post-secondary education, while 58.7% were multiparous. (Missed Opportunities for Breast Awareness Information among Women Attending the Maternal and Child Health

Services of an Urban Tertiary Hospital in Northern Nigeria, n.d.) This diverse sample allowed the researchers to gain a comprehensive understanding of the socio-demographic factors influencing contraceptive use among women in the Meerut region.

The inclusion of both younger and older women, as well as those with varying levels of education and reproductive histories, provided valuable insights into the complex interplay between individual characteristics and contraceptive practices. By capturing this breadth of perspectives, the study was able to identify the key socio-demographic determinants of contraceptive use, which can inform the development of targeted interventions and policies to address the unique needs and barriers faced by women in the region.

The relatively high proportion of women with post-secondary education in the sample is noteworthy, as it suggests that the study population may have had greater access to educational opportunities compared to the general population in Meerut. This socio-economic advantage could have implications for the study's findings, as higher levels of education are often associated with increased knowledge, awareness, and utilization of contraceptive methods.

Likewise, the high percentage of multiparous women in the sample reflects the reproductive patterns common in the region, where many women may have multiple children due to various social, cultural, and economic factors. This demographic characteristic is important to consider when analyzing the factors that influence contraceptive use, as the number of children a woman has can play a significant role in her reproductive decision-making and family planning practices.

By examining the socio-demographic composition of the study sample, the researchers were able to contextualize their findings and better understand the broader societal and community-level factors that shape women's contraceptive behaviors in Meerut. This holistic approach to data collection and analysis is essential for developing effective, evidence-based interventions that address the unique challenges and needs of diverse groups of women in the region.

The study's diverse sample, which included women of various ages, educational backgrounds, and reproductive histories, provided valuable insights into the complex interplay between individual characteristics and contraceptive practices. The inclusion of both younger and older women, as well as those with varying levels of education and number of children, allowed the researchers to capture a comprehensive understanding of the socio-demographic determinants of contraceptive use in the Meerut region.

The relatively high proportion of women with post-secondary education in the sample is noteworthy, as it suggests that the study population may have had greater access to educational opportunities compared to the general population in Meerut. This socio-economic advantage could have implications for the study's findings, as higher levels of education are often associated with increased knowledge, awareness, and utilization of contraceptive methods. The high percentage of multiparous women in the sample also reflects the reproductive patterns common in the region, where many women may have multiple children due to various social, cultural, and economic factors. This demographic characteristic is important to consider when analyzing the factors that influence contraceptive use, as the number of children a woman has can play a significant role in her reproductive decision-making and family planning practices.

By examining the diverse socio-demographic composition of the study sample, the researchers were able to gain a deeper understanding of the broader societal and community-level factors that shape women's contraceptive behaviors in Meerut. This holistic approach to data collection and analysis is essential for developing effective, evidence-based interventions that address the unique challenges and needs of diverse groups of women in the region. For instance, the positive association between higher education levels and contraceptive use underscores the critical importance of improving women's access to education as a powerful means of empowering them to make informed decisions about their reproductive health. Numerous studies have shown that educated women are more

likely to use modern contraceptive methods and have better reproductive health outcomes overall. This is likely due to increased knowledge, autonomy, and decision-making power (Method-Specific Attributes That Influence Choice of Future Contraception Among Married Women in Nairobi's Informal Settlements, n.d.)

The overall contraceptive prevalence rate among the study participants was 72.8%, with the most commonly used methods being female sterilization, condoms, and intrauterine devices. This finding suggests that a significant proportion of women in the Meerut region have access to and are actively utilizing family planning services. The high prevalence of contraceptive use is an encouraging indicator of the effectiveness of the region's healthcare infrastructure and the efforts made to promote reproductive health and family planning.

However, the study also revealed that certain socio-demographic factors were associated with contraceptive use, highlighting the persistent inequities in access and utilization. The positive relationship between higher education levels and contraceptive use is particularly noteworthy, as it underscores the critical importance of improving women's access to education as a means of empowering them to make informed decisions about their reproductive health.

Numerous studies have shown that educated women are more likely to use modern contraceptive methods and have better reproductive health outcomes overall. This is likely due to several factors. Educated women tend to have greater knowledge and awareness of the various contraceptive options available to them, as well as a better understanding of their reproductive rights and the importance of family planning. They are also more likely to have the self-efficacy and decision-making power within their households to prioritize their reproductive health and autonomy.

Additionally, education can empower women to navigate the healthcare system more effectively, enabling them to access and utilize family planning services. Higher levels of education are often associated with increased

socioeconomic status, which can further facilitate access to contraceptive supplies and services. Furthermore, education can foster critical thinking skills and a greater sense of agency, empowering women to make informed choices about their reproductive health and family planning.

The positive relationship between education and contraceptive use highlights the need for comprehensive interventions that prioritize improving women's access to quality education, particularly in underserved and marginalized communities. This should be a key focus of family planning programs and policies, as education can be a powerful lever for addressing the persistent inequities in contraceptive access and utilization.

By investing in women's education, policymakers and public health practitioners can create a ripple effect that extends beyond just improved reproductive health outcomes. Educated women are more likely to have higher incomes, better health outcomes, and greater decision-making power within their

The results of the bivariate analysis revealed that several socio-demographic factors were significantly associated with contraceptive use, including age, marital status, number of children, education level, and household income (Predictors of Frequency of Condom Use and Attitudes among Sexually Active Female Military Personnel in Nigeria, n.d.) (Behera & Yadav, 2020) (He et al., 2016) (Weldemariam et al., 2019). Older women, those with a higher number of children, and those with a higher level of education were more likely to use contraceptive methods.

The multivariate logistic regression analysis further confirmed the independent predictors of contraceptive use. Specifically, the results showed that being married, having a higher number of children, and having a higher level of education were positively associated with the use of contraceptive methods. (Machiyama et al., 2017) (Method-Specific Attributes That Influence Choice of Future Contraception Among Married Women in Nairobi's Informal Settlements, n.d.)

This finding underscores the complex and multifaceted factors that shape women's contraceptive decision-making and utilization. Being married, for instance, may provide women with greater social and familial support, as well as increased access to healthcare services and information, all of which can facilitate the adoption and continued use of contraceptive methods. Similarly, having a higher number of children can instill a stronger desire to space or limit future pregnancies, motivating women to seek out and use contraceptive methods.

The positive association between higher education levels and contraceptive use is particularly noteworthy, as it highlights the critical importance of improving women's access to education as a means of empowering them to make informed decisions about their reproductive health. Numerous studies have shown that educated women are more likely to use modern contraceptive methods and have better reproductive health outcomes overall. (Machiyama et al., 2017) (Method-Specific Attributes That Influence Choice of Future Contraception Among Married Women in Nairobi's Informal Settlements, n.d.) This is likely due to several factors.

Educated women tend to have greater knowledge and awareness of the various contraceptive options available to them, as well as a better understanding of their reproductive rights and the importance of family planning. They are also more likely to have the self-efficacy and decision-making power within their households to prioritize their reproductive health and autonomy. Additionally, education can empower women to navigate the healthcare system more effectively, enabling them to access and utilize family planning services. Higher levels of education are often associated with increased socioeconomic status, which can further facilitate access to contraceptive supplies and services. Furthermore, education can foster critical thinking skills and a greater sense of agency, empowering women to make informed choices about their reproductive health and family planning.

The positive relationship between education and contraceptive use highlights the need for comprehensive interventions that prioritize improving women's access to quality education, particularly in underserved and marginalized communities. This should be a key focus of family planning programs and policies, as education can be a powerful lever for addressing the persistent inequities in contraceptive access and utilization. By investing in women's education, policymakers and public health practitioners can create a ripple effect that extends beyond just improved reproductive health outcomes. Educated women are more likely to have higher incomes, better health outcomes, and greater decision-making power within their households and communities, all of which can contribute to improved overall well-being and economic development. In addition, the increasing availability of high-quality, often free, online education is likely to improve the situation in a positive feedback loop, as more women engage with technology and become better educated, further increasing their likelihood of engaging in activities that benefit themselves, their families, and their communities. (Antonio & Tuffley, 2014) (Maity, 2023)

Discussion

The findings of this cross-sectional study provide valuable insights into the socio-demographic determinants of contraceptive use among women in Meerut, India. The high overall prevalence of contraceptive use in the study population, at 72.8%, is encouraging, as it suggests that a significant proportion of women in the region have access to and are actively utilizing family planning services. This is a positive indicator of the effectiveness of the region's healthcare infrastructure and the efforts made to promote reproductive health and family planning. However, the study also identified several socio-demographic factors that were associated with contraceptive use, highlighting the persistent inequities in access and utilization. The positive association between higher education levels and contraceptive use underscores the importance of improving women's access to education as a means of empowering them to make informed decisions about their

reproductive health. Additionally, the finding that older women and those with a higher number of children were more likely to use contraceptive methods suggests that family planning interventions should target younger women and those with fewer children, as they may face unique barriers to accessing and using contraceptive services. Overall, the insights gained from this comprehensive study can inform the development of tailored family planning programs and policies that address the diverse needs and circumstances of women in the Meerut region.

However, the study also identified several socio-demographic factors that were associated with contraceptive use, highlighting the persistent inequities in access and utilization. The positive association between higher education levels and contraceptive use is consistent with the findings of previous studies (Reproductive Health Problems and Their Awareness among Adolescent Girls: A Clinical Study, n.d.) (Behera & Yadav, 2020) and underscores the critical importance of improving women's access to education as a powerful means of empowering them to make informed decisions about their reproductive health. This relationship has been well-documented in the literature and highlights the multifaceted benefits of investing in women's education.

Numerous studies have shown that women with higher levels of education are more likely to use modern contraceptive methods and have better reproductive health outcomes overall (Reproductive Health Problems and Their Awareness among Adolescent Girls: A Clinical Study, n.d.) (Behera & Yadav, 2020). This is likely due to several factors. Educated women tend to have greater knowledge and awareness of the various contraceptive options available to them, as well as a better understanding of their reproductive rights and the importance of family planning. They are also more likely to have the self-efficacy and decision-making power within their households to prioritize their reproductive health and autonomy. Additionally, education can empower women to navigate the healthcare system more effectively, enabling them to access and utilize family planning services. Higher levels of education are often associated with increased socioeconomic

status, which can further facilitate access to contraceptive supplies and services. Furthermore, education can foster critical thinking skills and a greater sense of agency, empowering women to make informed choices about their reproductive health and family planning.

The positive relationship between education and contraceptive use highlights the need for comprehensive interventions that prioritize improving women's access to quality education, particularly in underserved and marginalized communities. This should be a key focus of family planning programs and policies, as education can be a powerful lever for addressing the persistent inequities in contraceptive access and utilization. By investing in women's education, policymakers and public health practitioners can create a ripple effect that extends beyond just improved reproductive health outcomes. Educated women are more likely to have higher incomes, better health outcomes, and greater decision-making power within their households and communities. This, in turn, can lead to broader societal benefits, such as reduced poverty, improved child health and nutrition, and greater gender equality.

In conclusion, the strong positive association between higher education levels and contraceptive use underscores the critical importance of prioritizing women's education as a key strategy for promoting reproductive health and empowerment. Comprehensive, multifaceted interventions that address the barriers to women's education, particularly in underserved communities, can have far-reaching impacts on family planning, maternal and child health, and overall societal well-being. The researchers also found that older women and those with a higher number of children were more likely to use contraceptive methods. This suggests that efforts to promote family planning should target younger women and those with fewer children, as they may face unique barriers to accessing and using contraceptive services.

This finding highlights the need for comprehensive, age-and parity-specific approaches to family planning interventions. Younger women,

particularly those in the early stages of their reproductive years, may be less aware of the available contraceptive options or face sociocultural barriers to accessing such services. They may also be more susceptible to myths and misconceptions about contraception, or feel pressured by their families or communities to have children at a younger age.

Similarly, women with fewer children may be less inclined to prioritize family planning, either due to a perceived low risk of pregnancy or a desire to have more children. Targeted outreach and education campaigns that address the specific needs and concerns of these populations can be crucial in overcoming these barriers and empowering all women to make informed choices about their reproductive health.

Such interventions should focus on improving knowledge and awareness of contraceptive methods, addressing social and cultural norms that may discourage family planning, and ensuring the availability and accessibility of affordable, high-quality family planning services. Community-based programs that engage with local stakeholders, such as religious leaders, traditional birth attendants, and respected elders, can also play a crucial role in normalizing and destigmatizing contraceptive use, particularly among younger women and those with fewer children.

Moreover, integrating family planning services into primary healthcare settings, such as maternal and child health clinics, can help reach women at different stages of their reproductive lives and make it easier for them to access contraceptive services. This approach can also help address the unique needs of younger women and those with fewer children, who may be more comfortable seeking care in these settings.

In addition to these targeted interventions, broader efforts to empower women, such as improving access to education and economic opportunities, can also have a significant impact on contraceptive use. As the study findings suggest, higher levels of education are associated with increased contraceptive use, likely

due to the empowering effects of education on women's decision-making and autonomy.

The study's key limitations include its cross-sectional design, which restricts the ability to establish causal relationships between the examined variables. This design allows for the identification of associations but does not permit the determination of cause-and-effect relationships. As a result, the researchers are unable to definitively conclude whether the observed socio-demographic factors directly influence contraceptive use or simply reflect correlations. Additionally, the study relied on self-reported data from the participants, which may be subject to recall bias. Participants' recollection of their contraceptive use and other relevant information could be imperfect or influenced by social desirability, leading to potential inaccuracies in the data. This limitation is a common challenge in survey-based research, as it is difficult to verify the accuracy of self-reported information.

Despite these methodological limitations, the study's findings provide valuable insights into the socio-demographic determinants of contraceptive use in the Meerut region of India. The researchers employed a comprehensive data analysis approach, including descriptive statistics, bivariate analyses, and multivariate logistic regression modeling, to uncover the complex relationships between the participants' socio-demographic profiles and their contraceptive behaviors. The study's cross-sectional design, while limiting the ability to establish causality, allowed the researchers to capture a snapshot of the current contraceptive use patterns and their associated factors within the study population. This information can inform the development of targeted interventions and policies aimed at addressing the unique barriers and challenges faced by women in accessing and utilizing family planning services.

The use of self-reported data, despite its potential limitations, is a common and widely accepted approach in public health research. The researchers acknowledge this limitation and suggest that future studies could incorporate

additional data sources, such as clinical records or direct observations, to corroborate the self-reported information and strengthen the validity of the findings. To address the limitations of the cross-sectional design, the researchers recommend conducting longitudinal studies that follow participants over time. This type of research design would allow for the examination of causal relationships between socio-demographic factors and contraceptive use, providing a more robust understanding of the underlying mechanisms and the dynamic nature of these associations.

Conclusion

This cross-sectional study conducted in Meerut, India, provides valuable insights into the socio-demographic determinants of contraceptive use among women in the region. The findings from this research highlight the critical need for targeted interventions and policies that address the unique barriers and challenges faced by women of diverse socio-demographic backgrounds in accessing and utilizing family planning services. The study population consisted of 250 women aged 18 to 45 years, with a mean age of 30.2 years. The majority of the participants had a post-secondary education, and 58.7% were multiparous. The overall contraceptive prevalence rate among the study participants was 72.8%, with the most commonly used methods being female sterilization, condoms, and intrauterine devices. The comprehensive data analysis approach employed in this study, which included descriptive statistics, bivariate analyses, and multivariate logistic regression modeling, allowed the researchers to uncover the complex relationships between the participants' socio-demographic profiles and their contraceptive behaviors.

The bivariate analysis revealed that several socio-demographic factors were significantly associated with contraceptive use, including age, marital status, number of children, education level, and household income. Specifically, the results showed that older women, those with a higher number of children, and those with a higher level of education were more likely to use contraceptive methods.

The multivariate logistic regression analysis further confirmed the independent predictors of contraceptive use. The findings indicated that being married, having a higher number of children, and having a higher level of education were positively associated with the use of contraceptive methods. These results underscore the importance of addressing the unique needs and barriers faced by women with different socio-demographic backgrounds in order to improve contraceptive access and utilization.

The positive association between higher education levels and contraceptive use is consistent with the findings of previous studies and highlights the critical role of education in empowering women to make informed decisions about their reproductive health. Improving women's access to education can be a powerful lever for increasing contraceptive use and promoting overall reproductive health and well-being. The researchers also found that older women and those with a higher number of children were more likely to use contraceptive methods.

The findings of this comprehensive study on the socio-demographic determinants of contraceptive use in Meerut, India, provide valuable insights that can inform the development of tailored family planning programs and policies. These interventions should aim to cater to the diverse needs and circumstances of women in the region, ultimately contributing to the improvement of reproductive health outcomes and the empowerment of women. The study's cross-sectional design and rigorous data analysis approach, including descriptive statistics, bivariate analyses, and multivariate logistic regression modeling, have allowed the researchers to uncover the complex relationships between the participants' socio-demographic profiles and their contraceptive behaviors. This multifaceted understanding is crucial for designing effective and targeted interventions.

The study's key findings highlight the importance of addressing the unique barriers and challenges faced by women with different socio-demographic backgrounds in accessing and utilizing family planning services. For instance, the

positive association between higher education levels and contraceptive use underscores the critical role of education in empowering women to make informed decisions about their reproductive health. Improving women's access to education, particularly in underserved communities, can be a powerful lever for increasing contraceptive use and promoting overall reproductive health and well-being. Additionally, the researchers found that older women and those with a higher number of children were more likely to use contraceptive methods. This suggests that family planning interventions and policies should also target younger women and those with fewer children, as they may face distinct barriers to accessing and using contraceptive services. Tailored outreach and education campaigns, along with the provision of affordable and accessible family planning services, can help address these disparities and ensure that all women, regardless of their age or parity, have the resources and support they need to make informed choices about their reproductive health.

Furthermore, the study's findings on the positive association between being married, having a higher number of children, and the use of contraceptive methods highlight the importance of considering the sociocultural context in which women make their reproductive decisions. Engaging with community leaders, religious institutions, and other influential stakeholders can help develop culturally sensitive interventions that resonate with the target population and address the social norms and power dynamics that may shape women's contraceptive behaviors.

References

1. *Antonio, A., & Tuffley, D. (2014). The Gender Digital Divide in Developing Countries. In Future Internet (Vol. 6, Issue 4, p. 673). Multidisciplinary Digital Publishing Institute.*
2. *Behera, S., & Yadav, K. (2020). Knowledge-utilization gap regarding modern methods of contraception among rural women attending an outreach health centre in North Delhi. In International Journal of Reproduction Contraception Obstetrics and Gynecology (Vol. 9, Issue 11, p. 4494). Medip Academy.*

3. *Bhan, N., Gupta, R., & Sharma, A. (2022). Impact of Education on Contraceptive Choices in Urban India. Journal of Reproductive Health, 19(1), 15-26.*
4. *Gupta, S., & Choudhary, S. (2023). Cultural Influences on Contraceptive Utilization in Urban Settings. International Journal of Family Planning, 28(2), 98-110.*
5. *He, K., Dalton, V. K., Zochowski, M. K., & Hall, K. S. (2016). Women's Contraceptive Preference-Use Mismatch. In Journal of Women s Health (Vol. 26, Issue 6, p. 692). Mary Ann Liebert, Inc.*
6. *Machiyama, K., Casterline, J. B., Mumah, J., Huda, F. A., Obare, F., Odwe, G., Kabiru, C. W., Yeasmin, S., & Cleland, J. G. F. (2017). Reasons for unmet need for family planning, with attention to the measurement of fertility preferences: protocol for a multi-site cohort study. In Reproductive Health (Vol. 14, Issue 1). BioMed Central.*
7. *Maity, B. (2023). Kanyashree Prakalpa –Prosperity Towards Right to Education for Women. In International Journal for Multidisciplinary Research (Vol. 5, Issue 3).*
8. *Method-Specific Attributes that Influence Choice of Future Contraception Among Married Women in Nairobi's Informal Settlements. (n.d.). Missed opportunities for breast awareness information among women attending the maternal and child health services of an urban tertiary hospital in Northern Nigeria. (n.d.).*
9. *Predictors of frequency of condom use and attitudes among sexually active female military personnel in Nigeria. (n.d.).*
10. *Reproductive health problems and their awareness among adolescent girls: a clinical study. (n.d.).*
11. *Sharma, P., & Gupta, M. (2022). The Role of Socio-Economic Factors in Family Planning: A Review. Indian Journal of Public Health Research and Development, 13(4), 45-50.*
12. *Weldemariam, K. T., Gezae, K. E., & Abebe, H. T. (2019). Reasons and multilevel factors associated with unscheduled contraceptive use discontinuation in Ethiopia: evidence from Ethiopian demographic and health survey 2016. In BMC Public Health (Vol. 19, Issue 1). BioMed Central.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

IP-Centric Digital Brand Building: How MSMEs Can Legally Protect Their Name, Logo, Content & Online Identity

Dr. Kavyani Kumawat
Asst. Prof. (Gujarat University, Ahemdabad)

Abstract

Micro, small, and medium enterprises (MSMEs) in India's digital economy are increasingly dependent on online platforms to attract customers, increase brand awareness, and compete with larger companies, But most MSMEs invest in logos, websites, packaging, and digital marketing, but very few protect these assets legally,making their brands vulnerable to misuse, duplicate, online impersonation, and marketplace fraud Intellectual property (IP) protection is now a must as digital-first branding becomes standard; It is a strategic requirement that determines trust, long-term growth, and competitiveness.

This chapter analyzes how MSMEs can include IP protection into their digital-first brand strategy using a systematic, practical, and cost-effective methodology. It proposes a novel five-pillar strategy for IP-centric digital brand development that combines legal protection, brand creation, digital marketing, and online presence. The strategy includes trade marking brand identifiers, safeguarding digital assets, copyrighting creative work, managing online reputation, and enforcing rights across many digital channels.

The conversation begins by redefining "digital brand" as a comprehensive identity that includes domain names, social media handles, product images, website

content, influencer collaborations, and online customer reviews. These intangible assets are key touch points in the customer decision process, but they are also the most easily copied and manipulated without legal protection. The chapter provides a thorough description of the legal framework applicable to digital branding, including trademark law, copyright rules, domain name restrictions, IT Act provisions, and consumer protection standards.

A practical, MSME-friendly roadmap is outlined, beginning with trademark registration—which is frequently overlooked due to misunderstandings about cost and complexity.

The chapter explains how MSMEs may undertake name searches, protect trademarks and taglines, and avoid disputes with similar brands. It then discusses tactics for protecting digital identities such as obtaining appropriate domain names, social media handles, and marketplace shops to avoid impersonation or cyber squatting.

Furthermore, the chapter underlines the need of copyrighting images, videos, catalogs, and AI-generated material, which serve as the visual and informational foundations of digital branding. It also tackles online credibility issues such as fraudulent reviews, deceptive influencer advertising, and forged listings, offering alternatives through platform settlement processes and legal action.

Real-world examples from Indian MSMEs show how a lack of IP protection causes revenue loss, brand harm, and consumer uncertainty on platforms like Instagram, Amazon, and WhatsApp. The chapter finishes with a step-by-step action plan for MSMEs to create a legally safe digital brand identity by integrating legal compliance with marketing strategy.

Finally, this chapter frames intellectual property protection as a growth accelerator, assisting MSMEs in increasing brand value, gaining investor trust, scaling across markets, and participating meaningfully in programs such as RAMP, SERP, and Entrepreneurship Development Programs.

Introduction

In today's competitive and technologically inclined arena, digital branding stands out as a critical driver of business success for micro, small, and medium-sized firms (MSMEs) in India. Customers are increasingly searching, shopping, evaluating, and engaging online, therefore MSMEs cannot rely simply on conventional branding or physical marketing tactics. A strong digital brand—characterized by a distinct online identity, consistent message, a prominent social media presence, and a reputable reputation—has become critical for market awareness, customer acquisition, and long-term success. MSMEs may compete on an equal footing with bigger enterprises thanks to digital branding, which allows for focused outreach, cost-effective advertising, and quantifiable engagement.

However, the digital environment presents new concerns, notably in terms of trademark exploitation, imitation, and identity theft. With easy access to design tools, social media platforms, and marketplace listings, brand copying has become common. MSMEs commonly face challenges such as counterfeit merchants utilizing similar brand names, lookalike logos spreading on e-commerce platforms, illegal product photo duplication, and phony social media accounts mimicking their company. Such infringements not only confuse customers, but also diminish brand value, damage confidence, and cause financial losses-often before the company has grown sufficiently to respond legally or strategically. The risk is exacerbated by the fact that many MSMEs do not properly register their brand names, logos, slogans, or digital content, believing that such safeguards are expensive or unnecessary.

However, the virtual environment presents new concerns, notably in terms of trademark exploitation, imitation, and identity theft. With easy access to design tools, social media platforms, and marketplace listings, brand copying has become common. MSMEs commonly face challenges such as counterfeit merchants utilizing similar brand names, lookalike logos spreading on e-commerce platforms, illegal product photo duplication, and phony social media accounts mimicking

their company. Such infractions not only confuse customers, but also diminish brand value, damage confidence, and cause financial losses—often before the company has grown sufficiently to respond legally or strategically. The risk is exacerbated by the fact that many MSMEs do not properly register their brand names, logos, slogans, or digital content, believing that such safeguards are expensive or unnecessary.

Examples from everyday life demonstrate the risks for MSMEs. A small company in India successfully protected its registered trademark "Coronil" against a well-known rival in the Arudra Engineers v. Patanjali Ayurved case, highlighting the significance of aggressive brand protection. On the other hand, MSMEs that put off or disregard trademark registration frequently have to deal with expensive rebranding, a decline in market share, and drawn-out legal disputes. These results highlight the strategic need for early legal protections for digital brands.

MSMEs continue to believe a number of falsehoods, such as that trademark is onl y for large corporations or that the procedure is costly and difficult.
These fallacies have been debunked by recent changes and government assistanc e.
MSMEs now have access to specialized IP centers, quicker digital procedures, an d lower registration costsall of which are intended to make brand protection more inexpensive and accessible.
A contemporary strategy for protecting your online identity includes registering a trademark and protecting digital assets, such as domain names and social media handles.

Neglect has serious repercussions, yet protection both short-term and long-term advantages.A strong IP-
centric brand strategy turns an MSME's name, logo, and content into assets that c an be defended in court and support long-term growth.

This creates new avenues for customer trust, market expansion, and worldwide r each in addition to strengthening resistance against online impersonation, counter feiting, and disinformation.

Investing in legal protection is an MSME's road map for a safe and lucrative futu re in a world where having a strong online presence is essential to success.

1. Being aware of the foundational elements of brand identity

A powerful brand is composed of a number of components that combine to give consumers a sense of identification, trust, and distinctiveness. It is crucial for MSMEs to understand these components since they can all be legally protected by various forms of intellectual property (IP) in a market that prioritizes digitalization. You may create a distinctive and defendable brand by having a thorough understanding of these elements.

Here is a thorough, unique breakdown of a brand's key elements:

What it is:

The vocal face of your company is your brand name. It is the term or phrase that clients use to recognize your business, goods, or services.

For instance, your store's name, product line, app, or even service brand.

Why it matters:

It is typically the first item that clients see and recall.

In a congested market, a distinctive brand helps you stand out.

It turns into a crucial component in establishing credibility and reputation.

How it is safeguarded:

It is possible to register a brand name as a trademark (word mark).

A registered trademark enables you to legally prevent others from using a name that is similar to yours and grants you the sole right to use that name in your business category.[26]

[26]https://www.gip-india.in/wp-content/uploads/2023/04/TRADEMARK-REGISTRATION-IN-INDIA.pdf?

MSMEs should use names that are unique and imaginative rather than generic or only descriptive. It is simpler to enforce and safeguard unique names.

c) Visual Design/Logo

What it is:

Your brand is visually represented by your logo. It could have unique typography, forms, icons, symbols, or a mix of these design components. It might also apply to distinctive layout patterns, color palettes, or package designs.

Why it matters:

Instant recognition is produced by visuals, frequently more quickly than by words.
A distinctive logo fosters an emotional bond with consumers.
Everyone sees it: on labels, websites, in ads, and on social media.

How it is safeguarded:

It is possible to register logos as trademarks.

Depending on the country, unique product shapes, patterns, or packaging may potentially be eligible for trade dress or design protection.

MSMEs should use the same colors, size, and style for their logo. Legal protection and brand identification are strengthened by consistency.

b) Content (text, pictures, videos, and artistic materials)

What it is:

Every creative product your company creates is considered content, including:
Text for websites and blog posts
Graphics and postings on social media
Images and videos of the products
Advertising, banners, and marketing brochures
Catalogs, jingles, animations, and presentations
Infographics, e-books, manuals, and imaginative layouts

Why it matters:

Digital engagement and visibility are fueled by content.
It conveys the character, message, and values of your brand.
Having high-quality material makes you appear reliable and competent.

How it is safeguarded:

Copyright law protects all original content from the time of creation.
If someone steals or misuses your work, copyright registration—which is optional in many countries—provides more solid legal proof.

Advice for MSMEs: When appropriate, include brief notifications like © [Year] [Brand Name]. All rights reserved.

How it is safeguarded:

When a domain name is the same as your brand name, it might be protected by trademark rights.
If you have trademark rights, social media companies will allow you to take action against fraudulent profiles.

Reclaiming domains that were stolen in bad faith is made easier by domain dispute resolution procedures like UDRP.

MSMEs: To avoid others claiming your domain names and social media handles, secure them as soon as you can, even before you debut.

How These Components Work Together

Your brand identity is shaped differently by each component, including your name, logo, content, and online presence. When all of these components are safeguarded by intellectual property rights, a powerful, unified, and legally sound brand is produced. This enhances your company's commercial worth in addition to preventing misuse.

Legal Framework for Digital Brand Protection

Legal Framework for Digital Brand Protection – Rephrased Version[27]

1. Trademark Law Basics

- In India, the **Trade Marks Act, 1999** governs the protection of brand identifiers such as names, logos, slogans, and even distinctive domain names. The law recognizes a trademark as any sign that helps customers distinguish one business's goods or services from another.
- Using someone else's trademark—or a confusingly similar variation—can constitute **infringement**. Owners of registered marks can seek court remedies such as:
  - orders stopping unauthorized use,
  - compensation for financial loss, or
  - surrender of infringing materials.
- Certain acts, like applying or selling goods with a fake trademark, may also attract **criminal liability** under the Act.
- Indian courts have clarified that domain names can function like trademarks. In the landmark **Satyam Infoway Ltd. v. Sifynet Solutions**, the Supreme Court held that a domain name is a form of business identifier and can be protected under trademark principles.
- Because India does not have a dedicated anti-cybersquatting statute, victims typically file cases under:
  - **trademark infringement**, or
  - **passing off** (used by owners of unregistered marks to stop misuse that causes confusion or damage to reputation).
- For disputes over ".in" extensions, the **INDRP** (India's domain dispute policy) offers a faster, arbitration-based remedy.

[27] https://mraviteja9949.medium.com/legal-framework-of-brand-protection-99f792193a27

International Protection

- MSMEs selling abroad can extend trademark protection through the **Madrid Protocol**, allowing a single application for multiple jurisdictions.
- Tools like WIPO's **Global Brand Database** help monitor similar marks internationally.

2. Copyright Protection for Digital Content

- The **Copyright Act, 1957** covers most forms of digital content: text, artwork, videos, software, graphics, sound, photographs, and web content.
- Copyright arises **automatically** the moment a work is created and fixed in a tangible or digital form—registration is optional but useful as evidence.
- Protection typically lasts for the creator's lifetime plus **60 years**.
- Amendments to the Act, especially in **2012**, strengthened protection for online works, including:
  - safeguarding digital storage,
  - penalties for bypassing digital locks or security features (DRM), and
  - rules preventing the removal or modification of digital rights information (metadata, author info).
- Authors also enjoy **moral rights**, meaning they can object to modifications that damage their reputation.

Intermediary Liability

- Online platforms and hosting services generally enjoy a "safe harbour" under the **IT Act, 2000**, meaning they are not liable for user-uploaded content as long as they:
  - follow due diligence, and
  - act swiftly on takedown requests.
- Although the IT Act is primarily a cybercrime law, its provisions often work alongside copyright rules for online infringement cases.

3. Domain Name Rules & Cybersquatting

India currently lacks a specific law that purely targets cybersquatting (registering domain names identical or deceptively similar to well-known brands).
Thus, domain name misuse is dealt with under:

- **Trademark law**, and
- **common-law passing off** principles.

To succeed in a domain dispute, the brand owner must usually show:

1. The domain is identical or confusingly similar to their trademark.
2. The registrant has no legitimate reason to use the name.
3. The domain was registered or used with dishonest intent.

For .in domains, the **INDRP** procedure allows quick arbitration instead of lengthy court cases.

4. IT Act & Consumer Protection Regulations

a. Information Technology Act, 2000

- This Act governs digital activities such as electronic records, cyber offences, and unauthorized access to computer systems.
- Certain provisions—like those penalizing tampering, hacking, or misuse of digital data—can support brand-related complaints, especially when online identity or digital assets are compromised.

b. Consumer Protection (E-Commerce) Rules, 2020

- These rules, introduced under the **Consumer Protection Act, 2019**, impose obligations on e-commerce businesses operating in India.
- Key responsibilities for online sellers and marketplaces include:
  - clearly displaying information about sellers, refund policies, warranties, and customer service,
  - appointing a grievance officer or nodal contact,
  - resolving complaints within prescribed timeframes, and

- avoiding unfair trade practices or manipulative pricing.
- Foreign platforms offering services to Indian consumers must also comply with these norms.

5. International Considerations for Export-Oriented MSMEs

- When a business expands across borders, its intellectual property must be protected in every region where it operates.
- Steps include:
  - registering trademarks internationally via the **Madrid System**,
  - conducting trademark searches in potential export markets,
  - securing domain names in different country-code extensions,
  - ensuring copyright notices and licensing terms cover global use, and
  - complying with consumer protection and digital commerce rules in each target country.
- MSMEs should also set up monitoring systems to detect trademark or domain misuse in foreign markets.

Common Risks for MSMEs

- **Cost of protection**: Trademark filings, renewals, and global registrations can strain small budgets.
- **Cross-border enforcement** is complex and requires legal assistance in other countries.
- **Domain squatting** can occur if MSMEs delay domain purchases.
- **Content theft** is widespread online and requires active policing of digital assets.
- **Compliance obligations** under e-commerce rules can be demanding but are essential to prevent penalties and protect customers.

This five-pillar model gives a structured, repeatable system for protecting a brand or creator across trademarks, online identity, content, reputation, and enforcement. It can be adapted for both individuals and organizations.

Overview of the five pillars

- Pillar 1: Trademarking – Protects names, logos, and brand identifiers in law so others cannot legally use confusingly similar marks for similar goods or services.
- Pillar 2: Digital identity protection – Secures domain names, social handles, and key online assets to prevent impersonation, phishing, and brand hijacking.
- Pillar 3: Content copyright – Ensures ownership and control over original content (text, images, video, code, training material, etc.) and how it is reused or monetized.
- Pillar 4: Reputation management – Monitors and shapes what appears online about the brand or person, including reviews, media mentions, and social chatter.
- Pillar 5: Enforcement & legal action – Uses graduated responses such as notices, platform complaints, and, if needed, civil and criminal legal proceedings against infringers.

Diagram: Five-pillar protection model

A simple conceptual diagram (you can recreate this in PowerPoint, Miro, or any drawing tool):

- Center: "Brand / Creator / Business"
- Around it, five segments like a shield:
- Top: Trademarking

- Top-right: Digital identity protection
- Bottom-right: Content copyright
- Bottom-left: Reputation management
- Top-left: Enforcement & legal action

Arrows go both ways between the center and each segment, showing continuous feedback: issues detected in any pillar (e.g., infringement) trigger action in Pillar 5, and insights then inform updating processes in Pillars 1–4.

Pillar 1: Trademarking

Trademarking turns brand identifiers into legal assets. A registered mark makes enforcement faster and stronger, and in many jurisdictions offers statutory remedies such as injunctions and damages. Trademarks can cover word marks (names), logos, taglines, and sometimes shapes, colors, or sounds if they are distinctive.

Trademarking: step-by-step guide

1. **Brand audit and selection**
   - List all names, logos, slogans, and product lines that are commercially important.
   - Decide which will be your "core marks" for registration and which can remain descriptive or internal.
2. **Clearance search**
   - Search national/regional trademark registers for identical or confusingly similar marks in related classes.
   - Check domains, app stores, and social media to see if similar names are in use; this lowers risk of later conflicts and oppositions.
3. **Define goods/services and classes**

- Map your current and planned offerings to relevant classes (e.g., Nice Classification).
- Draft clear, not overly broad, descriptions of goods and services to reduce objections and oppositions.

4. **Application filing**
   - Decide whether to file nationally, regionally (e.g., EU), or via international systems like Madrid depending on markets.
   - File in the name of the correct legal owner (company vs. individual) to avoid later transfer issues.

5. **Prosecution & registration**
   - Respond on time to office actions (e.g., objections about distinctiveness or conflicts).
   - If third parties oppose your application, consider negotiation, coexistence agreements, or narrowing the specification.

6. **Post-registration management**
   - Monitor renewal deadlines (often every 10 years) and keep using the mark as registered to avoid cancellation for non-use.
   - Use consistent branding and appropriate symbols (™ where unregistered, ® once registered, according to local law).

Table: Trademarking – key elements

Aspect	Why it matters	Typical actions
Clearance	Avoids legal conflicts and wasted marketing spend.	Database searches, legal opinions, online use scan.
Scope (classes)	Balances protection breadth vs. cost and risk.	Map offerings to classes, future-proof with near-term expansions.

Aspect	Why it matters	Typical actions
Geography	Protects in real markets of operation.	Register where you sell, manufacture, or plan near-term entry.
Maintenance	Keeps rights alive and enforceable.	Renewals, use tracking, updating owner details.

Pillar 2: Digital identity protection

Digital identity protection safeguards the primary online "entry points" through which users find and interact with a brand. This includes domains, social network handles, app store listings, and key email infrastructure.

Digital identity: step-by-step guide

1. **Asset inventory**
   - Catalogue:
   - Domain names (primary and variants)
   - Social media handles
   - Official email domains
   - App store / marketplace accounts
   - Official websites and microsites.
2. **Gap and risk analysis**
   - Identify missing or vulnerable assets:
   - Important domains not registered (e.g., other extensions or common typos).
   - Social handles held by third parties or impersonators.
   - Old domains still resolving but unmanaged, which can be hijacked.
3. **Acquisition and locking**

- Register strategic domains (country codes, common typos) that pose phishing or confusion risk.
- Secure handles on major platforms, even if only parked with a basic profile.

4. **Security hardening**
   - Enable multi-factor authentication (MFA) for all key accounts.
   - Implement DNS security best practices (SPF, DKIM, DMARC) to reduce email spoofing.
5. **Monitoring and incident response**
   - Set up alerts for new domain registrations similar to your brand and for new social accounts using your brand name.
   - Create playbooks for impersonation: how to report to platforms, notify users, and link to official channels.

Simple diagram: digital asset map

Draw a central node "Primary brand domain" with spokes to:

- Corporate site
- Support portal
- Email system
- Social media profiles
- Mobile apps

Across the top, add a bar labelled "Security & Monitoring" that overlays all spokes, indicating that each digital touchpoint is monitored and hardened, not managed in isolation.

Pillar 3: Content copyright

Copyright protects original works as soon as they are fixed in a tangible medium, such as text, images, video, software, graphics, and training materials. In many jurisdictions, registration is optional but enhances enforcement by creating a public record and sometimes enabling statutory damages.

Content copyright: step-by-step guide

1. **Content mapping and ownership**
   - List major content types (blog articles, whitepapers, videos, photos, UI designs, code, e-learning, marketing collateral).
   - Clarify ownership: ensure written agreements assigning IP from employees, contractors, agencies, and partners.
2. **Copyright registration strategy**
   - Identify high-value works for formal registration (flagship courses, software, core designs, major campaigns).
   - Batch-register where allowed (e.g., collections of blog posts or photographs) to reduce cost and admin.
3. **Rights and licensing framework**
   - Define standard license terms for customers, users, and partners (e.g., internal use only vs. redistribution).
   - Maintain a rights database noting who can use what, in which territories, and under what conditions.
4. **Notice, attribution, and records**
   - Add copyright notices and permitted-use statements to websites, apps, documents, and videos.
   - Maintain dated source files and publication logs to prove creation and priority if later challenged.
5. **Monitoring and takedown**

- Use periodic manual or automated searches for copied content (reverse image search, text search, marketplace scans).
- Prepare templates for takedown notices to hosts, platforms, and search engines under local law.

Table: Content copyright – core controls

Control area	Description	Benefit
Ownership clarity	Written IP clauses and assignments.	Avoids disputes with employees/contractors.
Registration	Formal registration of key works where available.	Stronger evidence and remedies in court.
Rights database	Central record of licenses and permissions.	Prevents accidental overuse or under-licensing.
Monitoring & notices	Regular scanning and standard takedown workflows.	Faster response to piracy and unauthorized copying.

Pillar 4: Reputation management

Reputation management focuses on what stakeholders see and think when they search for or encounter the brand online. It combines monitoring, response, and proactive content to maintain trust. Poor handling of negative events can amplify damage, while a structured approach can limit harm and even improve credibility.

Reputation management: step-by-step guide

1. Listening and monitoring

- Track:
- Search engine results for brand and key people
- Major review platforms
- Social media mentions and hashtags
- News and blogs in your sector.

2. Reputation baselining

- Establish your "normal" sentiment and visibility: typical rating levels, common complaints, and key strengths.
- Prioritize channels by business impact (for some, app store reviews are critical; for others, B2B forums or G2/Capterra matter more).

3. Response playbooks

- Define how to respond to:
- Legitimate negative reviews (acknowledge, correct, offer resolution).
- Misinformation or defamation (polite correction, evidence, escalation if malicious).
- Crises (coordinated messaging, timelines, FAQs).
- Assign clear roles: who approves statements, who posts, who liaises with legal.

4. Proactive reputation building

- Publish authoritative content that ranks for key brand searches (case studies, explainers, thought leadership).
- Encourage satisfied customers to leave honest reviews to stabilize ratings against occasional negatives.

5. Measurement and improvement

- Track metrics such as review averages, share of positive vs. negative search results, and issue-resolution times.
- Regularly review patterns in feedback to improve products, services, and communication.

Arrows move clockwise. From "Improve" an arrow goes back to "Monitor," indicating continuous learning and adjustment as new feedback comes in.

Pillar 5: Enforcement & legal action

Enforcement escalates from informal resolution to formal legal proceedings, depending on severity and persistence of violations. Trademark and copyright regimes typically allow civil remedies such as injunctions and damages, and in some cases criminal penalties for serious infringement like counterfeiting.

Enforcement: step-by-step escalation ladder

1. Internal assessment and evidence collection
   - Confirm there is a real infringement or harmful conduct (e.g., confusingly similar mark, copied content, phishing domain).
   - Collect evidence: screenshots, dated copies, registration certificates, logs of harm (lost sales, confusion reports).

2. Platform and host remedies

- Use reporting mechanisms of marketplaces, app stores, social platforms, and hosting providers to remove infringing listings, impersonation accounts, or pirated content.
- Provide clear evidence of your rights and the violation to improve success rates.

3. **Cease and desist communication**

- Send a structured letter or notice to the infringer describing the rights, the violation, and required actions with a deadline (e.g., stop use, destroy stock, transfer domain).
- This step often resolves many cases without litigation and may be required before some courts look favorably on claims.

4. Civil legal proceedings

- When informal measures fail, file civil suits for trademark or copyright infringement.
- Courts may grant injunctions to stop infringing use and can award damages, account of profits, and sometimes legal costs where laws allow.

5. Criminal enforcement (where applicable)

- For serious, willful infringement such as counterfeiting or large-scale piracy, some laws allow criminal complaints that may lead to fines, seizure of goods, and imprisonment.
- Criminal tools are typically reserved for high-impact, systemic offenders rather than minor online misuse.

6. Post-enforcement follow up

- Monitor the infringer and related channels to ensure compliance (e.g., rebranding actually implemented, stock destroyed, domains transferred).

Use lessons from each case to update trademark coverage, digital protections, and monitoring rules.

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Table: enforcement tools vs. typical use		
Tool / remedy	**Typical use case**	**Notes**
Takedown / platform report	Online listings, social impersonation, pirated files.	Fast, low-cost, relies on platform policies.
Cease and desist	First formal step for many infringements.	Often resolves disputes without court.
Civil lawsuit	Significant harm, repeated or strategic infringements.	Can obtain injunctions and damages.
Criminal complaint	Counterfeiting, large-scale piracy.	Involves law enforcement; higher threshold and impact.

ntegrated implementation roadmap

To operationalize the five-pillar model, an organization can run a phased program:

1. **Foundation (Months 1–3)**
   - Complete audits: brand identifiers, digital assets, content inventory, and current online reputation.
   - Prioritize: select marks for trademark filing, key content for copyright registration, highest-risk digital assets.
2. **Build core protections (Months 3–6)**
   - File priority trademark applications.
   - Secure domains and social handles; implement basic security controls.

- Formalize IP ownership clauses and register high-value content where relevant.

3. **Operationalize monitoring (Months 6–9)**
   - Set up routine monitoring for brand mentions, infringements, and impersonation.
   - Introduce reputation playbooks and standard takedown/notice templates.
4. **Refine and enforce (Month 9 onward)**
   - Use the escalation ladder when issues arise, documenting each case.
   - Adjust trademark coverage, digital protections, and content strategy based on observed attack patterns and reputation trends.

This model is a general framework for education and planning and is not legal advice. Specific actions, especially in Pillar 5, should be designed with qualified counsel in the relevant jurisdictions because procedures, available remedies, and risks vary by country and by individual facts. When creating your own documents, ensure they are original and respect others' intellectual property, avoiding any copying of third party material without permission.

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Social Justice in Modern India: From Constitutional Promise to Transformative Politics

Dr. Nirmala Kumari
Associate Professor
Department of Political Science
Magadh University, Bodh Gaya

Abstract

Social justice has been a defining normative principle of the Indian constitutional order and a central objective of postcolonial state-building. Conceived as a response to deeply entrenched social hierarchies, the idea of social justice in India encompasses political equality, economic redistribution, and social dignity. Through constitutional guarantees, affirmative action, welfare policies, and judicial interventions, the Indian state has sought to address historical injustices rooted in caste stratification, gender inequality, and economic deprivation. Despite these sustained efforts, empirical evidence continues to reveal the persistence of structural inequalities across social groups.

This paper critically examines social justice in modern India by situating constitutional ideals within the broader political economy of development and democratic governance. It argues that while India has achieved significant progress in procedural equality and political representation, substantive and transformative social justice remains constrained by institutional limitations, uneven development, and enduring socio-cultural hierarchies. The paper concludes by emphasizing the need to reorient social justice discourse toward intersectionality,

participatory governance, and institutional reform in order to fulfill the constitutional promise of justice.

Keywords: Social Justice; Indian Constitution; Caste Inequality; Welfare State; Political Economy; Affirmative Action; Democratic Governance

Introduction

Social justice occupies a central place in India's constitutional imagination and democratic self-understanding. Unlike many liberal democratic constitutions that emphasize individual rights alone, the Indian Constitution explicitly commits the state to securing social, economic, and political justice. This commitment reflects the historical realities of Indian society—marked by caste hierarchy, gender inequality, economic deprivation, and colonial exploitation.

The challenge before independent India was therefore not merely the establishment of political democracy through universal adult franchise, but the transformation of a deeply hierarchical social order. B. R. Ambedkar and other framers of the Constitution recognized that political equality without social and economic justice would remain hollow. As Ambedkar warned, democracy could not survive in India without social democracy based on liberty, equality, and fraternity.

More than seven decades after independence, India presents a paradox. On the one hand, constitutional safeguards, reservation policies, and welfare schemes have expanded access to education, employment, and political representation for marginalized groups. On the other hand, caste discrimination, gender inequality, economic polarization, and regional disparities continue to shape social outcomes. This contradiction raises fundamental questions about the nature and limits of social justice in modern India.

This paper argues that while the Indian state has made substantial advances in procedural and representational justice, it has struggled to achieve substantive and transformative social justice. Persistent inequality must therefore be understood as a structural and institutional challenge rather than a mere policy failure.

Methodological Note

This study adopts a qualitative and analytical approach, drawing upon constitutional texts, policy documents, secondary scholarly literature, and recent national-level survey data. The analysis is informed by political theory and political economy perspectives, focusing on the relationship between state institutions, social hierarchies, and distributive outcomes.

Rather than evaluating individual schemes in isolation, the paper examines broader institutional patterns shaping social justice in India. This approach allows for a critical engagement with both constitutional ideals and empirical realities.

Theoretical Perspectives on Social Justice

The concept of social justice has been theorized across multiple intellectual traditions. Liberal theories, particularly those articulated by John Rawls, emphasize fairness, equality of opportunity, and institutional legitimacy. Rawls ' difference principle allows inequalities only if they benefit the least advantaged, offering an important normative framework.

However, liberal approaches often assume relatively homogeneous social conditions and understate historically entrenched hierarchies. In societies such as India, inequality is not only economic but also social and cultural.

Amartya Sen's capability approach provides a more context-sensitive framework by shifting attention from formal equality to individuals 'substantive freedoms and capacities. Sen's emphasis on education, health, and agency resonates strongly with India's development challenges.

Ambedkarite thought offers the most radical critique of social injustice in India. Ambedkar identified caste as a system of graded inequality sustained through social norms, religious sanction, and economic exclusion. His insistence on social democracy underscores the limitations of legal equality in the absence of social transformation. From this perspective, social justice requires dismantling caste-based power structures rather than merely compensating for their effects.

Constitutional Foundations of Social Justice

The Indian Constitution represents one of the most ambitious attempts to institutionalize social justice within a democratic framework. The Preamble affirms justice—social, economic, and political—as a foundational value of the Republic. Fundamental Rights guarantee equality before law, prohibit discrimination, and abolish untouchability, marking a decisive moral and legal break from the past.

The Directive Principles of State Policy further mandate the state to promote welfare, reduce inequalities, ensure adequate livelihood, and distribute material resources equitably. Although non-justiciable, these principles articulate a vision of substantive justice and socio-economic transformation.

Together, these constitutional provisions reflect an integrated approach to justice combining rights, redistribution, and social reform. However, uneven implementation and political prioritization have limited their transformative potential.

State Intervention and Social Justice

1. Affirmative Action

Affirmative action, particularly reservation policies for Scheduled Castes, Scheduled Tribes, and Other Backward Classes, constitutes the most visible instrument of social justice in India. These measures have expanded representation in education, public employment, and political institutions, contributing to social mobility and symbolic empowerment.

At the same time, reservations face significant limitations. Benefits have been unevenly distributed, with relatively advantaged sub-groups capturing disproportionate gains. Moreover, the contraction of the public sector in the post-liberalization period has reduced the scope of these policies, raising questions about their long-term effectiveness.

2. Welfare Policies

India's welfare state has expanded considerably, encompassing employment guarantees, food security programs, education incentives, and social protection schemes. These interventions have reduced absolute poverty and improved basic living standards.

However, welfare policies often operate within fragmented and targeted frameworks that prioritize minimum relief rather than structural transformation. As a result, they mitigate deprivation without fundamentally altering social hierarchies or intergenerational inequality.

Persistent Structural Inequalities

Despite constitutional guarantees and policy interventions, structural inequalities remain deeply entrenched. Educational attainment among Scheduled Castes and Scheduled Tribes continues to lag behind national averages, particularly at higher levels of education. Economic data reveals persistent disparities in income, wealth, and employment quality.

Labor markets remain segmented along caste lines, with marginalized groups overrepresented in informal, low-paying, and insecure work. Gender further compounds these inequalities. Women from marginalized communities face intersecting disadvantages across education, health, and employment.

These patterns indicate that formal equality and targeted benefits have not translated into substantive equality of outcomes.

Civil Society, Judiciary, and Democratic Contestation

Civil society organizations and social movements have played a crucial role in expanding the scope of social justice discourse in India. Dalit movements, feminist activism, tribal resistance, and rights-based campaigns have shaped legislation, judicial interpretation, and public policy.

The judiciary, particularly through public interest litigation, has expanded access to socio-economic rights and enhanced state accountability. However, concerns regarding accessibility, institutional capacity, and uneven enforcement remain.

From a political science perspective, these forms of contestation highlight the dynamic nature of Indian democracy, where social justice is continuously negotiated rather than conclusively resolved.

Social Justice in the Era of Liberalization

Economic liberalization has significantly altered the relationship between the state, market, and society. While economic growth has expanded opportunities and reduced absolute poverty, it has also intensified inequality, labor informality, and regional disparities.

The partial retreat of the state from welfare provisioning raises critical questions about the future of social justice in a market-oriented economy. Ensuring justice under these conditions requires integrating redistributive policies with regulatory frameworks that protect vulnerable groups and promote inclusive growth.

Conclusion

Social justice in modern India remains an unfinished and contested project. The constitutional framework provides a powerful normative foundation, and state interventions have produced meaningful gains in rights recognition and political representation. However, persistent structural inequalities reveal the limits of procedural and compensatory approaches.

The transition from procedural justice to transformative justice—grounded in intersectionality, participatory governance, and institutional reform—is essential for realizing the constitutional promise of social justice. Such a reorientation is vital not only for social equity but also for the legitimacy and resilience of India's democratic order.

References (Indicative)

1. *Ambedkar, B. R. Annihilation of Caste.*
2. *Ambedkar, B. R. States and Minorities.*
3. *Government of India. The Constitution of India.*
4. *Rawls, J. A Theory of Justice.*
5. *Sen, A. Development as Freedom.*
6. *Sen, A. The Idea of Justice.*
7. *Deshpande, S. Contemporary India: A Sociological View.*
8. *Government of India. National Family Health Survey (2019–21).*

Cycles of Deprivation: Period Poverty and Gender Inequality in Jharkhand

Pallavi Sarkar
Research Scholar
Department of Sociological Studies
Central University of South Bihar

Abstract

Period poverty in India and more so in Jharkhand operates at the intersection of poverty, marginalization, and gendered cultural practises that produce entrenched socio-cultural perils that extend far beyond hygiene to redefine mobility, schooling and social positioning in the society. Period poverty in Jharkhand is scrutinized not only as a form of tangible deprivation that is limited access to sanitary products, safe sanitation, and menstrual health information, but also as an intangible multi-dimensional social process that replicates gendered stigma, limits mobility, and moulds opportunities for adolescent girls and women. Findings show that menstrual exclusion bisects caste, class, and rural–urban residence to produce multifaceted disadvantages. There is a rise in school absenteeism and dropout rates during menarche, the participation in public and economic life is curtailed by shame and discriminatory norms, and alongside this, household decision-making often deprioritizes menstrual needs. The perennial local cultural beliefs and the hush around menstruation sustain secrecy, reduce health-seeking behaviour, and limit the effectiveness of material interventions. This paper aims to investigate the socio-cultural impact of period poverty, examining how menstrual health inequality affects the lives of women in Jharkhand. It argues that the stigma

associated with menstruation not only affects health but also has far-reaching socio-cultural consequences on education, gender equality, and social participation.

Keywords: marginalization, gendered stigma, menarche, material interventions.

Introduction

Menstruation, a natural biological process marking the commencement of procreative maturity in women, has long been encompassed by social stigma, silence, and inequality in India. A 2025 study by the UN reports that every month, more than two billion people around the world menstruate. Period poverty can be defined as the dearth of access to safe and hygienic menstrual products during monthly periods and the inaccessibility to basic sanitation services or facilities, as well as menstrual hygiene education. Period poverty, therefore, is not merely a question of material deprivation—it is a deeply social phenomenon shaped by structures of gender, class, caste, and culture. It influences women's dignity, health, and participation in public life. A UN Report by 2025 states that at least 1 in 10 women and girls in rural areas across 12 countries did not have a private place to wash and change during their last period. In the state of Jharkhand, a state portraying a beautiful amalgamation of the rural, tribal and urban areas, the issue takes on a particularly layered socio-cultural dimension. The NITI Aayog's National Multidimensional Poverty Index 2023 points out that the percentage of the total population who are multidimensionally poor in Jharkhand stands at 28.81%, which is much higher than Chhattisgarh at 16.37% and Uttarakhand at 9.67%, the three states that were formed during the same time. Surveying the social meanings and consequences of period poverty in this context provides deep insights into how inequality is produced, normalized, and resisted in everyday life. While menstruation is a biological process, the way it is understood, managed, and discussed is a social construction. Sociologists argue that the body is not only biological but also cultural—subject to meanings, regulations, and expectations produced by society. In patriarchal contexts, menstruation often becomes a site of

social control over female bodies. The shame and secrecy surrounding it reflect broader gender hierarchies and notions of purity and pollution embedded in social institutions such as family, religion, and education. Thus, period poverty must be understood not simply as a lack of pads or toilets, but as a manifestation of gendered power relations that limit women's autonomy and reinforce their marginal position in society.

In Jharkhand, a state characterized by its socio-economic diversity, high rural population, and substantial tribal communities, these power relations are compounded by poverty, low literacy, and limited healthcare infrastructure. According to the National Family Health Survey (NFHS-5), only about 57% of women in Jharkhand use hygienic methods of menstrual protection, compared to the national average of around 78%. This gap highlights how structural inequalities—economic, educational, and geographic—intersect to create a context of menstrual vulnerability. Yet, numbers alone cannot capture the lived realities of girls and women who navigate menstruation amid deep-rooted taboos and silence. A sociological lens helps to reveal how cultural beliefs and social norms translate these material shortages into lived forms of exclusion, shame, and reduced life chances.

In many communities across Jharkhand, menstruation is still considered impure. Traditional customs prohibit menstruating women from entering kitchens, temples, or even participating in community gatherings. Among several tribal groups, menstruating women are made to isolate themselves in separate huts or designated corners of the house. These practices, while often justified as cultural traditions, symbolically mark women's bodies as polluting and reinforce gender segregation. They serve as everyday mechanisms through which patriarchy and religious morality discipline women's bodily functions.

These cultural taboos also shape how knowledge about menstruation is transmitted. Conversations about menstruation are rare in families, and most girls learn about it only when they first experience it. The secrecy imposed on menstrual

discourse cultivates feelings of fear, embarrassment, and bodily shame. Sociologically, this silence functions as a form of symbolic violence—it normalizes inequality by making it appear natural or inevitable. The absence of open discussion not only perpetuates misinformation but also prevents young girls from accessing accurate health knowledge or demanding better facilities.

The impact of period poverty is particularly visible in educational settings. Studies across Jharkhand indicate that many adolescent girls miss school during menstruation due to a lack of sanitary products, inadequate toilets, or fear of staining. Some even drop out entirely after reaching puberty. Schools often lack basic infrastructure such as separate toilets for girls, running water, and disposal mechanisms for menstrual waste. The stigma attached to menstruation compounds this deprivation—girls may face teasing or humiliation if their menstrual status becomes visible. In sociological terms, this exclusion reflects how institutions reproduce gender inequality. Schools, which are meant to be sites of empowerment, can instead become arenas where gendered bodily difference becomes a source of disadvantage.

The consequences extend beyond education. Women facing period poverty often withdraw from social, religious, and economic activities during menstruation, limiting their mobility and participation in public life. For working women, especially those in informal or agricultural sectors, the inability to manage menstruation hygienically can affect productivity and income. Thus, menstrual poverty contributes to broader patterns of gendered marginalization, reinforcing women's dependency and limiting their agency.

A nuanced understanding of period poverty in Jharkhand requires an intersectional analysis—one that recognizes how multiple identities and structures of oppression interact. Rural and tribal women face unique challenges due to geographical isolation, lack of infrastructure, and lower income levels. Access to affordable menstrual products is limited in remote areas, and local markets often do not stock sanitary pads. For many tribal communities, the prioritization of

menstrual hygiene within household expenditure is low, as families struggle with basic needs like food and shelter. Caste also plays a role; in some areas, notions of purity and pollution are more rigidly enforced among upper-caste households, intensifying the social restrictions placed on menstruating women.

Despite these challenges, the landscape of menstrual discourse in Jharkhand is slowly changing. Grassroots organizations, youth-led initiatives, and women's self-help groups are beginning to break the silence around menstruation. Campaigns promoting menstrual education in schools, training community health workers, and encouraging local production of reusable pads are fostering new forms of awareness and empowerment. These initiatives represent not only health interventions but also acts of cultural resistance—efforts to redefine menstruation as a symbol of strength rather than shame.

Sociologically, such movements are significant because they challenge dominant gender norms and open up spaces for dialogue and transformation. When women speak openly about menstruation, they assert control over their bodies and disrupt the patriarchal structures that render them invisible. The emerging discourse around menstrual dignity thus becomes a vehicle for broader struggles for gender justice and social inclusion.

Period poverty in Jharkhand cannot be fully understood through biomedical or economic frameworks alone. It demands a sociological analysis that situates menstrual practices within systems of meaning, power, and social organization. The phenomenon reveals how inequality operates simultaneously at structural and symbolic levels: the lack of material resources intersects with cultural taboos to produce lived experiences of exclusion. Addressing period poverty, therefore, requires not only providing affordable sanitary products but also transforming the social conditions that perpetuate stigma and silence.

A sociological perspective allows us to see menstrual health as part of a continuum of gendered disadvantage linked to education, labour, health, and rights. It highlights the need for gender-transformative policies that integrate menstrual

education into school curricula, ensure infrastructure in both schools and workplaces, and promote community dialogues that challenge harmful beliefs. Ultimately, tackling period poverty in Jharkhand is not just a public health or development issue—it is a question of social justice and human dignity.

Impact of Period Poverty

Period poverty is the dearth of access to affordable menstrual products, clean water, sanitation facilities, and accurate information and has profound health, educational, social, and economic impacts on girls and women in Jharkhand. Despite progress in some areas, significant gaps persist, particularly in rural and marginalized communities.

According to NFHS-5 (2019–21), menstrual hygiene practices among young women (aged 15–24) in Jharkhand reveal both improvements and persistent challenges. The survey shows that 75% of women aged 15–24 use a hygienic method of menstrual protection, such as sanitary napkins, locally prepared napkins, tampons, or menstrual cups, up from 50% in NFHS-4 (2015–16), indicating considerable progress. However, use of hygienic methods remains lower in rural areas (70.8%) compared with urban areas (88.2%).

The types of products used during menstrual are also revealing about 56% of young women in Jharkhand report using cloth during menstruation, while around 52% use sanitary napkins. Smaller proportions use locally prepared napkins (22%) or tampons (3%). These figures show that even though many young women are using hygienic methods, a large proportion rely on cloth, which, if reused and poorly cleaned, can increase risks of infections.

NFHS data highlights how education influences menstrual hygiene choices: women with higher education are significantly more likely to use hygienic products than those with little or no schooling. Although specific state-wise educational correlations for Jharkhand in NFHS-5 are not publicly available in the

summary reports, national trends show that women with more schooling are much more likely to use hygienic methods than women with no schooling.

Inadequate menstrual hygiene is linked to reproductive and urinary tract infections. Using unhygienic materials or lacking access to clean toilets and disposal systems can expose young women to harmful bacteria. These health risks can impact school attendance and quality of life, particularly for girls who already face barriers to education.

Period poverty directly affects school attendance. A report titled Beyond Restrooms: Understanding the Educational and Social Ramifications of Inadequate Toilet Access for Girls in Jharkhand, Government mandates stipulate the construction of one toilet each for boys and girls for schools with fewer than 20 students, two toilets each for 20-35 students, three toilets each for 35-60 students, and four toilets each for more than 60 students. However, the rapid assessment reveals a significant discrepancy, with one toilet for anywhere between 17 and 410 girls.

Girls without access to sanitary products may miss days of school during menstruation, which can accumulate into significant lost learning over time. A study by Prasad et al. (2019) indicated that 27% of adolescent girls skip school during their menstruation cycle due to inadequate facilities, including lack of access to sanitary products, water, and private toilets. In places where school sanitation facilities are insufficient — lacking privacy, water, or disposal facilities — girls may be discouraged from attending during menstruation, compounding educational inequities.

In Jharkhand, like in many parts of India, cultural taboos and stigma around menstruation persist. Shame and secrecy can prevent open discussions about menstruation, limit girls' mobility during their periods, and reduce their participation in social and community life. These norms undermine confidence and exacerbate feelings of embarrassment or exclusion. According to NFHS-5 (2019–2021) data, 70.8% of women aged 15–24 years now use hygienic methods of

protection during their menstrual periods. However, the rapid assessment with girls revealed that 83.1% of the surveyed schools do
not provide sanitary napkins.

Household economics also play a role. Commercial menstrual products can be expensive for low-income families. When families are unable to purchase adequate sanitary products, girls and women resort to cloth or locally made alternatives that are often less hygienic. Lower educational attainment due to absenteeism and diminished workforce participation among women because of menstrual challenges hinder broader economic development.

A report titled Beyond Restrooms: Understanding the Educational and Social Ramifications of Inadequate Toilet Access for Girls in Jharkhand stated that 56.4% of the surveyed schools did not have water facilities within their toilets. As a result, girls are compelled to carry water from outside to clean themselves after using the toilet. This practice often leads to water spillage, wetting their clothes and potentially increasing the risk of infections such as urinary tract infections (UTIs). Many schools and public places in Jharkhand still lack gender-segregated toilets, reliable water supply, and disposal mechanisms — essential components to support menstrual hygiene. While national and state programmes are increasingly promoting access to affordable sanitary products and awareness campaigns, implementation, especially in remote areas, remains uneven.

Period poverty in Jharkhand, as evidenced by NFHS data, continues to affect health, education, dignity, and economic opportunities for girls and women. Although there has been progress in the uptake of hygienic menstrual methods, significant disparities, especially between urban and rural areas, persist. Addressing these challenges through comprehensive policy, improved infrastructure, education, and community engagement is crucial for gender equity and sustainable development.

Consequences of Period Poverty

Period poverty - lack of safe, affordable menstrual products, adequate washing facilities, information and a stigma-free environment - has tangible and interlinked consequences for girls and women in Jharkhand. Although recent national surveys show improvement in hygienic material use, persistent gaps in access, facilities and awareness in many parts of the state create a cascade of health, educational, social and economic harms that are worth unpacking.

The most immediate outcome of period poverty is poor menstrual hygiene, which increases the risk of reproductive tract infections, urinary tract infections and other health problems when women reuse unclean cloth, cannot wash or dry materials properly, or lack access to clean toilets and water. Evidence from India's health literature documents these links and highlights that inadequate facilities and practices are associated with higher rates of infection and discomfort among adolescent girls and women. At the population level, NFHS and related analyses show a rapid rise in use of hygienic methods in many states, but pockets of low access remain -which means avoidable health burdens persist in underserved districts of Jharkhand.

Menstruation without adequate support causes girls to miss school frequently or entirely. Local studies from Jharkhand document that girls often skip classes during their periods when there are no private, clean toilets or no absorbent materials—some studies estimate girls miss several weeks of school annually because of menses-related problems. This chronic absenteeism reduces learning time, lowers exam performance, weakens school attachment and raises the chance of permanent dropout — especially around menarche, when social pressure and lack of facilities intersect. Over time, these educational losses translate into reduced skills, lower secondary completion rates and fewer opportunities for higher education or formal employment.

When adolescent girls and working women lack menstrual access, there are economic ripple effects. Girls who drop out of school have constrained future

earnings; women who miss work during menstruation lose daily wages or productivity. At the household level, these losses compound gendered poverty — reduced earning potential and fewer pathways to financial independence can lock families into intergenerational disadvantage. Public programs that provide pads can help, but inconsistent supply and gaps in reach limit economic benefits unless accompanied by broader infrastructure and schooling investments.

Period poverty is embedded in social norms that stigmatize menstruation. In many rural and tribal pockets of Jharkhand, myths and taboos restrict girls' mobility, participation in religious or community life, and even household chores. These restrictions erode dignity and reinforce the idea that menstruation is shameful — a belief that can accelerate social isolation. The loss of schooling and community engagement around puberty is also a risk factor for early marriage in some contexts, which carries its own set of health and social harms. Addressing period poverty is therefore also a matter of gender justice and social inclusion.

Chronic shame, anxiety about leaking or being seen, and the stress of managing menstruation in unsafe places affect mental well-being. For adolescents, this undermines confidence, classroom participation and aspirations. The compound effect of stigma plus missed education can shape life trajectories: lower self-efficacy, constrained occupational choices, and reduced civic participation over the long term.

In Jharkhand, lack of water, sanitation and private changing spaces at home and in schools is a fundamental driver of period poverty. Even when sanitary products are available through schemes, inadequate disposal systems and the absence of safe, lockable toilets make their use impractical. NFHS-derived state fact sheets and program documents show progress in hygienic material use, but they also underscore uneven improvements across districts and rural–urban divides, pointing to infrastructure and supply-chain weaknesses that policy must address.

Conclusion

Period poverty in Jharkhand emerges as a deeply structural problem that goes far beyond the absence of sanitary products. It is rooted in intersecting inequalities of poverty, gender, education, infrastructure and social norms, and its consequences are cumulative and long-lasting. For many girls and women, the inability to manage menstruation safely and with dignity translates into poor physical health, persistent discomfort and heightened vulnerability to infections. These health outcomes are closely linked to gaps in water, sanitation and hygiene facilities, particularly in rural and tribal areas, where basic amenities remain unevenly distributed.

The educational cost of period poverty is equally profound. Menstrual-related absenteeism, lack of concentration and eventual school dropout during adolescence weaken girls' academic trajectories at a critical stage of life. Over time, this educational disruption narrows employment opportunities and reinforces gendered patterns of economic dependence. In this way, period poverty contributes to the reproduction of intergenerational poverty, limiting not only individual advancement but also the broader human development potential of the state.

Socially and psychologically, menstrual stigma undermines dignity, self-esteem and agency. Restrictions on mobility, silence around menstruation and internalized shame normalize exclusion and reinforce patriarchal controls over women's bodies. These experiences shape girls' self-perception and aspirations, affecting their participation in public life and decision-making processes.

While survey data indicate an increase in the use of hygienic menstrual methods, these gains remain uneven and fragile without parallel investments in infrastructure, education and community sensitization. Addressing period poverty in Jharkhand, therefore, requires a holistic, rights-based approach that integrates menstrual health into public health, education, sanitation and gender justice frameworks. Ensuring menstrual dignity is not merely a welfare intervention; it is

a prerequisite for achieving substantive equality, social inclusion and sustainable development for women and girls across the state.

References

1. *Chakrabarty, M., Singh, A., Singh, S., & Tripathi, P. (2023). Spatiotemporal change in socioeconomic inequality in hygienic menstrual product use among adolescent girls in India during 2015–2019.International Journal for Equity in Health, 22(202).*
2. *Khurana, S., & Kaur, P. (2020). Period poverty. Indian Journal of Public Social Law, 1(1), 292–316.*
3. *Zunjrute, S., Tichkule, S., & Shinde, V. (2025). Breaking invisible barriers: Sanitation, menstrual health, and cultural stigmas in schools — A case study from Jharkhand. International Journal for Multidisciplinary Research and Analysis, 8(9), 5224–5228.*
4. *Menstrual hygiene practices among adolescent women in rural India: A cross-sectional study. (2022). BMC Public Health, 22(2126).*
5. *Meher, T., & Sahoo, H. (2023). Dynamics of usage of menstrual hygiene and unhygienic methods among young women in India: A spatial analysis. BMC Women's Health, 23(573).*
6. *Period Poverty: A neglected public health issue. (2023). Journal of Global Health Reports.*
7. *A scoping review of period poverty in India and the United States. (2024). Health & Social Work.*
8. *8.Period poverty in India: An analysis of the National Family Health Survey. (2024). Tremedia Journal of Public Health.*
9. *Period poverty and menstrual belonging: A matter of climate justice. (2022). The Lancet Planetary Health, 6(3), e214–e215.*

Discrimination of Persons with Disabilities at Workplace and Participation in the Gig Economy in India

Shiv Kumar Gupta
Research Scholar
Department of Public Administration
Siddharth University, Kapilvastu, Siddharth Nagar Uttar Pradesh

Abstract

The rapid expansion of the gig economy In India has redefined traditional employment structures, offering flexible, on-demand work opportunities across various sectors. While this shift has opened doors for many, it has not been equally inclusive for all segments of society—particularly persons with disabilities (PwDs). This research paper explores the dual realities of the gig economy for PwDs in India, highlighting both the potential for empowerment and the persistent barriers they face. Despite progressive legislation like the Rights of Persons with Disabilities Act, 2016, and national campaigns such as Accessible India, systemic discrimination, digital inaccessibility, and inadequate support mechanisms continue to limit the meaningful participation of PwDs in this growing sector. The paper Investigates key challenges, including biased hiring practices, lack of reasonable accommodations, and exclusionary digital interfaces that restrict access to gig platforms. It also evaluates the role of technology and inclusive design in addressing these obstacles, with special attention to innovations such as AI-based job portals (e.g., Swarajability), assistive technology tools (e.g., Oswald Labs'

offerings), and corporate efforts toward accessible platform design, like Urban Company's app updates. Through case studies of inclusive businesses and platforms—such as Mitti Café and Atypical Advantage—the research illustrates successful models that bridge the gap between disability and opportunity.

This study concludes that while the gig economy presents immense possibilities for PwDs, realizing its full potential requires coordinated efforts from policymakers, private companies, civil society, and digital developers. Key recommendations include strengthening legal enforcement, ensuring digital accessibility, expanding skill development initiatives, and incentivizing inclusive hiring. Ultimately, a truly inclusive gig economy in India will not only advance the rights of persons with disabilities but also contribute to a more equitable and resilient workforce.

Keywords: Gig Economy, Persons with Disabilities (PwDs), Workplace Discrimination, Digital Accessibility Inclusion, Rights of Persons with Disabilities Act 2016, Assistive Technology, Discrimination in Hiring, Skill Development, Corporate Inclusion, Disability, Rights, India, Social Inclusion

Introduction

India's gig economy has witnessed exponential growth, driven by digital platforms offering services ranging from ride-sharing to freelance work. While this growth presents new employment avenues, it also raises concerns about inclusivity, especially for PwDs. Despite legislative efforts like the Rights of Persons with Disabilities Act, 2016, PwDs continue to face barriers in accessing gig work opportunities.

In recent years, fueled by technological advancements, widespread internet access, and a shift toward flexible work arrangements. Digital platforms such as Uber, Swiggy, Urban Company, and freelancing portals have reshaped the employment landscape, offering workers autonomy, task-based income, and remote work possibilities. For many, these developments represent a

democratization of employment. However, for persons with disabilities (PwDs), the story is far more complex. Despite the apparent openness of digital gig work, significant structural and systemic barriers continue to hinder the full participation of disabled individuals in this emerging economy.

According to the 2011 Census, over 2.68 crore (26.8 million) people in India live with some form of disability. This figure is likely underreported, and yet it underscores the importance of ensuring equitable access to employment opportunities for this sizable population. PwDs continue to experience disproportionately high levels of unemployment and underemployment, owing to a combination of discrimination, social stigma, infrastructural inaccessibility, and lack of supportive policy implementation. In this context, the gig economy could serve as a powerful equalizer—offering location-independent work, task-based roles, and flexible schedules suited to varied physical and cognitive abilities. However, this potential remains largely untapped.

Legal Framework

India's legal and constitutional landscape provides a foundation for the protection and empowerment of persons with disabilities (PwDs), particularly in employment and access to services. However, the application of these laws within the fast-evolving gig economy remains limited and underdeveloped. This section explores the key legislative and policy instruments relevant to the inclusion of PwDs in the world of gig work.

1. Rights of Persons with Disabilities (RPwD) Act, 2016

The most significant legal instrument is the Rights of Persons with Disabilities Act, 2016, which replaced the earlier 1995 Act and brought Indian law in line with the United Nations Convention on the Rights of Persons with Disabilities (UNCRPD), to which India is a signatory. The RPwD Act recognizes 21 categories of disabilities and prohibits discrimination in various domains including education, health care, and employment.

Relevant to the gig economy are the provisions in Chapter VI of the Act, which mandate equal opportunity, barrier-free access, and reasonable accommodation in employment. Employers, including private companies, are required to notify vacancies, maintain records of disabled employees, and implement an Equal Opportunity Policy. However, since most gig workers are classified as "independent contractors" rather than formal employees, these protections often do not extend to them—highlighting a significant legal gap.

2. The Constitution of India

The Constitution of India provides a broad framework for equality and non-discrimination under Article 14 (Right to Equality), Article 15 (Prohibition of Discrimination), and Article 21 (Right to Life and Personal Liberty). These fundamental rights form the basis for legal interpretations that uphold the rights of PwDs, including the right to dignity and equal access to livelihood. Courts in India have, on several occasions, interpreted these articles to support inclusion and prevent discrimination. However, constitutional protections often require enforcement through specific legislation and judicial intervention, which are lacking in gig work contexts.

3. The Equal Opportunity Policy Requirement

Under the RPwD Act, all establishments with more than 20 employees are required to frame and publish an Equal Opportunity Policy that includes provisions for accessible infrastructure, inclusive recruitment, grievance redressal mechanisms, and reasonable accommodations. However, digital platforms in the gig economy frequently operate without physical offices and often fall outside the traditional employer-employee relationship, thereby bypassing these obligations.

4. Accessible India Campaign (Sugamya Bharat Abhiyan)

Launched in 2015, the Accessible India Campaign is a nationwide initiative aimed at making public infrastructure and digital services accessible for PwDs. The

campaign includes guidelines for accessible websites, mobile apps, and public buildings. Although not legally binding, these standards provide a framework for platform-based companies to make their services more inclusive. Unfortunately, compliance remains voluntary and inconsistent across the gig economy.

5. Lack of Specific Regulation for Gig Workers

India currently lacks a dedicated legal framework for gig and platform workers. The Code on Social Security, 2020 does recognize "gig" and "platform" workers as distinct categories, and proposes extending certain benefits to them, such as life and disability insurance. However, there is no explicit focus on the inclusion of PwDs within this code, nor any mandatory requirements for non-discrimination or accessibility on digital platforms.

Challenges in the Gig Economy

Discrimination and Bias

PwDs often face overt and covert discrimination in the gig economy. Biases during hiring processes, lack of reasonable accommodations, and negative stereotypes contribute to lower participation rates. A report by the United Nations Development Programme highlights that the workforce participation rate for PwDs in India stands at around 36%, significantly lower than the national average.

Accessibility Barriers

Digital platforms, the backbone of the gig economy, often lack features that cater to PwDs. Inaccessible user interfaces, lack of screen reader compatibility, and absence of alternative text for images hinder the ability of PwDs to engage with these platforms effectively. Moreover, physical barriers in service delivery roles, such as inaccessible transportation and lack of assistive devices, further limit opportunities.

Technological Innovations

AI-Based Job Portals

Swarajability, India's first AI-based job portal for PwDs, exemplifies how technology can bridge employment gaps. The platform offers features like screen reader compatibility, sign language support, and AI-driven job matching, catering to various disabilities.

Accessibility Tools

Companies like Oswald Labs have developed tools such as Agastya and Valmiki, which enhance web accessibility for individuals with disabilities. These tools offer features like text-to-speech, customizable interfaces, and dyslexia-friendly fonts, enabling better interaction with digital platforms.

Corporate Initiatives

Urban Company's Accessibility Update

Urban Company has made its platform accessible for visually impaired users by integrating screen reading software like VoiceOver and TalkBack. This initiative allows users to book services using touch gestures, enhancing inclusivity in the gig economy.

Inclusive Hiring Practices

Companies like ITC and Mphasis have adopted inclusive hiring practices, focusing on skill training and infrastructure accessibility. ITC, for instance, has employed over 390 PwDs across various roles and has implemented features like Braille signage and ramps in its facilities.

Case Studies

To understand how inclusive employment can be realized for persons with disabilities (PwDs) within the gig economy, we examine three impactful case studies from India—Urban Company, Swarajability, and Mitti Café. These

examples offer insights into how digital platforms, social enterprises, and public-private partnerships can bridge the accessibility gap.

1. Urban Company: Enhancing Platform Accessibility

Urban Company, a leading service-based gig platform in India, has taken tangible steps toward disability inclusion. In 2023, the company introduced an accessibility-focused update to its mobile app, developed in consultation with visually impaired users and assistive technology developers. The update includes screen reader compatibility, voice navigation, and customizable font sizes—features crucial for users with visual impairments.

More significantly, Urban Company has piloted a project to onboard service professionals with disabilities, providing training and adapted tools where necessary. Although in early stages, this initiative represents a rare example of a mainstream gig platform proactively working toward inclusion, recognizing the untapped potential of disabled professionals in services like beauty, home repair, and wellness.

2. Swarajability: India's First AI-Powered Job Portal for PwDs

Launched in 2022 by the Youth4Jobs Foundation in collaboration with the University of Hyderabad and supported by Microsoft, Swarajability is India's first job portal specifically designed for persons with disabilities. The platform uses artificial intelligence to recommend job roles based on a candidate's skills, type of disability, and location. It also offers training modules and a repository of resources tailored to PwDs.

While not strictly a gig platform, Swarajability fills a critical gap by acting as a bridge between inclusive employers—including startups and digital gig work platforms—and disabled job seekers. Its model could inspire more specialized portals in the gig space, especially in tech, content creation, and digital freelancing.

3. Mitti Café: Empowering Through Social Enterprise

Mitti Café is a social enterprise that trains and employs adults with physical and intellectual disabilities in the hospitality sector. Operating cafés in corporate campuses, hospitals, and airports, it provides dignified employment and skill development for over 300 PwDs. While not a digital gig platform, Mitti Café exemplifies inclusive entrepreneurship and decentralized work, values at the heart of the gig economy.

What sets Mitti Café apart is its emphasis on self-sufficiency and public visibility—demonstrating that PwDs are not passive beneficiaries, but active contributors to the economy. Its replicable model has gained national recognition and influenced hiring policies in partner organizations.

Mitti Café

Mitti Café is a chain of cafes managed entirely by adults with physical, intellectual, and psychiatric disabilities. Operating in over 40 locations across India, including the Supreme Court and major airports, Mitti Café showcases the potential of inclusive employment models.

Policy Recommendations

1. Strengthen Enforcement of Existing Laws: Ensure that the provisions of the Rights of Persons with Disabilities Act, 2016, are effectively implemented in the gig economy.
2. Promote Digital Accessibility: Mandate that gig economy platforms adhere to Web Content Accessibility Guidelines (WCAG) to make digital interfaces more accessible.
3. Incentivize Inclusive Hiring: Provide tax benefits or recognition to companies that actively hire and support PwDs in the gig economy.
4. Invest in Skill Development: Develop training programs tailored to the needs of PwDs, focusing on digital literacy and soft skills relevant to gig work.

5. Foster Public-Private Partnerships: Encourage collaborations between government bodies, NGOs, and private companies to create inclusive employment ecosystems.

Conclusion

The gig economy in India represents a transformative shift in how work is structured and accessed, offering unprecedented flexibility and autonomy. However, for persons with disabilities (PwDs), this transformation remains a double-edged sword. On one hand, digital platforms theoretically eliminate physical infrastructure barriers and enable remote work, which could be ideal for many PwDs. On the other hand, lack of platform accessibility, insufficient accommodations, and entrenched social biases continue to marginalize this group from fully benefiting from gig opportunities. Despite progressive legislation like the Rights of Persons with Disabilities Act, 2016, and government initiatives such as the Accessible India Campaign, enforcement and awareness remain uneven. Many gig platforms have yet to implement even the most basic digital accessibility features, and hiring practices often overlook or exclude PwDs. Moreover, there is a gap in data collection and visibility, making it harder to quantify participation or measure discrimination in this space. Encouragingly, some promising initiatives have emerged. Platforms like Swarajability and Atypical Advantage demonstrate how technology can be harnessed for inclusive employment. Corporate examples, including Urban Company's accessible app updates and Mitti Café's empowerment model, provide replicable strategies for other organizations. The path forward must be multi-pronged. Stronger policy enforcement, platform-level digital reform, skill-building programs tailored for PwDs, and public-private partnerships are essential. Inclusion must be seen not merely as a corporate responsibility, but as an economic imperative that enhances innovation, workforce diversity, and long-term sustainability. In sum, the gig economy holds transformative potential for persons with disabilities in India. Realizing this potential requires dismantling systemic barriers and embedding accessibility into

the core of digital and economic ecosystems. Only then can we ensure that the future of work is equitable, inclusive, and accessible to all.

References

1. *Atypical Advantage and About Us. Retrieved from https://www.atypicaladvantage.in*
2. *India Today Insight. (2024, October 5). How corporate India is breaking job barriers for persons with disabilities. Retrieved from https://www.indiatoday.in/india-today-insight/story/how-corporate-india-is-breaking-job-barriers-for-persons-with-disabilities-2611910-2024-10-05*
3. *Mitti Café and Empowering adults with disabilities. Retrieved from https://www.mitticafe.org*
4. *Oswald Labs and Accessibility tools. Retrieved from https://www.oswaldlabs.com*
5. *Rights of Persons with Disabilities Act, 2016, No. 49, Acts of Parliament, 2016 (India). Retrieved from https://legislative.gov.in*
6. *UNDP India. (2021, December 3). Bridging the gap: Enabling disability inclusion in India's private sector workplaces. Retrieved from https://www.undp.org/india/blog/bridging-gap-enabling-disability-inclusion-indias-private-sector-workplaces*
7. *Urban Company. (2023, December 8). Urban Company's latest app update enhances accessibility for visually impaired. Retrieved from https://www.urbancompany.com/blog/urban-company-latest-app-update-for-disable-people*
8. *Wikipedia contributors and Accessible India Campaign. In Wikipedia. Retrieved May 8, 2025, from https://en.wikipedia.org/wiki/Accessible_India_Campaign*
9. *Wikipedia contributors and Rights of Persons with Disabilities Act, 2016. In Wikipedia. Retrieved May 8, 2025, from https://en.wikipedia.org/wiki/Rights_of_Persons_with_Disabilities_Act%2C_2016*
10. *Youth4Jobs Foundation and Swarajability – India's No. 1 jobs and livelihood portal for persons with disabilities. Retrieved from https://youth4jobs.org/swarajability-indias-no-1-jobs-and-livelihood-portal-for-persons-with-disabilities*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Improving Support Systems For Return Migrants During Covid-19: A Sociological Perspective

Dr. Anurag
Research Scholar, Deptt. of Sociology, N.A.S. College Meerut, Uttar Pradesh

Dr. Sujit Payla
Assistant Professor, Deptt. of Sociology, SDGC, Rabupura, Jewar, Gautam Buddh Nagar, Uttar Pradesh

Abstract:

This study explores the challenges and areas for improvement in the support systems for return migrants during the COVID-19 pandemic. The research focuses on the socioeconomic status and reintegration issues faced by return migrants in Shamli district, Uttar Pradesh, after their return from abroad. A total of 100 participants were surveyed using purposive sampling, involving planned interviews and observations. The results indicate that the majority of respondents were aged between 51 and 60 years, with 64% being male and 56% identifying as Hindu. A significant proportion of returnees (57%) highlighted unemployment as a key issue, while all respondents emphasized the need for adequate housing and adaptation within society. Healthcare support was also deemed essential by 59% of the participants. The study emphasizes the need for enhanced policy measures that address unemployment, housing, societal adaptation, and healthcare to facilitate the smooth reintegration of return migrants, particularly in the post-pandemic period.

Keywords: Return Migrant, Medical Sociology, COVID-19, Government Assistance, Private Institutions, Socioeconomic Profile, Reintegration, Shamli District.

Introduction:

Medical sociology is a subject of sociology that examines issues related to human health and disease using sociology's viewpoints, conceptualizations, theories, and methodology. Information that places health and illness in the context of cultural, social, and behavioral ecology is included in medical sociology. (A.S.A, 1986)

Medical Sociology is "the study of health care as it is institutionalized in a society and of health, or illness and its relationship to social factors". (Florence Ruderman, 1981)

"Medical sociology is concerned with the social causes and consequences of health and illness". (Cockerham and Ritchey, 1977) The capacity to function is a definition of health. (Rene Dubos (1981) A state of complete social, mental, and physical well-being is referred to as health; it goes beyond simply being free from disease or injury. (WHO) Personal experience has taught us that feeling well is more than just believing that illness and incapacity are absent. (Mckeown, 1979)

Health is "The state of the optimum capacity of an individual for the effective performance of the roles and tasks for which he has been socialized". (Parsons, 1925) It is an action that someone who thinks they are healthy does to avoid future health issues. (Kasl and Cobb: 1966) In contrast, illness behavior refers to the acts taken by a sick person to describe their condition and seek medical attention. Health behavior is described as the activities carried out by a person who considers themselves to be well to prevent health problems. (Kasl and Cobb: 1966)

Talcott Parsons introduced the ill role, one of the central tenets of medical sociology, in a 1948 published article. The Social System, his 1951 book, was an extension of this concept. Parsons emphasized that sickness is not just a physical

or psychological condition, nor is it merely an unstructured state free of societal norms and restrictions. When one is unwell, they don't just give up their regular social roles and enter a kind of social void; instead, they take on the sick role instead of the regular roles they were forced to renounce. The sick role is, "also a social, characterized by certain exemptions, rights and obligations, and shaped by the society, groups, and cultural tradition to which the sick person belongs". (Fox, 1989)

Migration is the term used to describe the temporary or permanent relocation of a person's usual place of living across space during a given period. (Weeks, 1999) This study focuses on international return migration, which is defined as the act of returning to one's country of citizenship after being an international migrant abroad for at least a year. (United Nations Statistics Division, 1998; IOM, 2004) According to the human capital model of socioeconomic attainment, moving across a country is an investment that a person makes with the hope of making net cumulative benefits throughout their working life. (Wilson, 1985)

Sociologists like Jorgan Carling and Marta Bivand Erdal (2014) investigated the relationships between transnationalism and return migration. Mohd. Imran Khan (2013) examined how return migration affects the local innovation system. Return migration theory was researched by Jean-Pierre Cassarino. The intellectual framework for migrant return is reviewed. In 2013, Yendaw Elijah conducted research on the factors that influence foreign return migrants' decisions to migrate back to the Berekum municipality in Ghana. Return migration has been recognized by Anja Wiesbrock (2014) as a tactic for China's and India's economic growth. Anita A. Davies et al. (2011) examined the connection between health and return migration, focusing on risk factors that impact returnees at every phase of their trip and their socioeconomic factors of health. Giulia Bettin et al. (2018) employed a longitudinal sample of first-

and second-generation Turkish migrants in Germany to examine return intentions throughout an individual's life and give information on the impact of life events. Filiz Kunuroglu et al. (2016) noted a summary of the literature on pull migrants' remigration. Jose R. Bucheli et al. (2018) identified a connection between violence and return migration. In 2015, Jackline Wahba conducted research on the beneficiaries of return migration to underdeveloped nations. Studying the diaspora's homecoming, S. Irudaya Rajan et al. (2013) compared global crises with India's economic success. Most authors have researched the different facets of health. However, Investigations on the health and social issues encountered by return migrants throughout COVID-19 are rare. Thus, a study of this kind must be carried out.

Objectives Of The Study:

1. To assess the socioeconomic profile of the return migrants.
2. To explore the areas developed for the betterment of the respondents after return migration.

Review Of The Selected Literature:

Trivedi, Poonam et al. (2024) examining the many health, economic, and social effects on India's internal migrants during the epidemic, researchers discovered that the most common health problems reported were despair, anxiety, and stress brought on by job loss and lockdown. Due to income loss, there were disruptions to livelihoods, including fear of the repercussions, ability to pay rent, loans, and borrowing from family. The villagers also discriminated against and stigmatized the migrants. The investigation also made clear that even though the government put in place several programs to aid migrants, most of them were left out since ration cards and identity documents were not readily available. Access to social, economic, and health protection for these unauthorized migrants must be made easier through protective measures.

Sascha Krannich, Douglas S. Massey (2024) studied "The effect of the COVID-19 pandemic on immigration and immigrant wellbeing in the United States" and find that in the wake of the pandemic, immigrants isproportionately experienced higher rates of unemployment, reater losses of income, more exposure occupational risks, and igher rates of food and housing insecurity, all of which exacerbated preexisting differentials in access to health and health care to enerate higher rates of COVID infection, morbidity, and mortality among adults and stunted educational outcomes for their children.

Borah G (2022) Studied "Distress Migration and Involuntary Return During Pandemic in Assam: Characteristics and Determinants" and found that the bulk of the migrants are young, unmarried men with minimal education, and majority come from households with no cultivable land. About 30% of the returnees went back to their previous destinations within a year, while a sizable portion of non-returnees are willing to return. Not all migrants returned home during pandemic. After controlling for all variables, it was revealed that the percentage of income sent as remittances, the availability of a job card by migrants' households, status of family migration, income, and the number of working days per week are all significantly related to migrants' decision to return.

Rajan, S. I. and Pattath (2022) investigated the conditions surrounding return migration since the start of the COVID-19 pandemic by concentrating on a case study of Kerala and offering insights on the future of migration from the region along with policy recommendations. They discovered that emigrants from Kerala are a part of a migration corridor that is extremely significant for the supply and demand structure of global migration patterns in general and for the participating countries' social and economic lives. This corridor was amongst the hardest damaged, even if COVID-19 was a flood that overwhelmed every boat

more or less evenly. This period presents an important opportunity for countries to elicit reliable responses from REMs and to inquire into their welfare during and beyond the pandemic. Large migration surveys and scientific focus group discussions can do more to inform actions that can protect the stock of current and future migrants.

Jesline, Joshy … et. al (2021) found out about the various circumstances of the migrants, who had the urgent need to return home to safety despite the severe financial crisis and the travel difficulties, and thoroughly examined the various aspects of hardships the migrants experienced in India during the lockdown as well as the socio-psychological impact of looping migration. The insufficient standards of the relief centers, along with their meager meals and dearth of facilities, caused significant anguish and psychological problems, particularly for women and children.

Behera, Minaketan ….et al (2021) looked at the labor supply and employment opportunities in rural areas as a result of reverse migration driven by COVID-19, the effect of COVID-19 on the employment status, income profile, and way of life of returned migrants in Odisha, and discussed potential steps to create alternative livelihood by reviving the rural economy following COVID-19. The study discovered that an abrupt and significant increase in the labor supply is a sign of hope for Odisha's rural economy. The largest issue facing migrants is job loss, which is followed by income loss. Migrants' susceptibility is greatly impacted by household income, which excludes migrants, and the type of their employment.

Khan, Asma, and Arokkiaraj, H (2021) examined to compare the difficulties faced by foreign and domestic migrant workers during these stages with the aid of in-depth interviews with migrants and social workers. It also discusses the various government responses to their repatriation. It examines the barriers to their economic reintegration to help formulate appropriate welfare initiatives for the Indian migrant community. It was discovered that the successful reintegration of both foreign and domestic migrants in the post-COVID economy is a crucial

policy issue that would require gathering up-to-date data, creating jobs that fit their skill set, incorporating them into welfare programs, and allowing social security benefits to be transferred while taking into account the mobile nature of migrant communities. Not only should the Indian Community Welfare Fund be used during emergencies, but it should also be used to lower the cost of migration for foreign workers. Government cooperation with civil society, which has strong grassroots outreach to immigrant populations, is necessary for improved policy-making.

Jorgen Carling and Marta Bivand Erdal (2014) examined the relationships and links between transnationalism and return migration. This question served as the impetus for a workshop that the Peace Research Institute Oslo (PRIO) hosted in September 2012 as part of the opportunities and realities of return migration (PREMIG) research project. Updated versions of a few workshop-generated articles on return migration between Syria and Iraq are jointly examined in this special section. The papers are presented by the authors along with a more comprehensive analysis of the relationships between returned migrants and the transnationalism The study's findings demonstrate the interactions between transnationalism and future migration, post-return experiences, real plans for return migration, and return ambitions. Intentions, plans, and experiences of transnational ties and activities are subject to change over time.

Mohd. Imran Khan (2009) used data from India to study the impact of return migration on the national creativity system. The 49th set (1993) along with the 64th set (2007–08) of India's migration surveys, which covered both domestic and foreign return migrants, provided data for the study. National sample surveys conducted the surveys. For a more thorough analysis of foreign return migrants, the 64th collection of unit-level family information (2007–08) is used. to examine the socioeconomic

characteristics of overseas migrants who back to India using the regional innovation systems paradigm, as well as their impact on the diffusion of novel technologies and information within the existing innovation systems. The study's conclusions show that, despite the general recognition of the contributions that migrant workers make to the national economy, more needs to be done to maximize growth at the local and national levels by channeling the flow of their financial assets and talents into useful directions.

Need Of The Study:

It is anticipated that the findings of this research project will serve to narrow the existing divide between matters relating to health and migrant returnees. The findings of this study may contribute to the improvement of healthcare services and the identification of optimal solutions for returning migrants. For instance, when developing curricula for practitioners, curriculum creators in the educational sector will be sought out for their expertise and guidance. Medical professionals who give counselling services to migrants will be provided with assistance from the health ministry in learning the appropriate language to use when discussing migration issues. It is likely that the results of the study will influence other researchers who are interested in investigating this field of study further through the execution of more exhaustive research projects.

Methods:

Universe/Sample

I have used the purposive sample strategy to choose the Shamli district for my research. If we discuss the Shamli district's medical amenities. In Western Uttar Pradesh, it takes a particular place. The material for this study was gathered from 400 return migrants who participated in the survey. The information gathered by observation and interview schedules and guides. Data was chosen through the use of purposeful sampling. I've gathered data from a sample of 100 return migrants,

who are participants from various age, caste, educational, occupational, and financial categories.

Area of the Study

The district of Shamli is located in the Indian state of Uttar Pradesh. This district was separated as Prabudh Nagar on September 28, 2011, from Muzaffarnagar District, and it was given the new name Shamli in July 2012. The three tehsils of the Shamli district are Shamli, Kairana, and Oon. The returning migrants originate from all around India. To gather a sample for this study, I have chosen the Shamli district.

Result And Discussion:

First, the research study's objective reveals that most respondents (43%) are between the ages of 51 and 60 years; 64% of respondents are men; 56% of respondents identify as Hindu; 39% of respondents are undergraduates; and 45 % of the respondents are unmarried. (Table-1)

According to Table 2, the majority (57%) of the respondents think to unemployed area needs betterment for the return migrants, all respondents think of adequate housing for the betterment of the return migrants, (89%) of the respondents think of adaptation in society and (59%) of the respondents want healthcare support.

Table-1

Demographic Profile Of The Respondents

Variables	No. of Respondents	Percentage
Age		
21-30 yrs	08	08%
31-40 yrs	16	16%
41-50 yrs	14	14%
51-60 yrs	43	43%
Above 61 yrs	19	19%

Religion		
Hindu	56	56%
Muslim	35	35%
Other	09	09%
Gender		
Male	64	64%
Female	36	36%
Marital Status		
Unmarried	45	45%
Married	18	18%
Seperated	27	27%
Education		
Illitrate	09	09%
Up to School	34	34%
Under Graduate	39	39%
Post Graduate	18	18%

Source: Data collected by the researcher himself during Jan.-Apr. 2023.

Table-2

AREAS FOR THE BETTERMENT OF THE RETURN MIGRANTS DURING COVID-19

Variables	No. of respondents	Percentage
In Economic Area		
Indebtedness	06	06%
Economic Condition	22	22%
Poverty/ Food supply	15	15%
Unemployment	57	57%
In Housing Area		
Any place to stay	00	00%

Adequate housing	100	100%
In Adaption Area		
Adaption in Society	89	89%
Adaption in the workplace	11	11%
In Health Support Area		
Psychological Support	25	25%
Healthcare Support	59	59%
Disease Treatment Support	13	13%
Other Support	03	03%

Source: Data collected by the researcher himself during Jan.-Apr. 2023.

Conclusion

The research highlighted the critical gaps in the support systems available to return migrants during the COVID-19 pandemic. Most returnees faced substantial difficulties related to unemployment, inadequate housing, lack of healthcare support, and challenges in societal adaptation. Although some government assistance, such as food and water, was provided, the findings indicate a need for more structured and sustained support in areas such as healthcare, employment, and social integration. The demographic analysis revealed that a significant portion of respondents were older adults with limited educational backgrounds, which further compounded their reintegration challenges.

The study underscores the importance of developing a comprehensive support framework that includes economic, social, and healthcare interventions for return migrants to ensure their successful reintegration.

Recommendations

1. **Improvement in Economic Support:** Implement targeted employment programs for return migrants, particularly in rural and semi-urban areas.

Introduce micro-financing and skill-building initiatives to help migrants build sustainable livelihoods upon return.

2. **Adequate Housing Solutions:** Develop affordable housing schemes for return migrants, especially those who lack stable housing options. Provide subsidies or low-interest loans for migrants to build or repair homes upon their return.
3. **Healthcare Support:** Ensure access to mental health and psychological counseling for return migrants who have experienced trauma or stress during the pandemic. Expand healthcare facilities and programs to include comprehensive services for return migrants, particularly those who return with health-related issues.
4. **Social Adaptation Programs:** Facilitate social and cultural reintegration through community outreach programs that help return migrants adjust to their local environments. Promote awareness about the rights and opportunities available for return migrants within their communities.
5. **Policy Advocacy:** Advocate for the creation of a national or state-level migration policy that integrates return migrants into existing welfare programs and provides long-term support for their reintegration. Encourage collaboration between government bodies, non-governmental organizations, and private institutions to ensure that return migrants receive comprehensive support.

Limitations

The study is limited to Shamli district in Uttar Pradesh, and the findings may not be fully representative of the experiences of return migrants in other parts of India or abroad. Further research should focus on other regions with varying migration patterns. The study included 100 respondents, which, although sufficient for preliminary insights, may not capture the full diversity of return migrants' experiences. A larger sample size would provide more robust data. As the data collection relied on interviews and self-reported information, there may be biases in responses, such as underreporting of difficulties or overstatement of assistance

received. The study's cross-sectional design does not capture the long-term impact of migration and post-return support. A longitudinal study would be beneficial to observe the changes in the situation of return migrants over time. The study did not focus extensively on particularly vulnerable groups within the return migrant population, such as women, children, and elderly migrants. Future research could address the unique challenges faced by these subgroups.

References

1. *Akram (2014). Sociology of Health. Rawat Publication.*
2. *Behera, Minaketan ....et al (2021). The COVID-19-Led Reverse Migration on Labour Supply in Rural Economy: Challenges, Opportunities and Road Ahead in Odisha. The Indian Economic Journal. 1-18*
3. *Carling, Jorgen and Erdal, Mata Bivand. (2014). Connections between Return Migration and Transnationalism. John Wiley & Sons Ltd. Vol. 52(6).*
4. *Davies, A. Anita ...et al. (2011). The Dynamics of Health and Return Migration. Vol. 8.*
5. *Jesline, Joshy ... et. al (2021). The plight of migrants during COVID-19 and the Journal of Sociology suppl. (94): S95. S120.*
6. *Khan, Asma, and Arokkiaraj, H (2021). Challenges of reverse migration in India: a comparative study of internal and international migrant workers in the post-COVID economy. Comparative Migration Studies. 1-19*
7. *Kunuroglu, Filiz ...et al. (2016). Return Migration. Online Reading in Psychology and Culture. 8(2).*
8. *Mishra A, Sayeed N (2020) Covid-19 and migrant workers: clinical psychologists' viewpoints. L. S. S. Manickam (Ed.), COVID-19 pandemic: Challenges and responses of psychologists from India. The Editor, Thiruvananthapuram, p. 43–56*
9. *Trivedi, Poonam ...et al (2024). Socio-Economic and Health Consequences of COVID-19 on Indian Migrants: A Landscape Analysis. International Journal of General Medicine 17:1591–1603*
10. *Wahba, Jackline (2015). Who Benefits from Return Migration to Developing Countries.*

11. *Wiesbrock, Anja. (2004). Return Migration as a Tool for Economic Development in China and India. University of Maastricht. the Netherlands.*
12. *Zachariah K C & Rajan, Irudaya (2011). Impact of remittances on the non-resident Keralites on Kerala's economy and society. The Indian journal of labor economics. 54(3), 503-526.*
13. *Zachariah KC and Rajan SI (2010) Impact of the Global Recession on Migration and Remittances in Kerala: New Evidences from the Return Migration Study (RMS) 2009. Working Paper, Working Paper no. 432, June. Thiruvananthapuram: Centre for Development Studies.*
14. *Zachariah KC and Rajan SI (2011) From Kerala to Kerala via the Gulf Emigration Experiences of Return Emigrants. Working Paper, Working Paper no. 443, March. Thiruvananthapuram: Centre for Development*
15. *Zachariah KC, Nair PRG and Rajan SI (2001) Return Emigrants in Kerala: Rehabilitation Problems and Development Potential.Working Paper,Working Paper no. 319, October. Thiruvananthapuram: Centre for Development Studies.*
16. *Zachariah KC, Prakash BA and Rajan SI (2002) Gulf Migration Study: Employment, Wages and Working Conditions of Kerala Emigrants in the United Arab Emirates. Working Paper, Working Paper no. 326, March. Thiruvananthapuram: Centre for Development Studies.*
17. *Borah G.(2022) Distress Migration and Involuntary Return During Pandemic in Assam: Characteristics and Determinants. Indian J Labour Econ, 65(3)*
18. *Sascha Krannich, Douglas S. Massey (2024) The effect of the COVID-19 pandemic on immigration and immigrant wellbeing in the United States, SSM - Population Health, Volume 27, 101705*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Livelihood Obstacles And Constraints Of Transgender People: Miles Away From Social Inclusion

Dr. Aruna Kumari
Associate Professor, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi

Saif Ali
Research Scholar, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi,

Abstract

Transgender individuals are the most marginalised and vulnerable group in Indian society. They do not have livelihood opportunities other than begging, sex work, and dancing at the ceremony of marriage and the newborn baby. They suffered for livelihood and economic stability in this country after a long time of Indian freedom. Their profession of begging, sex work, and dancing degraded their social identity in front of mainstream society. In the current study, acknowledge and explore the major livelihood obstacles of transgender community. It also elaborates on livelihood patterns and their socio-economic conditions of transgender individuals. This study is based on secondary data sources such as Government reports, research studies, articles, census data, policy documents, and survey reports to better understand of livelihood obstacles of transgender individuals. The sample of this study was based on different web sources such as Google Scholar, Research Gate, Springer, Willy and Taylor and Francis, and other available sources. The finding of this work is the social exclusion and stigma of livelihood, family rejection, employment exclusion, inadequate education, employment

exclusion, workplace harassment, lack of skills and training, and gaps in government policy and framework to make their livelihood obstacle in transgender community.

Keywords: Transgender, Obstacle, Exclusion, mainstream society

Introduction

Transgender people are mostly seen as a very deprived and marginalised community in Indian society. Their recognition is ignored in every aspect of their life, such as their basic livelihood needs, familial, social, mental, and empathetic support from society (Manshoor Ahmad, 2011). Not only suffered from social and economic issues they have also been culturally way, which impacts them lifelong, traumatised and frustrated all over their life (K.Dellaswararao and C. Hangsing, 2018). They need to be included in every aspect related to their livelihood improvement, such as education, the workplace, healthcare, law enforcement, and media on a large scale in this society (A. Mohanpatra and Prasanta Kumar,2020). Their main issues start with their family exclusion from them being victimised to proper schooling and livelihood opportunities within society. As a result of this large number of transgender do not having more livelihood options like others, there is a compulsion to engage in begging and prostitution, which increases their vulnerability to HIV, AIDS, and other sexually infected diseases (T.S. Sreelank and Mohan Kumar, 2022). Due to transgender stigma and marginalisation, they do not engage in social, cultural, and political activities included in society. At every stage of their life, they suffered discrimination, humiliation, and deprivation at home as well as in education and livelihood settings of their life (UNDP, 2014).

In our Indian society, the first introduction of transgender or Hijras (a South Asian word that refers to transgender) in our childhood was when they performed a dance ceremony at the birth of my neighbourhood. When we hear the word 'transgender', our mind goes to – traffic and train - where they beg for money, or any Badhai performance in any function, such as – a newborn child or a marriage ceremony. The words "trans" and "gender" serve as the etymological roots of the phrase

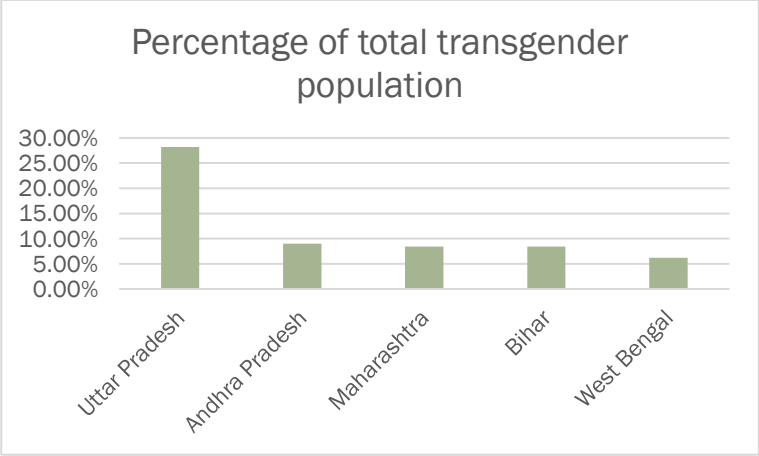
"transgender." The first term is a Latin word that means "across" or "beyond." The grammatical definition of "transgender" is beyond or across gender. Whereas when we define the term – transgender individual, those who do not conform to traditional gender identity binaries of male and female, and ask questions about the socially defined identity of gender (J. Nagoshi, 2014). It means the person whose gender recognition is different from the sex assigned at birth. Transgender people express their recognition in different ways, such as using their dress, behaviour, and mannerisms to live as the gender they think is right for them (K. Singh and S. Zarger 2020). In its original and narrower sense, transgender refers to males and females who respectively change their gender identity as females and males (www.Britannica.com). It means they are stuck in another body. They feel that their biological sex does not match their gender identity (Atnreye, 2015).

Transgender In India

The transgender community in India has become well-known over the last decades after global awareness of gender sensitivity. Transgender is a globally famous term that includes LGBTQA+ allies. But generally transgender community is acknowledged as Hijras in the Indian subcontinent, who wear female attire. They ill treated like a unique ethnic minority group who, discriminated against and stigmatised in society (A. Stephen and M. Jayasailan, 2016). In Indian society, a lack of uncertainty about their sexual orientation led to them being mentally as well as physically undetermined (K. Singh and S. Zarger 2020). For a long time, the Indian state identified only male and female as part of Indian society; as a result, they were marginalised from many rights that other citizens accessed (K.I. Jayasankar, 2021). According to the NALSA judgement (2014) in India defines 'Transgender persons' as those who are partly female or male or a combination of female and male, or neither female nor male. It includes trans men, trans women, persons with intersex variations and gender queers. In India, there are lots of socio-cultural groups of transgender people like Hijras, Kinnar, Shiv-Shaktis, Jogtas, Jogappas, Aravani, and others (A.Stephen and M. Jayasailan,2016). In the different

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

regions in India, they are known by different names such as Hijras – biological males who accept themselves as females, Jogtas / Jogappa in southern India (servant of goddess Renuka Devi), in southern india, Aravani (trapped in male bodies), Kothis (declared them as male), and male Shiv- Shaktis – women representation (Chakrapani, 2007). According to the Census of India 2011, the total population of transgender people is 4.99 million, but some organisations claim five to six times larger. The highest population of transgender people is in UP 28%, 9 % in Andhra Pradesh, and 8 % each in Maharashtra and Bihar.



Source - Census of India, 2011

Transender Livelihood

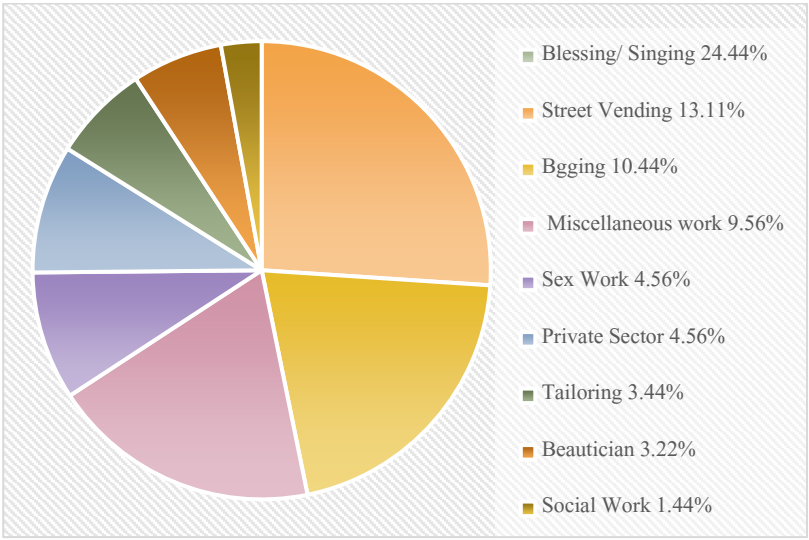
Livelihood is referred as 'a means of living' or the way anyone earns money to fulfil their daily needs. It is considered a sum of ways in which people make their living. Livelihood is defined as a necessary curriculum for day-to-day life that is performed over one's lifetime. The contemporary livelihood approach includes capabilities, resources, and activities necessary for means of livelihood (Moser, 1998). The necessary curriculum includes self-employment, labourer employment that enables individuals and households to meet their needs and improve their well-

being (Geetam Singh and Atul Kumar Mishra 2025). Any individual's livelihood involves the efficiency that acquiring necessities in order to satisfy the basic needs of themselves and their household expenditure. Robert Chambers and Gordon Conway define "comprises the capabilities, assets, including (both material and social resources) and activities required for a means of living. A livelihood is sustainable when it can cope with and recover from stresses and shocks and maintain or enhance its capabilities and assets both now and in the future, while not undermining the natural resource base".

The transgender community in India is the most vulnerable group. They were stigmatised and discriminated against at every stage of their lives due to their transgender identity. Due to their transgender physique and appearance, they are discriminated against and excluded from their families, neighbourhoods, communities, and public and private institutions. Serena Nanda (1990) noticed their livelihood was totally dependent on Badhai in marriages and newborn babies, begging at traffic or railway stations, and involved in prostitution for their daily expenditure. In 1998, Serena Nanda asserted that when choosing prostitution as a profession for their livelihood, they were seen with a disapproving eye in society. They wanted to be involved in any other occupation, but they were rejected because of their transgender identity. So most of them were engaged in HijraGiri, which referred to the bazaar tola (collecting money from market shops) and Badhai (blessing a newborn child through dancing and singing) (Sharful Islam Khan, etc,2009). The United Nations Development Programme 2016 conducted a detailed study on transgender livelihood and economic status in India. They found that due to fewer opportunities in the formal employment sector, they engaged in begging, prostitution and working with civil society organisations are the main sources of their earning. They show in numbers that begging is 52% of the main source of their livelihood choices, engaging in prostitution with 14%, earning by blessing for newborn baby and on occasions 14%, and working with non-government organisations in 9%. All the studies have shown that transgender

people are the most deprived group with fewer opportunities in their livelihood. In the Mughal era, their socio-economic status was better than current time (Michelraj,2015). They are most loyal servants of the Mughal courts and appointed security guards at Herem (Roychuwdary, 2018). Transgender individuals are not willingly involved in this type of livelihood; they are involved due to a lack of adequate education and employment opportunities. They do not have anything other than to be involved in sex work and begging. If they became part of any other occupation due to prejudice and discrimination, they could not continue due to their transgender identity (Shibsankar Mall, 2018). T.S. Sreelank and Mohan Kumar (2018) highlight the negative consequences of sex work that will increase the chances of vulnerability to AIDS or other sexually transmitted diseases bacuasebecause they don't have other options to fulfullfulfil their day -to -day spent. The National Human Resource Commission, 2023 data shown that there have been 96 % of there total data, transgender are forbidding to others occupation and involved himself in lower paid or unsatisfied informal livelihood choices for living. Their livelihood status is not so good in both sector of employment formal as well as informal and most of them engaged in informal sector for their living (Meenakshi & Abhirani, 2019). Transgender identity and discrimination will never left with them. As a result of this struggle every stage of their life such as employment, engage in labourous work, own startup, private as well as NGO are the fewer options for livelihood (Harsha Meghani & Gautam Patil, 2025). There worse conditions is not only in India, even in America they struggle for unsimilar pay for equal work for transgender (CAP, 2012 report).

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025



Source: NHRC,2017

Obstacle Of The Livelihood Of Transgender People

Transgender people struggle at every stage of their life due to their identity of stigma and discrimination in the public sphere of Indian society. After accepting themselves as transgender, their life struggles started from that point in time, which will never end throughout their life. Livelihood is the most important aspect of anyone's life, but transgender individuals start from family and community rejection, resulting in their being socially marginalised and stigmatised (Veena K.V., et 2011). They are not considered part of society because of being underprivileged and a lack of basic infrastructure to lead a worse life in the contemporary world. Family acceptance and rejection play an important role in an individual's overall personality development. Family provides social and livelihood security of a person, which helps them in proper ways, but rejection from family at an early age becomes a big problem of livelihood stability (Isabela C.A., et,2023). Left home at an early age, transgender people do not receive proper and formal education in school. As a result, transgender people are excluded from

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

the family and school environment, and they face the risk of proper education and the capability of their future career (Richa Mehta and Muskan Sharma, 2023). According to the census of India, transgender literacy rate is 56% notably lower than the average literacy rate of 74% in India. It also plays a crucial role in transgender livelihood obstacles. Their enrolment is significantly low, and their dropout rate at the primary and secondary levels is still very high (Ghana Kamal, et at,2011). Although rejected by family and having less education, they have limited access to formal employment.

As a result, they have engaged in undignified employment such as begging, sex work and dancing in marriages and newborn babies as an earning source for their livelihood (UNDP, 2016). They also have a lack of skill training, which leads to fewer opportunities for the livelihood of transgender individuals to sustain themselves. Even those who are skilled and semi-skilled found it difficult to get engaged (UNDP, 2020). Transgender people have faced majorly obstacles to get proper access in different aspects of their lives and are continuously facing prejudice, stigma and harassment in their lives (Grant et al,2011). Due to fewer opportunities for livelihood, they are involved in sex work, and transgender sex worker struggles with pervasive violence, creating a high-risk environment for HIV transmission and other sexually transmitted diseases (Bockting et al, 2013; Nenota and Operario, 2006).



Review Of Literature

There is some literature related to transgender livelihood discussed for a better understanding of different aspects of livelihood. Livelihood is a key aspect of anyone's life, but due to their transgender identity this they suffered more than cisgender people in their life. They suffer from stigmatisation and discriminative when the question of livelihood opportunity in mainstream society. there are different research works that try to explore the livelihood patterns and obstacles of transgender community.

Transgender discriminated as Transgender make them liable for suicide attempt, health care issues such as HIV/AIDS infection that make them vulnerable, employment problem occur because of discrimination behaviour by people, Quality of life being affected by bad treating or lack of support from society, Housing and bath room issues occur due to unavailability of sufficient or incorrect information related to Transgender as well as Attitude of society affected the direction of Transgender people (**Saranya et al,2022).**

National Aids control organisation (2016) suggests that Transgender people face discrimination, humiliation in various places, are excluded from social, cultural, and political issues, being away from social, legal and health issues face deprivation related to income, as well as involvement as sex workers.

Payal Nayak (2020) found that Changes in hijra identity by focusing on the evaluation of begging, sex work, dancing in social functions, to more acceptable positions by doing socially related work, participating in NGO work. These all-important aspects not only prevent boundaries but also from social discrimination and social exclusion from society.

The livelihood of Transgender impacted due to globalisation and challenges that involve a lack of education, employment opportunities and difficulties in adaptation to the informal sector (**Krishna Pradhan,2023).**

Fariha Abedin & amp; Rahman Sarkar (2022) research that Transgender individuals face employment issues as they have limited access to education and work, a lack of skills for employment, and limited access to the productive sector, so that they are involved in jobs like begging, sex work, etc. Another fact, like the economic and involvement part discusses, as Transgender individuals do not get equal opportunity and employment and live an unprivileged life, face discrimination as well as sexual harassment at workplaces in Bangladesh. To deal with all issues, there is a need for intervention, like developing employment opportunities by building new skills related to a specific job.

United Nation and Development Program in collaboration with The Humsafar Trust and centre of sexuality and health research and policy (2021) suggest that by focusing on five aspects in context of Transgender community such as providing good health (applying Transgender based therapies, health programs, trans-inclusiveness in health policies, ending HIV related issues in Transgender community by 2030) and creating evidence-based research to end inequality. Education (to provide financial assistance to their children and families, trans-inclusive and safe educational settings, livelihood and skill-building, Housing and food (Adequate Housing, temporary shelter to those who need in crisis), Personal safety (Awareness in trans and promote people acceptance, provide support to services to victims of violence, enhance psychological well-being.

Low literacy rate, exclusion from society, lack of formal employment, landlines, hopelessness and exclusion from financial system, unavailability of data related with financial Inclusion to Transgender, Bank-staff and officers unprofessional behaviour from Transgender, problem in legal documents, lack of spread of information, lack of Awareness of program in Odisha cause them excluded from formal system (**Rajesh Barik and Pritee Sharma,2020).**

Marginalisation among Transgender individuals occurs because of a lack of legal documents (like voter ID, PAN card, etc.), family and social support, Education

and the hostile Attitude of society, consequently affecting the livelihood of Transgender individuals (**Sanjana,2023**).

Sharful Islam Khan et al (2009) found that the Male-female dichotomy of hijra as a separate identity prevents them from being in positions with human potential and dignity, consequently making them deviate, deprive and have low self-esteem. Hijra sometimes practices suicide due to constraints on participation in family, social support spheres and limited access to information and health services.

Research objective –

1) To identify socio-economic obstacles faced by transgender community.
2) To explore and analyse major livelihood obstacles of transgender community.
3) To explore the existing livelihood patterns and survival strategies adopted by transgender community.

Methodology

The data collected in the present study through various secondary sources, such as government reports, research papers, articles, census data, policy documents, and survey reports from different platforms, are related to transgender livelihood obstacles in India. The researcher decided to analyse different articles and research studies which published in highly impacted journals of national and international publications. Selection of articles and research studies through a random sampling method for analysis.

Discussion

Being a transgender person in Indian society, their struggle starts with different aspects like social, economic, political, and exclusion from society. Their challenges start from the family, which is the primary source of social as well as economic security in the public sphere. Stigma and discrimination from every stage of their life led to exclusion from mainstream society. Social exclusion created obstacles to their livelihood, resulting in this transgender person compulsively being part of sex work, begging on railways and traffic, and a dance

performer in a marriage ceremony. Although transgender individuals suffered for their livelihood more vulnerable when they could not complete their education. Due to a lack of proper education, they have no more opportunities in different sectors of society.

Mostly, they work in the informal sector as low-wage labourers or NGOs for their survival. There are some aspects, such as social exclusion, family rejection, employment denial, inadequate education, workplace harassment, lack of skills and training and improper attention of the government on their livelihood opportunity will be discussed there.

Social Exclusion And Stigma For Livelihood

The transgender are most vulnerable community due to their transgender identity. The social exclusion framework provides a notion to elaborate the issues and problems experienced by disadvantaged and disenfranchised peoples based on cause and consequences approached (K. Delliswararao & C. Hangsing, 2018). It provides a notion of goals and social supports, employment and economic activities, political participation, access to education and adequate, proper healthcare facility against violence and provides a healthy living condition (Pantazis, Gordon & Levitas, 2006, UNDP INDIA). Transgender social exclusion impacted them in every area, as well as their livelihood. Transgender excluded from mainstream society due to their transgender identity, so they engage in sex work and begging, which forms their negative image in society (Budge et al,2016). When they are involved in sex work, they have a high risk of HIV and sexually transmitted diseases related to health. According to National Human Resource Commission data, 96 % transgender individuals face stigma and discrimination in low-paying or undignified work. So transgender livelihood influenced by the social exclusion and stigma in the society.

Family Rejection: Livelihood Challenges Start From Home

The rejection from family at an early age created problems for the livelihood expenses towards transgender people. It is the main hurdle to livelihood obstacles for transgender people. Family rejection consistently leads to a lack of financial support and emotional distress, which leads the person to vulnerability to led them to be deprived groups in society (Ashish Talafdar, 2025). Family provides their child from a young as economic security and stability, which leads them to a better future all throughout their life (Ann Archason, 2009). Many studies show that transgender individuals left their homes at an early age result of this, they could not get a proper education for their future career. Due to inadequate education and skills, they do not get a job in the formal or corporate sector; as a result, they are involved in degrading jobs like sex work, begging and dancing, which decreases their respect in society (Serena Nanda, 1998). Family non-acceptance does not impact their homelessness and livelihood obstacles; they also face obstacles in getting education, healthcare and other social exclusion (Huma Bhatt, et al., 2025). A study of kothis in Chennai found that family rejection leads them into the ways of poverty to transgender individuals (Chakrapani et al. 2007). Although transgender individuals face challenges to their livelihood and well-being at an early stage of their life, which continueslives, these challenges continue throughout their lives.

Not Proper Education: A Hurdle to Better Livelihood Opportunity

One of the key obstacles to transgender livelihood is education. It is crucial for their better career opportunity in future. According to the census of India 2011, their literacy is 56 % notably lower than the national average of cisgender 74 %. Due to discrimination, stigma and bullying in school, they discontinue their education at an early age, which leads them to worse livelihood options like begging, sex work and dancing as a source of livelihood opportunity (Shilpa G Nair, 2020). The livelihood of transgender community is influenced by the global world; those who lack education have fewer opportunities for dignified and

reputable jobs (Krishna Pradhan, 2023). Transgender people left their homes mostly in their teenage years or adulthood time which is an important time for them to get an education for their better career options. Because of hormonal changes and family pressure, they are alienated from society and live alone. Most of them do not understand how to deal with this situation, so due to proper guidance and counselling, they are deprived of formal education. Education and the stigmatised attitude of society consistently impede the livelihood of transgender people (Sanjana, 2023). Education provides financial assistance for individual and their families, so transgender individuals need an inclusive and safe educational system for their improvement of livelihood (UNDP, 2016). Although transgender individuals live based on good educational qualifications, which empower them to improve their future livelihood chances.

Employment Exclusion: Not Getting Jobs as Transgender

Transgender are experience mostly obstacles when they ask for a job due to their transgender identity. Employment is related to your social identity, which refers to the status of an individual in society. Everyone's social identity determines whether you should get a job or not. The transgender struggle became more vulnerable due to the low literacy rate and working with sex work and dancing, like a low-dignified and disrespectful profession (K.Delliswararao & C. Hangsing, 2018). As a result, they experienced a lot of struggle based on the employment of transgender individuals, such as health issues, survival, and old age (UNDP,2010). A lack of opportunity, unemployment and rejection in jobs among transgender people reduces their productivity and economic development by a large number of 4.9 million people in the Indian economy (M.Kumar, 2014). According to the National Human Resource Commission, 2017 data 96 %, of transgender individuals are denied jobs so compulsively that they are forced to engage in low-paying or unsatisfying jobs for their livelihood. Even if they got jobs, they experienced unequal pay for equal work (CAP,2012). Transgender people suffer every phase

of their life due to their transgender identity, as livelihood obstacles make their conditions more vulnerable in Indian society.

Workplace Harassment: Not A Safe Environment for A Job

Transgender individuals, firstly not getting jobs in any reputable and well-known formal sector if they do get jobs harassed at their workplace. Their experience is different between cisgender to transgender individuals in the workplace. Their discrimination has different types at the workplace, such as bathroom access, specific dress code, mispronouncing/ misgendering their name, work pressure, bullying, delay in payment, and reduction in payment (K.Khanam & T. Khiamniungan, 2023). Transgender individuals already have fewer opportunities for livelihood, but when they want to create their better image in front of society to do respectful and honourable jobs, they face discrimination, harassment and stigma in their workplace. When they get a job, they struggle with stigma and harassment in their workplace, which leads them to compulsively leave their work (UNDP, 2016). According to the National Transgender Discrimination Survey, 2009, of their total data, 26 % of total respondents lost their jobs due to their transgender identity. The result of losing their jobs to the discrimination of workplace bias and harassment, as well as assault (Sundra, 2016). Workplace harassment major livelihood hurdle for transgender community because transgender identity has become a negative image in the minds of people, so through that image, they suffer in their workplace.

Unskilled: Not Sufficient Skills for Better Jobs

Skills and training are key to getting job opportunities in different sectors of livelihood because unskilled and uneducated individuals don't have chances to engage in a good profession. Transgender individuals, due to a lack of skills training, have limited employment to survive in this global techno-based world. Even when they have skills and are semi-skilled after they have struggled to get jobs (UNDP, 2016). Transgender individuals suffer from a education and skills development, so they are marginalised in society. Less access to education and

skills-building programmes restricts their chances for empowerment in society. Lack of market-based skills and adequate education further decreases the livelihood opportunity of transgender individuals (Sumit Arora, 2025). Transgender individuals are disadvantaged in competition with higher-skilled and higher-educated workers. At that time, skills training provides an advantage to the worker who has learned skills and training, and this fills the educational gaps of other workers (Lee Badgett, 2021). There are some initiatives like Skill India Mission and PM-DAKSH, some training programmes for short-term and long-term training programmes for their empowerment, but they need to raise awareness and more inclusion of transgender people to engage them (M.Garai, 2023). So, without proper skills and training, their livelihood hurdle became worse for them.

Government Policy: Inadequate Support and Gaps

Transgender individual, for their livelihood, hope that government policy and programmes include them in mainstream society. Therefore, Government efforts for economic participation have not sufficiently benefited because of the lack of skills building and marketing support, and transgender individuals are excluded from livelihood dependency (P.Dhall & P.Boyce,2015). Transgender people experienced exclusion from the government, Donors, and NGOs to respect their traditional choices as well as identify which social welfare method may be effective for their economic inclusion. There is an absence of identification of livelihood necessary and providing them with enough opportunity for their skills and abilities to enhance programmes. The government should identify and acknowledge its capacity to work on enhancing sustainability and the security of its livelihood (S.Sahoo & G.Swain,2021). To the necessity of other programmes included them, such as career guidance, creating a livelihood plan for working in the private sector employees and establishing a saving strategy to empower their livelihood (L.Badgett,2021). Although there are some other strategies for increasing their better living conditions, such as collaborating with NGOs, international organisations and government agencies, amplifying the impact of

initiatives and providing a comprehensive support system (M.Ranjan Behera, 2023). So there are clear gaps in the Government policy and framework to identify their actual livelihood obstacles and need to rectify them at a broad level.

Conclusion

After reading through numerous resources such as Government reports, Articles, and Research studies, we concluded that the livelihood obstacle of transgender individuals has a long way to travel and now need to identify them and rectify it and make better livelihood conditions for transgender people. We found that due to the absence of adequate opportunity for transgender people, they engaged in sex work, begging and dancing in the ceremony. It makes an undignified and negative image in front of mainstream society. So with the social identity of dancers, beggars, and sex-worker people are afraid and suspicious of hiring them in the informal sectors. Transgender individuals are socially excluded and discriminated against in the workplace. People give them money, but due to their social identity, they should not be hired for jobs. Their main hurdle or struggle started at their home, when, due to their transgender identity family rejected them in their adolescence or teenage years. At that moment, they do not have enough education and maturity to get a respectable and honourable job, compulsively, for their survival themselves they do whatever options they see. They not only suffer employment denial they are also facing unequal pay for equal jobs also. According to the Census of India 2011, their literacy rate is 56% which affects their situation for employment opportunities. Any how they got an education, but due to skills and proper training, were marginalised to better livelihood conditions in the mainstream society. Although if they clear these obstacles, workplace harassment, bullying, assault, violence, and discrimination, their condition becomes more vulnerable to doing jobs at the workplace. Meanwhile, they could not tolerate the harassment and stigma they faced at their jobs due to a lack of a safe environment for work. Transgender individuals not only struggle at the individual level because the government does not acknowledge or identify their issue. Lack of efforts from

government policy and framework also makes their fight alone for survival in this modern world. So researchers try to highlight and explore many aspects of livelihood obstacles, which identify and eradicate these issues and provide transgender as healthy living conditions in society. A large number of 4.9 million people contribute their potential for economic participation in the country

References

1. *Abedin, F., & Sarker, M. A. R. (2022). Employability of transgender in Bangladesh: Problems and prospects. Journal of Research on Women and Gender, 11(1).*
2. *Arora, S. (n.d.). Empowering the transgender community through livelihood and mainstreaming activities: A case of Chandigarh.*
3. *Atnreye, S. (2015). Understanding gender and sexuality: The Indian perspective.*
4. *Badgett, M. L., Carpenter, C. S., & Sansone, D. (2021). LGBTQ economics. Journal of Economic Perspectives, 35(2), 141–170.*
5. *Barik, R., & Sharma, P. (2020). What constrains financial inclusion for the transgender community? Field-based evidence from Odisha (India). Contemporary Voice of Dalit, 13(1), 66–80. https://doi.org/10.1177/2455328X19890596*
6. *Barr, S. M., Budge, S. L., & Adelson, J. L. (2016). Transgender community belongingness as a mediator between the strength of transgender identity and well-being. Journal of Counseling Psychology, 63(1), 87–97. https://doi.org/10.1037/cou0000127*
7. *Behera, M. R. (2023). Transcending barriers: Empowering transgender communities for sustainable development in India. A Journal of Bharti Publications, New Delhi–110002 (India).*
8. *Chakrapani, V. (2007). Hijras/transgender women in India: HIV, human rights and social exclusion. United Nations Development Programme (UNDP). https://www.undp.org*

9. *Chakrapani, V. (2010). Hijras/transgender women in India: HIV, human rights and social exclusion. United Nations Development Programme (UNDP), India.*
10. *Crosby Burns, K., Childs Graham, K., & Menefee-Libey, S. (2012). Gay and transgender discrimination in the public sector. Centre for American Progress and AFSCME.*
11. *Dhall, P., & Boyce, P. (2015). Livelihood, exclusion and opportunity: Socioeconomic welfare among gender and sexuality non-normative people in India (Evidence Report No. 106: Sexuality, Poverty and Law).*
12. *Garai, M. (2023). Empowering the transgender community in India: A situation analysis of initiatives of Govt. of India. NSOU-Open Journal, 2581–5415.*
13. *Ghosh, B. (2025). "Blessing, not begging": Gender nonconforming livelihoods, state and legality in contemporary India. South Asia Multidisciplinary Academic Journal.*
14. *Hotchandani, K. R. (2017). Problems of transgender in India: A study from social exclusion to social inclusion. International Research Journal of Human Resources and Social Sciences, 4(4), 73–79.*
15. *Hotchandani, K. R. (2017). Status of transgender in India: A review. International Journal of Home Science, 6(2), 126–131.*
16. *Kapur, R. (2018). Socio-economic status of the transgenders in India. ResearchGate. https://www.researchgate.net*
17. *Khan, S. I., et al. (2009). Living on the extreme margin: Social exclusion of the transgender population (Hijra) in Bangladesh. Journal of Health, Population and Nutrition, 27(4), 441–451.*
18. *Khan, W. A., Abbas, Q., & Ali, U. (2024). The cost of exclusion: How poverty leads transgender individuals to begging, dancing and sex work. Journal of Asian Development Studies, 13(2), 208–215.*
19. *Khanam, K., & Khiamniungan, T. L. (n.d.). Human rights violations in workplace against transgender people in Assam.*
20. *Mall, S. (2018). Socio-cultural exclusion of transgender individuals in India. International Journal of Social Science and Economic Research, 3(2), 798–810.*

21. *Mansoor, A. (2020). Understanding transgender identity through essentialist and constructivist lenses. South Asian Journal of Gender Studies, 8(1), 55–69.*
22. *Michelraj, M. (2015). Historical evolution of transgender community in India. Asian Review of Social Sciences, 4(1), 17–19.*
23. *Nanda, S. (1989). Neither man nor woman: The hijras of India. Belmont: Wadsworth.*
24. *NHRC. (2017). Livelihood and employment data of transgender. National Human Rights Commission, India.*
25. *Pantazis, C., & Gordon, D. (2006). Poverty and social exclusion in Britain (pp. 23–24). In R. Levitas (Ed.), Bristol: Policy Press.*
26. *Reddy, G. (2005). With respect to sex: Negotiating Hijra identity in South India. University of Chicago Press.*
27. *Sahoo, S., & Swain, G. (2021). Empowering transgender community in post-independent Odisha: A policy perspective. Department of Public Administration, Utkal University, Vani Vihar, Bhubaneswar.*
28. *Saranya, T. S., Sreelatha, K., & Kumar, M. (2022). The pain of existence: The problems and crises of transgender people with special emphasis on discrimination and livelihood. International Journal of Health Sciences, (II), 8031–8041.*
29. *Singh, G., & Mishra, A. K. (n.d.). Status of agriculture in India and different states.*
30. *Tarafdar, A. (2025). Beyond borders: The role of virtual communities in queer liberation. International Journal of Social Science Research (IJSSR), 2(3), 495–502.*
31. *UNDP. (2016). Skilling for livelihood opportunities of transgender. United Nations Development Programme, India.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Nurturing Innovation And Growth In Learning And Development: Relevance Of Kautilya Arthashastra

CS Dr. Chetan V. Gandhi
Associates

Introduction

"Change is the only constant in life. One's ability to adapt to those changes will determine your success in life" as stated by Benjamin Franklin indicates that change is required for forward thinking and adaptability. In order to face future challenges successfully one needs to constantly learn and develop thereby be prepared for future, reflecting the significance of Learning and Development (L&D). L&D can be explained as a process of acquiring, enhancing, and applying knowledge, skills, and competencies to improve individual and organisational performance. It will include various activities and initiatives designed to support the continuous growth and learning of individuals within an organisation. Learning and Development efforts aim to enhance employee capabilities, foster a culture of continuous learning, and align skill development with organisational goals. While L&D plays a very vital role in individual well-being, innovation, and organisational success, there exists a significant challenge in comprehensively conceptualising their work. The field of L&D is inherently diverse, presenting challenges for researchers, professionals, and organisations interested in gaining a holistic understanding.

L&D faces various challenges, reflecting the dynamic nature of the workplace and the evolving needs of individuals and organisations. Some common challenges

include Diverse Learner Needs, Technology Integration, Measuring Impact, Alignment with Organisational Goals, Alignment with Organisational Goals, Time and Resource Constraints, Resistance to Change, Evolving Learning Technologies, Keeping Content Relevant, Globalisation and Cultural Differences, Leadership Development, Identifying Key Skills for the Future and many more.

Addressing these challenges requires a strategic and adaptive approach, with a focus on collaboration between L&D professionals, organisational leaders, and employees to create effective and responsive learning environments.

Now there is an urgent need to not only identify but also integrate and carryout activities that would support good and healthy L&D. To overcome these hurdles and challenges there is a strong necessity to imbibe qualities of values, discipline, ethics, learning and training through rich knowledge provided by ancient Indian texts. Every individual has enormous potential to contribute to the society at large. This can be developed amongst people by providing them knowledge about ancient Indian wisdom from different scriptures like Puranas, Vedas, Upanishads, epics, religious texts and literatures like Manusmriti, Kautilya's Arthashastra and many more. From Acharya Chanakay's Arthashastra we can learn lessons of value-based leadership like that of Rajarishi, different aspects of ethics, governance and also lessons about time management. In order to improve L&D we need to nurture innovation and growth in L&D which can be applied from the lessons learnt from Kautilya Arthashastra. By applying the principles of Kautilya Arthashastra there is huge potential to not only flourish the L&D at national level, but also at international level, thereby positioning India at top, amongst all developed nations of the world.

This transformation in L&D can be brought from ancient Indian wisdom, for which one can refer to Acharya Chanakya's *Kautilya Arthashastra,* dating back to around 2300 years old. This scripture is divided into 15 books covering different dimensions related to leadership, time management, economics, war strategies, legal aspects, etc. On applying this knowledge in modern times for nurturing

innovation and development of L&D, we can be rest assured for a great quality of future human resources which will lead to a guaranteed bright future of our country.

Objective

- The aim of this paper is to explore the dimensions of nurturing innovation and growth in L&D skills which can be applied in modern India and world at large, as reflected in Acharya Chanakya's *Kautilya Arthashastra*
- To develop and execute training program on nurturing innovation and growth in L&D skills, for people and future leaders based on *Kautilya Arthashastra*.

Hypothesis

Acharya Chanakya's *Kautilya Arthashastra* provides different dimensions of L&D skills and the same can be applied to develop L&D skills amongst people in modern India and globally all over the world, thereby building up good and effective future generation.

Relevance Of Kautilya Arthashastra In Context To:

A. Principles of Learning and Development skills
B. Nurturing Innovation and Growth in L&D
C. Training Module to nurture Learning and Development skills

(A) Principles Of Learning And Development Skills

L&D can be defined as 'A process of upgrading skills of human resource within an organisation whereby they are provided knowledge and training to make them qualified for the future.' L&D skills are crucial for individuals and organisations seeking continuous improvement and growth. Here are some principles associated with effective L&D

1) **Continuous Learning:** L&D recognises that learning is a continuous process and not limited to formal education. It involves ongoing efforts to acquire new knowledge, skills, and competencies throughout one's career.
2) **Training Programs:** Formal training programs, workshops, and courses designed to impart specific skills, knowledge, and competencies to individuals within the organisation.
3) **Skill Enhancement:** L&D focuses on developing and improving specific skills and competencies that are relevant to individual roles or organisational needs. This may include technical skills, soft skills, leadership skills, and more.
4) **Professional Development:** L&D contributes to the professional development of individuals, helping them advance in their careers. It often involves training, workshops, seminars, mentoring, and other activities aimed at enhancing job performance. It includes activities that support the ongoing growth and advancement of employees in their careers, including attending conferences, workshops, obtaining certifications, and pursuing higher education.
5) **Organisational Growth:** On an organisational level, L&D contributes to the growth and success of the company by ensuring that employees have the necessary skills and knowledge to meet current and future challenges.
6) **Strategic Alignment:** L&D initiatives are aligned with the overall strategic goals of the organisation. Training and development efforts are designed to support the organisation's mission, vision, and business objectives.
7) **Mentorship and Coaching:** Pairing individuals with more experienced colleagues or mentors to provide guidance, support, and feedback to aid in their professional and personal development.
8) **Adaptation to Change:** In today's dynamic business environment, L&D helps individuals and organisations adapt to change. It equips them with the

skills and knowledge needed to navigate technological advancements, industry trends, and evolving job roles.

9) **Employee Engagement:** Effective L&D contributes to employee engagement by providing opportunities for learning and career advancement. Engaged employees are more likely to be motivated, satisfied, and committed to their work.

10) **Talent Retention:** Organisations that invest in the learning and development of their employees are often better positioned to retain top talent. Employees appreciate opportunities for growth and are more likely to stay with employers that support their development.

11) **Leadership Development:** L&D plays a crucial role in developing leadership skills at all levels of an organisation. Leadership development programs help identify and nurture future leaders within the organisation.

12) **Technology Integration:** Modern L&D often involves the use of technology, including e-learning platforms, virtual classrooms, and other digital tools. This allows for more flexible, accessible, and efficient learning experiences.

13) **Measurement and Evaluation:** L&D initiatives are measured and evaluated to ensure their effectiveness. Metrics and assessments help organisations understand the impact of training on individual and organisational performance.

14) **Performance Management:** Integrating learning and development goals into the overall performance management process, ensuring that employees receive constructive feedback and have opportunities for improvement.

15) **Cross-Functional Training:** Providing opportunities for employees to gain exposure and experience in different areas of the organisation, fostering a broader skill set and understanding.

16) It is observed that, L&D is a strategic and ongoing process that supports the growth and success of individuals and organisations by nurturing continuous learning, skill development, and adaptation to change.

(B) Nurturing Innovation And Growth In L&D

Kautilya's Arthashastra, an ancient Indian treatise on statecraft, governance, and economics, provides insights into nurturing innovation and fostering growth through learning and development. The principles in the Arthashastra are relevant and can be applied to innovation and growth in L&D in following manner:

(1) **Continuous Learning for Leaders:** Kautilya emphasizes the importance of education for administrators and leaders. In the L&D context, this translates into a need for continuous learning for leaders and decision-makers within an organization. Leaders should be well-informed and adaptive to foster an environment of innovation.

Book 1 of Kautilya Arthashastra is Concerning the Topic of Training – deals primarily with the training of the prince and the duties to be followed by the ruler. It Chapter 6 discusses about Control over Senses and Chapter 18 provides about the conduct of the Prince in case of disfavour.

Book 6: Chapter 1: Excellences of the Constituent Elements in the Arthashastra, i.e., Circle of Kings and their constituents – Saptang Model, i.e., *"Swami, Amatya, Janapada, Durg, Kosha, Danda, Mitra – iti Prakritaya",* which means that "The King, the minister, the country, the fortified city, the treasury, the army and the ally are the constituent elements of the state."

Acharya Chanakya has stated that each and every pillar is very important for success of any kingdom and similarly every organisation also should give importance to corresponding constituent which is required for sustenance and growth of an organisation. A leader should focus on each and every pillar, since that are complimentary to each other and none can substitute the other. Any imbalance in any of the constituent would result in overall fall of the

organisation in long-run. This would enable a leader to carry out overall management and administration of an organisation.

The first two pillars are Swami and Amatya, i.e., the king and the ministers, who needs to develop leadership qualities as provided in Chapter 1 and also needs to go through different types of training to serve the kingdom in the best possible manner.

(2) **Encouraging Intellectual Capital:** The Arthashastra discusses the significance of employing educated and skilled individuals. This aligns with the modern emphasis on developing and retaining a talented workforce through continuous training and upskilling initiatives.

Book 1 of Kautilya Arthashastra also provides about appointment of different personnel in the Kingdom.

- Chapter 8: Appointment of Ministers,
- Chapter 9: Appointment of Councillors and Chaplain
- Chapter 10: Ascertainment of the Integrity of Ministers by means of Secret Tests
- Chapter 11: Appointment of persons in Secret Service

(3) **Promoting a Culture of Innovation:** The principles of encouraging research and development in the Arthashastra can be correlated with fostering a culture of innovation in L&D. Organizations can invest in programs that encourage employees to explore new ideas, methodologies, and technologies.

The Sixth pillar of Saptang Model is *Dand, i.e.,* The Army – The Team. A single man cannot fight a battle. To win a war, a strong team is a must. Accordingly, a leader should build up a diversified team comprising of different skills and qualities. The team should be constantly trained to meet new challenges effectively.

(4) **Recognition and Rewards for Learning:** Kautilya highlights the importance of recognising and rewarding those who contribute to the well-being of the state. In the context of L&D, organisations can implement recognition and reward systems to motivate employees to engage in continuous learning and contribute to the growth of the organization.

Book 2: The Activity of the Heads of Departments: mainly deals with the activities of different state departments, includes full account of the internal administration of a state.

Chapter 7: Records and Accounts and Audit Office: states that the king shall honour with rewards to those officials who bring great benefit to the State.

- Chapter 8: Misappropriation of Revenue by officers and its Recovery: states that an informant, is rewarded for his work.
- Chapter 9: Inspection of Officer's work, which also states that an officer who accomplishes a task as ordered or better shall be honoured with promotion and rewards.

Book 4, Chapter 3 provides for rewarding a person who saves someone from a wild animal.

Book 5, Chapter 3 states that the family of a government servant is looked after by the state, in case he dies while on duty.

Book 8, Chapter 1, states that a king is ever diligent in rewarding those who are worthy and in punishing the traitors.

Book 9, Chapter 3 provides that in case the rebel agrees not to join the enemy, then he should be rewarded with honours.

(5) **Infrastructure for Learning:** The need for proper infrastructure in the Arthashastra can be related to creating a conducive environment for learning within an organization. This includes investing in technological infrastructure, training facilities, and resources to support ongoing development.

The fourth pillar of Saptang Model is Durg, i.e., The Fortified City – Infrastructure. Book 2 provides about the concept of *Durg*, and Book 6, Chapter 1 states about following qualities of Durg i.e., (i) Aesthetically Pleasing and (ii) Beneficial to men. In current times *Durg* would imply the Head offices, Factories, branches and overall infrastructure of an organisation.

(6) **Adapting Strategies for Changing Environments:** Kautilya advises rulers to be flexible and adaptable in their strategies. This aligns with the modern need for organizations to be agile and responsive to changes in the business environment. L&D strategies should be dynamic and adaptable to foster innovation.

Book 1, Chapter 19, deals with "Rules for the King". It describes about the Governance, by stating, "*Praja sukhe sukham Raja"* which means "In the happiness of the subjects lies the happiness of the king and in what is beneficial to the subjects is his own benefit. What is dear to himself is not beneficial to the king, but what is dear to the subjects is beneficial to him." A leader should be stakeholder centric, i.e., all his decisions should be based on after considering the benefits of each and every person who is directly or indirectly affected by them.

(7) **Encouraging Entrepreneurial Thinking:** The principles of encouraging trade and commerce in the Arthashastra can be interpreted to encourage entrepreneurial thinking within an organization. L&D initiatives can focus on developing a mindset that embraces calculated risks and innovation.

Book 2: Chapter 1 provides that the king should maintain a diversified economy, within the limits of the technology available; by promoting trade and commerce by setting up market towns, ports and trade routes by land and water; build storage reservoirs; and organise new settlements.

(8) **Strategic Alliances for Learning:** The Arthashastra discusses forming alliances for mutual benefit. In the context of L&D, organizations can form strategic alliances with educational institutions, training providers, or other businesses to enhance learning opportunities and foster growth.

The seventh pillar of Saptang Model is Mitra, i.e., The Ally – Consultant / Mentor. Mitra would include Friends, Allies, Consultants and Advisors, who provides consultation or support in case of any problems faced by the Leader or an organisation. They provide solutions on the basis of their expertise and experiential knowledge to face different challenges. They would help to fill up the gaps where a leader is not in a position to take decision considering his knowledge and experience.

Book 7: The Six Measures of Foreign Policy: deals with the use of the six measures that can be adopted by a state in its relations with foreign states.

While Kautilya's Arthashastra was written in a different context, its principles can be adapted and applied to modern challenges in Learning and Development. By emphasising continuous learning, fostering a culture of innovation, and aligning strategies with changing environments, organizations can nurture growth and development in the contemporary business landscape.

(C) Training Module To Nurture Learning And Development Skills

Objective:

- To improve the value-based dimensions of developing L&D skills in India and globally.
- To integrate Chanakya's Kautilya Arthashastra so as to enrich the value-based dimensions of Governance in general and leadership in particular with reference to India.
- Nurture innovation and development of L&D skills which will enable enhanced performance and productivity, adaptability and resilience, innovation and creativity, better decision making and cultivate leadership.

- To encourage and develop skills of self-management, which includes controlling one's own behaviour, thoughts, senses, thereby going beyond body, mind and soul.

Methodology:

Theoretical and practical dimensions

Theoretical dimensions:

Orientation about concepts from Kautlya Arthashastra's related to nurturing innovation and development of L&D skills by an expert for 2 hours (10 days).

The focus will include contemporary relevance

Practical dimensions:

Activity based orientation based on Leadership and Saptang Model for 2 hours (10 days).

Significance:

Development of L&D skills amongst participants in India. The model can also be further developed for global participants.

Duration: 11 days (5 hours per day)

(Iv) Methodology

The study undertaken is a descriptive study. Qualitative research method has been applied. The literature concerning Kautilya Arthashastra has been reviewed.

It is based on secondary data only. Secondary data collected from books, journals, e-resources, etc. have been utilised for undergoing the study.

Conclusion

On the basis of analysis of research made, it can be concluded that one can find a strong integration of dimensions of Kautilya Arthashastra teachings for nurturing the innovation and development of L&D skills. Further the lessons from Kautilya Arthashastra would help the participants to go through better and effective L&D skills and thereby also contribute best to society at large. It is proposed that the

training models suggested would have a positive impact on participants, thereby creating value-based leadership and best L&D skills in India.

Key words: Learning & Development**,** Ancient Indian Wisdom**,** Holistic**,** Nurturing

References:-

1. *Kangle, R. P. (2014), Kautilaya Arthashastra, Motilal Banarsidass Publishers Private Ltd, Delhi, 8th print, ISBN:978-81-208-0042-7*
2. *Olivelle, Patrick (2013), King, Governance and Law in Ancient India, Oxford University Press, ISBN-10:0-19-809626-7*
3. *R. Shamasastry, Kauṭiliya's Arthashatra, Bangalore: Government Press, 1915, 515-520*
4. *L.N. Rangarajan, Kautilya (1992), The Arthashastra, Penguin Books India (P) Ltd., Calcutta, 1st print, ISBN:0-14-044603-6*
5. *Priyadarshni Academy (2012), "Kautilya's Arthashastra: The Way of Financial Management and Economic Governance", Jaico Books – Mumbai,* ISBN 978-81-8495-029-8
6. *Gandhi, Chetan V. (2021), "Time Management Lessons from Ancient Indian Wisdom leading to Sustainable Wellbeing", Ancient Indian Wisdom: For Sustainable Well-being, Bharati Prakashan, ISBN 978-93-88019-87-3*
7. *Brekke, Torkel (2004), "Weilding the Rod Punishment – War and Violence in the Politcal Science of Kautilya, Journal of Military Ethics, Vol 3, No. 1 (2004), pp 40-52, ISSN:1502-7570*
8. *What Is Learning and Development? Association for Talent Development, https://www.td.org/talent-development-glossary-terms/what-is-learning-and-development#:~:text=Learning%20and%20development%20(L%26D)%20is,to%20drive%20better%20business%20performance.*
9. *Hodge Steven, Smith Erica, Barratt-Pugh Llandis, "Towards a Model of Learning and Development Practice", International Journal of HRD Practice, Policy and Research 2016, Vol 1 No 2: 7-25, doi: 10.22324/ijhrdppr.1.113*

10. *Dr. Radhika Kapur, "The Practice of Learning and Development in Organizations", https://www.researchgate.net/publication/339200211_The_Practice_of_Learning_and_Development_in_Organizations*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

"Help Provided To Return Migrants During And After Return Covid-19: A Sociological Study"

Dr. Sujit Payla
Assistant Professor, Deptt. of Sociology, SDGC, Rabupura, Jewar, Gautam Buddh Nagar, Uttar Pradesh

Dr. Anurag
Research Scholar, Deptt. of Sociology, N.A.S. College Meerut, Uttar Pradesh

Abstract:

This sociological study investigates the assistance rendered to return migrants during and subsequent to their repatriation amongst the COVID-19 pandemic in Shamli district, Uttar Pradesh. Data were acquired from 100 return migrants using purposive sampling, utilizing interviews and observations conducted between January and April 2023. The results show that most people who returned home got some kind of help right away, mostly food and water, but once they got back, they only got basic raw food items and very little help from private or government organizations. The demographic data revealed that most of the people who answered were male, Hindu, and between the ages of 51 and 60. A large number of them were also unmarried and undergraduates. The report emphasizes the absence of enduring rehabilitation and social protection for returns, underscoring the necessity for comprehensive, long-term policy initiatives to promote effective reintegration and assistance for this at-risk demographic.

Keywords: Return Migrant, Medical Sociology, COVID-19, Government Assistance, Private Institutions, Socioeconomic Profile, Reintegration, Shamli District.

Introduction:

Medical sociology is a subject of sociology that examines issues related to human health and disease using sociology's viewpoints, conceptualizations, theories, and methodology. Information that places health and illness in the context of cultural, social, and behavioral ecology is included in medical sociology. (A.S.A, 1986)

Medical Sociology is "the study of health care as it is institutionalized in a society and of health, or illness and its relationship to social factors". (Florence Ruderman, 1981)

"Medical sociology is concerned with the social causes and consequences of health and illness". (Cockerham and Ritchey, 1977) The capacity to function is a definition of health. (Rene Dubos (1981) A state of complete social, mental, and physical well-being is referred to as health; it goes beyond simply being free from disease or injury. (WHO) Personal experience has taught us that feeling well is more than just believing that illness and incapacity are absent. (Mckeown, 1979)

Health is "The state of the optimum capacity of an individual for the effective performance of the roles and tasks for which he has been socialized". (Parsons, 1925) It is an action that someone who thinks they are healthy does to avoid future health issues. (Kasl and Cobb: 1966) In contrast, illness behavior refers to the acts taken by a sick person to describe their condition and seek medical attention. Health behavior is described as the activities carried out by a person who considers themselves to be well to prevent health problems. (Kasl and Cobb: 1966)

Talcott Parsons introduced the ill role, one of the central tenets of medical sociology, in a 1948 published article. The Social System, his 1951 book, was an extension of this concept. Parsons emphasized that sickness is not just a physical or psychological condition, nor is it merely an unstructured state free of societal

norms and restrictions. When one is unwell, they don't just give up their regular social roles and enter a kind of social void; instead, they take on the sick role instead of the regular roles they were forced to renounce. The sick role is, "also a social, characterized by certain exemptions, rights and obligations, and shaped by the society, groups, and cultural tradition to which the sick person belongs". (Fox, 1989)

Migration is the term used to describe the temporary or permanent relocation of a person's usual place of living across space during a given period. (Weeks, 1999) This study focuses on international return migration, which is defined as the act of returning to one's country of citizenship after being an international migrant abroad for at least a year. (United Nations Statistics Division, 1998; IOM, 2004) According to the human capital model of socioeconomic attainment, moving across a country is an investment that a person makes with the hope of making net cumulative benefits throughout their working life. (Wilson, 1985)

Sociologists like Jorgan Carling and Marta Bivand Erdal (2014) investigated the relationships between transnationalism and return migration. Mohd. Imran Khan (2013) examined how return migration affects the local innovation system. Return migration theory was researched by Jean-Pierre Cassarino. The intellectual framework for migrant return is reviewed. In 2013, Yendaw Elijah conducted research on the factors that influence foreign return migrants' decisions to migrate back to the Berekum municipality in Ghana. Return migration has been recognized by Anja Wiesbrock (2014) as a tactic for China's and India's economic growth. Anita A. Davies et al. (2011) examined the connection between health and return migration, focusing on risk factors that impact returnees at every phase of their trip and their socioeconomic factors of health. Giulia Bettin et al. (2018) employed a longitudinal sample of first- and second-generation Turkish migrants in Germany to examine return intentions throughout an individual's life and give information on the impact of life events. Filiz Kunuroglu et al. (2016) noted a summary of the literature on pull migrants' remigration. Jose R. Bucheli et al. (2018) identified a

connection between violence and return migration. In 2015, Jackline Wahba conducted research on the beneficiaries of return migration to underdeveloped nations. Studying the diaspora's homecoming, S. Irudaya Rajan et al. (2013) compared global crises with India's economic success. Most authors have researched the different facets of health. However, Investigations on the health and social issues encountered by return migrants throughout COVID-19 are rare. Thus, a study of this kind must be carried out.

Objectives Of The Study:

1. To assess the socioeconomic profile of the return migrants.
2. To examine what kind of help is provided to respondents during and after return migration by public or private institutions.

Review Of The Selected Literature:

Trivedi, Poonam et al. (2024) examining the many health, economic, and social effects on India's internal migrants during the epidemic, researchers discovered that the most common health problems reported were despair, anxiety, and stress brought on by job loss and lockdown. Due to income loss, there were disruptions to livelihoods, including fear of the repercussions, ability to pay rent, loans, and borrowing from family. The villagers also discriminated against and stigmatized the migrants. The investigation also made clear that even though the government put in place several programs to aid migrants, most of them were left out since ration cards and identity documents were not readily available. Access to social, economic, and health protection for these unauthorized migrants must be made easier through protective measures.

Sascha Krannich, Douglas S. Massey (2024) studied "The effect of the COVID-19 pandemic on immigration and immigrant wellbeing in the United States" and find that in the wake of the pandemic, immigrants isproportionately experienced higher rates of unemployment, reater losses of income, more exposure occupational risks, and igher rates of food and housing insecurity, all of which

exacerbated preexisting differentials in access to health and health care to enerate higher rates of COVID infection, morbidity, and mortality among adults and stunted educational outcomes for their children.

Borah G (2022) Studied "Distress Migration and Involuntary Return During Pandemic in Assam: Characteristics and Determinants" and found that the bulk of the migrants are young, unmarried men with minimal education, and majority come from households with no cultivable land. About 30% of the returnees went back to their previous destinations within a year, while a sizable portion of non-returnees are willing to return. Not all migrants returned home during pandemic. After controlling for all variables, it was revealed that the percentage of income sent as remittances, the availability of a job card by migrants' households, status of family migration, income, and the number of working days per week are all significantly related to migrants' decision to return.

Rajan, S. I. and Pattath (2022) investigated the conditions surrounding return migration since the start of the COVID-19 pandemic by concentrating on a case study of Kerala and offering insights on the future of migration from the region along with policy recommendations. They discovered that emigrants from Kerala are a part of a migration corridor that is extremely significant for the supply and demand structure of global migration patterns in general and for the participating countries' social and economic lives. This corridor was amongst the hardest damaged, even if COVID-19 was a flood that overwhelmed every boat more or less evenly. This period presents an important opportunity for countries to elicit reliable responses from REMs and to inquire into their welfare during and beyond the pandemic. Large migration surveys and scientific focus group discussions can do more to inform actions that can protect the stock of current and future migrants.

Jesline, Joshy … et. al (2021) found out about the various circumstances of the migrants, who had the urgent need to return home to safety despite the severe financial crisis and the travel difficulties, and thoroughly examined the various aspects of hardships the migrants experienced in India during the lockdown as well

as the socio-psychological impact of looping migration. The insufficient standards of the relief centers, along with their meager meals and dearth of facilities, caused significant anguish and psychological problems, particularly for women and children.

Behera, Minaketan ….et al (2021) looked at the labor supply and employment opportunities in rural areas as a result of reverse migration driven by COVID-19, the effect of COVID-19 on the employment status, income profile, and way of life of returned migrants in Odisha, and discussed potential steps to create alternative livelihood by reviving the rural economy following COVID-19. The study discovered that an abrupt and significant increase in the labor supply is a sign of hope for Odisha's rural economy. The largest issue facing migrants is job loss, which is followed by income loss. Migrants' susceptibility is greatly impacted by household income, which excludes migrants, and the type of their employment.

Khan, Asma, and Arokkiaraj, H (2021) examined to compare the difficulties faced by foreign and domestic migrant workers during these stages with the aid of in-depth interviews with migrants and social workers. It also discusses the various government responses to their repatriation. It examines the barriers to their economic reintegration to help formulate appropriate welfare initiatives for the Indian migrant community. It was discovered that the successful reintegration of both foreign and domestic migrants in the post-COVID economy is a crucial policy issue that would require gathering up-to-date data, creating jobs that fit their skill set, incorporating them into welfare programs, and allowing social security benefits to be transferred while taking into account the mobile nature of migrant communities. Not only should the Indian Community Welfare Fund be used during emergencies, but it should also be used to lower the cost of migration for foreign workers. Government cooperation with civil society, which has strong grassroots outreach to immigrant populations, is necessary for improved policy-making.

Jorgen Carling and Marta Bivand Erdal (2014) examined the relationships and links between transnationalism and return migration. This question served as the

impetus for a workshop that the Peace Research Institute Oslo (PRIO) hosted in September 2012 as part of the opportunities and realities of return migration (PREMIG) research project. Updated versions of a few workshop-generated articles on return migration between Syria and Iraq are jointly examined in this special section. The papers are presented by the authors along with a more comprehensive analysis of the relationships between returned migrants and the transnationalism The study's findings demonstrate the interactions between transnationalism and future migration, post-return experiences, real plans for return migration, and return ambitions. Intentions, plans, and experiences of transnational ties and activities are subject to change over time.

Mohd. Imran Khan (2009) used data from India to study the impact of return migration on the national creativity system. The 49th set (1993) along with the 64th set (2007–08) of India's migration surveys, which covered both domestic and foreign return migrants, provided data for the study. National sample surveys conducted the surveys. For a more thorough analysis of foreign return migrants, the 64th collection of unit-level family information (2007–08) is used. to examine the socioeconomic characteristics of overseas migrants who back to India using the regional innovation systems paradigm, as well as their impact on the diffusion of novel technologies and information within the existing innovation systems. The study's conclusions show that, despite the general recognition of the contributions that migrant workers make to the national economy, more needs to be done to maximize growth at the local and national levels by channeling the flow of their financial assets and talents into useful directions.

Need Of The Study:

It is anticipated that the findings of this research project will serve to narrow the existing divide between matters relating to health and migrant returnees. This research could also be beneficial in improving the provisions of healthcare and in figuring out the best course of action for migrants who are returning home. For instance, when developing curricula for practitioners, curriculum creators in the

educational sector will be sought out for their expertise and guidance. Medical professionals who give counseling services to migrants will be provided with assistance from the health ministry in learning the appropriate language to use when discussing migration issues. It is likely that the results of the study will influence other researchers who are interested in investigating this field of study further through the execution of more exhaustive research projects.

Methods:

Universe/Sample

I have used the purposive sample strategy to choose the Shamli district for my research. If we discuss the Shamli district's medical amenities. In Western Uttar Pradesh, it takes a particular place. The material for this study was gathered from 400 return migrants who participated in the survey. The information gathered by observation and interview schedules and guides. Data was chosen through the use of purposeful sampling. I've gathered data from a sample of 100 return migrants, who are participants from various age, caste, educational, occupational, and financial categories.

Area of the Study

The district of Shamli is located in the Indian state of Uttar Pradesh. This district was separated as Prabudh Nagar on September 28, 2011, from Muzaffarnagar District, and it was given the new name Shamli in July 2012. The three tehsils of the Shamli district are Shamli, Kairana, and Oon. The returning migrants originate from all around India. To gather a sample for this study, I have chosen the Shamli district.

Result And Discussion:

First, the research study's objective reveals that most respondents (43%) are between the ages of 51 and 60 years; 64% of respondents are men; 56% of

respondents identify as Hindu; 39% of respondents are undergraduates; and 45 % of the respondents are unmarried. (Table-1)

According to Table 2, the majority (76%) of the respondents take food and water help, (55%) of the respondents take food packed or cooked food, all respondents said that they did not receive any kind of facilities like food and water, sanitizer and healthcare equipment, medicine, cash and patience, and other kind of help from private institutions after migration. all respondents said that they received raw wheat and dal and no respondent said that they received facilities like food packs/cooked food, shelter and camps, transportation subsidies, and social security after migration.

Table-1

Demographic Profile Of The Respondents

Variables	**No.of Respondents**	**Percentage**
Age		
21-30 yrs	08	08%
31-40 yrs	16	16%
41-50 yrs	14	14%
51-60 yrs	43	43%
Above 61 yrs	19	19%
Religion		
Hindu	56	56%
Muslim	35	35%
Other	09	09%
Gender		
Male	64	64%
Female	36	36%
Marital Status		
Unmarried	45	45%

Married	18	18%
Seperated	27	27%
Education		
Illitrate	09	09%
Up to School	34	34%
Under Graduate	39	39%
Post Graduate	18	18%

Source: Data collected by the researcher himself during Jan.-Apr. 2023.

Table-2

Help Provided To Return Migrants During And After Return Covid-19

Variables	No. of respondents	Percentage
Help Provided by Private Institutions during migration		
Food and water	76	76%
Sanitizer/Healthcare Equipments	16	16%
Medicine	05	05%
Cash and Patience	02	02%
Other help	01	01%
Help Provided by Government Institutions during migration		
Raw wheat Flour and Dal	17	17%
Food Pack/Cooked Food	55	55%
Shelter and Camps	03	03%
Transportation Subsidies	12	12%
Social Security	13	13%
Help Provided by Private Institutions after migration		
Food and water	00	00%

Sanitizer/Healthcare Equipments	00	00%
Medicine	00	00%
Cash and Patience	00	00%
Other help	00	00%
Help Provided by Government Institutions after migration		
Raw wheat Flour and Dal	100	100%
Food Pack/Cooked Food	00	00%
Shelter and Camps	00	00%
Transportation Subsidies	00	00%
Social Security	00	00%

Source: Data collected by the researcher himself during Jan.-Apr. 2023.

Conclusion, Recommendation, And Limitation

The study provides a detailed sociological insight into the plight and support received by return migrants in Shamli district during and after the COVID-19 pandemic. The data highlights that while a significant proportion of return migrants received immediate relief—mainly food and water—during migration, post-return support was limited to raw food items like wheat and dal, with virtually no further assistance from private or government institutions. The demographic analysis reveals that most returnees were male, Hindu, unmarried, and between the ages of 51–60, with a notable portion being undergraduates. The findings also emphasize a critical gap in sustained rehabilitation and social protection, leaving returnees vulnerable to prolonged economic and social instability. The study underscores the urgent need for comprehensive and inclusive policies that address not only immediate relief but also long-term reintegration of return migrants.

Government and private institutions must extend support beyond the initial return phase. This includes cooked food, shelter, access to healthcare, employment assistance, and social security measures. Conduct skill assessments for return

migrants and link them to suitable employment or upskilling programs. Local economies can benefit from the experience and skills of returnees if integrated effectively. Improve awareness about available schemes and ensure easier access to entitlements, particularly for those lacking proper documentation or ration cards. Collaborate with local NGOs and community groups to provide psychological counseling, combat stigma, and facilitate social integration of returnees. Develop robust migration policies that include contingency plans for future crises, integrating lessons from the COVID-19 experience. Regular data collection and research on migrants' needs should inform these policies. Enhance healthcare outreach and preventive services to address both physical and mental health challenges faced by return migrants.

The study was limited to 100 respondents in the Shamli district, which may not capture the full diversity of experiences among return migrants across Uttar Pradesh or India. The purposive sampling technique, while practical, may introduce selection bias and limit the generalizability of findings. Reliance on self-reported interviews could lead to under- or over-reporting of support received and challenges faced. The study did not track long-term outcomes of return migrants, which could provide deeper insights into the effectiveness of support systems over time. Although gender was included in the demographic profile, the study lacks focused analysis on the unique experiences and vulnerabilities of women, children, and marginalized groups among migrants.

References

1. *Akram (2014). Sociology of Health. Rawat Publication.*
2. *Behera, Minaketan ….et al (2021). The COVID-19-Led Reverse Migration on Labour Supply in Rural Economy: Challenges, Opportunities and Road Ahead in Odisha. The Indian Economic Journal. 1-18*
3. *Carling, Jorgen and Erdal, Mata Bivand. (2014). Connections between Return Migration and Transnationalism. John Wiley & Sons Ltd. Vol. 52(6).*
4. *Davies, A. Anita ...et al. (2011). The Dynamics of Health and Return Migration. Vol. 8.*
5. *Jesline, Joshy … et. al (2021). The plight of migrants during COVID-19 and the Journal of Sociology suppl. (94): S95. S120.*
6. *Khan, Asma, and Arokkiaraj, H (2021). Challenges of reverse migration in India: a comparative study of internal and international migrant workers in the post-COVID economy. Comparative Migration Studies. 1-19*
7. *Kunuroglu, Filiz ...et al. (2016). Return Migration. Online Reading in Psychology and Culture. 8(2).*
8. *Mishra A, Sayeed N (2020) Covid-19 and migrant workers: clinical psychologists' viewpoints. L. S. S. Manickam (Ed.), COVID-19 pandemic: Challenges and responses of psychologists from India. The Editor, Thiruvananthapuram, p. 43–56*
9. *Trivedi, Poonam …et al (2024). Socio-Economic and Health Consequences of COVID-19 on Indian Migrants: A Landscape Analysis. International Journal of General Medicine 17:1591–1603*
10. *Wahba, Jackline (2015). Who Benefits from Return Migration to Developing Countries.*
11. *Wiesbrock, Anja. (2004). Return Migration as a Tool for Economic Development in China and India. University of Maastricht. the Netherlands.*
12. *Zachariah K C & Rajan, Irudaya (2011). Impact of remittances on the non-resident Keralites on Kerala's economy and society. The Indian journal of labor economics. 54(3), 503-526.*

13. *Zachariah KC and Rajan SI (2010) Impact of the Global Recession on Migration and Remittances in Kerala: New Evidences from the Return Migration Study (RMS) 2009. Working Paper, Working Paper no. 432, June. Thiruvananthapuram: Centre for Development Studies*.
14. *Zachariah KC and Rajan SI (2011) From Kerala to Kerala via the Gulf Emigration Experiences of Return Emigrants. Working Paper, Working Paper no. 443, March. Thiruvananthapuram: Centre for Development*
15. *Zachariah KC, Nair PRG and Rajan SI (2001) Return Emigrants in Kerala: Rehabilitation Problems and Development Potential.Working Paper,Working Paper no. 319, October. Thiruvananthapuram: Centre for Development Studies.*
16. *Zachariah KC, Prakash BA and Rajan SI (2002) Gulf Migration Study: Employment, Wages and Working Conditions of Kerala Emigrants in the United Arab Emirates. Working Paper, Working Paper no. 326, March. Thiruvananthapuram: Centre for Development Studies.*
17. *Borah G.(2022) Distress Migration and Involuntary Return During Pandemic in Assam: Characteristics and Determinants. Indian J Labour Econ, 65(3)*
18. *Sascha Krannich, Douglas S. Massey (2024) The effect of the COVID-19 pandemic on immigration and immigrant wellbeing in the United States, SSM - Population Health, Volume 27, 101705*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

जल जीवन मिशन : ग्राम्य जल उपलब्धता की स्वदेशी परियोजना

डॉ. अमित राय
एसोसिएट प्रोफ़ेसर,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता,

सारांश :

यह शोध पत्र जल जीवन मिशन के क्रियान्वयन की समुचित जानकारी का विश्लेषण करता है। यह विशेषकर छत्तीसगढ़ के धमतरी जिले पर केन्द्रित है यह भारत सरकार द्वारा 2019 में आरम्भ की गयी जल जीवन मिशन परियोजना के क्रियान्वयन पर आधारित है। इसका उद्देश्य जल जीवन मिशन मिशन योजना को जारी रखे जाने के प्रयासों का विश्लेषण करना है। इस मिशन के अंतर्गत सभी गावों में उपलब्ध जल स्रोतों के माध्यम से सभी ग्रामीणों को जल उपलब्धता सुनिश्चित कराना है, साथ ही योजना में ग्रामीणों को स्थानीय स्तर पर शामिल कर एक तरह से सहकारी भूमिका के माध्यम से उन्हीं के द्वारा योजना के संचालन का प्रस्ताव है। इसके अंतर्गत योजना में इस्तेमाल उपकरणों के रखरखाव और मरम्मत हेतु ग्रामीणों को रोजगार उपलब्ध कराने का एक उपक्रम है एवं चूँकि जल की उपलब्धता हेतु सबसे अधिक प्रभावित महिलायें होतीं हैं और उनके स्वास्थ्य पर भी इसका प्रभाव पड़ता है, इसलिए जल की गुणवत्ता सुनिश्चित करने हेतु महिलाओं की भागीदारी के समुचित प्रयास किये जाना इसमें शामिल है। कुल मिलाकर स्थानीय आवशयकताओं की पूर्ति स्थानीय संसाधनों के माध्यम से किये जाने की यह स्वदेशी परियोजना है।

मुख्य शब्द: जल जीवन मिशन, जल बहिनी, जल मितान, स्वदेशी, स्वास्थ्य, स्वच्छता, छत्तीसगढ़, धमतरी, पैट्रियार्की

भूमिका :

मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ी बोलने वाले 16 जिलों को पृथक कर नए राज्य छत्तीसगढ़ का वर्ष 2000 में गठन किया गया। छत्तीस गढ़ों और किलों के आधार पर राज्य का नाम छत्तीसगढ़ रखा गया। छत्तीसगढ़

राज्य की राजधानी रायपुर है और इसका क्षेत्रफल 135,194 वर्ग किलोमीटर है जो क्षेत्रफल के आधार पर भारत का दसवां राज्य है। छत्तीसगढ़ के उत्तर-पश्चिम में मध्य प्रदेश, पश्चिम में महाराष्ट्र, दक्षिण में आंध्र प्रदेश, पूर्व में ओडिशा, उत्तर-पूर्व में झारखंड और उत्तर प्रदेश है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार इसकी आबादी 2,55,40,961 और जनसंख्या के आधार पर यह भारत का सत्रहवां राज्य है। जनसंख्या का घनत्व 188.9 वर्ग किलोमीटर और साक्षरता दर 64.7 प्रतिशत है। पूर्वी हिंदी की एक बोली छत्तीसगढ़ी को हिंदी के साथ राज्य की आधिकारिक भाषा का दर्जा दिया गया है। इसी के साथ छत्तीसगढ़ के कई भागों में आदिवासी और द्रविड़ भाषा-परिवार की भाषाओं और बोलियों का प्रयोग भी किया जाता है। छत्तीसगढ़ का उत्तरी और दक्षिणी भाग पहाड़ी हैं, और मध्य भाग मैदानी क्षेत्र है। इसके कुल भौगोलिक क्षेत्र का 44 प्रतिशत हिस्सा जंगल है। छत्तीसगढ़ को मुख्य रूप से एक ग्रामीण राज्य कहा जा सकता है क्योंकि यहां की जनसंख्या का सिर्फ 20 प्रकाशित भाग ही शहरों में रहता है। इस राज्य में 34 प्रकाशित अनुसूचित जनजातियाँ और 12 प्रकाशित अनुसूचित जातियां हैं। यहां के मैदानी इलाकों में तेली,सतनामी और कुर्मी जैसी जातियां जनसंख्या के लिहाज से प्रभुत्वशाली स्थिति में है। जंगली इलाकों में गोंड, हल्बा,कमार, गुजिया और उरांव जैसे जनजातियों की जनसंख्या ज्यादा है।

धमतरी (Dhamtari) छत्तीसगढ़ राज्य का एक मत्वपूर्ण जिला है जो मैदानी क्षेत्र में महानदी के किनारे बसा हुआ है। महानदी के किनारे बसा होने से यह अन्य जिलों की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। धमतरी जिले को जल संरक्षण के लिए किए गए प्रयासों के लिए कई राष्ट्रीय पुरस्कारों से नवाजा गया है जिसमें से प्रधानमंत्री पुरस्कार 2023 और जल शक्ति मंत्रालय द्वारा राष्ट्रीय जल पुरस्कार 2024 शामिल हैं। जिलाधिकारी नम्रता गांधी के नेतृत्व में नवाचार के अभिनव प्रयास किए गए जिससे धमतरी जिला जल प्रबंधन में एक रोल मॉडल के तौर पर स्थापित किया गया। जल संरक्षण के लिए और जनभागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए जल-जागर महोत्सव की शुरुआत की गई। जिसमें नवाचार के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सामुदायिक जुड़ाव के माध्यम से जल संरक्षण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किए गए हैं। जल हर प्राणी के लिए आवश्यक है बिना जल के जीवन की कल्पना भी संभव नहीं है। सभी के लिए जल अनिवार्य है लेकिन पूरे परिवार के लिए जल संग्रहण की जिम्मेदारी महिलाओं पर अधिक है। घर में जल की उपलब्धता न होने के चलते महिलाओं को पीने व खाना बनाने के लिए पानी और नहाने धोने के पानी के लिए असाध्य श्रम करना पड़ता था।गांव में जल स्त्रोतों के न होने या भू-जल स्तर कम होने की स्थिति में महिलाओं को कई मील दूर पानी लेने जाना पड़ता था। इस कार्य में महिलाओं को अतिरिक्त श्रम करना पड़ता था जिसका प्रभाव उनके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर भी पड़ता था। प्रतिदिन दो या तीन घंटे का महत्वपूर्ण समय सिर्फ उपयोग में आने वाले पानी के लिए महिलाओं को खर्च करना पड़ता था।

भारतीय समाज व्यवस्था पितृसत्तात्मक होने के कारण श्रम विभाजन की प्रक्रिया भी जेंडरगत भेदभावपरक है। गर्डा लर्नर ने अपनी किताब "क्रियेशन ऑफ पैट्रियार्की" में पितृसत्तात्मक व्यवस्था और जेंडर के संबंधों पर प्रकाश डाला है। वे बताती हैं कि किस प्रकार से आरंभ में जैविक भिन्नता के आधार पर कार्यों का बंटवारा किया गया था। कृषि युग के प्रारंभ ने पुरुषों को यह अवसर उपलब्ध करवाया कि वे स्त्रियों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सकें। इस दौर में स्त्रियों का आदान प्रदान और उन पर नियंत्रण किया जाने लगा। गर्डा लर्नर के अनुसार पुरुषों का वर्ग इस बात से निर्धारित होता था कि उनका उत्पादन के साधनों के साथ क्या संबंध हैं। जिनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण था उनका प्रभुत्व भी था। जिनके पास साधन या संसाधन नहीं थे उनका प्रभुत्व भी नहीं था। महिलाओं की उत्पादन के साधनों पर पहुंच पुरुष के साथ संबंधों के आधार पर बनती थी। कार्य विभाजन की इस प्रक्रिया ने महिला श्रम को उत्पादन की प्रणाली से नहीं जोड़ा जिससे महिलाओं को उनके श्रम का उचित मूल्य कभी भी नहीं मिला। घरेलू कार्यों को अनप्रोडेक्टिव और निरर्थक माना गया जिससे महिलाओं को उनके श्रम का कोई मूल्य नहीं मिला और आज भी नहीं मिलता है। प्रोडेक्टिव वर्क से तात्पर्य श्रम के एवज में मिलने वाले मूल्य या मेहनताने से है जो व्यक्ति को श्रम के एवज में मिलता है। महिलाओं को इन घरेलू और अदृश्य श्रम का कोई मूल्य तक नहीं मिलता है।

दैनिक जीवन में जल की उपयोगिता के महत्व को समझते हुए और महिलाओं के असाध्य श्रम को कम करने के लिए माननीय प्रधानमंत्री जी के द्वारा 15 अगस्त 2019 को "जल जीवन मिशन" की घोषणा की गई। जिसके माध्यम से नलजल योजना द्वारा गांव के प्रत्येक घर में शुद्ध पेयजल की आपूर्ति का लक्ष्य निर्धारित किया गया जिसे 2024 तक प्राप्त करना था हालांकि अभी इसकी अवधि का विस्तार 2028 तक कर दिया गया है। इस महत्वाकांक्षी और महत्वपूर्ण योजना का उद्देश्य प्रत्येक ग्रामीण परिवार को उसके प्रत्येक सदस्य के मुताबिक 55 लीटर पानी प्रतिदिन उपलब्ध कराना है। इसके लिए जिन गांवों में जल के स्त्रोत पहले से मौजूद हैं वहां एकीकृत जल योजना और जिन गांवों में उचित जल स्त्रोत नहीं है ऐसे गांवों का समूह बनाकर बहुग्राम योजना से जलापूर्ति की जाएगी। जल स्त्रोतों के आधार पर गांवों की अलग अलग श्रेणियां बनाई गई। साथ ही योजना की लागत राशि को कम करने के लिए पहले से मौजूद जल स्त्रोतों का पुनरुत्थान और संरक्षण को प्राथमिकता दी जाएगी। ग्राम पंचायत,ग्राम जल एवं स्वच्छता समिति तथा समुदाय मिलकर अपनी आवश्यकता के अनुसार जलापूर्ति की योजनाएं बनाएंगे। प्रत्येक परिवार को नल कनेक्शन घर व आंगन के अंदर दिए जा सकता है। इसके अतिरिक्त ग्राम पंचायत भवन,आंगनवाड़ी केंद्रों,विद्यालयों, स्वास्थ्य केंद्रों और सामुदायिक भवनों में भी नल कनेक्शन दिया जाएगा। हर घर नल कनेक्शन से गंदे पानी की मात्रा भी बढ़ेगी इसके निस्तारण और निवारण के लिए ग्रे-वाटर प्रबंधन की संरचना भी विकसित की गई। ग्रे-वाटर (शौचालय के अलावा अन्य नलसाज़ी प्रणालियों,जैसे वाश बेसिन, वाशिंग मशीन, शावर और बाथरूम से निकलने वाला अपशिष्ट जल)

प्रबंधन की अक्सर उपेक्षा की जाती है, जिससे स्वच्छता की समस्या भी उत्पन्न होती है। जल निकासी प्रणालियों के डिज़ाइन और रखरखाव पर भी विशेष ध्यान दिया गया है।

ग्राम सभा में मासिक खर्च के आधार पर प्रत्येक परिवार से मासिक जलकर की राशि तय की जाएगी। ग्राम सभा अति गरीब परिवारों का जलकर माफ कर सकती है यह उसकी स्वैच्छा पर निर्भर करता है। भारत में सबसे अधिक उपेक्षित चीज़ है पानी की गुणवत्ता। नागरिकों को अकसर गुणवत्ता मानकों और पानी में कौन-सी चीज़ कितनी मात्रा में होनी चाहिए,इसकी जानकारी नहीं होती। इस पर भी विशेष ध्यान दिया गया है और ग्राम पंचायतों को जल गुणवत्ता परीक्षण किट और उनके इस्तेमाल के लिए प्रशिक्षण भी दिया जाता है। हर घर तक जल पहुंचना ही आवश्यक नहीं है वितरित किए जा रहे जल की शुद्धता की जांच भी अत्यंत आवश्यक है। जल शुद्धता की जांच वर्ष में दो बार बारिश से पहले और बारिश के बाद जल स्त्रोतों के जल की गुणवत्ता की जांच की जाएगी।

चूंकि पानी से संबंधित अधिकतर समस्याएं माताओं बहनों को होती थी इसलिए इस मिशन में विशेष रूप से ग्रामीण महिलाओं की भागीदारी व प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने पर अधिक बल दिया गया है। इस क्रम में पानी की गुणवत्ता जांच हेतु बनी महिलाओं के समूह को "जल बहिनी" व रखरखाव हेतु कुशल कारीगर 'जल मितान' के रूप में शामिल किया गया है। साथ ही 'हर घर नल हर घर जल' के व्यवस्थित प्रबंधन, समस्या के निवारण, निगरानी व जल संरक्षण हेतु 'ग्राम जल एवं स्वच्छता समिति' बनाई गई है, जिसमें आमजन की सहभागिता को विशेष रूप से महत्व दिया गया है। साथ ही रोजगार उन्मुखीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत युवाओं को भी कुशल कारीगर के रुप में पंप आपरेटर,प्लंबर, इलेक्ट्रीशियन व हेल्पर जैसे कार्यों में प्राथमिकता देते हुए स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर दे रही है, जिससे ग्रामीणजन सिर्फ घर में पानी का उपयोग ही नहीं बल्कि पूरे गाँव में पानी का वितरण, रखरखाव व जल स्रोतों के संवर्धन के प्रति भागीदार बन सकें। इस प्रकार आमजन को इस मिशन के माध्यम से सिर्फ लाभार्थी ही नहीं बल्कि आगे बढ़कर भागीदारी एवं प्रतिनिधित्व के सवालों पर भी अमल किया गया, जिससे परिवार की मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति के साथ आमजन में विकासमूलक सोच के साथ जीवन स्तर में को भी एक नई ऊंचाई दी जा सके। आंकड़ों के मुताबिक, अभी तक देश में 78.27% *(Dashboard, 2024)* फीसदी ग्रामीण घरों में नल से जल पहुंचाने के लिए पाइप लाइन कनेक्शन दिया जा चुका है। बावजूद इसके आज भी गांव पानी की लगातार समस्या बनी हुई है।

जल परीक्षण के लिए हर गांव में 5 सदस्यीय महिलाओं को प्रशिक्षित किया जाएगा जो जल की गुणवत्ता का परीक्षण करेंगी। इसी के साथ गांव में जल की उपलब्धता बनी रहे इसके लिए सामूहिक प्रयास भी करने होंगे जैसे रेन वाटर हार्वेस्टिंग,बोर रिचार्जिंग,पानी की उपलब्धता के आधार पर खेत में फसलों का निर्धारण जिससे जल की बचत की जा सके। योजना बनाते समय समुदाय की भागीदारी महत्वपूर्ण है

सभी परिवारों को आवश्यकतानुसार जल प्राप्त हो,जल का उचित प्रेशर हो जिससे सभी को जल प्राप्त हो सके,बोरवेल का रखरखाव अच्छी प्रकार से हो। योजना के क्रियान्वयन के समय ग्राम पंचायत और ग्राम जल एवं स्वच्छता समिति की भागीदारी भी महत्वपूर्ण है जो योजना खर्च पर निगरानी के साथ साथ घर में नल कनेक्शन उसमें प्रयुक्त उचित सामग्री और निर्धारित मापदंडों का भी ध्यान रखती है। छत्तीसगढ़ में जल जीवन मिशन का 79 प्रतिशत से अधिक काम पूरा हो गया है। राज्य के 39 लाख 63 हजार 700 घरों में पाइपलाइन से पेयजल पहुंच रहा है। मिशन की शुरूआत के बाद से अब तक करीब 36 लाख 44 हजार नए घरों में नल कनेक्शन किया जा चुका हैं। प्रदेश में 4142 ऐसे गांव हैं जहां के शत-प्रतिशत घरों में नल से पानी पहुंच रहा है। जल जीवन मिशन के अंतर्गत 19 जिलों में 77 प्रतिशत से अधिक काम पूरा कर लिया गया है। हर घर में नल कनेक्शन पहुंचाने का जल जीवन मिशन ने धमतरी जिले में 98 प्रतिशत,रायपुर में 94 प्रतिशत,राजनांदगांव में 89 प्रतिशत,जांजगीर-चांपा में 88 प्रतिशत, दुर्ग और मुंगेली में 87 प्रतिशत, बालोद में 86 प्रतिशत तथा गरियाबंद और सक्ती में 85 प्रतिशत तक काम पूर्ण कर लिया गया है। इसी प्रकार बेमेतरा में 84 प्रतिशत, खैरागढ़-छुईखदान-गंडई और बस्तर में 83 प्रतिशत, कबीरधाम और महासमुंद में 82 प्रतिशत, रायगढ़ में 81 प्रतिशत, कोंडागांव में 79 प्रतिशत, गौरेला-पेंड्रा-मरवाही में 78 प्रतिशत तथा दंतेवाड़ा और बलौदाबाजार-भाटापारा जिले में 77 प्रतिशत से अधिक काम पूर्ण हो चुका हैं। भू -जल का स्तर नीचे चला जाना, जल में अपशिष्ट पदार्थों का होना और आवश्यक पदार्थो की कमी,जल का खारा होना ऐसी कई अन्य समस्याओं से जूझ रहे गांवों में स्वच्छ और सुरक्षित पेयजल की आपूर्ति के लिए 71 मल्टी-विलेज योजनाओं का कार्य भी प्रगति पर है। इनके माध्यम से 3234 गांवों के दस लाख से अधिक घरों में पेयजल के लिए नदी जल पहुंचाया जाएगा। छत्तीसगढ़ राज्य भू-जल स्तर की कमी और जल में अंग रासायनिक पदार्थों की समस्या से ग्रसित है। इसलिए राज्य के अधिकारियों की सक्रिय सहभागिता के माध्यम से जल की गुणवत्ता के बारे में जागरूकता और चेतना पैदा की जा रही है। जल जीवन मिशन के अंतर्गत उच्च श्रेणी के अधिकारियों की सक्रिय सहभागिता के साथ-साथ स्थानीय समुदाय के व्यक्तियों को भी शामिल किया जा रहा है। पांच व्यक्तियों, विशेषकर महिलाओं को पानी की गुणवत्ता का परीक्षण करने के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा है और फील्ड टेस्ट किट प्रदान की जा रही है। प्रत्येक वर्ष जल के हर स्त्रोत का कम से कम एक बार भौतिक परीक्षण और रासायनिक व बैक्टीरियोलॉजिकल प्रदूषण के लिए दो बार परीक्षण करने की आवश्यकता है। समुदाय के सदस्य ही किसी भी योजना के प्राथमिक हितधारक होते हैं। अगर कोई योजना सही काम करती है, तो इन्हें ही लाभ होता है और आपूर्ति बाधित होने पर नुकसान भी सबसे पहले इन्हें ही उठाना पड़ता है। कोई भी योजना बनाने और उसकी निगरानी में वैयक्तिक समुदाय का भाग लेना ज़रूरी है। साथ ही, मौजूदा सुलभ जल संसाधनों, जल गुणवत्ता संबंधी मुद्दों, आपूर्ति की लागत और बहुमूल्य संसाधन के विवेकपूर्ण उपयोग में अपनी भूमिका को भी समझना महत्त्वपूर्ण है। जल जीवन मिशन के कार्यों के लिए

राज्य शासन द्वारा चालू वित्तीय वर्ष के बजट में राज्यांश के रूप में 4500 करोड़ रुपए का प्रावधान भी किया गया है।

जल जीवन मिशन के प्रभाव

जल जीवन मिशन (जेजेएम) के कार्यान्वयन से ग्रामीण जीवन में महत्वपूर्ण सुधार आया है, जैसा कि कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों द्वारा उजागर किया गया है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) का अनुमान है कि प्रत्येक ग्रामीण परिवार को नल कनेक्शन प्रदान करने से प्रतिदिन 5.5 करोड़ घंटे से अधिक की बचत होगी, मुख्य रूप से महिलाओं के लिए (इस बोझ का तीन चौथाई हिस्सा)।

विश्व स्वास्थ्य संगठन का यह भी अनुमान है कि भारत में सभी घरों के लिए सुरक्षित रूप से प्रबंधित पेयजल की सार्वभौमिक कवरेज सुनिश्चित करने से डायरिया रोग से होने वाली लगभग 4 लाख मौतों को रोका जा सकता है, लगभग 14 मिलियन विकलांगता समायोजित जीवन वर्ष (डीएएलवाई) को टाला जा सकता है और इसके परिणामस्वरूप स्वास्थ्य लागत में ₹8.2 लाख करोड़ तक की अनुमानित बचत हो सकती है।

एसबीआई रिसर्च के अनुसार, घरों में बाहर से पानी लाने वालों की संख्या में 8.3 प्रतिशत प्वाइंट की गिरावट आई है, जिसके परिणामस्वरूप 9 करोड़ महिलाओं को अब पानी लाने की ज़रूरत नहीं है। कृषि और उससे जुड़ी गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी में 7.4 प्रतिशत प्वाइंट की वृद्धि हुई है।

नोबेल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर माइकल क्रेमर के शोध से पता चलता है कि सुरक्षित जल कवरेज से पांच साल से कम उम्र के बच्चों की मृत्यु दर में लगभग 30 प्रतिशत की कमी आ सकती है, जिससे संभावित रूप से प्रतिवर्ष 1,00,000 से अधिक लोगों की जान बच सकती है।

भारतीय प्रबंधन संस्थान बैंगलोर के अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) के साथ साझेदारी में, जेजेएम की अपने विस्तार के दौरान लगभग 3 करोड़ व्यक्ति वर्ष रोजगार पैदा करने की क्षमता है, जिसमें लगभग 25 लाख महिलाओं को फील्ड टेस्टिंग किट का उपयोग करने के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा है।

गुणवत्ता आश्वासन और निगरानी

जल जीवन मिशन के अंतर्गत, ग्रामीण क्षेत्रों में सुरक्षित पेयजल सुनिश्चित करने के लिए गुणवत्ता आश्वासन और निगरानी हेतु एक मजबूत प्रणाली लागू की गई है। 2025-26 (21) अक्टूबर 2025 तक) के दौरान, कुल 2,843 प्रयोगशालाओं (2,184 संस्थागत और 659 जल उपचार संयंत्र आधारित) ने देश के 4,49,961 गाँवों में 38.78 लाख जल नमूनों का परीक्षण किया।

सामुदायिक स्तर की भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए, 5.07 लाख गाँवों में 24.80 लाख महिलाओं को फील्ड टेस्टिंग किट (एफटीके) का उपयोग करके जल गुणवत्ता परीक्षण हेतु प्रशिक्षित किया गया है। यह समुदाय संचालित दृष्टिकोण जल प्रदूषण का शीघ्र पता लगाना सुनिश्चित करता है और ग्रामीण जल गुणवत्ता निगरानी के स्थानीय स्वामित्व को सुद्ध करता है।

जल जीवन मिशन के अंतर्गत प्रगति

सरकारी आंकड़ों के मुताबिक़ जल जीवन मिशन भारत के प्रत्येक ग्रामीण परिवार के लिए सुरक्षित और पर्याप्त पेयजल सुनिश्चित करने की दिशा में निरंतर प्रगति कर रहा है।

जिला-स्तरीय प्रगति: 192 जिलों के सभी घरों, स्कूलों और आंगनवाड़ी केन्द्रों तक नल का पानी पहुँच चुका है, जिनमें से 116 जिलों को सत्यापन के बाद ग्राम सभा प्रस्तावों के माध्यम से आधिकारिक रूप से प्रमाणित किया जा चुका है।

ब्लॉक, पंचायत, और गांव की कवरेज: ब्लॉक: 1,912 ने पूर्ण कवरेज की सूचना दी है, जिनमें से 1,019 प्रमाणित हैं।

ग्राम पंचायत: 1,25,185 ने सूचना दी है, और 88,875 ने प्रमाणन प्राप्त कर लिया है।

गाँव: 2,66,273 ने सूचना दी है, जिनमें से 1,74,348 हर घर जल पहल के अंतमले प्रमाणित हैं।

100 प्रतिशत कवरेज वाले राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश ग्यारह राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों, गोवा, अंडमान और निकोबार द्वीप समूह, दादरा और नगर हवेली और दमन और दीव, हरियाणा, तेलंगाना, पुडुचेरी, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश ने सभी ग्रामीण घरों के लिए पूर्ण नल जल कनेक्टिविटी हासिल कर ली है।

संस्थागत कवरेज: देश भर में 9,23,297 स्कूलों और 9,66,876 आंगनवाड़ी केन्द्रों में नल जल की आपूर्ति सुनिश्चित की गई है।

महत्व : जल जीवन मिशन की इस महत्वाकांक्षी परियोजना के लागू किये जाने के फलस्वरूप यह जानना भी बेहद आवश्यक है कि इस योजना का लाभ व्यापक क्षेत्र को मिल रहा है या नहीं साथ ही यह भी जानना बेहद आवश्यक है कि छत्तीसगढ़ के दुर्गम इलाकों में इस योजना की सफलता में कितनी और कैसी बाधाएं सामने आ रहीं हैं सबसे बड़ी बात इन योजनाओं के सम्बन्ध में जागरूकता को लेकर है कि कितनी ग्राम पंचायतों और जल बहिनियों और जल मितानों को इसकी समुचित जानकारी है और इसके व्यापक उद्देश्यों के लिए वे कितने प्रयास कर रहे हैं कितनी बार जल का परीक्षण किया जाना आवश्यक है और इस योजना से कितने जल मितानों को प्रशिक्षण दिया गया है और टूल किट प्रदान की गयी है

साथ ही क्या यह प्रशिक्षण उनके रोजगार की बुनियादी जरुरत को पूरा कर पा रहा है इस योजना के क्रियान्वयन हेतु सहयोगी एजेंसी का प्रदर्शन किस तरह का है पहले की तुलना में महिलाओं के स्वास्थ्य में कितनी अभिवृद्धि हुई है जल जीवन मिशन के क्रियान्वयन में कौन-कौन सी बाधाऐं आ रही है? जल जीवन मिशन में क्रियान्वयन सहयोगी एजेंसी (ISA) के माध्यम से सामुदायिक जागरूकता की स्थिति कैसी है? जल जीवन मिशन के माध्यम से स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव की स्थिति कैसी है? जल जीवन मिशन द्वारा जल बहिनी के रुप में महिलाओं की सहभागिता की स्थिति कैसी है? जल जीवन मिशन द्वारा जल मितान के रुप में कुशल कारीगरों की सहभागिता की स्थिति कैसी है? ये ऐसे कुछ प्रश्न हैं जो केंद्र सरकार की इस महत्वाकांक्षी योजना के क्रियान्वयन की पुष्टि करते हैं। ऐसे में विभिन्न स्तरों पर विभिन्न संस्थानों द्वारा देश के प्रत्येक जिले में शोध कार्य कराये जा रहे हैं जिनकी रिपोर्ट इस योजना के महत्वपूर्ण आयामों को आलोकित करेगी साथ ही इस योजना की सौ फीसदी सफलता में आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सकेगा इस दिशा में धमतरी जिले में किये गए कार्यों की समीक्षा किया जाना अधिक आवश्यक है क्योंकि इस जिले को एक रोल मॉडल की तरह लिया गया है ख़ासकर इस जिले में जल सुलभता को लेकर और साथ ही इसके दुर्गम इलाकों में जल की पहुँच सुनिश्चित कराने को लेकर किये जाने वाले प्रयास दूसरे इलाकों के लिए बेहद महत्वपूर्ण हो सकते हैं।

संदर्भ

1. *Lerner Gerda (1986). The Creation of Patriarchy (Women & History),Oxford University Press.*
2. *Chaudhary, Amrita (2022) Jal Jeevan Mission And Women Empowerment,October 2022 IJSDR,Vol 7 Issue 10,*
3. *https://www.drishtias.com/hindi/daily-updates/daily-news-analysis/jal-jeevan-mission-18*
4. *https://jaljeevanmission.gov.in/*
5. *कटारिया, रतन लाल (2021) सामाजिक क्रांति की दिशा में बढ़ते कदम', योजना, अप्रैल 2021, पेज - 19-21*
6. *https://www.indiawaterportal.org/articles/employment-potential-indias-jal-jeevan-mission*
7. *https://www.researchgate.net/publication/346107418 Jal Jeevan Mission Will Substantial Iv Enhance Ease of Living With a Positive Impact on Health Status and Women Empowerment*
8. *https://repository.limb.ac.in/handle/2074/22075*

9. *https://www.ijsdr.org/viewpaperforall.php?paper=IJSDR2210075*
10. *https://www.unicef.org/india/what-we-do/clean-drinking-water*
11. *https://jaljeevanmission.gov.in/sites/default/files/2023-06/Jal-Jeevan-Mission-Summary-of-report.pdf*
12. *https://www.pib.gov.in/PressReleasePage.aspx?PRID=2177526*
13. *https://ejalshakti.gov.in/jjmreport/J.JMDistrictView.aspx*
14. *https://ejalshakti.gov.in/jjmreport/School/JJMSchool_India.aspx*
15. *https://ejalshakti.gov.in/WQMIS/*
16. *https://ejalshakti.gov.in/jjm/citizen_corner/villageinformation.aspx*
17. *https://sansad.in/getFile/annex/268/AU1662_fh2g2d.pdf?source=pqars*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

उपनिवेशवाद और महिला आंदोलन में भीकाजी कामा का योगदान, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में स्त्री शक्ति की भूमिका

कु. सोनम
पी-एच.डी. शोधार्थी
गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग,
महात्मा गांधीअंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा,

सारांश

इस शोध आलेख में उपनिवेशवाद और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भीकाजी कामा के योगदान का विश्लेषण किया गया है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार भीकाजी कामा ने न केवल भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया, बल्कि महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उपनिवेशवाद से तात्पर्य आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक शोषण से है, जिसमें महिलाओं की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं के योगदान को पहचानने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।

भीकाजी कामा का जन्म 24 सितंबर,1861 को एक संपन्न पारसी परिवार में हुआ था। उनके समाज सुधारक दृष्टिकोण के कारण उन्होंने औपनिवेशिक काल में महिलाओं के लिए सामाजिक सुधार के प्रयास किए। प्लेग महामारी के दौरान उनकी समाजसेवा और समर्पण ने उन्हें समाज में एक प्रमुख नेतृत्वकर्ता बना दिया। लंदन में उन्होंने दादाभाई नौरोजी के साथ कार्य किया और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के लिए वैश्विक समर्थन जुटाया।

भीकाजी कामा ने वर्ष 1907 में जर्मनी के स्टुटगार्ट शहर में भारत का पहला गैर-आधिकारिक राष्ट्रीय ध्वज फहराया। उनके द्वारा तैयार किया गया ध्वज आज के तिरंगे से भिन्न था, जिसमें हरे, पीले और लाल रंग की पट्टियां थीं। इस ध्वज ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को वैश्विक पहचान दी। उन्होंने "वंदे मातरम" और "मदन की तलवार" जैसी पत्रिकाओं का संपादन किया, जिनमें ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारत की आजादी के पक्ष में विचार प्रस्तुत किए गए थे।

भीकाजी कामा की विचारधारा में स्वराज और समानता की प्रमुखता थी। उन्होंने महिलाओं के सशक्तिकरण और समाज में उनकी भागीदारी को बढ़ावा दिया। उनके समर्पण और नेतृत्व ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं की भूमिका को एक नई दिशा दी। 13 अगस्त,1936 को उनका निधन हुआ। भीकाजी कामा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की एक अग्रणी नेता और भारतीय महिलाओं के सशक्तिकरण की प्रतीक बनीं।

मुख्य शब्द:- *उपनिवेशवाद,महिला आंदोलन,भारतीय स्वतंत्रता संग्राम,स्त्री शक्ति*

परिचय

उपनिवेशवाद आंदोलन में इतिहास के पन्नों से महिलाओं को तलाशना और उन्हें नए सिरे से समझने का प्रयास करना स्त्रीवादी सैद्धांतिक की प्रस्थान बिंदु रहा है। उपनिवेशवाद से तात्पर्य है कि एक देश दूसरे देश पर अपना आधिपत्य जमानाऔर जिसके मूल में आर्थिक शोषण करने का भाव निहित होता है।और इसके अतिरिक्त आर्थिक शोषण को स्थाई और मजबूत बनाने के लिए उपनिवेश पर शैक्षिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, और राजनीतिक पकड़ मजबूत बनाई जाती है। तब जाकर उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होती है। विदेशी सत्ता द्वारा शासित वे सभी क्षेत्र उपनिवेश के तहत आते हैं। जिनके निवासियों को पूरी तरह से अधिकार प्राप्त नहीं है। और जहां एक शक्तिशाली राष्ट्र निर्बल राष्ट्र के ऊपर शोषण करता है। औपनिवेशिक काल में भारतीय नारी की स्थिति देखा जाए तो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं के योगदान अनगिनत है। सन् 1857 से 1947 के मध्य कई ऐसी भारतीय महिलाएं हैं जिनका नाम इतिहास के पन्नों में दर्ज है क्योंकि उन्होंने स्वतंत्रता संघर्ष में बढ़-चढ़कर भाग लिया और जागृत रही और उनकी सक्रिय सहभागिता ने उन्हें अपने संघर्षों में सफलता दिलाई, स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं ने भाग ही न लिया अपितु वे अपने पराक्रम से तत्कालीन अंग्रेजी सत्ता की नीव हिला दी**(मोहन,2023)।** वे डटकर अपने अधिकारों के लिए सत्ता में बैठे शासकों से मुकाबला की और अपनी पहचान स्थापित कर और अन्य महिलाओं के लिए भी नेतृत्व करने की क्षमता का विकास किया और समाज के उस भ्रम को गलत साबित किया कि महिलाएं सिर्फ सौंदर्य की वस्तु और घर की चारदीवारीके अंदर रहने के लिए नहीं बनी है बल्कि वे अपने शौर्य से भारतीय समाज में स्थापित परिदृश्य को चुनौती देने के लिए सशक्त है। पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं के लिए यह एक कड़ी चुनौती होती थी कि वे बनाई गई परंपराओं को तोड़ सके और पुरुषों के बराबर आगे आकर समाज के बनाए गए रीति-रिवाजों को तोड़कर स्वतंत्रता आंदोलन में अपना योगदान दें। लेकिन उन्होंने समाज द्वारा बनाए गए इन जंजीरों को तोड़ा और अधिकांश महिलाओं ने स्वतंत्रता आंदोलन में अपने प्राणों की आहुति दी और अंग्रेजों से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुई। **(मोहिनी. 2008)।**

उपनिवेशवाद में महिलाएं पारंपरिक व्यवस्था से शोषितथी जिसमें उनकी स्थिति अत्यंत ही दयनीय थी। क्योंकि सार्वजनिक रूप से किसी भी स्थिति में स्वतंत्र नहीं थी। उनकी इसी स्थितियों को सुधारने के लिए औपनिवेशिक काल में कई महान सुधारक सामने आए और ऐसी स्थिति करने का प्रयास किया जो महिलाओं के विचारों, परंपराओं, विधानों से मुक्ति दिलाने में सहायक बने साथ ही कई ऐसी महिला आंदोलनकारी भी सामने आई जो रूढ़िवादी,उदारवादी, नारीवादी, मार्क्सवादी से लेकर समाजवादी नारीवादी तक जानी जाती हैं। जो भारत में महिलाओं की स्थिति पर केंद्रित और महिला इतिहास का हिस्सा है। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान कई समाज सुधारक के रूप में अपना छाप छोड़ा और महिलाओं की समानता और उनके अधिकारों के लिए आज भी प्रासंगिक है जिन्हें आदर्श के रूप में गौरवान्वित किया जाता है। जो भारतीय समाज में महिलाओं की समस्याएं, संस्कृति, विचारधारा,प्रभुत्व से मुक्ति दिलाकर उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में सहायक हुई। इनमें से जो प्रमुख महिलाएं हैं कमला नेहरू, कल्पना दत्त, बेगम हजरत महल, विजय लक्ष्मी पंडित, उषा मेहता, भीकाजी कामा।

भारत में औपनिवेशिक काल में महिलाओं की स्थितियों में सुधार लाने का प्रमुख योगदान एक महिला आंदोलनकारी के रूप में जो नाम आज भी प्रख्यात है वह है 'भीकाजी कामा'जो महिलाओं की स्थिति में अत्यधिक सहभागी बनी तथा राष्ट्रीय स्तर पर कई ऐसे महत्वपूर्ण समाज सुधारक कार्य किए हैं जिन्हें 'भारतीय क्रांति की जननी' के तौर पर भी जाना जाता है जो भारतीय परिपेक्ष में आज भी विद्यमान है।

भीकाजी कामा का जन्म 24 सितंबर,1861 को मुंबई में हुआ था। वह एक संपन्न पारसी परिवार से थीं। उनके पिता पारसी समुदाय के एक प्रभावशाली सदस्य होने के साथ-साथ एक प्रसिद्ध व्यापारी भी थे, जो मुंबई में व्यापार, शिक्षा और परोपकार के क्षेत्र में अग्रणी थे।

भीकाजी कामा ने एलेक्जेंड्रा गर्ल्स इंग्लिश इंस्टीट्यूशन में शिक्षा प्राप्त की थी और उन्हें एक प्रसिद्ध अंग्रेजी शिक्षक के रूप में जाना जाता था। 1885 में भीकाजी ने रुस्तम कामा से विवाह किया, जो एक वकील थे और के.आर. कामा इंस्टीट्यूट ऑफ ओरिएंटल स्टडीज के संरक्षक, प्रसिद्ध खरशेदजी रुस्तमजी कामा के पुत्र थे।हालांकि शुरुआती दौर में रुस्तम कामा अपनी पत्नी का समाज सुधार के कार्यों में भरपूर सहयोग किया लेकिन पितृसतात्मक विचारधारा होने के कारण कुछ समय पश्चात उन्होंने अपना सहयोग देने से भीकाजी कामा को इंकार कर दिया।वे नहीं चाहते थे कि घर की महिलाएँ चारदीवारी से बाहर जाएँ क्योंकि वे देश के हित के लिए अग्रेंजी को सर्वोपरि मानते थे (**सिंह ईस्वार 2023**)।

भीकाजीसमाज सेवा में इतनी विलीन हुई कि अक्टूबर,1896 मेंब्यूबोनिक प्लेग के खिलाफ देखभाल और टीकाकरण प्रदान करने के लिए ग्रांट मेडिकल कॉलेज में प्रवेश लिया, मुंबई में प्लेग ने लोगों को अपनी चपेट में लेना शुरू किया तब उनकी उम्र 35 की थी उन्हें घर-परिवार की जिम्मेदारियां भी संभालनी

थीं,बावजूद उन्होंने प्लेग मरीजों की सेवा में जुटीं और यथासंभव मदद भी किया लेकिन कुछ ही दिन बाद खुद प्लेग की शिकार हो गईं और इसी दौरान भीकाजी को लकवा मार गया।तथा भारत में उनका इलाज किसी को समझ नहीं आया चिकित्सकों ने उपरामर्श दिया कि उन्हें इंग्लैंड में भेज देना चाहिए। शुभचिंतक तथा परिवार के सभी सदस्यों की यही इच्छा थी कि वे स्वास्थ्य के लिए विदेश चली जाएं। संभवतः उनके पति भी यही चाहते थे कि विदेश में रहे ताकि उनके सर से देशभक्ति का भूत उतर जाए, किंतु वह यही नहीं जानते थे कि भारत मां की सच्ची संताने कभी अपने उपवास से नहीं डिगती। अतः एक प्रकार से कह सकते है कि मैडम कामा को भारत से बाहर जाने के लिए विवश कर दिया गया। वह सन् 1901 में इंग्लैंड के लिए प्रस्थान हुई। जब भारत की धरती से जहाज रवाना हुआ तो मैडम कामाकी आंखें नम होने लगीं थी। वह कहां जानती थी कि आने वाले 35 सुदीर्घ वर्षों के लिए उन्हें उनकी मातृभूमि से दूर रहना होगा।

लंदन में प्रवास के बाद उनका इलाज हुआ वह स्वस्थ होने के बाद हॉलबोर्न क्षेत्र में एक प्रतिष्ठित परिवार के साथ पेइंग गेस्ट के रूप में रहने लगी। उन्होंने लंदन में बसने से पहले जर्मनी, स्कॉटलैंड में एक-एक वर्ष का समय व्यतीत किया। इस दौरान उनके राजनीतिक संपर्क बड़े स्तर पर होने लगे तथा उनकी विचारधारा में मौलिक परिवर्तन भी आए।

वरिष्ठ नेता दादाभाई नौरोजी भी वही थे मैडम कामा उनकी निजी सचिव के रूप में काम करने लगीं। वे पूरे मन से उनके कार्यों की देख-रेख कर रही थी, किंतु राजनीतिक पटल के विस्तृत होते ही कांग्रेस की नीतियों का भीतरी संघर्ष उनकी समझ में आने लगा। उन्हें महसूस होने लगा कि अब केवल अर्जियां देने से बात नहीं बनेगी। अपनी स्वतंत्रता पाने की याचना क्यों की जाए? जो चीज शत प्रतिशतअपनी हो, उसे तो पूरे अधिकार से लेना चाहिए। इस प्रकार वे याचिका केंद्रित राजनीति से विमुख होने लगी इस वैचारिक परिवर्तन के दौरान वे श्यामजी तथा राणाजी से मिली यह लोग अपने भिन्न सोच के कारण एक अलग ही रूप में उभर रहे थे। मैडम कामा की उनके साथ वैचारिकसहमति थी, अतः वे उनके साथ मिलकर काम करने लगी।

वे उनके साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के काम में हाथ बटाने लगीं। नौरोजी के माध्यम से उन्हें राजनीतिक दायरे के अनेक व्यक्तियों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। विभिन्न देशों की भाषाओं ने उनकी सोच को नया आयाम दे दिया था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रश्न अब पहले से भी नए रूप में प्रखर हो उठा था। धीरे-धीरे उनकी भेंट क्रांतिकारियों से होने लगीं इटली के महान क्रांतिकारी नेता मेजिनी के विचारों का भी उन पर गहरा असर पड़ा। लंदन में उन दिनों श्याम जी कृष्ण वर्मा, सरदार सिंहजी,रेवा भाई राणा व सरोजिनी नायडू आदि भारतीय रह रहे थे। लंदन अन्य देशों के क्रांतिकारियोंका भी आश्रयस्थली था।लंदन में बसने वाले भारतीय भी इस विचारधारा को समर्थन देने लगे थे कि देश को आजादी मिलनी चाहिए।

उन्होंने अपना अधिकांश समय समाजसेवा और राजनीतिक गतिविधियों में व्यतीत किया। भीकाजी कामा के अंदर कॉलेज के जमाने से ही समाज और देश के प्रति सेवा का जज्बा था, उन्हें ब्रिटिश रूल पसंद नहीं था, हर हाल में भारत को आजाद देखना चाहती थीं, उसके लिए वे मौका निकालकर अपने प्रयास भी करती रही।

1885 वह वर्ष था जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहली बैठक हुई, जिसमें भीकाजी ने भाग लिया और यह उस उद्देश्य की अग्रदूत थी जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया।मैडम कामा एक मजबूत और साहसी महिला थीं जिन्होंने भारत की आजादी की लड़ाई में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।वह पहली भारतीय थीं जिन्होंने विदेशी धरती पर गर्व से हमारे देश का झंडा फहराया और दुनिया को आजादी के प्रति हमारा दृढ़ संकल्प दिखाया और भारत की स्वतंत्रता के सहारे ही पूरी दुनिया से साम्राज्यवाद का सफाया करना चाहती थीं।

भीकाजी कामा न केवल एक बहादुर कार्यकर्ता थीं बल्कि एक प्रतिभाशाली लेखिका भी थीं। लंदन से पुस्तक प्रकाशन का काम भी शुरू किया वे युवाओं की टोली बनाकर भारत के समर्थन में उन्हें एकजुट करती थी, उन्होंने पुस्तक प्रकाशन में वीर सावरकर की भी मदद की, बीच में एक समय ऐसा भी आया, जब उन्हें भारत आने पर ही रोक लगा दी गई लेकिन वे देश के प्रति स्वयं को समर्पित कर लगातार प्रयासरत रहीं और'वन्दे मातरम्' और 'मदन की तलवार' जैसी प्रभावशाली किताबें लिखीं और साझा कीं, साथ ही कई लोगों को स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल होने के लिए प्रेरित किया।भारतीय स्वतंत्रता की वकालत करने के लिए पोस्टकार्ड के प्रकाशन सहित विभिन्न संचार माध्यमों का उपयोग किया। जर्मनी की धरती पर ब्रिटिश से भारत की आजादी में मदद की अपील की, इस घटना के बाद वह आजादी आंदोलन के हीरो के रूप में पहचानी जाने लगीं। अंग्रेजों ने जब उन्हें गिरफ्तार करने का विचार शुरू किया तो इसकी भनक लगते ही वे फ्रांस चली गईं और यहीं से उन्होंने 'वन्दे मातरम्' और बाद में 'मदन की तलवार' का प्रकाशन किया।जिसका प्रकाशन अंग्रेज भारत में प्रतिबंधित कर देते, उसे वे फ्रांस में उपलब्ध करवाती रहीं। उन्होंने सावरकर के समर ग्रंथ को फ्रेंच (सन 1857) में भी प्रकाशित किया जो कि बहुत बड़ा काम था।'वन्दे मातरम्' शब्द उनके दिल के बहुत करीब था। उन्होंने इसी नाम से अखबार निकाला, जो केवल आजादी की बात करता।वह लेखनी में बहुत तेज थी। वे हमलावर अंदाज में लिखती रहीं। इसके अलावाउन्होंने विनायक सावरकर के '1857 के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम' जैसे अन्य प्रकाशनों द्वारा लिखे गए क्रांतिकारी साहित्य को बढ़ावा दिया **(दीक्षित,2014)।**

एक समय वीर सावरकर का स्वास्थ्य ऐसा बिगड़ा कि वे फ्रांस आकर मैडम कामा के पास रुके और वे उन्हें अपनी दूसरी मां के रूप में देखते थे, दोनों में एक-दूसरे के प्रति खूब स्नेह था। स्वास्थ्य बेहतर होते ही सावरकर लंदन लौटने की कोशिश में थे लेकिन उन्हें अवैध तरीके से फ्रांस की धरती से ही गिरफ्तार

कर लिया गया। असल में अंग्रेज अफसर जैक्सन की भारत के नासिक में हत्या कर दी गई थी। आरोप यह था कि सावरकर ने इस हत्या की न केलव साजिश रची बल्कि पिस्तौल भी उपलब्ध करवाई। गिरफ़्तारी के बाद उन्हें भारत भेजने का फैसला हुआ। भारत ले जाए जाने की सूचना मिलते ही मैडम कामा सीधे बंदरगाह पहुंचीं लेकिन जहाज मोरिया सावरकर को लेकर जा चुका था। चिंतित कामा वापस फ्रांस पहुंचीं और इस अवैध गिरफ़्तारी की सूचना खूब प्रसारित की। इससे ब्रिटिश सरकार की किरकिरी हुई तथा सावरकर पर कोई आंच न आए इसलिएमैडम कामा ने पेरिस में ब्रिटिश राजदूत को लिखकर दिया कि पिस्तौल भारत भेजने में सावरकर का नहीं बल्कि उनकी भूमिका है। बावजूद इसके सावरकर को अंग्रेज शासन ने काला पानी की सजा सुना दी औरब्रिटिश सरकारने वीर सावरकर की सारी संपत्ति जप्त कर फिर उन्हें निर्वासित कर अंडमान जेल भेज दिया।

सावरकर के मामले में हाथ आई निराशा से मैडम कामा टूट सी गई थी। उन्होंने सावरकर के मामले की पैरवी में काफी धन व काफी समय लगाया था, किंतु उन्हें इसका अफसोस नहीं हुआ। उन्होंने जो भी किया,अपने पुत्र के लिए किया। वे क्रांति की जननी थी भला इस को कैसे भुला देती।

यहां तक की बाद में भी सावरकर के परिवार की सहायता करती रही। उनके विषय में (पावलोविच) लिखते हैं कि जब मैडम कामा सावरकर को जेल से छुड़ाने के लिए अविरल रूप से जनमत तैयार कर रही थी तो अपने बुढ़ापे की सेहत की परवाह न करते हुए, स्वयं समाचार पत्रों के कार्यालय में जाकर पत्रकारों से अनुरोध करती थी कि वह सावरकर की मुक्ति के विषय में छापे।

राष्ट्र के प्रति उनका समर्पण और योगदान वास्तव में अमूल्य है, जो उन्हें महिला शक्ति और सशक्तिकरण का एक प्रेरक प्रतीक बनाता है।एक मजबूत और साहसी महिला थीं जिन्होंने भारत की आजादी की लड़ाई में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। वह पहली भारतीय थीं जिन्होंने विदेशी धरती पर गर्व से हमारे देश का झंडा फहराया और दुनिया को आजादी के प्रति हमारा दृढ़ संकल्प दिखाया।भीकाजी कामा ने अंग्रेजों कीतानाशाही के खिलाफ आवाज उठाई और भारत की आजादी की नींव रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।उन्होंने लंदन, जर्मनी, अमेरिका समेत कई देशों में घूम-घूमकर भारत की स्वतंत्रता के लिए अभियान चलाया। उन्होंने न सिर्फ भारत में ब्रिटिश राज के बारे में बताया बल्कि देश से बाहर रहकर भी भारतीय क्रांतिकारियों की पूरी मदद की। बहादुर, राष्ट्रभक्त, दयालु महिला अपना वैभव से भरा जीवन त्याग कर कांटों की राह चुनी तो थी लेकिन दिल धड़कता था गरीबों के लिए देश और समाज सेवा करते-करते वे कब वीर सावरकर समेत अनेक भारतीयों की मां बन गईं, उन्हें भी नहीं पता चला **(कुमार, र.2017)**।

उन्होंने सबसे पहले भारतीय ध्वज लहराकर देशभक्ति की मिसाल कायम की।वर्ष 1902 में वह इसी सिलसिले में लंदन गईं और वहां भी उन्होंने भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के लिए काम जारी रखा। भीकाजी

ने वर्ष 1905 में अपने सहयोगियों विनायकदामोदर, सावरकर और श्यामजी कृष्ण वर्मा की मदद से भारत के ध्वज का पहला डिजाइन तैयार किया था।

7 अगस्त 1906 को पहली बार भारत का गैर आधिकारिक राष्ट्रीय ध्वज पारसी बागान चौक (ग्रीन पार्क) कलकत्ता (अब कोलकाता) में फहराया गया था, लेकिन इसके ठीक एक साल बाद 22 अगस्त 1907 को भीकाजी कामा ने जर्मनी के स्टुटगार्ट शहर में भारत का झंडा फहराया दिया था। इंटरनेशनल सोशलिस्ट कांफ्रेंस में भारतीय स्वतंत्रता के ध्वज को बुलंद किया था।

इस आयोजन कई देशों के लोग शामिल हुए थे, सभी ने अपने देश का झंडा लगाया लेकिन भारत के झंडे के स्थान पर ब्रिटिश झंडा लगा था। भीकाजी कामाने 22 अगस्त 1907 को विदेश में भारत का झंडा फहराया दिया था। भीकाजी कामा द्वारा फहराया गया भारत का झंडा आज के तिरंगे झंडे से बिल्कुल अलग था। भीकाजी कामा द्वारा फहराया गया भारत का झंडा आज के तिरंगे झंडे से बिल्कुल अलग था। उनके झंडे में हरे, पीले और लाल रंग की तीन पट्टियां थीं। सबसे उपर हरे रंग की पट्टी में आठ कमल के फूल बने थे जो भारत के आठ प्रांतों को दर्शाते थे। बीच में पीले रंग की पट्टी थी जिस पर वंदे मातरम लिखा था और सबसे नीचे लाल रंग की पट्टी थी जिस पर सूरज और चांद बने हुए थे, अब ये झंडा पुणे की केसरी मराठा लाइब्रेरी में संरक्षित करके रखा गया है। भीकाजी कामा को भारत के झंडे के स्थान ब्रिटिश झंडा स्वीकार नहीं हुआ, उन्होंने तुरंत भारत का एक नया झंडा बनाया और सभा में फहराया। झंडा फहराते हुए भीकाजी कामा ने कहा कि ये भारत का झंडा है जो भारत के लोगों का प्रतिनिधित्व करता है, झंडा फरहाने के बाद उन्होंने एक शानदार भाषण दिया जिसमें कहा था - "ऐ संसार के कॉमरेड्स, देखो ये भारत का झंडा है, यही भारत के लोगों का प्रतिनिधित्व करता है, इसे सलाम करो।"भीकाजी द्वारा लहराए गए झंडे में देश के विभिन्न धर्मों की भावनाओं और संस्कृति को समेटने की कोशिश की गई थी। तथ्यों के मुताबिक भीकाजी हालांकि अहिंसा में विश्वास रखती थीं लेकिन उन्होंने अन्यायपूर्ण हिंसा के विरोध का आह्वान भी किया था। उन्होंने स्वराज के लिए आवाज उठाई और नारा दिया– आगे बढ़ो, हम भारत के लिए हैं और भारतीयों के लिए है।

भारत के आदि ध्वज को पहली बार वैश्विक मंच पर रखकर दुनिया को सम्भावित स्वतंत्र और स्वायत्त देश के रूप में भारत की दस्तक का अहसास कराने वाली मैडम भीकाजी कामा साहस, निर्भीकता और मजबूत इरादों की प्रतीक थीं। विदेश में भारत की पहली सांस्कृतिक प्रतिनिधि कही जाने वाली कामा ने स्वराज का नारा बुलंद किया।

उनके मुखर और अहिंसक क्रांति से घबराए अंग्रेजों ने भारत में उनके प्रवेश पर पाबंदी लगा दी थी। भीकाजी कामा के जीवन से जुड़े तथ्यों के मुताबिक उन्होंने अपना जीवन भारत की आजादी के लिए न्यौछावर कर दिया।भीकाजी कामा को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर काम करने का मौका मिला तो वे और

निखरती गईं और वो अंग्रेजों कि नजर में भी आ गई थीं, जहां भारत के लोग उन्हें क्रांति प्रसूता, भारतीय क्रांति की मां, महान पुजारिन जैसे सम्बोधन देते तो वहीं अंग्रेजों ने उन्हें खतरनाक क्रांतिकारी, ब्रिटिश विरोधी जैसी उपाधियां दी थी।

उन्होंने विदेश में 'एंग्लो इंडिया हाउस' की स्थापना सन् 1905 को हेनरी हिडमैन के द्वारा एक समारोह में की थी,जिसमें दादाभाई नौरोजी, चार्लोट डेस्पर्ड और भीकाजी कामा सहित अन्य लोग शामिल हुए। इंडिया हाउस की स्थापना अपने आप में एक महान एतिहसिक कदम था। इस हाउस ने विदेश में रह रहे भारतीय युवकों को एक साथ रहने, अपने विचार एक दूसरे से बांटने वह एक ही लक्ष्य के प्रति शक्तियों को केंद्रित करने में भरपूर सहायता दी। यदि वे लोग इस छत तले एकमात्र होने का अवसर नपाते तो संभवतः तत्कालीन क्रांतिकारी परिदृश्य कुछ और ही होता। मैडम कामा को भी विचारों को मूर्त रूप देने के लिए कार्य क्षेत्र मिल गया। स्वयं नेहरू जी ने अपनी आत्मकथा में स्वीकारा कि वे राष्ट्रवादी गतिविधियां इंग्लैंड में रह रहे भारतीयों में जोश भर देती थीं(**माथुर,2010**)।

उन्होंने महिलाओं की उन्नति पर भी जोड़ दिया वे चाहती थी कि अपने देशवासियों के कष्टों, जिम्मेवारियों व दु:ख सुख में महिलाएं भी भाग ले। सन्1912 में भारतीय पुरुषों द्वारा विदेशी महिलाओं से विवाह करने की प्रथा को उन्हें पूर्वी देशों की महिलाओं से विवाह करने की सलाह दी। उनके विचार में ऐसा करके देश की उन्नति करने में सहायता दे सकते हैं । उन्होंने लिखा कि किसी पूर्वी देश के स्त्री से विवाह करके वह उसे पूर्व की प्रगति से परिचित कर सकते हैं तथा सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

1910 में ब्रुसेल्स में आयोजित मिश्रा के नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन को संबोधित करते हुए उन्होंने महिलाओं की अनुपस्थिति पर खेद प्रकट किया। उन्होंने कहा कि पुरुषों के जीवन में महिलाओं का अत्यंत महत्वहै। वह उनके चरित्र को ढालती हैं। वस्तुतः किसी भी राष्ट्र के जीवन में महिला की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अतः उनको साथ लेकर चलना चाहिए। इसी संदर्भ में उन्होंने कहा है कि वह अमेरिका या इंग्लैंड की महिलाओं के विरुद्ध नहीं है। इस मामले में उनका दृष्टिकोण अंतरराष्ट्रीय है। उनके लिए वह दिन हर्ष का होगा जब वह कह सकेंगी की समस्त विश्व उनका देश है तथा प्रत्येक मानव उनके संबंधी है, किंतु इस प्रकार के अंतरराष्ट्रीयता की भावना के लिए सर्वप्रथम राष्ट्रीयता की भावना का होना आवश्यक है। (**स्नेहा,प.(2017)** मैडम कामा की गणना एक ऐसी प्रमुख महिला स्वतंत्रता सेनानी में की जा सकती है जिन्होंने निर्वासित जीवन व्यतीत करते हुए मातृभूमि के लिए लगातार काम किया।भीकाजी कामा की मृत्यु और उनकी विरासत का निधन 13 अगस्त, 1936 को मुंबई में हुआ। भीकाजी कामा ने विदेशी धरती पर भारत के स्वतंत्रता संग्राम की मशाल जलाए रखने में रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

निष्कर्ष:

सैकड़ों वर्षों से ग़ुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ भारत सन 1947 में आज़ाद हुआ. यह आजादी लाखों लोगों के त्याग और बलिदान के कारण संभव हो पाई। इन महान लोगों ने अपना तन-मन-धन त्यागकर देश की आज़ादी के लिए सब कुछ न्योछावर कर दिया। स्वतंत्र भारत का हरेक व्यक्ति आज इन वीरांगनाओं का ऋणी है, जिन्होंने अपना सब कुछ छोड़ सम्पूर्ण जीवन देश की आजादी के लिए समर्पित कर दिया। भारत माता की ये महान वीरांगना आज हम सब के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं, इनकी जीवन गाथा हम सभी को इनके संघर्षों की बार-बार याद दिलाती है और प्रेरणा देती है।अपने 'स्वतंत्रता सेनानी' महिलाओं के जीवन का जिन्होंने ने कठोर और दमनकारी 'अंग्रेजी हुकूमत' से लड़कर देश की आजादी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

संदर्भ सूची :-

1. *गुप्ता,विश्व प्रसकाश एवं मोहिनि . (2008). स्वतंत्रता संग्राम और महिलायें. नमन प्रकाशन नई दिल्ली.*
2. *माथुर, डॉ.एल.पी. (2010)। भारत की महिला स्वतंत्रता. प्रेमचन्द बाकलीवाल आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स 807, जयपुर.*
3. *मोहन अरविन्द,(2023). बापू की महिला बिग्रेड. राष्ट्रीय पुस्तक न्याय,भारत.*
4. *यामिनी,रचना भोला. (2023).मैडम भिका जी कामा. चिल्ड्रन बुक टेंपल दिल्ली.*
5. *आठमभाई,चूड़ा समा जयेशकुमार(2023). मैडम भिका जी कामा: एक महिला क्रांति कारी के रूप में. विवेक रिसर्च*
6. *ई-जर्नरल, 96 -100*
7. *गुप्ता विजयकुमार, "मेडम कामा", सुरभि प्रकाशन, दिल्ली*
8. *वी.एन. सिंह, "भारत की महान वीरांगनाए", रावत प्रकाशन, नई दिल्ली,प्रथम संस्करण*
9. *कपिल, "मेडम भीकाजी कैमा", प्रभात प्रकाशन, न्यू दिल्ली, एडिशन 2015*
10. *एडुल्जी के. ई. (2016). द इंस्पायरिंग स्टोरी ऑफ़ भिखाईजी कामा. के. ई. एडुल्जी द्वारावेस्ट वैंकूवर, बीसी, कनाडा*
11. *दीक्षित,डॉ गारकण्डेय.(2014). ISSN. "भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं का योगदान"*
12. *व. प.गुप्ता, &ग., मोहिनी. (2008), 'स्वतंत्रता संग्राम औ रमहिलाएं नई दिल्ली: दरियागंजः नमन प्रकाशन*
13. *कुमार, र. (2017). 'स्त्री संघर्ष का इतिहास". नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन*
14. *स्नेहा, प. (1 अप्रैल 2017). इग्नाइटेड माइंड्स. "क्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन और स्त्रियों की भूमिका"*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

आयुर्वेद और भारतीय चिकित्सा पद्धतियों की अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति

अभिषेक द्विवेदी
पी-एच.डी. शोधार्थी
गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग,
महात्मा गांधीअंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा,

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति की सबसे प्राचीन और समृद्ध देनों में आयुर्वेद का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद केवल रोगों के उपचार तक सीमित एक चिकित्सा पद्धति नहीं है बल्कि यह एक समग्र जीवन-दर्शन है जो मनुष्य के शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक संतुलन पर आधारित है। 'आयुर्वेद' शब्द ही जीवन के विज्ञान का बोध कराता है जिसमें स्वस्थ जीवन जीने की कला और दीर्घायु प्राप्त करने के उपाय निहित हैं। इसका मूल उद्देश्य केवल बीमारी दूर करना नहीं बल्कि रोग उत्पन्न ही न हों ऐसी जीवनशैली का निर्माण करना है। इस दृष्टि से आयुर्वेद निवारक और उपचारात्मक दोनों ही रूपों में अत्यंत प्रासंगिक है। आयुर्वेद के अनुसार मानव शरीर पंचमहाभूतों से निर्मित है और वात पित्त तथा कफ इन त्रिदोषों का संतुलन ही स्वास्थ्य का आधार है। जब यह संतुलन बिगड़ता है तब रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए आयुर्वेद रोग के लक्षणों को दबाने के बजाय उसके मूल कारणों की पहचान कर उपचार करता है। इसमें औषधियों के साथ-साथ आहार विहार दिनचर्या ऋतुचर्या और मानसिक अनुशासन को विशेष महत्व दिया गया है। इस कारण आयुर्वेद व्यक्ति को अपने शरीर और प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करना सिखाता है। आधुनिक वैश्वीकरण और तीव्र जीवनशैली के युग में एलोपैथिक चिकित्सा ने त्वरित राहत तो दी है किंतु उसके दीर्घकालिक दुष्प्रभावों पर भी गंभीर प्रश्न खड़े हुए हैं। रासायनिक दवाओं पर बढ़ती निर्भरता दुष्प्रभाव प्रतिरोधक क्षमता का कमजोर होना और जीवनशैली जनित रोगों की बढ़ती संख्या ने विश्व समुदाय को वैकल्पिक और प्राकृतिक चिकित्सा पद्धतियों की ओर आकर्षित किया है। ऐसे समय में आयुर्वेद की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है क्योंकि यह प्रकृति आधारित समग्र और अपेक्षाकृत सुरक्षित उपचार प्रणाली प्रदान करता है। आयुर्वेद के साथ-साथ अन्य भारतीय चिकित्सा

पद्धतियाँ जैसे योग सिद्ध यूनानी और प्राकृतिक चिकित्सा भी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर तेजी से स्वीकार की जा रही हैं। योग ने शरीर और मन के संतुलन का जो मार्ग दिखाया है वह आज वैश्विक स्वास्थ्य आंदोलन का हिस्सा बन चुका है। सिद्ध चिकित्सा दक्षिण भारत की प्राचीन परंपरा को प्रतिबिंबित करती है जबकि यूनानी चिकित्सा ने भारतीय और अरबी ज्ञान परंपराओं का सुंदर समन्वय प्रस्तुत किया है। प्राकृतिक चिकित्सा आधुनिक जीवन के तनावों से मुक्ति पाने का सरल और सुलभ मार्ग प्रदान करती है। आज विश्व के अनेक देशों में आयुर्वेदिक केंद्र योग संस्थान और वेलनेस क्लीनिक स्थापित हो रहे हैं। लोग केवल उपचार के लिए ही नहीं बल्कि स्वस्थ और संतुलित जीवन जीने की प्रेरणा के लिए भी भारतीय चिकित्सा परंपराओं की ओर देख रहे हैं। इस प्रकार आयुर्वेद और अन्य भारतीय चिकित्सा पद्धतियाँ न केवल भारत की सांस्कृतिक धरोहर हैं बल्कि संपूर्ण मानवता के लिए एक समग्र स्थायी और मानव-केंद्रित स्वास्थ्य दृष्टि प्रस्तुत करती हैं।

आयुर्वेद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आयुर्वेद विश्व की सबसे प्राचीन चिकित्सा पद्धतियों में से एक है जिसकी उत्पत्ति वैदिक काल से मानी जाती है। यह वेदों का उपांग है और विशेष रूप से अथर्ववेद में इसके बीज मिलते हैं जहां स्वास्थ्य रोग निवारण और औषधियों का उल्लेख है। ऋग्वेद में भी कुछ रोगों और जड़ी-बूटियों का वर्णन उपलब्ध है। आयुर्वेद का अर्थ है "आयु का विज्ञान" या "जीवन का ज्ञान" जो केवल रोग उपचार तक सीमित नहीं बल्कि स्वस्थ जीवन आहार-विहार और आध्यात्मिक स्वास्थ्य पर बल देता है। प्राचीन काल में आयुर्वेद का सुनियोजित विकास हुआ। लगभग १०००-६०० ईसा पूर्व के आसपास चरक संहिता और सुश्रुत संहिता जैसे महान ग्रंथों की रचना हुई। चरक संहिता (चरक द्वारा पुनर्संस्कृत) मुख्यतः कायचिकित्सा (आंतरिक चिकित्सा) पर केंद्रित है जिसमें रोगों के कारण लक्षण निदान और औषधीय उपचार का वैज्ञानिक वर्णन है। सुश्रुत संहिता शल्य चिकित्सा (सर्जरी) की जननी मानी जाती है जिसमें प्लास्टिक सर्जरी मोतियाबिंद ऑपरेशन और विभिन्न शल्य उपकरणों का वर्णन है। बाद में वाग्भट द्वारा रचित अष्टांग हृदय और अष्टांग संग्रह ने आयुर्वेद के आठ अंगों (कायचिकित्सा शल्य शालाक्य कौमारभृत्य भूतविद्या अगदतंत्र रसायन और वाजीकरण) को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया। हजारों वर्षों तक आयुर्वेद भारत की प्रमुख चिकित्सा पद्धति रही। नालंदा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों में इसका अध्ययन-अध्यापन होता था। मौर्य गुप्त और मध्यकालीन राजवंशों ने इसके संरक्षण को प्रोत्साहन दिया। किंतु मध्यकाल में मुगल और फिर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन में पश्चिमी एलोपैथी चिकित्सा को बढ़ावा मिला जिससे आयुर्वेद की उपेक्षा हुई। ब्रिटिशों ने इसे अंधविश्वास बताकर दबाने का प्रयास किया।

स्वतंत्रता के बाद आयुर्वेद का पुनर्जागरण आरंभ हुआ। १९४७ के बाद सरकार ने इसे मान्यता दी आयुर्वेदिक कॉलेज स्थापित किए और सीसीआईएम (अब एनसीआईएसएम) जैसी संस्थाएं बनाईं।

आज विश्व स्वास्थ्य संगठन भी आयुर्वेद को पारंपरिक चिकित्सा के रूप में मान्यता देता है। वर्तमान में योग पंचकर्म और हर्बल उपचारों के माध्यम से यह विश्व स्तर पर लोकप्रिय हो रहा है जो भारत की प्राचीन वैज्ञानिक धरोहर का प्रमाण है।

आधुनिक विश्व में आयुर्वेद की प्रासंगिकता और वैश्विक विस्तार

आधुनिक जीवनशैली से उत्पन्न रोगों जैसे मधुमेह उच्च रक्तचाप तनाव मोटापा मानसिक अवसाद और जीवनशैली संबंधी विकारों की बढ़ती संख्या ने विश्व को प्राकृतिक एवं वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों की ओर आकर्षित किया है। आयुर्वेद जो प्राकृतिक जड़ी-बूटियों संतुलित आहार-विहार योग और जीवनशैली सुधार पर आधारित है इन रोगों के मूल कारण को दूर करने में प्रभावी है। यह रोग निवारण के साथ-साथ रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने और preventive health पर जोर देता है जो आधुनिक एलोपैथी की पूरक बन रहा है। वैश्विक स्तर पर आयुर्वेदिक उत्पादों पंचकर्म थेरेपी और हर्बल उपचारों की मांग तेजी से बढ़ रही है। 2025 में वैश्विक आयुर्वेद बाजार का अनुमान लगभग 16-18 बिलियन USD है जो तेजी से वृद्धि कर रहा है। यूरोप अमेरिका ऑस्ट्रेलिया और एशियाई देशों में आयुर्वेदिक वेलनेस सेंटर और उत्पाद लोकप्रिय हो रहे हैं। योग और आयुर्वेद परस्पर पूरक हैं। 2025 में अंतरराष्ट्रीय योग दिवस का थीम "Yoga for One Earth One Health" रहा जो व्यक्तिगत स्वास्थ्य के साथ पर्यावरण संरक्षण पर बल देता है। इसने आयुर्वेदिक जीवनशैली पंचकर्म और प्राकृतिक चिकित्सा के प्रति वैश्विक रुचि बढ़ाई। विश्व के कई देशों में आयुर्वेदिक रिसर्च सेंटर और प्रशिक्षण संस्थान स्थापित हो रहे हैं। आज आयुर्वेद चिकित्सा से आगे कॉस्मेटिक्स न्यूट्रास्यूटिकल्स पर्सनल केयर और वेलनेस इंडस्ट्री का प्रमुख हिस्सा है। भारतीय कंपनियां जैसे पतंजलि डाबर बैद्यनाथ आदि 100+ देशों में निर्यात कर रही हैं जिससे भारत की सांस्कृतिक पहचान मजबूत हुई और आर्थिक लाभ हुआ। AYUSH मंत्रालय ने यूनानी सिद्ध होम्योपैथी और नेचरोपैथी को भी बढ़ावा दिया है। आयुर्वेद और भारतीय चिकित्सा पद्धतियों की अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति: सरकारी प्रयास

सरकारी प्रयास

भारत की प्राचीन चिकित्सा पद्धतियां जैसे आयुर्वेद योग यूनानी सिद्ध सोवा-रिग्पा और होम्योपैथी (सामूहिक रूप से आयुष) आज विश्व स्तर पर स्वास्थ्य और कल्याण की पूरक प्रणालियों के रूप में उभर रही हैं। इन पद्धतियों की अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति में भारत सरकार के प्रयासों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 2014 में आयुष मंत्रालय की स्थापना के बाद से सरकार ने इन प्रणालियों को वैश्विक पटल पर स्थापित करने के लिए कई कदम उठाए हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के साथ सहयोग द्विपक्षीय समझौते निर्यात प्रोत्साहन और अंतरराष्ट्रीय दिवस जैसे प्रयासों से आयुष की वैश्विक पहुंच बढ़ी है। 2025 तक आयुष उत्पादों का निर्यात 1.54 बिलियन अमेरिकी डॉलर तक पहुंच चुका है और

150 से अधिक देशों में इनकी मांग बढ़ रही है। इस निबंध में हम सरकार के प्रमुख प्रयासों पर चर्चा करेंगे जो इन पद्धतियों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृति दिलाने में सहायक रहे हैं।

आयुष मंत्रालय की स्थापना और अंतरराष्ट्रीय सहयोग योजना

2014 में आयुष मंत्रालय की स्थापना भारत सरकार का एक महत्वपूर्ण कदम था जिसने इन प्राचीन पद्धतियों को मुख्यधारा में लाने और वैश्विक प्रचार करने का आधार प्रदान किया। मंत्रालय ने 'सेंट्रल सेक्टर स्कीम फॉर प्रमोशन ऑफ इंटरनेशनल कोऑपरेशन इन आयुष' (IC स्कीम) शुरू की जिसके तहत अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनियों व्यापार मेलों रोड शो और उत्पाद पंजीकरण में सहायता प्रदान की जाती है। इस योजना से आयुष उत्पादों का निर्यात बढ़ावा मिला और विदेशी नियामक संस्थाओं जैसे USFDA EMEA में पंजीकरण आसान हुआ। मंत्रालय ने आयुष एक्सपोर्ट प्रमोशन काउंसिल (AYUSHEXCIL) की स्थापना की जो निर्यात संबंधी मुद्दों का समाधान करता है और व्यापार प्रोत्साहन गतिविधियां आयोजित करता है। इन प्रयासों से आयुष उद्योग का आकार 18.1 बिलियन डॉलर तक पहुंचा है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के साथ सहयोग

भारत सरकार ने WHO के साथ घनिष्ठ सहयोग स्थापित कर आयुष की वैश्विक स्वीकृति को मजबूत किया है। 2022 में जामनगर गुजरात में WHO ग्लोबल सेंटर फॉर ट्रेडिशनल मेडिसिन (GTMC) की स्थापना भारत की 250 मिलियन डॉलर की निवेश सहायता से हुई। यह केंद्र पारंपरिक चिकित्सा के अनुसंधान मानकीकरण और एकीकरण पर कार्य करता है। 2025 तक केंद्र का निर्माण कार्य 79% पूरा हो चुका है। मंत्रालय और WHO ने कई समझौते किए जैसे 2023 में ट्रेडिशनल मेडिसिन की बेंचमार्क दस्तावेज विकसित करने के लिए और 2025 में इंटरनेशनल क्लासिफिकेशन ऑफ हेल्थ इंटरवेंशंस (ICHI) में आयुष मॉड्यूल शामिल करने का MoU। इससे आयुर्वेद योग सिद्ध और यूनानी की वैज्ञानिक मान्यता बढ़ी। ICD-11 में आयुष टर्मिनोलॉजी का समावेश भी सरकार के प्रयासों का परिणाम है। 2025 में दूसरा WHO ग्लोबल समिट ऑन ट्रेडिशनल मेडिसिन नई दिल्ली में आयोजित हो रहा है जिसमें 100 से अधिक देश भाग ले रहे हैं।

अंतरराष्ट्रीय योग दिवस की स्थापना

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में 2014 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में प्रस्ताव रखकर 21 जून को अंतरराष्ट्रीय योग दिवस घोषित कराया गया। यह प्रस्ताव 177 देशों के समर्थन से सर्वसम्मति से पारित हुआ। यह सरकार का सबसे बड़ा कूटनीतिक प्रयास था जिसने योग को वैश्विक स्वास्थ्य प्रणाली का हिस्सा बनाया। 2025 में 11वां योग दिवस 'योग फॉर वन अर्थ वन हेल्थ' थीम पर मनाया जा रहा है

जिसमें करोड़ों लोग भाग लेते हैं। मंत्रालय ने mYoga ऐप विकसित किया जो WHO के सहयोग से वैश्विक स्तर पर उपलब्ध है। योग दिवस ने आयुष की अन्य पद्धतियों को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रचारित किया।

सरकार ने 25 से अधिक देशों के साथ आयुष पर द्विपक्षीय MoU हस्ताक्षरित किए हैं जैसे नेपाल श्रीलंका मलेशिया जिम्बाब्वे वियतनाम आदि। इनसे आयुष शिक्षा अनुसंधान और अभ्यास का आदान-प्रदान होता है। 52 संस्थागत MoU भी हुए हैं। आयुष इंफॉर्मेशन सेल्स 39 देशों में स्थापित किए गए हैं और 15 विदेशी विश्वविद्यालयों में आयुष एकेडमिक चेयर्स हैं। कई देशों जैसे स्विट्जरलैंड हंगरी रोमानिया में आयुर्वेद को औपचारिक मान्यता मिली है। ये प्रयास विदेश मंत्रालय और भारतीय दूतावासों के सहयोग से संचालित होते हैं। आयुष उत्पादों की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए फार्माकोपिया कमीशन फॉर इंडियन मेडिसिन एंड होम्योपैथी (PCIM&H) स्थापित की गई। आयुष प्रीमियम मार्क और CoPP सर्टिफिकेशन से निर्यात बढ़ा। सरकार ने BIS के साथ मिलकर अंतरराष्ट्रीय मानक विकसित किए। 2025 में AI का उपयोग आयुष में किया जा रहा है जिसे WHO ने मान्यता दी। ये प्रयास आयुष को वैश्विक बाजार में प्रतिस्पर्धी बनाते हैं।हालांकि सफलताएं हैं लेकिन साक्ष्य-आधारित अनुसंधान की कमी और नियामक बाधाएं चुनौतियां हैं। सरकार WHO की 2025-2034 ट्रेडिशनल मेडिसिन स्ट्रेटजी में सक्रिय है। भविष्य में एकीकृत स्वास्थ्य नीति और अधिक अनुसंधान से आयुष की स्वीकृति और बढ़ेगी। भारत सरकार के निरंतर प्रयासों से आयुर्वेद और आयुष पद्धतियां वैश्विक स्वास्थ्य का अभिन्न अंग बन रही हैं। WHO केंद्र योग दिवस MoU और निर्यात प्रोत्साहन जैसे कदमों ने इनकी अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति को मजबूत किया है। ये प्रयास न केवल भारत की सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करते हैं बल्कि वैश्विक कल्याण में योगदान देते हैं। आगे भी इन प्रयासों से आयुष विश्व स्वास्थ्य की मुख्यधारा बनेगा। इन प्रयासों से आयुर्वेद की वैश्विक स्वीकार्यता बढ़ी है किंतु वैज्ञानिक मान्यता की चुनौती बनी हुई है। क्लिनिकल ट्रायल मानकीकरण और गुणवत्ता नियंत्रण पर ध्यान आवश्यक है। WHO और अंतरराष्ट्रीय सहयोग से आयुर्वेद वैश्विक स्वास्थ्य का अभिन्न अंग बनेगा।

आयुर्वेद की सांस्कृतिक कूटनीति आत्मनिर्भरता एवं विचारकों की दृष्टि

आयुर्वेद आज भारत की सॉफ्ट पावर का प्रमुख माध्यम बन चुका है। योग के साथ मिलकर यह वैश्विक स्तर पर भारतीय सांस्कृतिक विरासत का प्रतीक है। अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों सांस्कृतिक आदान-प्रदान स्वास्थ्य पर्यटन और वेलनेस सेंटर्स की स्थापना से भारत अपनी प्राचीन ज्ञान परंपरा को विश्व पटल पर प्रस्तुत कर रहा है। AYUSH मंत्रालय की पहल पर विदेशों में आयुर्वेदिक सूचना सेल स्थापित हुए हैं जबकि WHO का ग्लोबल सेंटर फॉर ट्रेडिशनल मेडिसिन (2022 में जामनगर में उद्घाटन) आयुर्वेद की वैश्विक मान्यता का प्रमाण है। इससे भारत वैश्विक वेलनेस हब के रूप में उभरा है जो

सांस्कृतिक कूटनीति को मजबूत करता है। आत्मनिर्भर भारत अभियान में आयुर्वेद केंद्रीय भूमिका निभा रहा है। स्थानीय जड़ी-बूटियों का संरक्षण औषधीय पौधों की खेती को प्रोत्साहन और स्वदेशी हर्बल उद्योग का विकास ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सशक्त बनाता है। 2020 में आत्मनिर्भर भारत पैकेज के अंतर्गत औषधीय पौधों की खेती के लिए ₹4000 करोड़ से अधिक का विशेष पैकेज घोषित किया गया। यह रोजगार सृजन किसान सशक्तीकरण और निर्यात वृद्धि का माध्यम है जो स्वास्थ्य के साथ आर्थिक आत्मनिर्भरता सुनिश्चित करता है।महात्मा गांधी भारतीय चिकित्सा को नैतिकता स्वदेशी और आत्मनिर्भरता से जोड़ने वाले प्रमुख विचारक थे। उन्होंने प्रकृति चिकित्सा (नेचरोपैथी) उपवास मिट्टी चिकित्सा और आयुर्वेदिक सिद्धांतों को अपनाया। सेवाग्राम आश्रम में स्वयं प्रयोग कर इन्हें व्यावहारिक बनाया। गांधीजी का मत था कि स्वास्थ्य बाहरी दवाओं पर नहीं बल्कि संयमित जीवन शुद्ध आहार और प्रकृति सामंजस्य पर निर्भर है। उन्होंने एलोपैथी की निर्भरता को उपनिवेशवाद का हिस्सा माना और होलिस्टिक हेल्थ की वकालत की जो आज वैश्विक स्तर पर स्वीकार्य है। (गांधी 'की टू हेल्थ' एवं 'हेल्थ गाइड' नवजीवन प्रकाशन)। विनोबा भावे ने ग्राम स्वराज में स्वास्थ्य को आत्मनिर्भरता की आधारशिला माना। भूदान आंदोलन के साथ ग्रामीण समाज में स्थानीय जड़ी-बूटियों घरेलू उपचार और आयुर्वेदिक ज्ञान के संरक्षण पर जोर दिया। उनका स्वास्थ्य दृष्टिकोण नैतिक अनुशासन मानसिक-सामाजिक संतुलन और बाहरी निर्भरता मुक्ति से जुड़ा था जो आज कम्युनिटी हेल्थ मॉडल के रूप में प्रासंगिक है। (भावे 'विचार प्रवाह' सर्वोदय प्रकाशन)। पंडित दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानव दर्शन में व्यक्ति समाज और प्रकृति का संतुलन विकास का आधार है जो आयुर्वेद के त्रिदोष एवं पंचमहाभूत सिद्धांत से मेल खाता है। उन्होंने पश्चिमी मॉडल की भौतिकवाद आलोचना कर सतत विकास पर बल दिया जो आज वैश्विक पर्यावरण बहस से जुड़ता है। (उपाध्याय 'एकात्म मानव दर्शन' दीनदयाल शोध संस्थान)। राजीव दीक्षित ने स्वदेशी चिकित्सा को जनआंदोलन बनाया। भारत स्वाभिमान आंदोलन के माध्यम से पंचगव्य चिकित्सा घरेलू नुस्खे और आयुर्वेद को जन-जन तक पहुंचाया। उन्होंने बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं रासायनिक दवाओं की आलोचना कर मूल कारण उपचार पर जोर दिया जिससे प्रवासी भारतीयों में भी रुचि बढ़ी। (दीक्षित 'स्वदेशी चिकित्सा' भारत स्वाभिमान प्रकाशन) स्वदेशी आंदोलन आजादी बचाओ आंदोलन एवं भारत स्वाभिमान जैसे सामाजिक प्रयासों ने आयुर्वेद को वैश्विक मंच प्रदान किया। इनसे स्वास्थ्य को सांस्कृतिक-सामाजिक मुद्दा बनाया गया जो पश्चिम में वैकल्पिक चिकित्सा की रुचि का आधार बना। (कुरुक्षेत्र पत्रिका अगस्त 2010) ये सभी आयाम आयुर्वेद को केवल चिकित्सा नहीं बल्कि सांस्कृतिक आर्थिक एवं वैचारिक शक्ति बनाते हैं जो भारत की वैश्विक पहचान को मजबूत करते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद और भारतीय चिकित्सा पद्धतियों की अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति के पीछे भारतीय सामाजिक कार्यकर्ताओं की वैचारिक और व्यावहारिक भूमिका निर्णायक रही है। गांधी विनोबा दीनदयाल उपाध्याय और राजीव दीक्षित जैसे चिंतकों ने स्वास्थ्य को स्वदेशी नैतिकता और आत्मनिर्भरता से जोड़कर एक ऐसा मार्ग प्रस्तुत किया जो आज विश्व मानवता के लिए प्रासंगिक और उपयोगी सिद्ध हो रहा है। यह भूमिका केवल विचारों तक सीमित नहीं रही बल्कि इन महान व्यक्तित्वों ने अपने जीवन को ही एक उदाहरण बनाकर समाज को दिशा दिखाई। महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान स्वदेशी आंदोलन को स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी विस्तार दिया। उन्होंने विदेशी दवाओं और चिकित्सा पद्धति का बहिष्कार करते हुए लोगों को प्रकृति चिकित्सा उपवास सादा आहार और आयुर्वेदिक सिद्धांतों की ओर प्रेरित किया। गांधीजी का मानना था कि सच्चा स्वास्थ्य आत्मसंयम ब्रह्मचर्य और प्रकृति के साथ सामंजस्य से ही प्राप्त होता है। उनके इस दृष्टिकोण ने न केवल भारत में बल्कि विश्व स्तर पर भी लोगों को प्राकृतिक जीवनशैली की ओर आकर्षित किया। आज जब पूरा विश्व जीवनशैली जनित रोगों और मानसिक तनाव से जूझ रहा है गांधीजी का स्वास्थ्य संबंधी दर्शन और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है। वैश्विक वेलनेस बाजार में भारतीय चिकित्सा पद्धतियों का हिस्सा तेजी से बढ़ रहा है। यह सब इसलिए संभव हुआ क्योंकि इन महान व्यक्तित्वों ने स्वास्थ्य को केवल शारीरिक उपचार नहीं बल्कि स्वदेशी चेतना नैतिक जीवन और आत्मनिर्भरता का प्रतीक बनाया। उनका यह मार्ग आज जलवायु परिवर्तन पर्यावरण संकट और मानसिक स्वास्थ्य की चुनौतियों के दौर में विश्व मानवता के लिए एकमात्र सतत और समग्र समाधान के रूप में उभर रहा है। उनकी विरासत हमें यह संदेश देती है कि सच्चा स्वास्थ्य बाहरी दवाओं या तकनीक में नहीं बल्कि प्रकृति के साथ संतुलन और आत्मिक शांति में निहित है। इसीलिए आज विश्व आयुर्वेद और भारतीय चिकित्सा पद्धतियों की ओर आशा भरी नजरों से देख रहा है।

संदर्भ

1. *गांधी एम.के. (1948). की टू हेल्थ एवं हेल्थ गाइड नवजीवन प्रकाशन।*
2. *भावे विनोबा. विचार प्रवाह सर्वोदय प्रकाशन।*
3. *उपाध्याय दीनदयाल. एकात्म मानव दर्शन दीनदयाल शोध संस्थान।*
4. *दीक्षित राजीव. स्वदेशी चिकित्सा और राष्ट्र भारत स्वाभिमान प्रकाशन।*
5. *WHO ग्लोबल सेंटर फॉर ट्रेडिशनल मेडिसिन रिपोर्ट 2022।*
6. *मिनिस्ट्री ऑफ AYUSH वार्षिक रिपोर्ट एवं आत्मनिर्भर भारत पैकेज दस्तावेज।*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

1942 के आंदोलन में सातारा (महाराष्ट्र) में घटित प्रति-सरकार : एक ऐतिहासिक जनआंदोलन की पृष्ठभूमि

प्रविण दामोधरराव कोल्हे
पी-एच.डी. शोधार्थी
गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग,
महात्मा गांधीअंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा

प्रस्तावना:

1942 का भारत छोड़ो आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसने ब्रिटिश राज के खिलाफ जन-आक्रोश को एक नई ऊँचाई दी। महात्मा गांधी द्वारा "करो या मरो" के आह्वान के साथ, यह आंदोलन पूरे देश भर में फ़ैल गया और इसने जनता को ब्रिटिश शासन के खिलाफ खड़े होने के लिए प्रेरित किया। इस व्यापक आंदोलन के दौरान, देश के विभिन्न हिस्से में स्वशासन के प्रयोगों को भी प्रेरित किया गया। महाराष्ट्र के सातारा जिले में स्थापित 'प्रति-सरकार'- ऐसा ही एक प्रमुख प्रयोग था; जिसने लगभग चार वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य किया। इस तरह यह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में एक अनूठे अध्याय के रूप में जुड़ गया। यह सामानांतर सरकार न केवल ब्रिटिश शासन के खिलाफ एक साहसिक प्रतिरोध का प्रतीक थी, बल्कि यह स्वतंत्र भारत के लिए स्वशासन और लोकतांत्रिक मूल्यों की नींव भी रख रही थी।

भारत छोड़ो आंदोलन की पृष्ठभूमि :

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास बहुत ही रोमांचक है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में जन-संघर्ष के सशस्त्र, निःशस्त्र, क्रांतिकारी-जैसी अनेक धाराएं रही हैं। प्रारम्भ में, 1857 का सशस्त्र आंदोलन असफल रहा, उसके बाद वैध मांगों के जरिये स्वतंत्रता की मांग करने का प्रयत्न 1885 में कांग्रेस की स्थापना से प्रारंभ हुआ। कांग्रेस के नेतृत्व में भारतीय जनता ने बंग-भंग आंदोलन, होमरूल आंदोलन, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन, और सत्याग्रह आदि के आधार पर ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लगातार लड़ाईयां लड़ी गईं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के आखिरी पड़ाव के रूप में 1942 के

'भारत छोड़ो' आंदोलन को समझा जाता है। इस आंदोलन में सामान्य जनता ने असीम शौर्य का परिचय दिया।

1941 के मध्य में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय राजनेताओं ने स्वतंत्रता की मांग तेज कर दी। द्वितीय विश्वयुद्ध में इंग्लैंड पिछड़ रहा था और उन्हें भारतीयों से सहयोग की उम्मीद थी। बदले में युद्ध समाप्त होने पर भारत को स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया जाएगा, ऐसी उम्मीद कांग्रेस के नेताओं को थी। फलतः ब्रिटिश सरकार ने युद्ध-समाप्ति के बाद भारतीयों को कुछ अधिकार दिए जाने की घोषणा की। इसलिए हिंदुस्तान की राजनीति का पेच बढ़ गया। भारतीय राजनीति का पेच सुलझाने एवं युद्ध में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने सर स्टैनफोर्ड क्रिप्स की अध्यक्षता में मार्च 1942 में "क्रिप्स मिशन" भारत भेजा गया, लेकिन क्रिप्स मिशन ने भारतीयों एवं गांधी जी को निराश किया। उधर सुभाष चंद्र बोस ने जापान की मदद से जापान में भारतीय कैदियों की सहायता से 'आजाद हिन्द' फौज की स्थापना की और 'दिल्ली चलो' का नारा दिया। जापान ने भी 'हम भारत की मुक्ति के लिए आ रहे हैं'-ऐसी घोषणा की। इससे पूरे देश में एक उत्साह का संचार हुआ और आम जनमानस पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।

क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद महात्मा गांधी ने सभी मित्र राष्ट्रों से आह्वान किया कि 'भारत की भलाई के लिए नहीं तो पूरे विश्व की शांति के लिए ब्रिटेन को अब भारत को स्वतंत्रता देनी चाहिए। इसमें पूरी दुनिया का भला है। अब भारत का क्या होगा, इस पर इंग्लैंड विचार ना करे'। लेकिन इंग्लैंड ने इस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी।[28] इसलिए महात्मा गांधी और कांग्रेस के आला नेताओं ने भारत की मुक्ति के लिए एक आखिरी आंदोलन चलाने की घोषणा की और 14 जुलाई, 1942 को महाराष्ट्र के वर्धा से भारत छोड़ो आंदोलन का प्रस्ताव पारित किया गया। इस प्रस्ताव को "वर्धा प्रस्ताव" भी कहा जाता है।[29] लेकिन आंदोलन की दिशा तय होने से पहले ही महात्मा गांधी एवं अन्य महत्वपूर्ण नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया।

आंदोलन शुरू होने से पहले ही ब्रिटिश शासन ने उसे दबाने का पुरजोर प्रयत्न किया। लेकिन तब उससे पहले ही महात्मा गांधी जी का संबोधन आम जनमानस तक पहुंच चुका था। महात्मा गांधी ने इसी आंदोलन के दौरान 'करो या मरो' का नारा दिया। जिससे आम जनमानस में उत्साह का वातावरण फ़ैल गया। भारत छोड़ो आंदोलन को कांग्रेस समाजवादी पार्टी का समर्थन था। मुख्य नेताओं की गिरफ्तारी के बाद जयप्रकाश नारायण, अचुत्य पटवर्धन और अरुणा आसफ अली आदि जैसे नेताओं

[28]सा, हरिजन, दि. 26 अप्रैल 1942

[29] Azad Maulana Abdul Kalam, (1959), India Win's Freedom, As Autobiographical Narrative, Delhi, Orient Blackswan, p. 73

पर व्यापक जनता को मार्गदर्शन करने की जिम्मेदारी आई। तब सारे समाजवादी नेता भूमिगत हो गए एवं वे रेडियो और तार के जरिए क्रांतिकारी कार्यों के लिए लोगों को प्रेरित करते रहे। महात्मा गांधी के 'करो या मरो' नारे का आम जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। स्थानीय स्तर पर आंदोलन तीव्र हो गया। कई जगहों पर ब्रिटिश शासन की सत्ता को उखाड़ फेकने के लिए समानांतर सरकार की स्थापना की गई। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बलिया जनपद, बिहार के भागलपुर, पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले के तामलुक, उड़ीसा के वासुदेवपूरा और महाराष्ट्र के सातारा में समानांतर सरकारों का गठन हुआ। कई जगहों पर यह समानांतर सरकारें कुछ दिन, कुछ महीने अथवा कुछ वर्ष तक ही शासन-सत्ता चला पाईं। ब्रिटिश सरकारों ने बड़ी क्रूरता से इन सरकारों का दमन किया। लेकिन महाराष्ट्र के सातारा में बनी प्रति-सरकार 1 जून 1943 से 13 जून 1946 तक, यानी स्वतंत्रता-प्राप्ति तक संघर्ष करती रही।

प्रति-सरकार की स्थापना:

7 अगस्त 1942 ई. को मुंबई के गवालिया टैंक मैदान में कोंग्रेस के अधिवेशन में "भारत छोड़ो" आंदोलन का प्रस्ताव रखा गया। 8 अगस्त को कुछ सुधारों के साथ इस प्रस्ताव को पारित किया गया।[30] लेकिन 8 अगस्त के मध्य रात्रि से ही सरकार ने कांग्रेस के सभी बड़े नेताओ को गिरफ्तार करने की योजना बनाई। 9 अगस्त की सुबह "औपरेशन झिरो आवर" के तहत महात्मा गांधी समेत कांग्रेस के सभी महत्त्वपूर्ण नेता गिरफ्तार कर लिए गए।[31] महात्मा गांधी और अन्य प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी की खबर 9 अगस्त 1942 की सुबह आकाशवाणी पर प्रसारित की गई। जैसे ही यह खबर पूरे देश भर में आग की तरह फैली तो इस खबर की तीव्र प्रतिक्रिया पूरे देशभर में दिखाई देने लगी। सातारा में इस खबर से ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लोगों के अंदर आक्रोश जाग उठा, क्योंकि गांधी जी पूरे देश के लिए पूजनीय थे। सातारा जिले से वाय. बी. चौहान, वसंतदादा पाटील समेत लगभग 23 कार्यकर्ता मुंबई अधिवेशन के लिए पहुंचे थे,[32] लेकिन 9 अगस्त के गिरफ्तारी सत्र से बचकर कार्यकर्ता अपने क्षेत्र की ओर लौटने लगे। लगभग 11 तारीख तक सारे कार्यकर्ता सतारा पहुंच चुके थे। सातारा आते ही कार्यकर्ताओं ने सभा, हड़ताल, मार्च, निकाल कर ब्रिटिश सरकार के खिलाफ आंदोलन चलाना शुरु कर दिया, इस बीच 9 अगस्त को नाना पाटील ने वीटा गांव के गांधी चौक पर एक सभा कर अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई का बिगुल फूंक दिया और अगले चरण की रणनीति के लिए कुंडल गाँव चले गए। मुंबई से आने वाले कार्यकर्ताओं को जब पता चला कि नाना पाटील कुंडल गांव में हैं; वैसे ही सभी कार्यकर्ता कुंडल गांव पहुंचे और नाना पाटील से मिलकर अपने मन की बात बाताई। नाना कार्यकर्ताओं के मन

[30] गर्गे, स, मा, (संपा), भारतीय समाजविज्ञान कोष, द्वतीय आवृति, पुणे, मेहता प्रकाशन, पृष्ठ, 389

[31] सीतारामय्या. पट्टाभि. (1935), कांग्रेस का इतिहास, जबलपुर, गद्य प्रकाशन, पृष्ठ, 531

5 Patil Padmaja, (1997), Roll of woman in The Parallel Government of Satara, Indian History Congress, Vol. 58, P. 572

की बात समझ रहे थे। आंदोलन की आगे की दिशा तय करने के लिए नाना ने कुंडल में एक आम बैठक बुलाई जिसमें अधिकतर कार्यकर्ता उपस्थित थे। इस बैठक में लोगों ने क्रांतिसिंह नाना पाटील को इस आंदोलन को जिले में फैलाने और संघर्ष की दिशा तय करने और बिना किसी बहुमत के आंदोलन का नेतृत्व करने की जिम्मेदारी नाना पाटील पर सौंपी। इस तरह नाना पाटील इस लड़ाई के सेनापति बने।[33]

स्वतंत्रता संग्राम के पूरे इतिहास में गांधी जी ने पहली बार इतना आक्रामक रूख अपनाया था। इसलिए पूरे देश ने भी जन-संघर्ष का स्वरूप अख्तियार कर लिया। गांधी जी ने अपने आक्रामक भाषण से लोगों को "करो या मरो" [34]का मंत्र दिया। इस नारे का अलग-अलग जगह पर लोगों ने अलग-अलग व्याख्या की लेकिन महात्मा गांधी के इस नारे का नाना पाटील ने एक व्यावहारिक रूप दिया कि "करो या मरो" का मतलब स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए मरो। सतारा जिले में आंदोलन कोई हिंसक नहीं था। ब्रिटिश सरकार ने पूरे देश में आंदोलन को दबाने के लिए दमन की नीति का इस्तेमाल किया। गोलाबारी करके लोगों के मन में दहशत पैदा करने की कोशिश की जा रही थी। इसके विरोध में सतारा में तालुका के मामलेदार, जिला कचहरी और तालुका के चौक पर शांतिपूर्वक और अहिंसात्मक तरीके से मार्च निकालकर कांग्रेस का झंडा फैलाने की योजना थी और आखिरी लक्ष्य जिला कलेक्टर कोर्ट पर तिरंगा ध्वज लहराने का लक्ष्य था।[35]

ब्रिटिश सरकार के खिलाफ सातारा के तालुका कचहरी पर शांतिपूर्ण और अहिंसक मार्च निकालना शुरू किया तो सरकार ने ऐसे अहिंसक और शांतिपूर्ण निकाले गए मार्च को अपनी क्रूर दमनकारी मानसिकता से आमजन पर गोलीबारी कर के आन्दोलनों को दबाया। वाडूज और इस्लामपुर में शांतिपूर्ण तरीके से निकाले गए मार्च पर सरकार ने गोलीबारी की गई, जिसमें कई निहत्थे आमजन मारे गए। फलस्वरूप संपूर्ण सातारा जिला दहल गया। ब्रिटिश सरकार ऐसा अमानवीय बर्ताव करेगी, ऐसा किसी ने सोचा भी नहीं था। इससे नाना पाटील बहुत आहत हुए और आंदोलन के बारे में पुनर्विचार करना शुरू किया। क्योंकि यह साफ था कि ब्रिटिश सरकार किसी भी आंदोलन को ऐसे ही दमनकारी तरीके से दबाएगी। नाना पाटील इन आंदोलन में शहीद हुए लोगों के खून का बदला लेना चाहते थे लेकिन इस पर सभी की राय लेना जरूरी था, आंदोलन की आगे की दिशा तय करने के लिए उन्होंने सितंबर 1942 के मध्य में कुंडल जिले के कार्यकर्ताओं की एक गुप्त बैठक बुलाई। इस बैठक में वि.स पांगे, वसंतदादा पाटील, किसन वीर, नागनाथ नायवाडी, जी. डी. लाड़, यशवंतराव चौहान ,गौरीशंकर सिंहासने, लक्ष्मण कासेगांवकर, माधवराव जादव, पांडू मास्टर, बापूजी पाटणकर, नाथाजी लाड़, अप्पासाहेब लाड आदि

[33] शिवानिकर, राघव, (1926), सतारचा सिंह. क्रांतिसिंह नाना पाटील समग्र चरित्र, एस.एम. आपटे पब्लिकेशन, पृष्ठ, 56
[34] देशमुख, सु. दा. (1985), महाराष्ट्रातील कांगेसचा लढा, मुंबई, महाराष्ट्र राज्य साहित्य अणि संकृति मंडल, पृष्ठ, 145
[35] लोकराज्य उपरोक्त लेख, लेखक यशवंतराव चौहान, पृष्ठ, 95

उपस्थित थे। इस बैठक में नाना पाटील ने कहा कि वडूज और इस्लामपुर मार्च पर गोलीबारी से सरकार की नीति स्पष्ट हो गई है, इसलिए हमें आंदोलन की दिशा बदलनी होगी। यह बदलती स्थिति हमारे सामने केवल दो ही विकल्प छोड़ती है:

1. सीधे पुलिस के सामने उपस्थित होकर अपनी गिरफ्तारी करवाओ और जो सजा मिले उसे भुगतो।
2. या फिर पुलिस की दमनकारी नीतियों को चुनौती देते हुए भूमिगत रहकर गुरिल्ला पद्धति का इस्तेमाल कर ब्रिटिश सरकार के साथ संघर्ष करो।

दूसरा विकल्प अधिक कष्टप्राय एवं खतरनाक है। लेकिन किसी भी संघर्ष के अंतिम चरण में एक समय ऐसा आता ही है और यही भारत के स्वतंत्रता संग्राम का अंतिम चरण है। हमारे सामने जिंदगी को दाव पर लगाने का मौका है। अंतिम निर्णय हर किसी को लेना है। अगर हमारा फैसला गलत हुआ तो इतिहास और आने वाली पीढ़ियां हमें कभी माफ नहीं करेंगी। "गोरिल्ला वार" हमारा इतिहास है और यह हमारी परंपरा है। अब मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि चाहे कुछ भी हो; मैं अब ब्रिटिश जेल में नहीं मरूंगा। देश के लिए मरना ही पड़े तो भूमिगत रहकर सरकार के खिलाफ लड़ूंगा। वडूज और इस्लामपुर के शहीदों को नमन करते हुए आज से मैं ब्रिटिश सरकार के खिलाफ भूमिगत लड़ाई शुरू कर रहा हूं। मैं आप सभी से विनम्रता पूर्वक निवेदन करता हूं कि आप मेरा समर्थन करें।[36]

नाना पाटील के हृदय को स्पर्श करने वाले शब्द और एक निष्ठावान मराठी व्यक्ति की ज्वलंत चेतावनी सुनकर पूरी सभा स्तब्ध रह गई। नाना का मार्गदर्शन पर भाषण जो अत्यंत क्रांतिकारी और निश्चित दिशा देने वाला था। यह सुनने के बाद कार्यकर्ताओं के मन में आंदोलन के प्रति संदेह और चिंता दूर हो गई और सभी कार्यकर्ताओं ने सहमति से भूमिगत आंदोलन करने का निर्णय लिया। इसके साथ ही बैठक में आंदोलन के लिए जिले को पांच समूह में बांटा गया तथा इसके बीच समन्वय बनाए रखने का जिम्मा यशवंतराव चौहान को सौंपा गया।

1) कुंडल समूह 2) कराड समूह 3) उरली गट 4) चिराला समूह 5) सांगली समूह[37]

महाराष्ट्र के सातारा में क्रांतिसिंह नाना पाटील ने ब्रिटिश शासन सत्ता उखाड़ कर वहां समानांतर सरकार की स्थापना की जिसे 'प्रति-सरकार' का नाम दिया गया। सातारा जिला शुरू से ही आंदोलनों का केंद्र बिंदु रहा। 19वीं सदी में यहां किसान, मजदूर, दलित, अस्पृश्यता के खिलाफ कई

[36] पाटील, उत्तमराव, एव ला, अप्पासाहेब, (1947), क्रांतिसिंह देशभक्त नाना पाटील, औंध, उषा प्रकाशन, पृष्ठ, 87
[37] महाराष्ट्र राज्य गजेटियर, सतारा जिला, पृष्ठ, 210.

आंदोलन हुए। महात्मा ज्योतिबा फुले के 'सत्यशोधक समाज' का यहां खास प्रभाव रहा। सत्यशोधक और ब्राह्मनोत्तर आंदोलनों के चलते यहां ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ प्रति-सरकार और सामाजिक आंदोलनों के लिए पृष्ठभूमि तैयार की गई। गुरिल्ला पद्धति से इस सरकार को चलाया जाता था। ब्रिटिश सरकार लाख कोशिशों के बावजूद इस सरकार को हटा नहीं पाई। आम जनता का प्रति-सरकार को भरपूर समर्थन रहा। महिलाओं ने भी प्रति-सरकार में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। करीब 750 गांवों के लिए प्रति-सरकार कार्य करती थी। ब्रिटिश शासन प्रणाली को नष्ट कर प्रति-सरकार ने अपनी कार्यप्रणाली स्थापित की और आम लोगों के हितों के लिए काम किया। ग्राम स्वराज की कल्पना कर 'औंध संस्थान' की राज्यघटना के आधार पर इस प्रति- सरकार का काम चलता था।

जनता ने अपनी अदालतें बनाई और स्वयं सेवक सेना (तूफान सेना) को संगठित किया। ब्रिटिश सरकार के प्रत्येक कार्य का जनता ने बहिष्कार कर दिया। यहाँ तक की भूमि कर भी देना बंद कर दिया! जनता प्रति-सरकार को कर देती थी और प्रति-सरकार के जरिये जनता के कार्यों का प्रबंधन किया जाता था, यहाँ तक कि डाक लाने और ले जाने का काम भी क्रन्तिकारी करते थे। महात्मा गाँधी जी के ग्राम स्वराज के सपने को साकार करने के लिए प्रति-सरकार ने समाज के पिछड़े, आदिवासी, दलित, मजदूर, किसान. महिलाएं आदि के लिए कार्य किया। कम खर्चे में गाँधी विवाह, शराबबंदी, साहुकार-जमींदार की लूट से आम जनता को बचाना, गाँव में ग्रंथालयों की स्थापना करना, गांव के आपसी विवादों का निपटारा करना, डाकू लूटेरों से गांव वालों की रक्षा करना- प्रति-सरकार के इन विधायक और समाजसेवी कार्यों की वजह से प्रति-सरकार आम जनमानस में लोकप्रिय रही और स्वतंत्रता-प्राप्ति तक सतारा संभाग में अपना कार्य करती रही।

निष्कर्ष:

सातारा की प्रति सरकार, स्वतंत्रता प्रेमी जनता द्वारा अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए किया गया एक जनआंदोलन था। लेकिन प्रति-सरकार की असली सफलता जनता के प्रेम और सहयोग में थी, उस समय प्रति-सरकार के माध्यम से चलाया जा रहा आंदोलन सही या गलत है; इसकी भी चर्चा चल रही थी। कुछ लोग इसे कांग्रेस का आंदोलन नहीं मानते थे। लेकिन इस आन्दोलन की सफलता का पता तब चलता है, जब अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी जी ने इस जनआंदोलन को मूक सहमति दी और पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस आंदोलन के सेनानियों को देश के सच्चे सपूत कहकर संबोधित किया। इसी प्रति-सरकार से निकले कई नये नेतृत्वों ने आने वाले समय में एक आधुनिक महाराष्ट्र के निर्माण में अपना बहुमूल्य योगदान दिया।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची:

1. *सा, हरिजन, दि. 26 अप्रैल 1942*
2. *Azad Maulana Abdul Kalam, (1959), India Win's Freedom, As Autobiographical Narrative, Delhi, Orient Blackswan, p. 73*
3. *गर्गे, स, मा, (संपा), भारतीय समाजविज्ञान कोष, द्वतीय आवृति, पुणे, मेहता प्रकाशन, पृष्ठ, 389*
4. *सीतारामय्या. पट्टाभि. (1935), कांग्रेस का इतिहास, जबलपुर, गद्य प्रकाशन, पृष्ठ, 531*
5. *5 Patil Padmaja, (1997), Roll of woman in The Parallel Government of Satara, Indian History Congress, Vol. 58, P. 572*
6. *शिवानिकर, राघव, (1926), सतारचा सिंह. क्रांतिसिंह नाना पाटील समग्र चरित्र, एस.एम. आपटे पब्लिकेशन, पृष्ठ, 56*
7. *देशमुख, सु. दा. (1985), महाराष्ट्रातील कांगेसचा लढा, मुंबई, महाराष्ट्र राज्य साहित्य अणि संकृति मंडल, पृष्ठ, 145*
8. *लोकराज्य उपरोक्त लेख, लेखक यशवंतराव चौहान, पृष्ठ, 95*
9. *पाटील, उत्तमराव, एव ला, अप्पासाहेब, (1947), क्रांतिसिंह देशभक्त नाना पाटील, औंध, उषा प्रकाशन, पृष्ठ, 87*
10. *महाराष्ट्र राज्य गजेटियर, सतारा जिला, पृष्ठ, 210.*

ई-स्रोत:

11. *https://www.jagran.com/news/national-mahatma-gandhi-launched-the-quit-india-movement-8th-august-know-history-and-important-facts-of-bharatchodo-andolan-in-hindi-news-23494396.html*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भारत में आयुर्वेद चिकित्सा : एक सूक्ष्म अवलोकन

डॉ. विनय कुमार पटेल
असिस्टेंट प्रोफेसर इतिहास
राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय,बांदा,

शोध सारांश

मनुष्य के भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए स्वास्थ्य एक पूर्वापेक्षा हैं। *आयुर्वेद* का शाब्दिक अर्थ *'जीवन विज्ञान'* है। इसका ज्ञान केवल औषधि, इलाज या उपचार तक सीमित नहीं है, बल्कि यह आम लोगों, परिवारों, समुदायों और चिकित्सकों के लिए भी है। अपने विकासवादी इतिहास में, आयुर्वेद और स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं ने एक-दूसरे को परस्पर प्रभावित किया है। *चरक संहिता* और *सुश्रुत संहिता* जैसे सारसंग्रह आयुर्वेद के प्रतीक के रूप में अस्तित्व में हैं और व्यवस्थित तरीके से लिखे गए थे। इसमें आयुर्वेद के मूल सिद्धांतों और उपचारात्मक पहलुओं को सावधानीपूर्वक व्यवस्थित किया गया था,जिसमें स्वास्थ्य के संरक्षण के महत्व पर जोर दिया और आयुर्वेद चिकित्सीय विज्ञान के दृष्टिकोण को भी व्यापक बनाया। इसमें पादपों, पशु उत्पादों और खनिजों के चिकित्सीय गुणों का व्यापक रूप से वर्णन किया गया है, जिसने आयुर्वेद को स्वास्थ्य देखभाल की एक व्यापक पद्धति बना दिया है। आयुर्वेद की दो प्रमुख विचारधारायें थीं- *कायचिकित्सक विचारधारा* (पुनर्वसु आत्रेय) और *शल्यचिकित्सक विचारधारा* (दिवोदास धन्वंतरि)। *पुनर्वसु आत्रेय* को चिकित्सा के क्षेत्र में और *दिवोदास धन्वंतरि* को शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में अग्रणी बताया गया है। आयुर्वेदिक ग्रंथों का विश्लेषण यह दर्शाता है कि आयुर्वेद के विभिन्न पहलुओं को समय-समय पर सारसंग्रह के रूप में विकसित और प्रलेखित किया गया था। *उदाहरण* के लिए, चरक संहिता *कायचिकित्सा* का एक प्रामाणिक स्रोत है जो जीवन दर्शन और विभिन्न रोगों के उपचार की पद्धति पर जोर देता है। *सुश्रुत संहिता* ने आंख, कान, गला, नाक, सिर एवं दंत चिकित्सा की सर्जरी और रोगों के लिए एक संपूर्ण व्यवस्थित दृष्टिकोण प्रदान किया हैं।

मुख्य शब्द : *आयुर्वेद, विकसित भारत, स्वस्थ, चिकित्सा, प्रकृति, जीवन, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, काय चिकित्सा, औषधि, वैद्य, वैदिक साहित्य।*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

आयुर्वेद स्वस्थ जीवन का आधार है, यह न केवल जीवन को स्वस्थ बनाता है अपितु समाज को प्रकृति के समीप रहने व उसे संरक्षित करने के लिए प्रेरित भी करता है। क्योंकि आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति का आधार प्राकृतिक तत्व ही है। इन्हीं के प्रयोग से रोगी की चिकित्सा करके स्वस्थ बनाया जाता है और स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को संरक्षित किया जाता है। आधुनिक समय में, आयुर्वेद पर जैव-चिकित्सा का प्रभाव इसके चिकित्साकरण की ओर अग्रसर है। पिछली सदी में, भारत में जैव-चिकित्सा के आगमन और परिप्रेक्ष्य ने मानव को सकारात्मक ज्ञान का विषय बना दिया है। आयुर्वेद शिक्षा, ज्ञान, अभ्यास और नीतियों पर मानकीकरण,व्यावसायीकरण, जैव-चिकित्साकरण और औषधिकरण जैसी प्रक्रियाओं के प्रभाव और योगदान की जाँच करता है। स्वास्थ्य और कल्याण को बनाए रखने के लिए आयुर्वेद के प्राचीन ज्ञान एवं अभ्यास को व्यक्तिगत, सामुदायिक व स्वास्थ्य सेवा प्रदाता स्तरों पर लागू किया जाना चाहिए, न कि केवल चिकित्सा प्रणाली तक सीमित रखा जाना चाहिए। समाज का वर्तमान अति-चिकित्साकरण मानव स्वास्थ्य और कल्याण के लिए एक संभावित खतरा है। ***(उपर्युक्त कुछ औषधीय पौधों का काल्पनिक चित्र)***



ऐसा माना जाता हैं कि पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति से पूर्व आयुर्वेद की उत्पत्ति हो चुकी थी। आयुर्वेद चिकित्सा पर आधारित उपवेद है। जिसका वर्णन चारों वेदों में प्राप्त होता है। किन्तु सर्वाधिक वर्णन *अथर्ववेद* में प्राप्त होता है। इसलिए *आयुर्वेद* को *अथर्ववेद* का *उपवेद* कहा जाता है। हालांकि आयुर्वेद शब्द नामतः वैदिक साहित्य में कहीं भी उल्लेखित नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित स्वस्थ, निरोगी व दीर्घायु जीवन पद्धति के ज्ञान को आयुर्वेद कहा गया है। सर्वप्रथम *आयुर्वेद* शब्द का उल्लेख *पाणिनी* की *अष्टाध्यायी* में प्राप्त होता है।1 अर्थात यदि कोई व्यक्ति रोग ग्रस्त है तो उसे किस प्रकार स्वस्थ करना है? उसके लिए चिकित्सा पद्वति तथा औषधि इत्यादि क्या रहेगी।

सिंधु घाटी सभ्यता के विभिन्न स्थलों की खुदाई में प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उस समय भी आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति प्रचलन में थी। यह समाज में स्वस्थता का संचार कर रही थी। जिसके लिए अनेक चिकित्सा सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता था। *कालीबंगा* की खुदाई में प्राप्त एक बालक की खोपड़ी में छः छिद्र इस बात की पुष्टि करते हैं कि सम्भवतः उस बच्चे के सिर की शल्य चिकित्सा की गई होगी। शल्य चिकित्सा का यह पुरातात्विक साक्ष्य तत्कालीन समाज में चिकित्सा के विकसित रूप को प्रदर्शित करता है। *मेहरगढ़* से मानव दांतों को प्राकृतिक रूप से स्थापित करने का साक्ष्य भी सामने आया है। सिंधु घाटी सभ्यता के लोगों में स्वास्थ्य चेतना वहाँ की ढकी हुई नालियों की संरचना से भी प्रकट होती हैं क्योंकि खुली नालियों में संक्रामक रोगो के फैलने का खतरा अत्यधिक होता है। स्वच्छता ही स्वास्थ्य का आधार होती है।अतः सिंधु घाटी सभ्यता से प्राप्त साक्ष्य इस बात का प्रमाण हैं कि आयुर्वेद चिकित्सा समाज में प्रचलित थी तथा उत्थान की ओर अग्रसर थी। *मोहनजोदड़ो* से प्राप्त काला पत्थर यानी शिलाजीत पत्थर जो कि मूत्ररोग व उत्साहवर्धक औषधि के रूप में प्राप्त होता हैं। 2

वैदिक कालीन साहित्य में आयुर्वेद के अनेक सफल चिकित्सा विवरणो का उल्लेख करता हैं। *पूर्व वैदिक* कालीन समाज में शल्य विधि विकसित अवस्था में दिखाई पड़ती है। हालांकि औषधियों के प्रयोग में एक रोग के लिए एक औषधि का प्रयोग किया जाता था। किन्तु *उत्तर वैदिक काल* में एक रोग के शमन हेतु अनेक औषधियों को संयुक्त रूप से सेवन कराया जाता था। वैदिक कालीन साहित्य आयुर्वेद के आठों अंगों का उल्लेख करते हैं। इन आठों अंगों में सफल चिकित्सा प्रकरण भी वर्णित है। आयुर्वेद का विषय वस्तु चारों वेदों में वर्णित है। वैदिक कालीन साहित्य त्रिधातुओं को संतुलित रखने का भी वर्णन करता है जो कि स्वास्थ्य का प्रमुख आधार है।

यजुर्वेद में चार प्रकार की औषधियों का उल्लेख प्राप्त होता है *जैसे* फलयुक्त, फल रहित, पुष्प युक्त, पुष्प रहित। इनके सैकड़ों नाम व प्रकार हैं। यह सैंकड़ों रोगों का उपचार करते हैं, इसलिए औषधियाँ आरोग्यवर्द्धक होती हैं। औषधियों के मूल भाग को रोगोपचार हेतु आवश्यक बताया गया है। इनके सेवन से न केवल आरोग्य की प्राप्ति होती है बल्कि दीर्घायु व बल में भी वृद्धि होती हैं। औषधियाँ सम्पूर्ण शरीर में फैलकर रोगों का विनाश करती है। यजुर्वेद में अनेक औषधियों के संयुक्त सेवन का भी वर्णन है, जिसमें कहा है कि औषधियाँ आपस में एक-दूसरे के प्रभाव में वृद्धि करती हैं।

अथर्ववेद में वंशानुगत रोगों को क्षेत्रीय रोग कहा गया है जिनके शमन हेतु अर्जुन की छाल, तिल की मंजरी और जौं की बाली,इन तीनों को ब्रह्म मुहूर्त में सेवन का निर्देश दिया गया है। यह चिकित्सा क्षेत्र में बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है क्योंकि वर्तमान में भी वंशानुगत रोगों को असाध्य रोगों में गिना जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋतुसंधि पर विशेष ध्यान दिया गया है, जिसमें कहा है कि वर्तमान ऋतु का अन्तिम सप्ताह व अग्रिम ऋतु का प्रथम सप्ताह *ऋतु सन्धि काल* कहलाता है। इस काल में रोगों का प्रभाव अधिक रहता है। अतः इनसे बचने के लिए यज्ञ किए जाने का उल्लेख किया है जिसमें चार प्रकार की द्रव्य, सामग्री बताई गई है।

1. सुगन्धित,
2. पुष्टिकारक,
3. मिष्ठान,
4. रोगनाशक औषधि।

जबकि *उपनिषदों* में शरीर को संचालित करने के लिये अन्न पाचन प्रक्रिया को महत्वपूर्ण माना है। उपनिषदों में भी अंग प्रत्यारोपण के उदाहरण मिलते हैं जिनमें से एक उदाहरण *अश्विनी कुमारों* द्वारा मधु विद्या के लिए अथर्वा ऋषि को घोड़े का सिर लगाया उसके गिरने के पश्चात् पुनः ऋषि का सिर लगाया गया।

महर्षि वाल्मिकी कृत *रामायण* में भी अंग प्रत्यारोपण का उदाहरण मिलता है, जिसमें इन्द्र को नपुंसक होने पर मेष के वृष्ण प्रत्यारोपित किए गए थे। गर्भस्थ शिशु को शल्य क्रिया द्वारा पेट काटकर बाहर निकालना। *राजा दशरथ* के शव को सड़ने से बचाने के लिए तैल द्रोणी में डुबोकर रखना। वैद्य सुषेण द्वारा लक्ष्मण की मूर्छा परीक्षण आदि अनेक साक्ष्य इसका प्रमाण हैं कि महाकाव्य काल में भी आयुर्वेद के उच्च कोटि के ज्ञाता विद्यमान थे। इसके अलावा रावण की पानभूमि का वर्णन उस समय के ऋतुअनुसार व स्वास्थ्य हितकारी खान-पान की जागरूकता को प्रकाशित करती है।

महाकाव्य *महाभारत* में भी आयुर्वेद चिकित्सा के अनेक साक्ष्य प्राप्त होते हैं।3 इस समय भी आयुर्वेद के आठों अंगों का प्रचलन था। चिकित्सा के लिए पेय व औषधि का प्रयोग किया जाता था। यहाँ शारीरिक उपचार के लिए औषध व मानसिक उपचार के लिए संवाद, संगत आदि का प्रयोग किया जाता था। यहाँ राज्यक्ष्मा रोग का उल्लेख मिलता है। इसमें संजीवनी विद्या का उल्लेख मिलता है जिसमें मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित किया जा सकता था। किन्तु इस विद्या का स्वरूप वर्णित नहीं है। इसे अपवाद माना जा सकता है क्योंकि यदि यह विद्या प्रचलित होती तो महाभारत युद्ध में मरने वाले सभी योद्धाओं या राजपरिवार के सदस्यों को पुनर्जीवित किया जा सकता था। दुर्योधन ने अपनी सेना में निपुण वैद्यों को वैतनिक आधार पर नियुक्त किया था। जो युद्ध में घायल सैनिकों का उपचार करते थे। आयुर्वेद चिकित्सा की शिक्षा के लिए तक्षशिला विश्वविद्यालय बहुत प्रसिद्ध था। मगध के सम्राट बिम्बसार के राजवैद्य जीवक ने 7 वर्षों तक यही पर रहकर शिक्षा प्राप्त किया था।4

छठी सदी में हुए *धार्मिक आंदोलन* के समय आयुर्वेद अपनी उन्नत अवस्था में था। बौद्ध ग्रन्थ *विनयपिटक* में आयुर्वेद चिकित्सा के अतिरिक्त आयुर्वेद के आठों अंगों का उल्लेख मिलता है। यहाँ रोग द्वारा कमजोर किए गए भिक्षुओं को सुअर, रीछ, मछली, गधा आदि पशुओं की चर्बी का सेवन औषध स्वरूप करवाया जाता था। इनके अलावा फल औषधियाँ जिनमें विडग, पिप्पली, आँवला आदि चूर्ण औषधि, कषाय आदि सम्मिलित गोंद औषधियाँ जिनमें लवण औषधि, पत्ते, अंजन तेल इत्यादि को भी औषधि के रूप में जिक्र किया गया है।

बौद्ध साहित्य में शल्य चिकित्सा का उदाहरण देखने को मिलता है जिसमें नाक की भीतरी नस गल जाने पर नसकरनी विधि द्वारा कृत्रिम नस डाली जाती थी। यह कृत्रिम नस स्वर्ण, शंख आदि द्वारा निर्मित की जाती थी। इसके कुछ साधारण उपाय भी मिलते हैं *जैसे*-शरीर में किसी भाग पर गांठ उभरने पर उस स्थान पर नमक की कंकर बाँध दी जाती थी, जिससे वह गल जाती थी और उस जख्म पर तेल लगाकर पतली पट्टी बाँध दी जाती थी। स्वयं *महात्मा बुद्ध* द्वारा *भगंदर रोग* में शल्य कर्म को निषेध बताया है।

महात्मा बुद्ध ने कहा है कि "गुदा स्थान का चमड़ा सर्वाधिक कोमल होता है चीरने पर घाव भरने में कठिनाई होती है, यहाँ शस्त्र चलाना भी कठिन है। अतः गुदा स्थान से दो अंगुल तक की परिधि में शस्त्र-कर्म नहीं करना चाहिए।" यह शल्य कर्म के प्रति चेतना का साक्ष्य है। इस काल में आयुर्वेदाचार्य *जीवक* द्वारा किए गए अनेक असाधारण शल्य चिकित्सा आयुर्वेद के उच्चतम विकास की झलक प्रदर्शित करती है। *उदाहरणार्थ* श्रेष्ठि का सिर खोलकर कृमि निकालकर वापस बन्द करके पूर्ण स्वस्थ करना। बच्चे के पेट को काटकर आँतों की गाँठ खोलना आदि कार्य शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में कीर्तिमान सिद्ध होते है और उसकी उन्नत अवस्था को दर्शाते हैं।

मौर्य काल में आयुर्वेद को सुलभ बनाने के लिए *सम्राट अशोक* ने जड़ी बूटियों के वृक्ष लगवाए, पशुओं व मनुष्यों के अलग चिकित्सालय स्थापित किए। पशुओं में महामारी फैलने पर *आचार्य कौटिल्य* ने *अर्थशास्त्र* में विभिन्न उपाय बातए हैं। *अर्थशास्त्र* में *आशु मृतक परीक्षा* अथवा *शव परीक्षण* का विस्तृत उल्लेख किया गया है। बिना किसी बीमारी या गंभीर चोट के बिना अचानक मरने वाले व्यक्ति को *आशुमृतक* कहा गया है। इस परीक्षण की अनेक पहचानों के माध्यम से मृत्यु के कारणों का पता लगाया जाता था। *सम्राट अशोक* द्वारा सम्पूर्ण देश में स्थापित चिकित्सालय गुप्त काल में और अधिक विकसित व सुदृढ़ दिखाई देते हैं। इस काल में चिकित्सा के अध्ययन हेतु *माधवकर* ने चिकित्सकों के लिए *'रोगविनिश्चय'* नामक ग्रन्थ की रचना की। भावी चिकित्सकों के लिए यह रचना प्रेरणा स्त्रोत रही। *उत्तर गुप्त काल* में आयुर्वेद की गति कुछ शिथिल दिखाई देती है।

चरक संहिता ,काय चिकित्सा पर आधारित ग्रन्थ है। किन्तु इसमें आयुर्वेद के अन्य अंगों का भी उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में चिकित्सा के तीन मूल आधारभूत सूत्र बनाए गए हैं-

1. रोग का कारण,
2. रोग का लक्षण,
3. रोग का निवारण।

चरक संहिता के अध्ययन से सुखमय दीर्घजीवन प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए त्रिधातुओं का साम्यावस्था में रहना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु इनमें दोष उत्पन्न होने पर अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है, जिनका आश्रय स्थल शरीर तथा मन को माना गया है। इन त्रिधातुओं का शरीर के अलग-अलग अंग पर प्रभाव पड़ता है। वात का स्थान मुख्यतः बस्ति (मूत्राशय), पक्वाशय, कमर, जांघ, दोनों पैर हड्डियाँ व उनके जोड़। इनमें भी पक्वाशय व आँत को वात का मुख्य वास स्थान बताया गया है। वात के कुपित होने पर शरीर में 80 प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। जिन्हें शान्त करने का प्राथमिक उपचार बस्ति को बताया है। इस प्रयोग से पक्वाशय शुद्ध होता है और वात के वेग में कमी आती है। वात का प्रभाव वृद्ध अवस्था में अधिक होता है और अनेक रोग उत्पन्न करता है। हालांकि मानव शरीर को संचालित वात ही करती है। जो कि प्राण वायु, उदान वायु, समान वायु, व्यान वायु और अपान वायु के रूप में शरीर की विभिन्न क्रियाओं का संचालन करती है। इसी प्रकार पित्त का अलग स्थान व प्रभाव है। पित्त यकृत, लसिका, रक्त, आमाशय तथा स्वेद (पसीना) इन स्थानों में वास करता है। यह युवा अवस्था में अत्यधिक प्रभावी रहता है। कर्म के आधार पर यह पाचक, रज्जक, साधक, आलोचक एवं भ्राजक के रूप में शरीर के अलग अंग को संचालित करता है। दूषित होने पर यह 40 विकार उत्पन्न करता है। इसकी सामान्य प्राथमिक चिकित्सा विरेचन को माना गया है। 5

चरक *संहिता* में शरीर के रोग ग्रस्त होने के दो कारण बताए गए हैं-

1. निज कारण (वात - पित्त - कफ)
2. आगन्तु (बाह्य आघात, संक्रमण)

निज कारण से उत्पन्न रोगों की उत्पत्ति धातु विषमता के कारण होती है अर्थात् पहले विषमता तत्पश्चात् वेदना होती है। जबकि आगन्तु में पहले वेदना होती है तत्पश्चात् धातु विषमता होती है। इसी प्रकार कफ भी अपना महत्व रखता है। इसका मुख्य स्थान छाती, सिर, ग्रीवा, मेद, वसा। इनमें भी छाती मुख्य स्थान है। साम्यावस्था में स्थित कफ जल कहलाता है तथा ओज के रूप में हृदय में वास करता है। यह शरीर में स्निग्धता, सन्धियों को बांधना, गुरुता (भारीपन), वृषता (वीर्य), बल आदि रूप में

विद्यमान रहता है। दूषित होने पर यह 20 प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है। इसका प्रभाव बाल्यावस्था में अधिक रहता है। कफ के कुपित होने पर प्राथमिक सामान्य चिकित्सा वमन को माना गया है। 6

प्राथमिक उपचार के अलावा रोग को शान्त करने के लिए तीन प्रकार के चिकित्सा सिद्धांत मिलते हैं-

1. अन्तःपरिमार्जन
2. बाह्य परिमार्जन,
3. शस्त्र प्रणिधान।

किन्तु चिकित्सा करने से पूर्व रोग की परीक्षा अर्थात् यह पता लगाना आवश्यक है कि कुपित रोग वातज है? पित्तज है? कफज है? द्वन्दज है? या सन्निपातज है?रोग शरीर के किस अंग में विद्यमान है। तत्पश्चात् औषध परीक्षा करनी चाहिए कि वह औषध किस रस वाली है? किस वीर्यवाली है? किस विपाकवाली है? किस प्रभाव वाली है? कौन से रोग में कितनी देनी चाहिए? कीट इत्यादि से खाई हुई तो नहीं है? यह जानकारी चरक संहिता की चिकित्सा से प्राप्त होती है।

सुश्रुत संहिता में *आयुर्वेद* की परिभाषा अन्य ग्रन्थों से भिन्न प्राप्त होती है जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्वों तथा आत्मा के संयोग को पुरूष अर्थात् व्यक्ति कहा है। यही पुरुष चिकित्सा का पात्र तथा स्वास्थ्य और रोगों का आश्रय स्थल है। रोगों की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिनके संयोग से मनुष्य को कष्ट होता है उन्हें व्याधि अथवा रोग कहा गया है। यह व्याधियाँ चार प्रकार की बताई गयी हैं- 7

1.आगन्तुक,
2. शारीरिक,
3. मानसिक,
4. स्वाभाविक।

इनमें *आगन्तुक रोग* बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है। शारीरिक रोग त्रिधातुओं के कुपित होने से तथा हीन, मिथ्या तथा अतिमात्रा में उपयोग किए गए अन्न पान से। मानस रोग,शोक, क्रोध, भय, हर्ष, काम आदि के कारण होते हैं। स्वाभाविक रोग भूख, प्यास वृद्धावस्था आदि के कारण होते हैं। 8

सुश्रुत संहिता में प्राणियों के स्वास्थ्य का मूल आधार आहार / भोजन को बताया गया है। क्योंकि आहार में छः रस विद्यमान होते हैं। रस द्रव्य के आश्रित होते हैं जिन्हे औषधि कहते हैं। यहाँ दो प्रकार की औषधियों का उल्लेख किया गया है- 9

1. स्थावर

2. जंङ्गम।

स्थावर औषधियों के चार प्रकार बताए हैं-वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और औषधि। इनकी पहचान के बारे में बताया गया है कि, जिन पर पुष्प नहीं आते किन्तु फल आते हैं उन्हें वनस्पति कहते हैं जैसे- वट, पीपल, औदुम्बर। जिन पर पुष्प व फल दोनों आते हैं उन्हें वृक्ष कहते हैं, जो झाड़ी के समान फैलने वाली हो उन्हें वीरूध जैसे- खीरा, ककड़ी आदि तथा जो फलों के पकने तक जीवित रहती है उन्हें औषधि की संज्ञा दी गई हैं। उदाहरण – शालि, गोधूम, यव, तिल आदि। इन स्थावर औषधियों के छाल, पत्ते, पुष्प, फल, जड़, कन्द, गोंद और स्वरस का प्रयोग किया जाता था। *जंगम* औषधियाँ चार प्रकार की बताई गयी हैं- 1. जरायुज, 2. अण्डज, 3. स्वदेज, 4. अद्भिज्ज ।

सुश्रुत ने वैद्य, रोगी, औषध तथा परिचारक को चिकित्सा के चार पैर कहा है। ये चारों ही सफल चिकित्सा के आधार स्तम्भ हैं। इनमें से किसी एक भी अभाव तथा अयोग्य होने पर चिकित्सा असफल बताई गई है। साथ ही चिकित्सक लिए यह भी स्पष्ट निर्देश हैं कि रोगी की चिकित्सा करने से पूर्व उसकी आयु की परीक्षा करें। इस ग्रन्थ में पुरूष के सम्पूर्ण शरीर की लम्बाई 120 अंगुल बताई है। वृद्धावस्था में बाल अवस्था की भांति रोगों का प्रतिकार करना चाहिए। चिकित्सक को निर्देशित करते हुए कहा है कि बाल्यावस्था में कफ बढ़ता है,मध्यम अर्थात् युवावस्था में पित्त बढ़ता है और वृद्धावस्था में वायु अधिक बढ़ती है। इसलिए रोगी के शरीर में दोष तथा आयु का विचार करके चिकित्सा करनी चाहिए। शालाक्यतंत्र के अन्तर्गत 76 नेत्र रोग 28 कर्ण (कान) रोग, 31 नासिका रोग, 11 सिर रोग, व 67 मुख रोगों, उनके लक्ष्ण व चिकित्सा का विस्तृत वर्णन किया गया है। यहां शालाक्य तंत्र से तात्पर्य यहां "चिकित्सा की वह विधि है, जिसमें शलाका अर्थात सलाई प्रकार के चिकित्सा उपकरण का प्रयोग अधिक किया जाता है"। शालाक्यतंत्र के अन्तर्गत जन्तु संधि / हँसुली के ऊपर-ऊपर के अंगों में उत्पन्न रोगों की चिकित्सा का वर्णन मिलता है। 10

सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा करने के लिए तीन प्रकार के सिद्धांत / चिकित्सा कर्मों का उल्लेख किया हैं-

1. पूर्व कर्म
2. प्रधान कर्म
3. पश्चात् कर्म।

***सुश्रुत* ने दो प्रकार से चिकित्सा बताई है-**

1. शस्त्र साध्य जिसमें शस्त्र उपकरण द्वारा रोग दूर किया जाता है।
2. औषधि साध्य अर्थात् औषधि आदि के द्वारा रोगोपचार किया जाना चाहिए।

पूर्व कर्म के अन्तर्गत शल्य कर्म की तैयारी को शामिल किया गया है।

सुश्रुत संहिता में शल्य क्रिया से सम्बन्धित 101 प्रकार के यन्त्र बताए गए हैं। जिनमें 24 प्रकार के स्वास्तिक यन्त्र, 2 प्रकार के तालयन्त्र, 2 प्रकार के संदेश यन्त्र, 20 प्रकार के नाड़ी यन्त्र, 28 प्रकार के श्लाका यन्त्र तथा 25 प्रकार के उपयन्त्र बताए गए हैं, जो कि लौह निर्मित होने चाहिए। संदेशयन्त्र 16 अंगुल लम्बा होना चाहिए तथा ताल यन्त्र 12 अंगुल लम्बा। इन यन्त्रों की आकृति 6 प्रकार की बताई है-

1. स्वास्तिक यंत्र,
2. सन्दंशयन्त्र,
3. तालयन्त्र,
4. नाड़ीयन्त्र,
5. शलाकायन्त्र,
6. उपयन्त्र।

इनकी मुख आकृति हिंसक पशु, पक्षी व मृग के समान बताई है। शल्य निकालने के कङ्कमुख नाम यन्त्र को प्रधान बताया है। *प्रधान कर्म* के अन्तर्गत आठ प्रकार की शस्त्र क्रिया बताई है जिसे अष्टविध शस्त्र कर्म कहा गया है। इसके अन्तर्गत-

1. छेदनकर्म (छीलना या छांटना),
2. भेदन (चीरना),
3. लेखन (खुरचना),
4. वेधन (छेद करना),
5. एषण (शलाका प्रयोग),
6. आहरण (शोधन)
7. विस्त्रावण (पीड़ा को शान्त करना)
8. सीवन (सिलना)।

इनके लिए 20 प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग बताया है।

सुश्रुत संहिता शल्य निकालने के दो सिद्धांतों की व्याख्या करता है-

1. *प्रतिलोम विधि* – जिस मार्ग से अन्दर डाला है, उसी से वापस बाहर निकालना
2. *अनुलोम विधि* – शरीर में अधिक अन्दर घुसने वाले शल्य को आगे करके दूसरे नए मार्ग से निकालना।

सुश्रुत संहिता में वर्णित है कि,यदि शल्य को न निकाला जाए तो वह उस स्थान में शोध, पाक, तीव्र वेदना आदि के साथ-साथ मृत्यु तक कर देता है। प्रधान कर्म के उपरान्त पश्चात् कम करना चाहिए जिसके अन्तर्गत रूई इत्यादि से घाव को साफ करना, विभिन्न औषधीय चूर्ण छिड़कना तथा विधि अनुसार पट्टी बाँधना। *वाग्भट्ट* ने भी धातुओं के रस, वीर्य और विपाक का वर्णन *अष्टांग संग्रह* में किया है। 11 *आत्रेय* के उपदेशों को उनके शिष्यों *अग्निवेश, भेड़, जातु कर्ण, हरित क्षारणीय* एवं *पराशर* जैसे शिष्यों ने निबद्ध करके दो नाम से तन्त्रों की रचना की। ये तन्त्र बहुत ही जनोपदेय सिद्ध हुये, समय चक्र के प्रभाव से आज वे सभी विलुप्त हो गये है। इनमें से *अग्नि वेश तन्त्र* सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ और इसी तन्त्र को *चरक* ने प्रतिसंस्कारित करके काय चिकित्सा की प्रमुख कृति '*चरक संहिता* ' को वर्तमान रूप में प्रकाशित किया। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में प्रधानतया औषधियों का वर्णन है। *दिवोदास धन्वन्तरि* द्वारा प्रारम्भ में उपदिष्ट संहिता को *सुश्रुत* ने संहिता रूप से परिवर्तित करके शल्य चिकित्सा की प्रमुख कृति '*सुश्रुत संहिता* को वर्तमान रूप में प्रकाशित किया। *नागार्जुन* या अन्य किसी प्रतिसंस्कर्ता ने संस्कारित करके इसे आगे बढ़ाया। ये *धन्वन्तरि* सम्प्रदाय के ग्रन्थ मुख्यतः शल्य का वर्णन करते हैं।

अतःउपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि *सुश्रुत संहिता* में चिकित्सा पद्धति के सैद्धान्तिक अध्ययन के साथ-साथ व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करने पर भी बल दिया गया है। हालांकि *सुश्रुत संहिता* में अनेक प्रकार की औषधियों, रस कल्प, स्नेह, लेप व आहार विहार का भी उल्लेख किया है। औषधियाँ आयुर्वेद का सार है। इनके अभाव में चिकित्सा की परिकल्पना नहीं की जा सकती है।

अत: निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि, औषधियाँ आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति की आत्मा है। इनके अभाव में चिकित्सा की कल्पना निरर्थक है। इनका प्रयोग वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर किया जाता था किन्तु उसका ज्ञान जनसामान्य में भी प्रचलित था। औषधियाँ न सिर्फ आरोग्य प्रदान करती हैं बल्कि शरीर को ऊर्जा शक्ति भी प्रदान करती हैं। औषधियों को आयुर्वेद का शरीर कहना अनुचित न होगा, क्योंकि इनके अभाव में आयुर्वेद का अस्तित्व सम्भव नहीं है। आयुर्वेद को शिक्षा व्यवस्था के तीनों चरणों (प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च शिक्षा) में अनिवार्य विषय के रूप में शामिल करना आवश्यक है। जिससे इसे सरल, सुगम व जनोपयोगी बनाया जा सके। अनिवार्य विषय के रूप में अध्ययन करने से समाज में न केवल आयुर्वेद के ज्ञान का प्रसार होगा अपितु स्वास्थ्य के प्रति जन चेतना का भी उत्थान होगा। आयुर्वेद एक ऐसा विषय है जिसके अध्ययन से समाज में बढ़ते रोग व रोगियों की संख्या को कम किया जा सकता है। जिससे समाज में स्वस्थता व आर्थिक समृद्धि का प्रसार होगा। हमारे समाज की आय का एक बहुत बड़ा अंश चिकित्सा पर खर्च हो रहा है। यदि साधारण रोगों को गम्भीर रोग में परिवर्तित होने से रोकना है तो समाज में आयुर्वेद का प्रसार जन-जन तक पहुँचाना अनिवार्य है, क्योंकि

आयुर्वेद ही रोग को उसकी प्रारम्भिक अवस्था में समाप्त करने के साथ-साथ रोगों की उत्पत्ति पर रोक लगाने का कार्य करते हैं।

आयुर्वेद न केवल स्वास्थ्य के क्षेत्र में बल्कि सांस्कृतिक एवं आर्थिक पक्षों में भी भारत की शक्ति बढ़ाने में एक प्रमुख भूमिका निभाएगा। आयुर्वेद केवल प्राचीन ज्ञान या परंपरा ही नहीं, बल्कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साथ समन्वय करने वाली एक वैज्ञानिक, प्रभावशाली और बहु-आयामी प्रणाली है, जिसकी भूमिका वर्तमान स्वास्थ्य व्यवस्था में दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। यह भारत को विश्व स्वास्थ्य मानचित्र पर एक अलग पहचान देगा और एक समग्र विकसित राष्ट्र बनाने की दिशा में सहायक होगा।

संदर्भ

1. *पाणिनि (2009) अष्टाध्यायी, 4/2/60 संपादक-श्रीषा चन्द्र वाशु, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली*
2. *चौधरी, राधाकृष्ण (2005), प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक*
3. *इतिहास, भारती भवन पब्लिकेशन, पटना, पृष्ठ- 33*
4. *दत्त, शास्त्री रामनारायण (अनु) (1988),महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर, (पुनर्मुद्रित)*
5. *प्रकाश, ओम (1997),प्राचीन भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 235*
6. *पाण्डेय, काशीनाथ (संपा) (1962),चरक संहिता, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी,पृष्ठ -34*
7. *उपर्युक्त : पृष्ठ – 34/35*
8. *विद्यालंकार, जयदेव (संपा.) (1975), चरक संहिता, सूत्र अध्याय-12, श्लोक-48, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली, पृष्ठ -89*
9. *सुश्रुत संहिता : सूत्र स्थान, अध्याय-1, श्लोक-32, पृष्ठ -10*
10. *उपर्युक्त : श्लोक – 36/37, पृष्ठ- 10/11*
11. *उपर्युक्त : अध्याय -26, श्लोक-26, पृष्ठ -181*
12. *वाग्भट्ट कृत अष्टांगहृदय (1950)अनु.अत्रिदेव गुप्त,निर्णयसागर प्रेस,*
13. *मुम्बई, पृष्ठ-112*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

वैश्विक परिस्थितियों में उभरता हुआ भारत

(Emerging India in the Global Scenario)

डॉ. सर्वेश्वर उपाध्याय
सहायक प्राध्यापक (राजनीति विज्ञान)
डॉ. हरिसिंह गौर महाविद्यालय सागर मध्य प्रदेश

सार (Abstract)

21वीं सदी को एशिया की सदी कहा जा रहा है और इस संदर्भ में भारत एक उभरती हुई वैश्विक शक्ति के रूप में तेजी से सामने आया है। शीत युद्ध के बाद की अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था, वैश्वीकरण, तकनीकी क्रांति, बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था तथा बदलती भू-राजनीतिक परिस्थितियों ने भारत को वैश्विक मंच पर एक नई भूमिका निभाने का अवसर प्रदान किया है। आर्थिक विकास, लोकतांत्रिक स्थिरता, तकनीकी क्षमता, सैन्य शक्ति, सांस्कृतिक प्रभाव और कूटनीतिक सक्रियता के कारण भारत आज विश्व राजनीति और अर्थव्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना रहा है। यह शोध-पत्र वैश्विक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भारत के उभार के कारणों, क्षेत्रों, चुनौतियों और भविष्य की संभावनाओं का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द: उभरता हुआ भारत, वैश्वीकरण, बहुध्रुवीय विश्व, आर्थिक शक्ति, विदेश नीति

प्रस्तावना

वैश्विक राजनीति और अर्थव्यवस्था निरंतर परिवर्तनशील रही है। 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विश्व ने औपनिवेशिक व्यवस्था के पतन, शीत युद्ध, द्विध्रुवीयता और फिर एकध्रुवीय व्यवस्था का अनुभव किया। 21वीं सदी में विश्व एक बार फिर संक्रमणकाल से गुजर रहा है, जहाँ बहुध्रुवीय व्यवस्था उभर रही है। इस परिवेश में भारत एक ऐसे राष्ट्र के रूप में उभरा है, जो न केवल अपनी आंतरिक शक्ति को सुदृढ़ कर रहा है, बल्कि वैश्विक मुद्दों पर भी प्रभावी भूमिका निभा रहा है।

भारत का उभार अचानक नहीं हुआ, बल्कि यह एक दीर्घकालिक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें आर्थिक सुधार, लोकतांत्रिक संस्थाओं की मजबूती, मानव संसाधन, तकनीकी प्रगति और संतुलित विदेश नीति की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

वैश्विक परिस्थितियाँ : एक संक्षिप्त परिदृश्य

समकालीन वैश्विक परिस्थितियों को निम्न बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है—

- वैश्वीकरण और उदारीकरण
- तकनीकी एवं डिजिटल क्रांति
- चीन का उदय और अमेरिका-चीन प्रतिस्पर्धा
- रूस-यूक्रेन युद्ध और ऊर्जा संकट
- जलवायु परिवर्तन और सतत विकास की चुनौती
- अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की बदलती भूमिका

इन परिस्थितियों ने भारत को अवसर भी दिए हैं और चुनौतियाँ भी।

आर्थिक क्षेत्र में उभरता हुआ भारत

(क) आर्थिक सुधार और विकास

भारत आज विश्व की सबसे तेजी से बढ़ती प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं में से एक है, जो एक गतिशील और लचीले आर्थिक मॉडल का प्रतिनिधित्व करती है। इस उभार की नींव 1991 के ऐतिहासिक आर्थिक सुधारों में रखी गई, जब देश ने गंभीर संकट के बाद उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण (एलपीजी) की नई नीति अपनाई। इस नीतिगत बदलाव ने भारतीय अर्थव्यवस्था को एक सुदृढ़, प्रतिस्पर्धी और वैश्विक रूप से एकीकृत अर्थव्यस्था में बदलने की प्रक्रिया शुरू की।

इन सुधारों के स्पष्ट परिणाम दिखाई देते हैं। सबसे पहले, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफडीआई) में अभूतपूर्व वृद्धि हुई, जिससे पूंजी, प्रौद्योगिकी और प्रबंधकीय विशेषज्ञता का प्रवाह बढ़ा। इसने अर्थव्यवस्था को गति प्रदान की। दूसरा, औद्योगिक और विशेष रूप से सेवा क्षेत्र में अभूतपूर्व विस्तार हुआ। भारत की सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) और आईटी-सक्षम सेवाओं (आईटीईएस) ने वैश्विक पहचान बनाई, जिससे देश 'विश्व का आईटी हब' बन गया। साथ ही, विनिर्माण को बढ़ावा देने के लिए 'मेक इन इंडिया' जैसे अभियान शुरू किए गए।

तीसरा, वैश्विक व्यापार में भारत की भागीदारी और प्रभाव में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। देश आज प्रमुख निर्यातक और आयातक देशों में शामिल है, और विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) जैसे मंचों पर

सक्रिय भूमिका निभाता है। डिजिटल अर्थव्यवस्था, स्टार्ट-अप इकोसिस्टम और उद्यमिता में हुई क्रांति ने इस विकास को और गति दी है, जिससे भारत नवाचार का एक वैश्विक केंद्र बन गया है।

हालाँकि, कृषि क्षेत्र की चुनौतियाँ, रोजगार सृजन और आय की असमानता जैसे मुद्दे अभी भी बने हुए हैं। फिर भी, एक लचीली अर्थव्यवस्था, विशाल बाजार, युवा जनसांख्यिकी और तकनीकी कौशल के दम पर भारत न केवल एक मजबूत आर्थिक शक्ति के रूप में उभर रहा है, बल्कि अशांत वैश्विक परिदृश्य में एक स्थिरता और विकास का स्तंभ बनने की क्षमता भी रखता है।

(ख) वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत की स्थिति

1991 के सुधारों द्वारा प्रशस्त किए गए मार्ग पर चलते हुए, भारत ने वैश्विक आर्थिक परिदृश्य में एक प्रभावशाली और अग्रणी स्थान हासिल किया है। आज, भारत विश्व की शीर्ष पाँच अर्थव्यवस्थाओं में स्थान बना चुका है, और इसकी गिनती सबसे तेजी से विकसित हो रही प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं में होती है। यह स्थिति केवल आकार तक सीमित नहीं है, बल्कि रणनीतिक प्रभाव और नवाचार में अग्रणी भूमिका को दर्शाती है।

विशेष रूप से, कई क्षेत्रों में भारत की वैश्विक उपस्थिति मजबूत और निर्णायक बन गई है:

1. सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) एवं डिजिटल अर्थव्यवस्था: भारत 'विश्व की डिजिटल बैक ऑफिस' से आगे बढ़कर एक वैश्विक टेक हब और डिजिटल इनोवेशन सेंटर बन गया है। 'डिजिटल इंडिया' पहल के बाद तेजी से बढ़ा डिजिटल पारिस्थितिकी तंत्र और यूपीआई जैसी अभूतपूर्व डिजिटल भुगतान प्रणाली ने दुनिया का ध्यान आकर्षित किया है।
2. फार्मास्यूटिकल्स: भारत 'विश्व की फार्मेसी' के रूप में उभरा है। यह सामान्य दवाओं (जेनेरिक ड्रग्स) का सबसे बड़ा निर्माता और निर्यातक है, जो वैश्विक स्वास्थ्य सुरक्षा में एक आवश्यक भूमिका निभाता है, जैसा कि कोविड-19 महामारी के दौरान देखा गया।
3. स्टार्ट-अप इकोसिस्टम: भारत दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा स्टार्ट-अप इकोसिस्टम है, जहाँ अनेक यूनिकॉर्न कंपनियाँ हैं। तेजी से बढ़ता यह उद्यमशीलता का वातावरण नवाचार, रोजगार सृजन और निवेश को आकर्षित कर रहा है।
4. रणनीतिक भागीदारी: भारत जी20, ब्रिक्स, क्वाड जैसे महत्वपूर्ण वैश्विक और क्षेत्रीय मंचों का एक सक्रिय सदस्य है, और इन्फ्रास्ट्रक्चर व विकास में ग्लोबल साउथ की आवाज के रूप में अपनी भूमिका निभाता है।

इस प्रकार, भारत की वैश्विक आर्थिक स्थिति केवल उसके सकल घरेलू उत्पाद से नहीं, बल्कि रणनीतिक क्षेत्रों में उसकी अग्रणी भूमिका, नवाचार क्षमता और वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाओं में बढ़ते एकीकरण से

परिभाषित होती है। आगे की चुनौतियों के बावजूद, भारत एक ऐसी आर्थिक शक्ति के रूप में स्थापित हो चुका है जो वैश्विक आर्थिक विकास एवं स्थिरता की दिशा तय करने में महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है।

राजनीतिक और कूटनीतिक उभार

वैश्विक मंच पर भारत का राजनीतिक और कूटनीतिक उभार पिछले दशक में नाटकीय रूप से परिवर्तित हुआ है। देश की विदेश नीति में रक्षात्मकता से सक्रियता, प्रतिक्रियाशीलता से पहलकदमी की ओर स्पष्ट बदलाव देखा गया है। यह उभार कई स्तंभों पर टिका है।

सबसे पहले, भारत ने रणनीतिक स्वायत्तता के सिद्धांत को और मजबूती से अपनाया है, जिसमें राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखते हुए सभी प्रमुख शक्तियों के साथ संतुलित और व्यावहारिक संबंध विकसित किए गए हैं। QUAD (भारत, अमेरिका, जापान, ऑस्ट्रेलिया) में सक्रिय सहयोग, रूस के साथ ऐतिहासिक संबंधों का निर्वाह, और फ्रांस, इज़राइल और यूएई जैसे रणनीतिक साझेदारों के साथ संबंधों को गहरा करना इसी नीति का प्रतिफल है।

दूसरा, भारत अब वैश्विक चुनौतियों के समाधान में एक "नेतृत्वकारी भागीदार" के रूप में उभरा है। जलवायु परिवर्तन, टीकाकरण, आपूर्ति श्रृंखला स्थिरता, आतंकवाद विरोध और डिजिटल शासन जैसे मुद्दों पर भारत की आवाज सुनी और सम्मानित जाती है। G20 की अध्यक्षता के दौरान भारत ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' की थीम के साथ वैश्विक दक्षिण की चिंताओं को केंद्र में रखकर अपनी कूटनीतिक क्षमता का परिचय दिया।

तीसरा, आक्रामक जनसंपर्क एवं संवाद (जैसे 'होवे इंडिया' अभियान) और सांस्कृतिक कूटनीति (योग, आयुर्वेद) के माध्यम से भारत ने अपनी सॉफ्ट पावर को रणनीतिक रूप से प्रक्षेपित किया है। साथ ही, सैन्य सहयोग और रक्षा निर्यात बढ़ाकर कठिन कूटनीति (हार्ड पावर) का भी प्रदर्शन किया है।

निष्कर्षतः, भारत अब एक ऐसा राजनीतिक और कूटनीतिक ध्रुव है जो अंतरराष्ट्रीय मामलों की दिशा तय करने, नियम बनाने और एक बहुध्रुवीय विश्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। उसकी नीति स्पष्ट है: स्वतंत्र, आत्मनिर्भर, लेकिन पूरी तरह से जुड़ा हुआ और जिम्मेदार वैश्विक नेता बनना।

(क) बहुध्रुवीय विश्व में भारत

वर्तमान बदलते और जटिल भू-राजनीतिक परिदृश्य में, भारत ने अपनी कूटनीति के केंद्र में "रणनीतिक स्वायत्तता" के सिद्धांत को रखा है। यह दृष्टिकोण शीत युद्धकालीन गुटनिरपेक्षता से आगे बढ़कर एक गतिशील, व्यावहारिक और निर्णायक विदेश नीति है। इसका सार यह है कि भारत न तो किसी एक शक्ति गुट का अंधानुकरण करता है और न ही स्वयं को अलग-थलग करता है। बल्कि, वह अपने राष्ट्रीय हितों

की रक्षा एवं संवर्धन के लिए सभी प्रमुख शक्तियों के साथ लचीले और संतुलित संबंध विकसित करता है।

इस नीति के व्यावहारिक स्वरूप में देखें तो भारत:

- अमेरिका के साथ QUAD और रक्षा सहयोग जैसे रणनीतिक गठजोड़ को मजबूत करता है।
- ऐतिहासिक संबंधों को ध्यान में रखते हुए रूस के साथ रक्षा और ऊर्जा सहयोग बनाए रखता है।
- यूरोपीय संघ, विशेषकर फ्रांस और जर्मनी के साथ, प्रौद्योगिकी, जलवायु और समुद्री सुरक्षा में साझेदारी करता है।
- एशिया में जापान, ऑस्ट्रेलिया और आसियान देशों के साथ "एक्ट ईस्ट" पॉलिसी के माध्यम से आर्थिक और सुरक्षा संबंधों को गहरा करता है।

यह संतुलन बनाने की क्षमता ही भारत को बहुध्रुवीय विश्व का एक स्वतंत्र और आवश्यक ध्रुव बनाती है। इससे भारत को दोहरा लाभ मिलता है: एक ओर, वह विभिन्न देशों से आवश्यक प्रौद्योगिकी, निवेश और सुरक्षा सहयोग प्राप्त करता है; दूसरी ओर, वह अंतरराष्ट्रीय मंचों पर अपनी स्वतंत्र राय रखते हुए वैश्विक शांति, स्थिरता और एक न्यायसंगत अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा पाता है।

(ग) अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भूमिका

- अपनी बढ़ती आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के अनुरूप, भारत ने अंतरराष्ट्रीय मंचों पर एक सक्रिय, पहलकदम और नेतृत्वकारी भूमिका निभानी शुरू कर दी है। यह भूमिका केवल प्रतिभागी की नहीं, बल्कि एजेंडा-सेटर और ब्रिज-बिल्डर की है।
- सबसे पहले, भारत G20, BRICS, SCO (शंघाई सहयोग संगठन), QUAD और आसियान जैसे बहुपक्षीय और क्षेत्रीय मंचों पर एक अपरिहार्य साझेदार के रूप में उभरा है। विशेष रूप से, 2023 में G20 की अपनी अध्यक्षता में भारत ने अभूतपूर्ण कूटनीतिक कौशल दिखाया। 'वसुधैव कुटुम्बकम' (एक पृथ्वी, एक परिवार, एक भविष्य) की थीम के साथ, भारत ने वैश्विक दक्षिण की चिंताओं—जैसे ऋण संकट, ऊर्जा और खाद्य सुरक्षा, तथा जलवायु वित्त—को वैश्विक एजेंडे के केंद्र में ला दिया और सर्वसम्मति से नई दिल्ली घोषणा करवाने में सफलता पाई।
- दूसरा, भारत संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद (UNSC) में स्थायी सदस्यता सहित इसके व्यापक सुधारों की प्रबल पैरवी करता रहा है। भारत का तर्क है कि 1945 की विश्व व्यवस्था 21वीं सदी

की भू-राजनीतिक वास्तविकताओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती और इसे अधिक समावेशी, लोकतांत्रिक और प्रतिनिधित्वकारी बनाया जाना चाहिए।

- तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण, भारत स्वयं को 'वैश्विक दक्षिण (Global South)' की एक प्रमुख आवाज और समन्वयक के रूप में स्थापित कर रहा है। भारत की विदेश नीति विकासशील देशों के हितों, चुनौतियों और आकांक्षाओं को प्राथमिकता देती है। वैक्सीन कूटनीति (Vaccine Maitri), सौर ऊर्जा गठबंधन (ISA) की पहल, और आपदा प्रतिरोधी अवसंरचना के लिए गठबंधन (CDRI) जैसे कदमों के माध्यम से भारत ने वैश्विक दक्षिण में विश्वास और नेतृत्व अर्जित किया है।
- इस प्रकार, अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भारत की भूमिका उसे एक विश्वसनीय मध्यस्थ, विकास का सहयोगी और एक ऐसा नैतिक दबाव समूह बनाती है, जो एक अधिक न्यायसंगत और बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध है।

सैन्य और रणनीतिक शक्ति के रूप में भारत

भारत की सैन्य और रणनीतिक क्षमता उसके वैश्विक उभार का एक मजबूत और अटल आधार है, जो न केवल उसकी संप्रभुता की रक्षा करती है बल्कि क्षेत्रीय स्थिरता और वैश्विक सुरक्षा में भी योगदान देती है।

सैन्य शक्ति का स्वरूप:

विश्व की तीसरी सबसे बड़ी स्थाई सेना और सैन्य बजट के मामले में शीर्ष पाँच देशों में शामिल भारत, एक सम्मानित सैन्य शक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसमें तीनों सेवाओं (थल, जल, वायु) का आधुनिकीकरण और रणनीतिक प्रतिरोध क्षमता शामिल है, जिसमें ट्राइड (तीनों आयामों में) परमाणु प्रतिशोध क्षमता एक केंद्रीय स्थान रखती है।

आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर:

'आत्मनिर्भर भारत' के दृष्टिकोण के तहत, स्वदेशी रक्षा उत्पादन को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला है। "मेक इन इंडिया - डिफेंस" पहल के तहत, LCA तेजस, INS विक्रांत विमानवाहक पोत, ब्रह्मोस मिसाइल और आकाश मिसाइल प्रणाली जैसे उन्नत हथियार प्रणालियों का निर्माण एवं निर्यात किया जा रहा है।

नए-युग के क्षेत्रों में दक्षता:

सैन्य क्षमता का विस्तार अब पारंपरिक डोमेन से आगे बढ़कर अंतरिक्ष और साइबर सुरक्षा तक हो गया है। डेडिकेटेड डिफेंस स्पेस एजेंसी की स्थापना और एंटी-सैटेलाइट (ASAT) मिसाइल परीक्षण ने

अंतरिक्ष में भारत की रणनीतिक उपस्थिति दर्ज की है। साथ ही, एक मजबूत राष्ट्रीय साइबर सुरक्षा रणनीति डिजिटल डोमेन में संप्रभुता की रक्षा करती है।

हिंद-प्रशांत में रणनीतिक एंकर:

हिंद-प्रशांत क्षेत्र में, भारत एक शांति, स्थिरता और स्वतंत्र नेविगेशन के लिए रणनीतिक एंकर के रूप में उभरा है। सागर (SAGAR - Security and Growth for All in the Region) दृष्टिकोण, नौसेना के अभ्यास (जैसे मालाबार) और समुद्री डोमेन जागरूकता को बढ़ावा देने वाली पहलों के माध्यम से भारत एक मुक्त, खुले और समावेशी हिंद-प्रशांत के विचार का प्रमुख पैरोकार है।

एक जिम्मेदार परमाणु शक्ति:

भारत की "नो फर्स्ट यूज" (पहले प्रयोग नहीं) परमाणु नीति और अंतरराष्ट्रीय शांति के लिए प्रतिबद्धता, उसे विश्व में एक जिम्मेदार और विश्वसनीय परमाणु शक्ति के रूप में स्थापित करती है। भारत की रक्षा कूटनीति शक्ति प्रक्षेपण के बजाय सुरक्षा सहयोग और क्षमता निर्माण पर केंद्रित है।

संक्षेप में, भारत की सैन्य शक्ति केवल आकार या हार्डवेयर तक सीमित नहीं है। यह एक विश्वसनीय, तकनीकी रूप से सक्षम और नैतिक रूप से प्रतिबद्ध शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है, जो अपनी संप्रभुता की रक्षा करते हुए एक नियम-आधारित, शांतिपूर्ण वैश्विक व्यवस्था को बढ़ावा देती है।

विज्ञान, तकनीक और अंतरिक्ष में भारत

भारत का वैज्ञानिक एवं तकनीकी परिदृश्य एक आत्मनिर्भर और नवोन्मेषी महाशक्ति के रूप में उसके वैश्विक उभार का एक चमकदार पहलू है। यह क्षेत्र न केवल उपलब्धियों से भरा है, बल्कि सामर्थ्य, किफायती नवाचार (फ्रूगल इनोवेशन) और समावेशी प्रभाव के प्रतीक के रूप में वैश्विक मानचित्र पर छाया हुआ है।

अंतरिक्ष अन्वेषण में अग्रणी:

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (ISRO), दुनिया की सबसे प्रमुख और कुशल अंतरिक्ष एजेंसियों में से एक है। मंगलयान (MOM) को पहले प्रयास में ही मंगल की कक्षा में स्थापित करके एक विश्व रिकॉर्ड बनाया। चंद्रयान-3 ने चंद्रमा के दक्षिणी ध्रुव पर सफल सॉफ्ट-लैंडिंग कर भारत को एक अभूतपूर्व उपलब्धि दिलाई। नेविगेशन सिस्टम (NAVIC), रॉकेट और उपग्रह प्रौद्योगिकी तथा अंतरिक्ष वाणिज्य में भारत की बढ़ती भूमिका इस क्षेत्र में उसकी स्थिति को मजबूत करती है।

डिजिटल क्रांति एवं नवाचार का केंद्र:

डिजिटल इंडिया पहल के तहत, भारत ने यूनिफाइड पेमेंट्स इंटरफेस (UPI) जैसी क्रांतिकारी तकनीक दुनिया को दी है, जो डिजिटल भुगतान में एक वैश्विक मॉडल बन गई है। इसके साथ ही, आधार

(Aadhaar) और डिजीलॉकर (DigiLocker) जैसी प्रौद्योगिकियों ने शासन और सेवा वितरण को बदल दिया है। भारत का स्टार्ट-अप इकोसिस्टम दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा इकोसिस्टम है, जहाँ हज़ारों स्टार्ट-अप विशेष रूप से फिनटेक, एडटेक, हेल्थटेक और एग्रीटेक में नवाचार कर रहे हैं।

किफायती नवाचार (Frugal Innovation) का वैश्विक केन्द्र:

भारत की सबसे बड़ी ताकत "जुगाड़" से परे उन्नत "किफायती नवाचार" में है, जो कम लागत में उच्च प्रभाव वाले तकनीकी समाधान प्रदान करता है। सस्ते अंतरिक्ष मिशन, टाटा नैनो कार, स्वदेशी ड्रोन, मंगल अभियान की कम लागत और सस्ती चिकित्सा उपकरण एवं दवाइयाँ इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। यह क्षमता भारत को न केवल विकसित देशों के लिए, बल्कि वैश्विक दक्षिण के लिए एक तकनीकी समाधान प्रदाता बनाती है।

संक्षेप में, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत की भूमिका एक उपभोक्ता से परिवर्तित होकर एक मुख्य नवप्रवर्तक (इनोवेटर) और वैश्विक योगदानकर्ता की हो गई है। यह उभार उसके मानव पूंजी, तकनीकी दक्षता और समस्याओं के सस्ते व प्रभावी समाधान खोजने की क्षमता पर आधारित है, जो उसे 21वीं सदी की ज्ञान-आधारित अर्थव्यवस्था के शिखर पर ले जा रहा है।

सांस्कृतिक और सॉफ्ट पावर के रूप में भारत

भारत की सॉफ्ट पावर – उसकी संस्कृति, मूल्यों, विचारों और जीवन पद्धति का आकर्षण – उसके वैश्विक उभार का एक कोमल परंतु अत्यंत प्रभावशाली आयाम है। यह शक्ति सीमाओं को पार करके वैश्विक जनमानस को प्रभावित करती है और भारत को एक सहज, सकारात्मक एवं आकर्षक पहचान देती है।

आध्यात्मिक एवं कल्याणकारी विरासत का वैश्वीकरण:

योग अब केवल भारत की प्राचीन विद्या नहीं, बल्कि एक वैश्विक स्वास्थ्य और सद्भाव प्रतीक बन गया है। 21 जून को अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस के रूप में मान्यता इसकी सार्वभौमिक अपील का प्रमाण है। इसी प्रकार, आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा पद्धतियाँ पूरी दुनिया में समग्र स्वास्थ्य के एक वैकल्पिक और विश्वसनीय मॉडल के रूप में लोकप्रिय हो रही हैं।

मनोरंजन और कला का सार्वभौमिक अपील:

भारतीय सिनेमा (बॉलीवुड सहित क्षेत्रीय सिनेमा) और संगीत वैश्विक मनोरंजन की एक महत्वपूर्ण धारा हैं। इनकी कहानियाँ, नृत्य और संगीत दुनिया भर में दर्शकों और श्रोताओं के दिलों को छूते हैं, सांस्कृतिक पुल का निर्माण करते हैं और भारत के रचनात्मक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। भारतीय साहित्य, नृत्य (जैसे भरतनाट्यम) और कला की दुनिया भर में सराहना की जाती है।

विश्वसनीय राजदूत: प्रवासी भारतीय समुदाय:

लगभग 3.2 करोड़ की शक्तिशाली प्रवासी भारतीय आबादी भारत की सबसे बड़ी सॉफ्ट पावर संपत्ति है। यह समुदाय दुनिया भर में अपनी शैक्षणिक, तकनीकी और उद्यमशीलता की सफलता के माध्यम से भारत की छवि को उज्ज्वल करता है। ये लोग आर्थिक निवेश, तकनीकी हस्तांतरण और राजनीतिक समर्थन के माध्यम से भारत की वैश्विक उपस्थिति को मजबूत करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

संपूर्ण प्रभाव:

यह सॉफ्ट पावर भारत की एक शांतिप्रिय, ज्ञान-आधारित और मानवतावादी सभ्यता की छवि को मजबूत करती है। यह उसकी विदेश नीति को नरम बनाती है, पर्यटन और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बढ़ावा देती है और वैश्विक मंचों पर भारत के लिए एक विश्वसनीय और भरोसेमंद भागीदार की प्रतिष्ठा स्थापित करती है। संक्षेप में, भारत की सांस्कृतिक शक्ति उसके कठिन शक्ति संसाधनों को एक मानवीय चेहरा और गहराई प्रदान करती है, जिससे उसका वैश्विक उभार और भी समृद्ध व टिकाऊ बनता है।

वैश्विक चुनौतियाँ और भारत

एक उभरती वैश्विक शक्ति के रूप में भारत का मार्ग कई गंभीर आंतरिक और बाह्य चुनौतियों से प्रशस्त है। इन चुनौतियों का प्रबंधन एवं समाधान ही उसके दीर्घकालिक विकास, स्थिरता और वास्तविक नेतृत्व की कसौटी होगा।

आर्थिक-सामाजिक चुनौतियाँ:

- गरीबी और असमानता: भारत के सामने अभी भी बड़े पैमाने पर गरीबी, आय और क्षेत्रीय असमानता की चुनौती है। सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) को प्राप्त करने और एक समावेशी अर्थव्यवस्था का निर्माण करने के लिए इन मुद्दों पर सीधा प्रहास आवश्यक है।
- पर्यावरणीय संकट: भारत जलवायु परिवर्तन के प्रति विश्व के सबसे संवेदनशील देशों में से एक है। बढ़ते तापमान, अनिश्चित मानसून, वायु प्रदूषण और जल संकट जैसी चुनौतियाँ आर्थिक विकास और सार्वजनिक स्वास्थ्य को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं।
- ऊर्जा सुरक्षा: तीव्र आर्थिक विकास के लिए ऊर्जा की विशाल और बढ़ती माँग को पूरा करते हुए, जीवाश्म ईंधन पर निर्भरता कम करना और नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों में संक्रमण एक बड़ी रणनीतिक चुनौती है।
- राजनीतिक और सुरक्षा संबंधी चुनौतियाँ:

- क्षेत्रीय संघर्ष और सीमा विवाद: पाकिस्तान और चीन के साथ जारी सीमा विवाद और क्षेत्रीय तनाव सुरक्षा संसाधनों पर दबाव डालते हैं और कूटनीतिक ऊर्जा खर्च कराते हैं। एक अस्थिर पड़ोस भारत की विकास प्रक्रिया के लिए जोखिम उत्पन्न करता है।
- आंतरिक सुरक्षा: आतंकवाद, साइबर हमले और सामाजिक अशांति जैसी आंतरिक सुरक्षा चुनौतियाँ देश की एकता और प्रगति के लिए खतरा बनी हुई हैं।

अवसर एवं मार्ग:

इन चुनौतियों का समाधान भारत के लिए केवल एक आवश्यकता ही नहीं, बल्कि वैश्विक नेतृत्व प्रदर्शित करने का एक अवसर भी है। 'सबका साथ, सबका विकास, सबका विश्वास' के मंत्र को आधार बनाकर, भारत इन चुनौतियों से निपटने के लिए नवीन राष्ट्रीय नीतियाँ (जैसे- स्वच्छ भारत, उज्ज्वला योजना, PLI योजना) बना रहा है। साथ ही, वैश्विक स्तर पर जलवायु न्याय, साझा सुरक्षा और बहुपक्षवाद की वकालत करके भारत यह दर्शाता है कि उसका नेतृत्व सिर्फ शक्ति प्रदर्शन नहीं, बल्कि सामूहिक समस्याओं का सामूहिक समाधान ढूँढने की प्रतिबद्धता है। इन चुनौतियों पर सफलतापूर्वक काबू पाना ही भारत को एक वास्तविक और जिम्मेदार वैश्विक नेता के रूप में स्थापित करेगा।

आलोचनात्मक दृष्टिकोण

भारत के उभार का मूल्यांकन एक संतुलित दृष्टिकोण से करने पर कुछ महत्वपूर्ण चुनौतियाँ और आलोचनाएँ सामने आती हैं। इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इन्हें समझना और इनका समाधान खोजना ही टिकाऊ सफलता की कुंजी है।

मुख्य आलोचनाएँ:

1. जनसांख्यिकीय चुनौती: एक प्रमुख आलोचना यह है कि भारत की विशाल और बढ़ती जनसंख्या विकास के लिए एक दोहरी चुनौती बन सकती है। यदि पर्याप्त रोजगार सृजन नहीं हो पाया, तो युवा जनसंख्या "जनसांख्यिकीय लाभांश" के बजाय "जनसांख्यिकीय बोझ" बन सकती है, जिससे बेरोजगारी, सामाजिक अशांति और संसाधनों पर दबाव बढ़ेगा।
2. बुनियादी ढाँचे की कमी: देश के अनेक हिस्सों में अपर्याप्त और अविकसित बुनियादी ढाँचा (परिवहन, ऊर्जा, जलापूर्ति, स्वास्थ्य) आर्थिक विकास की गति को सीमित करता है और जीवन स्तर को प्रभावित करता है।
3. शैक्षिक गुणवत्ता का संकट: शिक्षा के सार्वभौमीकरण के बावजूद शिक्षा की गुणवत्ता और कौशल विकास में गंभीर कमियाँ बनी हुई हैं। इससे एक "शिक्षित बेरोजगार" वर्ग पैदा हो रहा है, जो उद्योगों की वास्तविक जरूरतों से मेल नहीं खाता।

4. संस्थागत सुधार की आवश्यकता: नौकरशाही में देरी, न्यायिक प्रक्रिया की धीमी गति और समय-समय पर सामने आने वाला शासन में दक्षता का अभाव विकास प्रक्रिया में बाधक है।

प्रत्युत्तर और अवसर:

यह दृष्टिकोण केवल एक पक्ष देखता है। दूसरा पक्ष यह है कि ये चुनौतियाँ संभावित अवसरों के द्वार भी हैं।

- जनसंख्या से शक्ति: विशाल युवा जनसंख्या एक अतुलनीय श्रम शक्ति, नवाचार का स्रोत और विश्व की सबसे बड़ी उपभोक्ता बाजार है। सही नीतियों (जैसे स्किल इंडिया) से इसे एक विश्व-विजयी कार्यबल में बदला जा सकता है।
- बुनियादी ढाँचे से विकास: बुनियादी ढाँचे के अंतराल का मतलब है निवेश और विकास का विशाल अवसर। सार्वजनिक और निजी निवेश से इसे रोजगार सृजन और आर्थिक विकास के इंजन में तब्दील किया जा सकता है।
- शिक्षा सुधार से ज्ञान अर्थव्यवस्था: शिक्षा में सुधार और डिजिटल पहुँच (जैसे डिजिटल इंडिया, एनईपी 2020) के जरिए भारत को एक वैश्विक ज्ञान हब बनाया जा सकता है।
- सुधारों की गति: जीएसटी, इंसॉल्वेंसी कोड, डिजिटलीकरण जैसे सुधार दर्शाते हैं कि संस्थागत बदलाव संभव है और निरंतर जारी है।

भारत की यात्रा चुनौतियों और अवसरों के बीच एक गतिशील संतुलन है। आलोचनाएँ उन जोखिमों की ओर इशारा करती हैं जिन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। हालाँकि, भारत का इतिहास और हाल की उपलब्धियाँ दर्शाती हैं कि यह देश संकट को अवसर में बदलने की क्षमता रखता है। भारत का सफल उभार इस बात पर निर्भर करेगा कि वह इन आंतरिक चुनौतियों का कितनी प्रभावी ढंग से समाधान कर पाता है और अपनी जनसांख्यिकीय ताकत को सही निवेश और नीतियों के माध्यम से पूंजी में कितना बदल पाता है। यही उसकी वैश्विक भूमिका को निर्णायक आकार देगा।

भविष्य की संभावनाएँ

आने वाले दशकों में भारत की वैश्विक भूमिका और प्रभाव में और भी उल्लेखनीय विस्तार होने की पूरी संभावना है, बशर्ते वह अपने आंतरिक विकास और बाह्य रणनीति के बीच सही संतुलन बनाए रख सके।

प्रमुख संभावनाएँ:

1. एक आर्थिक महाशक्ति का उदय: भारत के पास विश्व की सबसे बड़ी और सबसे युवा कार्यशील आबादी तथा एक विशाल उपभोक्ता बाजार है। यदि जनसांख्यिकीय लाभांश का सही उपयोग किया गया और निवेश को बढ़ावा दिया गया, तो भारत न केवल विकास दर में

अग्रणी बना रहेगा, बल्कि दुनिया की तृतीय-सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था भी बन सकता है, जो वैश्विक व्यापार और निवेश के प्रवाह को आकार देगी।

2. वैश्विक शासन में निर्णायक भूमिका: भारत अंतरराष्ट्रीय संगठनों और मंचों (जैसे संयुक्त राष्ट्र सुरधा परिषद, विश्व व्यापार संगठन, जलवायु सम्मेलन) में केवल एक प्रतिभागी नहीं, बल्कि एक एजेंडा-सेटर और नियम-निर्माता के रूप में उभरेगा। बहुपक्षवाद के प्रति प्रतिबद्धता और वैश्विक दक्षिण के स्वाभाविक नेता के रूप में उसकी स्थिति उसे अंतरराष्ट्रीय नीतियों को प्रभावित करने की क्षमता प्रदान करेगी।
3. सतत विकास और लोकतांत्रिक मूल्यों का अगुआ: विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के रूप में, भारत की सफलता बहुलवाद, धर्मनिरपेक्षता और समावेशी विकास के लिए एक शक्तिशाली उदाहरण प्रस्तुत करेगी। जलवायु परिवर्तन, डिजिटल न्याय और स्वास्थ्य सुरक्षा जैसे वैश्विक मुद्दों पर भारत का तकनीकी नवाचार और साझा समाधानों पर जोर उसे एक जिम्मेदार और भविष्योन्मुखी नेता की छवि प्रदान करेगा।

सफलता की शर्तें:

यह उज्ज्वल भविष्य कई शर्तों पर निर्भर करता है:

- आंतरिक मजबूती: गरीबी, असमानता, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी आंतरिक चुनौतियों पर सफलता।
- स्थिरता और शांति: सामाजिक सद्भाव बनाए रखना और पड़ोसी क्षेत्रों में स्थिरता सुनिश्चित करना।
- रणनीतिक संतुलन: रणनीतिक स्वायत्तता की नीति को जारी रखते हुए सभी प्रमुख शक्तियों के साथ संतुलित संबंध विकसित करना।

यदि भारत इन शर्तों को पूरा करने में सफल रहता है, तो वह न केवल एक वैश्विक आर्थिक और राजनीतिक शक्ति बनेगा, बल्कि 21वीं सदी की विश्व व्यवस्था के निर्माण में एक अग्रणी स्थान हासिल करेगा। उसकी सफलता सिर्फ उसके अपने लिए ही नहीं, बल्कि एक न्यायसंगत, समावेशी और बहुपक्षीय विश्व के लिए भी एक आशा की किरण होगी। इस प्रकार, भारत का उदय केवल एक राष्ट्र की कहानी नहीं, बल्कि एक नए वैश्विक युग के आरंभ का प्रतीक हो सकता है।

निष्कर्ष

वैश्विक परिस्थितियों में उभरता हुआ भारत एक बहुआयामी और अभूतपूर्व घटना है। यह उभार केवल एक आर्थिक शक्ति के रूप में जीडीपी की वृद्धि या एक सैन्य शक्ति के रूप में रक्षा क्षमताओं तक सीमित

नहीं है। भारत एक सभ्यतागत पुनर्जागरण, लोकतांत्रिक लचीलापन और नैतिक दृष्टिकोण का सम्मिलित प्रतिनिधित्व करता है।

भारत का मार्ग इस बात का प्रमाण है कि विकास का कोई एकीकृत मॉडल नहीं है। अपनी प्राचीन मूल्यपरक नींव को बनाए रखते हुए, भारत ने आधुनिकता, लोकतंत्र और वैज्ञानिक प्रगति को सफलतापूर्वक आत्मसात किया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' के सिद्धांत से प्रेरित होकर, भारत ने स्वयं को वैश्विक शांति, स्थिरता और सतत विकास का हिमायती सिद्ध किया है।

इस प्रकार, भारत का उदय विश्व व्यवस्था को अधिक संतुलित, समावेशी, न्यायसंगत और वास्तविक रूप से बहुध्रुवीय बनाने में एक सकारात्मक योगदान है। यह एक ऐसे विश्व का संकेत है जहाँ विविधताएँ सह-अस्तित्व में रह सकती हैं, विकास का लाभ साझा किया जा सकता है और शक्ति का उपयोग एक जिम्मेदार वैश्विक नागरिक के रूप में किया जा सकता है। अतः यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि भारत का वैश्विक उदय न केवल 1.4 अरब भारतीयों के लिए, बल्कि समस्त मानवता के लिए एक आशावादी और सकारात्मक संकेत है।

संदर्भ (References)

1. *भारतीय संविधान*
2. *रामचंद्र गुहा – India After Gandhi*
3. *शशि थरूर – The Indian Idea*
4. *विश्व बैंक एवं IMF रिपोर्ट्स*
5. *विदेश नीति संबंधी भारत सरकार के दस्तावेज*
6. *NITI Aayog – विभिन्न नीति दस्तावेज व रिपोर्ट्स*
7. *Ministry of External Affairs, Government of India – Annual Reports & Policy Statements*
8. *United Nations Development Programme (UNDP) – Human Development Reports*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भारतीय संविधान में मानव अधिकारों का विकास : विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. श्वेता श्रीवास्तव
सहायक व्याख्याता जे. के. एस. कॉलेज
कोल्हान विश्वविद्यालय, झारखण्ड

विषय प्रवेश:

मानव अधिकार वे मूल अधिकार है जो विश्व के प्त्रत्येक मनुष्य को केवल मानव होने के नाते प्राप्त होते है। मनुष्य के जन्म के साथ ही अधिकार उन्हें प्राप्त हो जाते हैं चाहे वह कोई भी राष्ट्रीयता, नस्ल, धर्म,लिंग के हो उन्हें यह अधिकार बिना किसी भेदभाव के प्राप्त होंगे. मानव अधिकार की विस्तृत अवधारणा की बात करें तो यह मानव गरिमा से संबंधित है जिसमें जीवन जीने स्वतंत्रता पराधीनता से मुक्ति अभिव्यक्ति शिक्षा एवं सामान्य जैसे कई अधिकार शामिल है। मोटे तौर पर मानव अधिकार को परिभाषित करें तो यह अधिकारों की एक असीमित धारणा है जो नैतिकता के सिद्धांत की भी बात करती है।

मानव अधिकारों का विकास भारतीय प्राचीन काल से ही दृष्टिगत होता है और यह सतत चलने वाली प्रक्रिया है जो वर्तमान एवं भविष्य को भी प्रभावित करेगी। व्यावहारिक रूप से देखे तो ब्रिटिश काल तक मानव अधिकार ने अपना आधुनिक रूप नहीं अपनाया था। ब्रिटिश ने भारत में अपने नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए अनेक नियम व कानून बनाएं,जिसमें भारतीय दंड संहिता 1860 एवं भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता 1898 सम्मिलित थे,पर इन्हें पूर्ण रूप से मानव अधिकार का नाम नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह अधिकार भेदभावपूर्ण थे एवं भारतीयों पर समान रूप से लागू नहीं किया जा रहे थे। 1

भारतीय संविधान में मानव अधिकार का स्थान सर्वोपरि है भारत एक उदारवादी लोकतांत्रिक देश है जिससे यह स्पष्ट होता है कि इसमें मानव की स्वतंत्रता, गरिमा, न्याय जैसे तत्वों को यथोचित स्थान दिया गया है।

ऐतिहासिक विकास :

मानव अधिकार सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक है क्योंकि यह उनकी गरिमा तथा स्वतंत्रता से संबंधित हैं। वह सभी अधिकार मानव अधिकार के अंतर्गत आते हैं जो मानवीय गरिमा को बनाए रखने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं और इन अधिकारों का उपयोग करने और उनकी रक्षा करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य का हो। .इसी संदर्भ में डीडी बसु ने मानव अधिकार को 'न्यूनतम अधिकारों के रूप में व्याख्या करते हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी अन्य विचारण के मानव परिवार का सदस्य होने के फल स्वरुप राज्य या अन्य लोक प्राधिकारी के विरुद्ध धारण करना चाहिए'। 2

आर. जे. विंसेंट ने भी यह कहा कि 'मानव अधिकार ऐसे अधिकार हैं जो हर मानव को प्राप्त है तथा हर किसी को मानवता के नाते समान मात्रा में मिले है।'3

अर्थात उपरोक्त विद्वानों ने कथानुसार यह कहा जा सकता है कि मानव अधिकारों की संख्या और सीमित है इसमें समानता, स्वतंत्रता, भाईचारे के तत्व शामिल है क्योंकि ऐसे बहुमूल्य शक्तियों के बिना अच्छा जीवन व्यतीत करना असंभव है। मानव अधिकारों का मानव कर्तव्य से भी अभिन्न संबंध है और कर्तव्यों के पालन से ही अधिकार सुरक्षित और संबंधित रह सकते हैं।

मानव अधिकार के ऐतिहासिक विकास की बात करें तो यह प्राकृतिक अधिकार के रूप में 1215 के मैग्नाकारटा, 1679 का बंदी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम, 1689 का अधिकार पत्र, 1776 का अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा,1789 में फ्रांस में मानव अधिकारों की घोषणा तथा 17वीं शताब्दी में इंग्लैंड के हॉब्स एवं लॉक द्वारा इसकी व्याख्या और भारत में महात्मा गांधी द्वारा रंगभेद की नीति के विरुद्ध, अटलांटिक चार्टर उद्घोषणा, 1942 की संयुक्त राष्ट्र घोषणा, वाशिंगटन सम्मेलन 1944, मास्को सम्मेलन 1943 एवं अनेकों संगठनों द्वारा मानव अधिकार संबंधी प्रयासों ने 1948 ई में मानव अधिकारों की विश्व व्यापी घोषणा के पथ प्रदर्शक का काम किया और 1945 में यूएनओ की स्थापना के बाद इसके दिशा और दिशा में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। अतः यह शब्द 20वीं शताब्दी में प्रयोगात्मक के रूप में सामने आया। 4

भारत में मानवाधिकार के विकास की बात करें तो इसकी उत्पत्ति प्राचीन काल से ही हो गयी थी.इसे बौद्ध, जैन सिद्धांतों हिंदू धर्म ग्रंथ जैसे वेद गीता अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र जैसे धार्मिक ग्रंथो में भी मानव अधिकारों के प्रमाण दृष्टिगत होते हैं।

ब्रिटिश काल में मानव अधिकारों का उल्लंघन किया गया लेकिन स्वतंत्रता के बाद अर्थात 1947 के पश्चात जब भारत अपने संविधान का निर्माण कर रहा था, उसी समय विश्व स्तर पर 10 दिसंबर 1948 को संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा की गई और हमारे संविधान सभा ऐसे ही व्यवस्था

के लिए प्रयत्नरत थे, परिणाम स्वरुप भारतीय संविधान में अनेक अनुच्छेदों एवं भागों में मानव अधिकार के पुट दृष्टिगोचर होते हैं।

शोध का उद्देश्य

- भारत के संविधान में मानव अधिकारों से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों का अध्ययन करना.
- मानव अधिकारों की चुनौतियों का व्यावहारिक स्तर पर अध्ययन करना.
- मानव अधिकार के संरक्षण के लिए समाधान और नीतिगत सुधारो का सुझाव देना.

शोध समस्या

भारतीय संविधान के तहत नागरिकों को व्यापक अधिकार दिए गए हैं, फिर भी वर्तमान में लैंगिक हिंसा, असमानता सामाजिक भेदभाव जैसी समस्याएं व्याप्त हैं। ऐसी स्थिति में यह शोध समस्या सामने आती है कि क्या भारतीय संविधान में मानव अधिकार व्यावहारिक रूप से प्रभावित है तथा संविधान ने किस प्रकार मानव अधिकार को संरक्षित किया है।

शोध पद्धति

यह शोध आलेख विश्लेषणात्मक और वर्णनात्मक है. इसमें द्वितीय स्रोतों जैसे संविधान, सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के निर्णय, मानव अधिकार आयोग के प्रतिवेदन, पुस्तक के साथ ही शोध पत्रों का सहयोग लिया गया है।

भारतीय संविधान में मानव अधिकारों

भारतीय संविधान में मानव अधिकारों को व्यापक रूप से संरक्षित किया गया है। यह अधिकार नागरिकों को गरिमामय जीवन, समानता, न्याय और स्वतंत्रता देते हैं. संविधान के कई भागों में मानव अधिकारों का उल्लेख किया गया है।

संविधान की प्रस्तावना की बात करें तो इसमें मूलाधिकारों की मूल भावना प्रदर्शित होती हैं।

प्रस्तावना :

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में तीन प्रकार के न्याय की व्याख्या की गयी है सामाजिक न्याय,आर्थिक न्याय और राजनीतिक न्याय. सामाजिक न्याय के अंतर्गत नागरिकों को के साथ समान व्यवहार की बात करता है ,चाहे उनका रंग धर्म लिंग जाति कुछ भी हो। इसमें वंचितों के उत्थान की बात की गई है. जिसमें पिछड़ों वर्गों एवं महिलाओं की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन लाना है। शोषण मुक्त समाज का निर्माण तथा सभी नागरिकों के लिए विकास के उचित अवसर प्रदान करने हैं।

प्रस्तावना में आर्थिक न्याय को स्थान दिया गया है जो सभी नागरिकों के लिए समान आर्थिक आवश्यक और गरिमा में जीवन जीने पर बल देती है।

राजनीतिक न्याय के अंतर्गत लोगों को सामाजिक, राजनीतिक सहभागिता, मताधिकार तथा राजनीतिक पद प्राप्त करने का समान अवसर प्रदान करती है।

प्रस्तावना में नागरिकों के लिए पांच प्रकार की स्वतंत्रता अर्थात विचारों अभिव्यक्ति, विश्वास,धर्म और उपासना की स्वतंत्रता की बात की गई है। जो मानव के विकास एवं सहजता के लिए आवश्यक है।

साथ ही क्षमता के अंतर्गत अवसर और स्थिति की समानता का वर्णन है अर्थात सभी नागरिकों को योग्यता के आधार पर समान अवसर की प्राप्ति हो और किसी भी नागरिकों के साथ भेदभाव रहित अवसर और विशेषाअधिकारों का अभाव आदि प्राप्त हो।

व्यक्ति की गरिमा का उल्लेख भारतीय संविधान की प्रस्तावना में मानव अधिकार की रीढ़ है। यह सुनिश्चित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को मौलिक अधिकार की प्राप्ति के साथ सम्मानपूर्वक जीवन स्तर की स्थिति प्राप्त हो।

उपरोक्त विचारों की पुष्टि हमें डॉ लक्ष्मीमल सिंघवी के विचारों में दृष्टिगत होती है कि 'हमारे संविधान की आत्मा प्रस्तावना में मनुष्य की सभ्यता के आधुनिक विकास कर्म का हृदय स्पंदन है और उसकी अंतरात्मा न्याय और संता एवं अधिकार और बंधुत्व के आसव से अभिसिंचित है'। 5

भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार मानव अधिकार को संरक्षित करते हैं इसके अनेक अनुच्छेदों में मानव अधिकार दृष्टिगत होते हैं । इसी संदर्भ में जी. न. जोशी ने यह कहा है की स्वतंत्रता प्रजातंत्रात्मक देश में मौलिक अधिकार सामाजिक, धार्मिक और नागरिक जीवन के प्रभावदायक प्रयोग के एकमात्र साधन है इन अधिकारों के बिना प्रजातंत्रात्मक सिद्धांत लागू नहीं हो सकते। 6

भारतीय संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 14 से 35 तक मौलिक अधिकारों का उल्लेख है लेकिन इनमें से कुछ अनुच्छेद ऐसे हैं जो पूर्ण रूप से मानव अधिकारों से संबंधित है जैसे अनुच्छेद 14 से 18 जिसमें 14 के अंतर्गत सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समान है तथा उन्हें कानून के समान संरक्षण प्राप्त है अनुच्छेद 15 के अंतर्गत सामाजिक समानता अर्थात राज्य, धर्म,वंश, जाति लिंग मूल एवं जन्म स्थान के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा अनुच्छेद 16 सभी नागरिकों को राज्य की सीमा के तहत नौकरियां और पदों की समान आवश्यक प्राप्त होंगे7

अनुच्छेद 17 में सामाजिक समानता को अग्रसर करते हुए अस्पृश्यता का अंत किया गया। इसी संदर्भ में अस्पृश्यता के विष की समाप्ति के लिए 1955 ईस्वी में अस्पृश्यता अपराध अधिनियम पास किए गए.

अनुच्छेद 18 के अंतर्गत सामाजिक समानता स्थापित करने के लक्ष्य से राज्य सैनी एवं शिक्षा संबंधित उपाधियों के अलावा अन्य को उपाधि प्रदान नहीं करेंगे।8

अनुच्छेद 19 के अंतर्गत नागरिकों को अभिव्यक्ति, घूमने,संघ निर्माण और व्यवसाय करने की स्वतंत्रता देता है। अनुच्छेद 21 के द्वारा जीवन और दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है। जिसमें नागरिकों को कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अलावा जीवन जीने की स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता। 9

अनुच्छेद 21 ए के अंतर्गत 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों को निशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार है और अनुच्छेद 23 और 24 में भारतीय समाज एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के शोषण का अंत किया गया है जिसमें सदियों से चली आ रही सामाजिक कुरीतियों का अंत हुआ है जैसे दास प्रथा। 10

साथ ही अतिमहत्वपूर्ण अधिकार जिसका उल्लेख अनुच्छेद 32 में किया गया है जो नागरिकों को यह अधिकार देता है कि वह सीधे मौलिक अधिकार को लागू करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय में जा सकते हैं. डॉ अंबेडकर ने भी इसे संविधान की हृदय और आत्मा की संज्ञा दी। 11

भारतीय संविधान के भाग 4 में राज्य के नीति निर्देशक तत्व के अंतर्गत भी अनेक अनुच्छेद मानव अधिकार की ओर संकेत करते हैं जो राज्य के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत है जो सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों की पूर्ति का आधार है जो भारत को लोक कल्याणकारी राज्य निर्माण में सहायता करते हैं।

अनुच्छेद 39 (क) एवं (घ) महिला एवं पुरुषों के लिए रोजगार के अवसर एवं पर्याप्त साधन सामान्य कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करता है। अनुच्छेद 41 में काम करने शिक्षा का अधिकार तथा बेरोजगारी वृद्ध व्यवस्था में बीमारी में सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार है। अनुच्छेद 42 के अंतर्गत कार्य की न्याय संगत तथा मानवीय परिस्थितियों एवं मातृत्व अवकाश का प्रावधान है अनुच्छेद 43 ने सभी श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवसरों को सुरक्षित करना है।

अनुच्छेद 47 के अंतर्गत नागरिकों के पोषण स्तर और जीवन स्तर को ऊंचा करने एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार करने का प्रयास करना है अनुच्छेद 51 के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बढ़ावा देना है राष्ट्रों के बीच न्याय पूर्ण और गरिमा में संबंध निर्माण करना अंतरराष्ट्रीय समझौते एवं कानून के प्रति सम्मान करना। 12

यह मानव अधिकारों से इसलिए संबंधित है क्योंकि यह सभी व्यक्तियों के गरिमा का संरक्षण करते हैं। राष्ट्रीय एकता व अखंडता की प्रगति में योगदान देते हैं और सार्वजनिक संपत्ति से पर्यावरण की रक्षा करते हैं जिससे विकसित समाज का निर्माण होता है।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भारतीय संविधान में उपरोक्त अनुच्छेद प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मानव अधिकार को संरक्षित एवं संबोधित करते हैं मानव अधिकार के संरक्षण से संबंधित अधिनियम भारतीय संविधान में वर्णित नहीं है बल्कि मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 एक ऐसी कानूनी व्यवस्था है जो मानव अधिकारों की रक्षा और उनसे जुड़े संबंधित मामलों के लिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग तथा राज्य मानव अधिकार आयोग तथा मानव अधिकार न्यायालयों की स्थापना करता है इसका लक्ष्य संविधान द्वारा गारंटी एवं अंतरराष्ट्रीय संबंधों संधियों में निहित अधिकार की कारों की सुरक्षा करता है।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने मानव अधिकार की रक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है जैसे केशवानंद भारती केस 1973,मेनका गांधी बनाम भारत संघ 1978, ओल्गा टेलीस केस 1985, विशाखा बनाम राजस्थान राज्य 1997,पीयूसीएल बनाम भारत संघ 1997 आदि।

भारत में मानव अधिकार की चुनौतियां

धार्मिक एवं जातीय भेदभाव :भारत में मानव अधिकार की सुरक्षा एक ज्वलंत मुद्दा धार्मिक एवं जातीय भेदभाव है.जाति व्यवस्था के कारण वर्तमान में भी सामाजिक बहिष्कार, छुआछूत, हिंसा, जबरन धर्मांतरण जैसे अन्य का सामना करना पड़ता है।

लैंगिक असमानता :भारतीय समाज की पृतसत्तात्मक संरचनाओं, रूढ़िवादी विचार ने लैंगिक असमानता की दिशा में नकरात्मकता लाई है जिसके कारण शिक्षा,स्वास्थ्य,राजनीतिक प्रतिनिधित्व,आर्थिक अवसर, निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में महिलाओं की निम्न सहभागिता है।

पर्यावरणीय असंतुलन: भारत में पर्यावरण की असंतुलता ने वायु,जल, भूमि प्रदूषण,जलवायु परिवर्तन जैसी समस्याएं शामिल हो गई हैं। जिससे मानव अधिकारों पर स्वास्थ्य और जीवन की गुणवत्ता,आजीविका की समस्या, प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन पर प्रभाव पड़ रहा है।

गरीबी और असमानता : भारत में निर्धनता तथा असमानता सबसे प्रमुख चुनौतियों में से एक है क्योंकि इससे नागरिकों के बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं हो पा रही है और जहां तक आर्थिक असमानता की बात है यह खाई दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है।

न्यायिक प्रक्रियाओं की जटिलता : भारत में न्यायिक प्रक्रियाओं की जटिलता के कारण भ्रष्टाचार,न्यायिक निर्णय में देरी,नियमों का प्रभावी ढंग से लागू न होना.जिससे लोगों को अनेक मौलिक अधिकारों से वंचित होना पड़ता हैं।

सुझाव

जागरूकता एवं शिक्षा: नागरिकों को अपने अधिकारों के प्रति शिक्षित करना और रूढ़िवादी विचारों को बदलना इसके लिए विद्यालय,महाविद्यालय में पाठ्यक्रमों में मानव अधिकार से संबंधित जानकारी देना,सेमिनार,नुक्कड़ नाटक, सोशल मीडिया के माध्यम से जागरूकता लाई जा सकती है।

सशक्तिकरण: वंचित वर्गों को अपने अधिकारों के लिए मजबूत कदम उठाने में गैर सरकारी संगठनों एवं सरकारी संगठनों द्वारा सहायता प्रदान करके उन्हें सशक्त बनाना है।

न्यायालय की प्रक्रिया में सरलीकरण :कानूनी सुधारो के साथ न्यायिक प्रक्रिया को सरल बनाना, साथ ही कानून को प्रभावित तरीके से लागू करना।

पर्यावरण संरक्षण नीतियों में सुधार : सरकार को पर्यावरण संरक्षण के लिए न्याय संगत नीतियों को निर्माण करना एवं सुधार किया जाना,वन अधिकार अधिनियम जैसे कानून को स्थानीय स्तर पर पर्यावरणीय क्षेत्र में निर्णय लेने के लिए सशक्त करना,प्राकृतिक संसाधनों के सशस्त्र प्रयोग तथा प्राकृतिक से संबंधी जनजीवन पर जोर देना. 12

- अंतर्राष्ट्रीय सहयोग मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के साथ कार्य करना।
- रोजगार शिक्षा खाद्य सुरक्षा जैसे कानून को व्यावहारिक रूप में लागू करना ताकि नागरिकों को बुनियादी अधिकार मिल सके।
- मानव अधिकार आयोग को ज्यादा से ज्यादा शक्तियां प्रदान की जाए तथा जनसंचार के माध्यमों से नागरिकों को जागरूक किया जाए।

निष्कर्ष: भारतीय संविधान में मानव अधिकारों को सुदृढ़ नींव प्रदान की है, साथ ही मानव अधिकार आयोग और न्यायपालिका की सक्रियता अधिक प्रभावशाली बनाया है फिर भी इसके विकास के मार्ग में अनेक चुनौतियां हैं जिनका समाधान सामाजिक जागरूकता न्यायिक सुधार एवं सक्रियता राजनीतिक इच्छा शक्ति से संभव है।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

सन्दर्भ सूची:

1. *www.studyiq.com/articles/evolution-of-human-right/*
2. *अग्रवाल, एच. ओ., अंतर्राष्ट्रीय विधि एवं मानवाधिकार, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन, इलाहाबाद, 2006,पृ 227*
3. *जौहरी, जे. सी., भारत का संविधान एवं मानव अधिकार, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन, आगरा, 2025,पृ 43*
4. *राय, गांधीजी, अंतर्राष्ट्रीय राजनीती, भारती भवन, पटना, 2014,पृ 306*
5. *जैन, पुखराज, फाडिया, बी. एल., भारतीय शासन राजनीती, साहित्य भवन, आगरा, 2014,पृ 48*
6. *तत्रैव पृ 58*
7. *अवस्थी, ए. पी., भारतीय राज व्यवस्था, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल,आगरा, 2011,पृ 280*
8. *जैन, पुखराज, फाडिया, बी. एल., भारतीय शासन राजनीती, साहित्य भवन, आगरा, 2014,पृ 59*
9. *अवस्थी, ए. पी., भारतीय राज व्यवस्था, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल,आगरा, 2011,पृ 285*
10. *जैन, पुखराज, फाडिया, बी. एल., भारतीय शासन राजनीती, साहित्य भवन, आगरा, 2014,पृ 65*
11. *उपाध्याय, जय जय राम, भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ एजेंसी, इलाहाबाद, 2009,पृ 26 तत्रैव*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

परिवार विधि के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी समझौते: विधिक जटिलताएँ, चुनौतियाँ एवं संरक्षणात्मक तंत्र

डॉ. शिल्पा मिश्रा
प्रिंसिपल
राजीव गांधी विधि महाविद्यालय, टोंक, राजस्थान

सार

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी आधुनिक परिवार विधि, मानवाधिकार, जैव-नैतिकता तथा अनुबंध विधि के संगम पर स्थित एक अत्यंत जटिल विधिक परिघटना है। चिकित्सा विज्ञान में सहायक प्रजनन तकनीकों (Assisted Reproductive Technologies) के विकास ने निःसंतान दंपत्तियों को संतान प्राप्ति का वैकल्पिक मार्ग प्रदान किया है, किंतु जब यह व्यवस्था सीमा-पार (Cross-Border) स्वरूप ग्रहण करती है, तब अनेक गंभीर विधिक, सामाजिक और नैतिक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। विभिन्न देशों की परिवार विधि, नागरिकता कानून, अनुबंध प्रवर्तन प्रणाली तथा मानवाधिकार मानकों में असमानता के कारण अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी समझौते विवादों से ग्रस्त रहते हैं। यह शोध–लेख परिवार विधि के परिप्रेक्ष्य में अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी समझौतों की विधिक प्रकृति, उनसे जुड़ी जटिलताओं, व्यावहारिक चुनौतियों तथा उपलब्ध संरक्षणात्मक तंत्रों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। लेख यह प्रतिपादित करता है कि वर्तमान में विद्यमान विधिक ढांचे अपर्याप्त हैं तथा एक समन्वित, मानवाधिकार–आधारित अंतरराष्ट्रीय नियामक व्यवस्था की नितांत आवश्यकता है, जो सरोगेट माताओं, बच्चों एवं इच्छुक अभिभावकों—तीनों के अधिकारों की समुचित सुरक्षा सुनिश्चित कर सके।

मुख्य शब्द : अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी, परिवार विधि, सीमा-पार समझौते, बाल अधिकार, मानवाधिकार, विधिक संरक्षण

प्रस्तावना

परिवार विधि किसी भी विधिक व्यवस्था की आधारशिला मानी जाती है, क्योंकि यह विवाह, मातृत्व, पितृत्व, वैधता, दत्तक ग्रहण तथा उत्तराधिकार जैसे मानवीय संबंधों को नियंत्रित करती है। परंपरागत रूप

से परिवार की संकल्पना जैविक माता–पिता एवं संतान पर आधारित रही है, किंतु आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति ने इस धारणा को व्यापक रूप से परिवर्तित कर दिया है। सहायक प्रजनन तकनीकों के आगमन ने मातृत्व और पितृत्व की जैविक एवं सामाजिक सीमाओं को पुनर्परिभाषित किया है।

सरोगेसी इसी परिवर्तनशील सामाजिक–विधिक संरचना का परिणाम है। जब यह व्यवस्था राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर जाती है, तब इसे अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी कहा जाता है। अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी के अंतर्गत इच्छुक अभिभावक ऐसे देश में सरोगेसी समझौता करते हैं, जहाँ वे नागरिक नहीं होते, प्रायः इसलिए कि उनके अपने देश में यह व्यवस्था या तो प्रतिबंधित होती है अथवा अत्यधिक महंगी होतीहै।

विकासशील देशों में अपेक्षाकृत सस्ते चिकित्सा संसाधन और कमजोर नियामक तंत्र के कारण अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी का तीव्र विस्तार हुआ है। विशेष रूप से India, Ukraine तथा Thailand जैसे देशों में यह प्रथा लंबे समय तक व्यापक रही। यद्यपि इस व्यवस्था ने अनेक निःसंतान दंपत्तियों को माता–पिता बनने का अवसर दिया, किंतु इसने महिलाओं के शोषण, बच्चों की नागरिकता, कानूनी अभिभावकत्व तथा मानव गरिमा से जुड़े गहन प्रश्न भी उत्पन्न किए।

सरोगेसी की अवधारणा एवं स्वरूप (Concept and Forms of Surrogacy)

1. सरोगेसी की अवधारणा

सरोगेसी का सामान्य अर्थ उस प्रजनन व्यवस्था से है, जिसमें एक महिला किसी अन्य व्यक्ति या दंपत्ति के लिए गर्भ धारण करती है और जन्म के पश्चात बच्चे को इच्छुक अभिभावकों को सौंप देती है। यह व्यवस्था जैविक, सामाजिक एवं विधिक मातृत्व के बीच भेद उत्पन्न करती है, जो परिवार विधि के लिए एक नई चुनौती है ।

2. सरोगेसी के प्रकार

सरोगेसी को सामान्यतः निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जाता है:

- **पारंपरिक सरोगेसी (Traditional Surrogacy)** –
  इसमें सरोगेट महिला का आनुवंशिक संबंध बच्चे से होता है।
- **जेस्टेशनल सरोगेसी (Gestational Surrogacy)** –
  इसमें सरोगेट महिला का बच्चे से कोई जैविक संबंध नहीं होता।
- **व्यावसायिक सरोगेसी (Commercial Surrogacy)** –
  जिसमें सरोगेट माँ को आर्थिक प्रतिफल प्रदान किया जाता है।
- **परोपकारी सरोगेसी (Altruistic Surrogacy)** –
  जिसमें केवल चिकित्सीय व्यय की पूर्ति की जाती है।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अधिकांश विधिक विवाद व्यावसायिक जेस्टेशनल सरोगेसी से संबंधित पाए जाते हैं।

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी और परिवार विधि (International Surrogacy and Family Law)

परिवार विधि का मूल उद्देश्य पारिवारिक संबंधों की वैधता, स्थिरता और संरक्षण सुनिश्चित करना है। अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी इस उद्देश्य को कई स्तरों पर चुनौती देती है।

1. मातृत्व और पितृत्व की अवधारणा

परंपरागत परिवार विधि में माँ वही मानी जाती थी जिसने बच्चे को जन्म दिया हो। किंतु सरोगेसी ने इस सिद्धांत को जटिल बना दिया है। अब तीन प्रकार की माताएँ संभव हैं—

- आनुवंशिक माँ
- गर्भ धारण करने वाली माँ
- सामाजिक/इरादतन माँ

यह बहुलता विभिन्न देशों में भिन्न विधिक मान्यता प्राप्त करती है, जिससे अंतरराष्ट्रीय विवाद उत्पन्न होते हैं।

2. अभिभावकत्व निर्धारण

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी में सबसे गंभीर समस्या यह होती है कि बच्चे के वैध माता–पिता कौन हैं। कुछ देश जैविक संबंध को प्राथमिकता देते हैं, जबकि अन्य देशों में जन्म या इरादे (Intention) को आधार माना जाता है। यह असमानता परिवार विधि में कानूनी अनिश्चितता को जन्म देती है।

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी समझौतों की विधिक प्रकृति (Legal Nature of Surrogacy Agreements)

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी समझौते मूलतः अनुबंध होते हैं, किंतु ये सामान्य वाणिज्यिक अनुबंधों से भिन्न होते हैं।

1. अनुबंध और सार्वजनिक नीति

कई देशों में सरोगेसी समझौतों को सार्वजनिक नीति के विरुद्ध मानते हुए अमान्य घोषित किया गया है। तर्क यह दिया जाता है कि मातृत्व को अनुबंध का विषय बनाना मानव गरिमा के विरुद्ध है।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

2. प्रवर्तनीयता की समस्या

यदि सरोगेट माँ बच्चे को सौंपने से इनकार कर दे या इच्छुक अभिभावक बच्चे को अपनाने से मना कर दें, तो अनुबंध का प्रवर्तन अत्यंत जटिल हो जाता है। ऐसे मामलों में न्यायालय प्रायः अनुबंध की शर्तों के बजाय बच्चे के सर्वोत्तम हित को प्राथमिकता देते हैं।

मानवाधिकार और नैतिक आयाम (Human Rights and Ethical Dimensions)

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी मानवाधिकार कानून से गहराई से जुड़ी हुई है। इसमें महिलाओं की शारीरिक स्वायत्तता, सूचित सहमति तथा स्वास्थ्य अधिकार का प्रश्न प्रमुख है।

साथ ही, बच्चे का पहचान, नागरिकता और परिवार का अधिकार भी अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार मानकों के अंतर्गत संरक्षित है। कई विद्वानों का मत है कि अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी यदि अनियमित रहे, तो यह मानव तस्करी का रूप भी ले सकती है।

भारत में अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी का विधिक परिदृश्य

1. प्रारंभिक स्थिति और न्यायिक हस्तक्षेप

भारत लंबे समय तक अंतरराष्ट्रीय व्यावसायिक सरोगेसी का प्रमुख केंद्र रहा है। अपेक्षाकृत कम लागत, उन्नत चिकित्सा सुविधाएँ तथा स्पष्ट विधिक प्रतिबंधों के अभाव ने विदेशी इच्छुक अभिभावकों को आकर्षित किया। प्रारंभिक वर्षों में भारत में सरोगेसी का नियमन मुख्यतः दिशा–निर्देशों और न्यायिक व्याख्याओं के माध्यम से किया गया।

भारतीय न्यायपालिका ने सरोगेसी से जुड़े विवादों में बार–बार यह स्पष्ट किया कि अनुबंधीय स्वतंत्रता के बावजूद बच्चे के सर्वोत्तम हित (Best Interest of the Child) को सर्वोपरि माना जाएगा।

2. संवैधानिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21, जिसमें जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार निहित है, न्यायालयों द्वारा गरिमा, प्रजनन स्वायत्तता और मातृत्व के अधिकार तक विस्तारित किया गया है। न्यायिक दृष्टिकोण यह रहा है कि सरोगेसी को केवल वाणिज्यिक गतिविधि के रूप में नहीं देखा जा सकता, क्योंकि यह मानव शरीर और भावनाओं से जुड़ी हुई है।

3. विधायी परिवर्तन

भारत में बढ़ते अंतरराष्ट्रीय विवादों, महिला शोषण और बच्चों की नागरिकता संबंधी समस्याओं को देखते हुए विधायिका ने सख्त रुख अपनाया। व्यावसायिक अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी को धीरे–धीरे प्रतिबंधित किया गया और केवल सीमित, परोपकारी सरोगेसी को ही वैध ठहराया गया।

इस परिवर्तन का उद्देश्य महिलाओं को बाज़ार की वस्तु बनने से रोकना और सरोगेसी प्रक्रिया को पारिवारिक एवं नैतिक दायरे में रखना था।

तुलनात्मक अंतरराष्ट्रीय विधिक दृष्टिकोण

1. संयुक्त राज्य अमेरिका

संयुक्त राज्य अमेरिका में सरोगेसी कानून राज्य–विशिष्ट हैं। कुछ राज्य व्यावसायिक सरोगेसी को वैध मानते हैं, जबकि अन्य इसे प्रतिबंधित करते हैं। यह विविधता अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी में कानूनी अनिश्चितता उत्पन्न करती है।

अमेरिकी न्यायालयों में "इरादतन अभिभावकत्व" (Intentional Parenthood) के सिद्धांत को बढ़ती मान्यता मिली है, जिसके अंतर्गत बच्चे को जन्म देने वाली महिला के बजाय इच्छुक अभिभावकों को कानूनी माता–पिता माना जाता है।

2. यूरोपीय दृष्टिकोण

अधिकांश यूरोपीय देशों में व्यावसायिक सरोगेसी को सार्वजनिक नीति के विरुद्ध मानते हुए प्रतिबंधित किया गया है। हालाँकि, व्यवहार में कई नागरिक विदेशों में सरोगेसी कराते हैं, जिससे सीमा–पार कानूनी विवाद उत्पन्न होते हैं।

यूरोपीय मानवाधिकार न्यायालय ने कई मामलों में यह स्पष्ट किया है कि बच्चों को उनके जन्म की परिस्थितियों के कारण दंडित नहीं किया जा सकता, भले ही सरोगेसी व्यवस्था घरेलू कानून के विरुद्ध क्यों न हो।

3. पूर्वी यूरोप और एशिया

पूर्वी यूरोप के कुछ देशों, जैसे Ukraine, ने अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी को अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण से नियंत्रित किया है। वहीं एशियाई देशों, जैसे Thailand, ने महिला शोषण की आशंकाओं के कारण विदेशी सरोगेसी पर कठोर प्रतिबंध लगाए हैं।

नागरिकता, पहचान और स्टेटलेसनेस की समस्या

1. नागरिकता का प्रश्न

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी में जन्मे बच्चे की नागरिकता एक प्रमुख विधिक समस्या है। कई मामलों में बच्चा न तो जन्म देने वाले देश की नागरिकता प्राप्त कर पाता है और न ही इच्छुक अभिभावकों के देश की, जिससे वह "स्टेटलेस" हो जाता है।

2. अंतरराष्ट्रीय मानक

संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार अभिसमय (UNCRC) के अनुसार प्रत्येक बच्चे को जन्म के समय नागरिकता और पहचान का अधिकार प्राप्त है। इसके बावजूद, अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी में यह अधिकार अक्सर व्यवहार में बाधित हो जाता है।

प्रमुख न्यायिक निर्णय और उनका प्रभाव

1. अंतरराष्ट्रीय स्तर पर न्यायिक रुख

अंतरराष्ट्रीय न्यायालयों और मानवाधिकार मंचों ने यह स्वीकार किया है कि सरोगेसी से उत्पन्न विवादों में कठोर विधिक तकनीकीताओं के बजाय मानवीय दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। न्यायालयों का झुकाव इस ओर रहा है कि बच्चे के अधिकारों की रक्षा की जाए, भले ही सरोगेसी समझौता घरेलू कानून के अनुरूप न हो।

2. भारतीय न्यायिक दृष्टिकोण

भारतीय न्यायालयों ने यह स्पष्ट किया है कि सरोगेसी अनुबंधों को यांत्रिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता। प्रत्येक मामले में सामाजिक, नैतिक और मानवीय तत्वों पर विचार आवश्यक है। न्यायिक हस्तक्षेप ने भारत में अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी को नियंत्रित करने में निर्णायक भूमिका निभाई है।

सामाजिक और नैतिक चुनौतियाँ

1. महिला शोषण का प्रश्न

गरीबी, अशिक्षा और आर्थिक असमानता के कारण सरोगेट माताएँ अक्सर कमजोर स्थिति में होती हैं। अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी में यह आशंका बनी रहती है कि आर्थिक मजबूरी उनकी "स्वतंत्र सहमति" को प्रभावित करती है।

2. **मातृत्व का वस्तुकरण**
   आलोचकों का तर्क है कि व्यावसायिक सरोगेसी मातृत्व को बाज़ार की वस्तु बना देती है, जो परिवार विधि और सामाजिक नैतिकता—दोनों के विरुद्ध है।

अंतरराष्ट्रीय नियमन की आवश्यकता

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी से जुड़े विवाद यह दर्शाते हैं कि केवल राष्ट्रीय कानून पर्याप्त नहीं हैं। **Hague Conference on Private International Law** ने माता–पिता निर्धारण और सरोगेसी पर अंतरराष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता को रेखांकित किया है। एक समान अंतरराष्ट्रीय ढांचा न होने के कारण कानूनी रिक्तता बनी हुई है, जिसका दुष्परिणाम महिलाओं और बच्चों को भुगतना पड़ता है।

संरक्षणात्मक तंत्र (Protective Mechanisms)

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी से उत्पन्न विधिक, सामाजिक और नैतिक समस्याओं के समाधान हेतु प्रभावी संरक्षणात्मक तंत्रों का विकास अत्यंत आवश्यक है। यह तंत्र केवल अनुबंधीय सुरक्षा तक सीमित न होकर मानवाधिकार–आधारित और कल्याणकारी दृष्टिकोण पर आधारित होना चाहिए।

1. **विधिक संरक्षण (Legal Safeguards)**
   अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी के क्षेत्र में विधिक संरक्षण का मुख्य उद्देश्य तीन प्रमुख पक्षों-सरोगेट माँ, बच्चा और इच्छुक अभिभावक-के अधिकारों का संतुलन स्थापित करना है।
   प्रथम, सरोगेट माँ की **स्वतंत्र एवं सूचित सहमति** को कानूनी रूप से अनिवार्य बनाया जाना चाहिए। सहमति केवल लिखित दस्तावेज तक सीमित न हो, बल्कि इसमें चिकित्सकीय परामर्श, मनोवैज्ञानिक काउंसलिंग और कानूनी जानकारी भी सम्मिलित होनी चाहिए।
   द्वितीय, सरोगेट माँ के **स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा** के लिए व्यापक प्रावधान आवश्यक हैं। गर्भावस्था और प्रसव के दौरान स्वास्थ्य बीमा, प्रसवोत्तर देखभाल और आकस्मिक चिकित्सा सहायता को कानूनी अधिकार के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।
   तृतीय, बच्चे के **कानूनी अभिभावकत्व और नागरिकता** को जन्म से ही सुनिश्चित करने के लिए स्पष्ट विधिक प्रावधान होने चाहिए, ताकि स्टेटलेसनेस जैसी समस्या उत्पन्न न हो।

2. **न्यायिक संरक्षण (Judicial Protection)**
   न्यायपालिका की भूमिका अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी में अत्यंत महत्वपूर्ण है। न्यायालयों को यह स्वीकार करना होगा कि सरोगेसी केवल एक अनुबंधीय संबंध नहीं है, बल्कि यह मानवीय गरिमा, भावनाओं और सामाजिक उत्तरदायित्व से जुड़ा विषय है।

न्यायिक निर्णयों में "**बच्चे का सर्वोत्तम हित**" (Best Interest of the Child) को सर्वोपरि रखा जाना चाहिए। यदि सरोगेसी समझौता किसी भी स्तर पर बच्चे के अधिकारों का उल्लंघन करता है, तो न्यायालयों को अनुबंधीय शर्तों की उपेक्षा करने का अधिकार होना चाहिए।

3. संस्थागत संरक्षण (Institutional Safeguards)

सरोगेसी को नियंत्रित करने के लिए विशेष नियामक प्राधिकरणों की स्थापना आवश्यक है। ये संस्थाएँ निम्नलिखित कार्य कर सकती हैं:

- सरोगेसी क्लीनिकों का पंजीकरण एवं निगरानी
- सरोगेसी समझौतों की पूर्व–स्वीकृति
- सरोगेट माताओं के अधिकारों की निगरानी
- अंतरराष्ट्रीय समन्वय एवं डेटा संग्रह

ऐसी संस्थागत व्यवस्था सरोगेसी को अनियमित बाज़ार बनने से रोक सकती है।

भविष्य की दिशा और सुधारात्मक सुझाव (Future Directions and Reforms)

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी को पूर्णतः प्रतिबंधित करना न तो व्यावहारिक है और न ही मानवीय दृष्टि से उचित। प्रतिबंधों के परिणामस्वरूप यह प्रथा अवैध और अनियंत्रित रूप धारण कर सकती है, जिससे शोषण की संभावना और बढ़ जाती है।

1. समन्वित अंतरराष्ट्रीय ढांचा

भविष्य में एक ऐसा **अंतरराष्ट्रीय विधिक ढांचा** विकसित किया जाना चाहिए, जो-

- अभिभावकत्व निर्धारण के लिए न्यूनतम समान मानक तय करे
- बच्चों की नागरिकता और पहचान की गारंटी दे
- सरोगेट माताओं के अधिकारों की रक्षा करे
- इस प्रकार का ढांचा सीमा–पार विवादों को कम कर सकता है।

2. मानवाधिकार–आधारित दृष्टिकोण

सरोगेसी को केवल परिवार विधि या अनुबंध विधि का विषय मानना अपर्याप्त है। इसे मानवाधिकार के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए, जहाँ महिला की स्वायत्तता, बच्चे की गरिमा और परिवार की स्थिरता—तीनों को समान महत्व दिया जाए।

3. **राष्ट्रीय कानूनों का सुदृढ़ीकरण**
   प्रत्येक देश को अपने घरेलू कानूनों में अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी से संबंधित स्पष्ट प्रावधान शामिल करने चाहिए, ताकि कानूनी रिक्तता न बनी रहे।

निष्कर्ष (Conclusion)

अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी समझौते परिवार विधि के समक्ष एक अभूतपूर्व चुनौती प्रस्तुत करते हैं। यह चुनौती केवल कानूनी नहीं, बल्कि सामाजिक, नैतिक और मानवीय भी है। आधुनिक प्रजनन तकनीकों ने परिवार की अवधारणा को विस्तारित किया है, किंतु विधिक ढांचे इस परिवर्तन के अनुरूप पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हो पाए हैं।

यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी से जुड़े विवादों का समाधान केवल राष्ट्रीय कानूनों के माध्यम से संभव नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि परिवार विधि, मानवाधिकार कानून और अंतरराष्ट्रीय सहयोग के समन्वय से एक ऐसा संतुलित तंत्र विकसित किया जाए, जो सरोगेट माताओं के शोषण को रोके, बच्चों के अधिकारों की रक्षा करे और इच्छुक अभिभावकों को कानूनी सुरक्षा प्रदान करे।

अंततः, अंतरराष्ट्रीय सरोगेसी का नियमन इस सिद्धांत पर आधारित होना चाहिए कि **मानव गरिमा किसी भी अनुबंधीय स्वतंत्रता से ऊपर है**, और परिवार विधि का अंतिम उद्देश्य सामाजिक न्याय एवं मानवीय कल्याण की स्थापना है।

References

1. *Allan, S. (2017). Cross-border surrogacy, parentage and the law. Journal of Law and Medicine, 25(2), 215–230.*
2. *Allan, S. (2019). Surrogacy and parenthood: Legal and ethical perspectives. Cambridge University Press.*
3. *Davies, M. (2018). Contract law and human dignity. Oxford University Press.*
4. *Jain, M. P. (2021). Indian constitutional law (8th ed.). LexisNexis.*
5. *Sharma, B. (2020). Surrogacy and law in India. Oxford University Press.*
6. *UNICEF. (2017). Child rights and surrogacy: Global perspectives. UNICEF Publications.*
7. *United Nations Convention on the Rights of the Child. (1989). United Nations.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भारत में शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता: नियामक संस्थाओं की भूमिका

डॉ. शशिकांत त्रिवेदी
प्रोफेसर (एचओडी शिक्षा)
श्याम विश्वविद्यालय , दौसा

सारांश

शिक्षक शिक्षा किसी भी राष्ट्र की शैक्षिक व्यवस्था की रीढ़ मानी जाती है। शिक्षक न केवल ज्ञान के संवाहक होते हैं, बल्कि सामाजिक मूल्यों, लोकतांत्रिक चेतना और राष्ट्रीय दृष्टि के निर्माण में भी निर्णायक भूमिका निभाते हैं। भारत जैसे विशाल, विविधतापूर्ण एवं जनसंख्या–प्रधान देश में शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता का प्रश्न अत्यंत जटिल और बहुआयामी है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में शिक्षक शिक्षा संस्थानों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप गुणवत्ता–नियंत्रण एवं मानकीकरण की आवश्यकता महसूस की गई। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु भारत में विभिन्न नियामक संस्थाओं की स्थापना की गई, जिनमें **राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा परिषद (NCTE)**, **विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC)**, **राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT)** तथा राज्य स्तरीय शैक्षिक निकाय प्रमुख हैं।

प्रस्तुत शोध–लेख का उद्देश्य भारत में शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करना, नियामक संस्थाओं की भूमिका का समालोचनात्मक मूल्यांकन करना तथा गुणवत्ता–उन्नयन हेतु ठोस सुझाव प्रस्तुत करना है। लेख में यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि नियामक संस्थाओं द्वारा मानक निर्धारण, पाठ्यक्रम सुधार, शिक्षक पात्रता, निरीक्षण एवं प्रत्यायन जैसे महत्वपूर्ण प्रयास किए गए हैं, तथापि व्यावहारिक स्तर पर गुणवत्ता–अंतर, निजीकरण, व्यावसायीकरण, निरीक्षण की औपचारिकता तथा संस्थागत समन्वय की कमी जैसी समस्याएँ अभी भी विद्यमान हैं। अध्ययन निष्कर्षतः यह प्रतिपादित करता है कि शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता में वास्तविक सुधार तभी संभव है जब नियामक संस्थाएँ पारदर्शिता, तकनीकी नवाचार, जवाबदेही एवं आपसी समन्वय के साथ कार्य करें।

मुख्य शब्द (Keywords): शिक्षक शिक्षा, गुणवत्ता, नियामक संस्थाएँ, NCTE, UGC, शिक्षा नीति, भारत

भूमिका

शिक्षा को मानव सभ्यता की निरंतर प्रगति का आधार माना गया है। किसी भी समाज की बौद्धिक, सांस्कृतिक और आर्थिक उन्नति उस समाज की शिक्षा व्यवस्था पर निर्भर करती है। इस व्यवस्था में शिक्षक की भूमिका केंद्रीय होती है, क्योंकि शिक्षक ही वह माध्यम है जिसके द्वारा ज्ञान, मूल्य और दृष्टिकोण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानांतरित होते हैं। अतः यदि शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता कमजोर होगी, तो संपूर्ण शिक्षा प्रणाली प्रभावित होना स्वाभाविक है।

भारत में शिक्षक शिक्षा का इतिहास प्राचीन गुरुकुल प्रणाली से प्रारंभ होकर औपनिवेशिक काल और आधुनिक विश्वविद्यालयी ढाँचे तक विस्तृत है। स्वतंत्रता के बाद शिक्षा को राष्ट्र निर्माण का प्रमुख साधन माना गया और शिक्षक शिक्षा को विशेष महत्व प्रदान किया गया। परंतु समय के साथ शिक्षक शिक्षा संस्थानों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई, जिसके कारण गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसी संदर्भ में नियामक संस्थाओं की आवश्यकता और भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है।

भारत में शिक्षक शिक्षा की अवधारणा एवं विकास

भारत में शिक्षक शिक्षा की अवधारणा केवल शिक्षण कौशल तक सीमित नहीं रही है, बल्कि इसे व्यक्तित्व विकास, सामाजिक उत्तरदायित्व और नैतिक मूल्यों से जोड़ा गया है। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में गुरु को आदर्श चरित्र का प्रतीक माना जाता था। औपनिवेशिक काल में शिक्षक शिक्षा को औपचारिक संस्थागत स्वरूप मिला, किंतु इसका उद्देश्य मुख्यतः प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित था।

स्वतंत्रता के पश्चात् विभिन्न शिक्षा आयोगों—जैसे विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948), माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952–53) तथा कोठारी आयोग (1964–66)—ने शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता पर विशेष बल दिया। इन आयोगों की संस्तुतियों के परिणामस्वरूप शिक्षक प्रशिक्षण को एक व्यवस्थित ढाँचा प्राप्त हुआ, परंतु इसके साथ–साथ नियमन की आवश्यकता भी बढ़ी।

शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता: अर्थ एवं आयाम

शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता एक व्यापक एवं बहुआयामी संकल्पना है। इसका अर्थ केवल पाठ्यक्रम की पूर्णता या डिग्री प्राप्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि यह शिक्षण–अधिगम की संपूर्ण प्रक्रिया को समाहित करती है।

1. **शैक्षिक गुणवत्ता**

   शैक्षिक गुणवत्ता का संबंध पाठ्यक्रम की प्रासंगिकता, शिक्षण विधियों, मूल्यांकन प्रणाली और शोध–आधारित दृष्टिकोण से है।

2. **व्यावसायिक गुणवत्ता**

   इसमें शिक्षण कौशल, कक्षा प्रबंधन, शैक्षिक तकनीक का उपयोग तथा नवाचार शामिल हैं।

3. **नैतिक एवं मूल्यपरक गुणवत्ता**

   एक शिक्षक का आचरण, नैतिक दृष्टिकोण और सामाजिक उत्तरदायित्व भी गुणवत्ता का महत्वपूर्ण आयाम है।

   इन सभी आयामों को संतुलित एवं सुनिश्चित करने का दायित्व प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नियामक संस्थाओं पर ही होता है।

भारत में शिक्षक शिक्षा की नियामक संस्थाएँ

1. **राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा परिषद (NCTE)**

   NCTE की स्थापना शिक्षक शिक्षा को सुव्यवस्थित एवं मानकीकृत करने के उद्देश्य से की गई। इसका प्रमुख कार्य शिक्षक शिक्षा संस्थानों को मान्यता प्रदान करना, न्यूनतम मानक निर्धारित करना तथा गुणवत्ता सुनिश्चित करना है। परिषद ने D.El.Ed., B.Ed., M.Ed. जैसे कार्यक्रमों के लिए विस्तृत मानदंड निर्धारित किए हैं।

2. **विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC)**

   UGC उच्च शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता नियंत्रण की प्रमुख संस्था है। शिक्षक शिक्षा के संदर्भ में यह विश्वविद्यालयों में संचालित कार्यक्रमों की शैक्षिक गुणवत्ता, शिक्षक भर्ती मानदंड और शोध स्तर को प्रभावित करता है।

3. **राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT)**

   NCERT शिक्षक शिक्षा के अकादमिक पक्ष को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह शिक्षक प्रशिक्षण मॉड्यूल, पाठ्यपुस्तक निर्माण और शैक्षिक अनुसंधान के माध्यम से गुणवत्ता को प्रभावित करता है।

4. **राज्य स्तरीय नियामक संस्थाएँ**

   राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषदें (SCERT), विश्वविद्यालय और परीक्षा बोर्ड स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षक शिक्षा के कार्यक्रमों का संचालन करते हैं।

नियामक संस्थाओं की भूमिका का समालोचनात्मक विश्लेषण

भारत में शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से विभिन्न नियामक संस्थाओं की स्थापना की गई है, जिनका प्रमुख कार्य मानक निर्धारण, मान्यता प्रदान करना, पाठ्यक्रम संरचना को दिशा देना तथा प्रशिक्षण संस्थानों की निगरानी करना है। इन संस्थाओं द्वारा समय-समय पर शिक्षक शिक्षा से संबंधित नियम, विनियम एवं दिशा-निर्देश जारी किए गए हैं, जिनका उद्देश्य शिक्षक शिक्षा को संगठित, उत्तरदायी और गुणवत्तापूर्ण बनाना रहा है। तथापि, इन प्रयासों के बावजूद व्यावहारिक स्तर पर शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता में अपेक्षित सुधार पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता, जो नियामक तंत्र की प्रभावशीलता पर गंभीर प्रश्न खड़े करता है।

निरीक्षण एवं प्रत्यायन प्रक्रिया को यदि समालोचनात्मक दृष्टि से देखा जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि कई अवसरों पर यह प्रक्रिया औपचारिकता तक सीमित रह जाती है। संस्थानों के भौतिक संसाधनों, संकाय की वास्तविक गुणवत्ता, प्रशिक्षण की गहनता तथा विद्यालय आधारित इंटर्नशिप की प्रभावशीलता का सम्यक् एवं निष्पक्ष मूल्यांकन नहीं हो पाता। अनेक मामलों में निरीक्षण पूर्व-सूचित होने के कारण संस्थान अस्थायी व्यवस्थाओं के माध्यम से मानकों की पूर्ति का आभास प्रस्तुत कर देते हैं, जिससे वास्तविक गुणवत्ता का आकलन संभव नहीं हो पाता।

निजी शिक्षक शिक्षा संस्थानों में बढ़ता हुआ व्यावसायीकरण भी नियामक संस्थाओं के समक्ष एक गंभीर चुनौती के रूप में उभरा है। शिक्षक शिक्षा को सेवा एवं सामाजिक उत्तरदायित्व के बजाय लाभ-केन्द्रित गतिविधि के रूप में देखा जाने लगा है। प्रवेश प्रक्रिया में योग्यता के स्थान पर आर्थिक क्षमता को प्राथमिकता दिए जाने, प्रशिक्षण को औपचारिकता तक सीमित रखने तथा मूल्यांकन प्रणाली में लचीलेपन जैसी प्रवृत्तियाँ शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। यह स्थिति इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि नियामक नियंत्रण और निगरानी तंत्र को और अधिक सुदृढ़ एवं प्रभावी बनाए जाने की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त, विभिन्न नियामक संस्थाओं के बीच अधिकार-क्षेत्र की अस्पष्टता और समन्वय की कमी भी एक महत्वपूर्ण संरचनात्मक समस्या है। शिक्षक शिक्षा से संबंधित नीतिगत निर्णय, शैक्षिक मानक, पाठ्यक्रम दिशा-निर्देश और निरीक्षण प्रक्रियाएँ कई संस्थाओं द्वारा संचालित की जाती हैं, किंतु इनके बीच स्पष्ट कार्य-विभाजन और समन्वित दृष्टिकोण का अभाव देखा जाता है। परिणामस्वरूप, कभी-कभी नीतिगत असंगति, निर्णयों की पुनरावृत्ति और संस्थानों के लिए भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह समन्वय-अभाव शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख कारक बन गया है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि नियामक संस्थाओं ने शिक्षक शिक्षा को एक औपचारिक और संरचित ढाँचा प्रदान किया है, तथापि गुणवत्ता-उन्नयन के संदर्भ में इनकी भूमिका अभी भी

अपेक्षानुरूप प्रभावी नहीं हो पाई है। नियमन का उद्देश्य केवल नियंत्रण नहीं, बल्कि मार्गदर्शन, सुधार और सतत गुणवत्ता संवर्धन होना चाहिए, जिसकी दिशा में और अधिक ठोस एवं व्यावहारिक प्रयास अपेक्षित हैं।

नई शिक्षा नीति 2020 और शिक्षक शिक्षा

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय शिक्षा व्यवस्था में एक ऐतिहासिक और दूरगामी परिवर्तन के रूप में सामने आई है। इस नीति ने शिक्षक को शिक्षा व्यवस्था का केंद्रीय स्तंभ स्वीकार करते हुए शिक्षक शिक्षा में गुणात्मक सुधार को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की है। नीति का मूल दृष्टिकोण यह है कि किसी भी शैक्षिक सुधार की सफलता योग्य, प्रेरित और व्यावसायिक रूप से दक्ष शिक्षकों के बिना संभव नहीं है। इसी कारण शिक्षक शिक्षा को शिक्षा सुधार की आधारशिला के रूप में देखा गया है।

नई शिक्षा नीति के अंतर्गत शिक्षक शिक्षा कार्यक्रमों में संरचनात्मक परिवर्तन का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया है। चार वर्षीय एकीकृत B.Ed. कार्यक्रम को भविष्य में शिक्षक बनने का न्यूनतम शैक्षिक मार्ग मानते हुए इसे अनिवार्य किए जाने की दिशा में पहल की गई है। इसका उद्देश्य विषय-ज्ञान, शैक्षिक सिद्धांत, व्यवहारिक प्रशिक्षण और बहुविषयक दृष्टिकोण को एकीकृत करना है, ताकि भावी शिक्षक केवल विषय विशेषज्ञ ही नहीं, बल्कि संवेदनशील, नवाचारी और चिंतनशील पेशेवर के रूप में विकसित हो सकें।

नीति में शिक्षक शिक्षा संस्थानों की गुणवत्ता सुधार पर विशेष बल दिया गया है। कमजोर गुणवत्ता वाले और मानकों पर खरे न उतरने वाले संस्थानों को चरणबद्ध रूप से बंद करने तथा उच्च गुणवत्ता वाले संस्थानों को प्रोत्साहन देने की स्पष्ट संस्तुति की गई है। इससे यह अपेक्षा की जाती है कि शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता-आधारित प्रतिस्पर्धा विकसित होगी और संस्थान निरंतर सुधार की दिशा में अग्रसर होंगे।

इसके अतिरिक्त, नई शिक्षा नीति सतत व्यावसायिक विकास (Continuous Professional Development) की अवधारणा को सुदृढ़ करती है। शिक्षकों और शिक्षक-प्रशिक्षकों के लिए नियमित प्रशिक्षण, नवाचार, शोध तथा तकनीकी दक्षता को अनिवार्य मानते हुए नीति यह स्पष्ट करती है कि शिक्षक शिक्षा एक बार की प्रक्रिया नहीं, बल्कि आजीवन चलने वाली व्यावसायिक यात्रा है। डिजिटल प्रौद्योगिकी, ऑनलाइन प्रशिक्षण और मिश्रित शिक्षण विधियों को शिक्षक शिक्षा का अभिन्न अंग बनाने की परिकल्पना भी इसी दृष्टिकोण का परिणाम है।

हालाँकि, नई शिक्षा नीति 2020 की सफलता काफी हद तक इसके प्रभावी क्रियान्वयन पर निर्भर करती है। इसके लिए नियामक संस्थाओं की भूमिका अत्यंत निर्णायक हो जाती है। यदि नीति के प्रावधानों को

स्पष्ट दिशा-निर्देश, पारदर्शी नियमन और संस्थागत समन्वय के साथ लागू किया जाता है, तो शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता में व्यापक और स्थायी सुधार संभव है। अन्यथा, यह नीति भी केवल एक वैचारिक दस्तावेज बनकर सीमित रह सकती है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने शिक्षक शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन का प्रस्ताव रखा है। चार वर्षीय एकीकृत B.Ed. कार्यक्रम, बहुविषयक दृष्टिकोण और सतत व्यावसायिक विकास पर विशेष बल दिया गया है। नीति के सफल क्रियान्वयन में नियामक संस्थाओं की भूमिका निर्णायक होगी।

प्रमुख चुनौतियाँ

1. **शिक्षक शिक्षा संस्थानों की गुणवत्ता में क्षेत्रीय असमानता**
   भारत में शिक्षक शिक्षा संस्थानों की गुणवत्ता में स्पष्ट क्षेत्रीय असमानता परिलक्षित होती है। महानगरों एवं कुछ विकसित राज्यों में स्थित संस्थान अपेक्षाकृत बेहतर अधोसंरचना, योग्य शिक्षक–प्रशिक्षक तथा आधुनिक शैक्षिक संसाधनों से युक्त हैं, जबकि ग्रामीण, आदिवासी एवं पिछड़े क्षेत्रों में संचालित शिक्षक शिक्षा संस्थानों में बुनियादी सुविधाओं का अभाव देखा जाता है। इस असमानता का प्रत्यक्ष प्रभाव भावी शिक्षकों की प्रशिक्षण गुणवत्ता पर पड़ता है, जिससे राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षक शिक्षा में समान मानकों की स्थापना बाधित होती है। यह स्थिति सामाजिक न्याय और समान शैक्षिक अवसरों की अवधारणा के विपरीत है।

2. **निजीकरण और व्यावसायीकरण**
   विगत वर्षों में शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में निजी संस्थानों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई है। यद्यपि इससे प्रवेश के अवसर बढ़े हैं, तथापि अनेक संस्थानों में शिक्षा को सेवा के बजाय व्यवसाय के रूप में देखा जाने लगा है। प्रवेश प्रक्रिया, प्रशिक्षण गुणवत्ता और मूल्यांकन प्रणाली में औपचारिकता तथा लाभ–केन्द्रित दृष्टिकोण हावी होता जा रहा है। इस व्यावसायीकरण के कारण शिक्षक शिक्षा का मूल उद्देश्य—योग्य, संवेदनशील और प्रतिबद्ध शिक्षक तैयार करना—प्रभावित हुआ है।

3. **प्रशिक्षित शिक्षक–प्रशिक्षकों की कमी**
   शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता काफी हद तक शिक्षक–प्रशिक्षकों की योग्यता और अनुभव पर निर्भर करती है। वर्तमान परिदृश्य में अनेक संस्थानों में विषय–विशेषज्ञ, शोध–अनुभवी और व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित शिक्षक–प्रशिक्षकों की कमी देखी जाती है। कई स्थानों पर अस्थायी या अंशकालिक संकाय के माध्यम से कार्यक्रम संचालित किए जाते हैं, जिससे प्रशिक्षण की गहराई और प्रभावशीलता कम हो जाती है। यह समस्या शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता के लिए एक गंभीर चुनौती के रूप में उभरती है।

4. तकनीकी संसाधनों का अभाव

डिजिटल युग में शिक्षक शिक्षा के लिए सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का समुचित उपयोग अनिवार्य हो गया है। किंतु अनेक शिक्षक शिक्षा संस्थानों में स्मार्ट कक्षाएँ, ई–लर्निंग प्लेटफॉर्म, डिजिटल पुस्तकालय और ऑनलाइन प्रशिक्षण संसाधनों का अभाव पाया जाता है। तकनीकी संसाधनों की कमी के कारण भावी शिक्षक आधुनिक शिक्षण विधियों और नवाचारों से वंचित रह जाते हैं, जिससे वे समकालीन विद्यालयी परिवेश की चुनौतियों का सामना करने में असमर्थ होते हैं।

5. प्रभावी निगरानी एवं मूल्यांकन प्रणाली की कमी

यद्यपि शिक्षक शिक्षा के लिए विभिन्न नियामक ढाँचे विद्यमान हैं, तथापि निगरानी एवं मूल्यांकन की प्रक्रिया प्रायः औपचारिकता तक सीमित रह जाती है। निरीक्षण की आवृत्ति, पारदर्शिता और निष्पक्षता पर प्रश्नचिह्न लगते रहे हैं। प्रभावी फॉलो–अप एवं सुधारात्मक कार्रवाई के अभाव में कई संस्थान न्यूनतम मानकों का भी पूर्णतः पालन नहीं करते। यह स्थिति शिक्षक शिक्षा की समग्र गुणवत्ता को कमजोर करती है।

गुणवत्ता सुधार हेतु सुझाव

1. नियामक संस्थाओं के बीच सशक्त समन्वय

शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न नियामक एवं शैक्षिक संस्थाओं के बीच स्पष्ट भूमिका–विभाजन और सशक्त समन्वय स्थापित किया जाए। नीतिगत निर्णयों, मानक निर्धारण और निरीक्षण प्रक्रियाओं में आपसी सहयोग से न केवल दोहराव से बचा जा सकता है, बल्कि गुणवत्ता नियंत्रण भी अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है।

2. तकनीक–आधारित निरीक्षण एवं प्रत्यायन प्रणाली

पारदर्शिता और दक्षता सुनिश्चित करने के लिए निरीक्षण एवं प्रत्यायन प्रक्रिया को तकनीक–आधारित बनाया जाना चाहिए। ऑनलाइन पोर्टल, डिजिटल रिपोर्टिंग, रियल–टाइम डेटा और थर्ड–पार्टी ऑडिट जैसी व्यवस्थाएँ अपनाकर निरीक्षण प्रक्रिया को अधिक वस्तुनिष्ठ एवं विश्वसनीय बनाया जा सकता है। इससे संस्थानों में गुणवत्ता सुधार हेतु स्वस्थ प्रतिस्पर्धा भी विकसित होगी।

3. शिक्षक–प्रशिक्षकों के लिए अनिवार्य सतत प्रशिक्षण

शिक्षक–प्रशिक्षकों की व्यावसायिक दक्षता को बनाए रखने के लिए उनके लिए सतत व्यावसायिक विकास (Continuous Professional Development) को अनिवार्य किया जाना चाहिए। नवीन शिक्षण विधियों, शैक्षिक तकनीक, शोध प्रवृत्तियों और मूल्य–आधारित शिक्षा पर नियमित

प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए, ताकि शिक्षक–प्रशिक्षक बदलते शैक्षिक परिदृश्य के अनुरूप स्वयं को अद्यतन रख सकें।

4. शोध एवं नवाचार को प्रोत्साहन

शिक्षक शिक्षा संस्थानों में शोध–संस्कृति और नवाचार को प्रोत्साहित करना अत्यंत आवश्यक है। कार्य–अनुसंधान (Action Research), कक्षा–आधारित नवाचार और शैक्षिक प्रयोगों को संस्थागत समर्थन प्रदान किया जाना चाहिए। इससे शिक्षक शिक्षा अधिक व्यवहारिक, सृजनात्मक और प्रभावी बन सकेगी।

5. गुणवत्ता–आधारित वित्तपोषण व्यवस्था

शिक्षक शिक्षा संस्थानों को वित्तीय सहायता गुणवत्ता के आधार पर प्रदान की जानी चाहिए। जो संस्थान उच्च शैक्षिक मानकों, पारदर्शी प्रशासन और नवाचार को अपनाते हैं, उन्हें अतिरिक्त प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इससे संस्थानों में गुणवत्ता सुधार की प्रवृत्ति को बल मिलेगा और शिक्षक शिक्षा का स्तर समग्र रूप से उन्नत होगा।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारत में शिक्षक शिक्षा की गुणवत्ता का प्रश्न केवल शैक्षिक नहीं, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय महत्व का विषय है। नियामक संस्थाओं ने शिक्षक शिक्षा को एक संगठित ढाँचा प्रदान किया है, किंतु गुणवत्ता–उन्नयन की दिशा में अभी भी व्यापक सुधार अपेक्षित हैं। यदि नियामक संस्थाएँ पारदर्शिता, नवाचार और उत्तरदायित्व के साथ कार्य करें, तो शिक्षक शिक्षा न केवल गुणवत्तापूर्ण होगी, बल्कि राष्ट्र निर्माण में भी निर्णायक भूमिका निभाएगी।

संदर्भ सूची (Bibliography)

1. Government of India. (2020). *National Education Policy 2020*. Ministry of Education.
2. National Council for Teacher Education. (2014). *Norms and Standards for Teacher Education Programmes*. NCTE.
3. University Grants Commission. (2018). *Minimum Qualifications for Appointment of Teachers*. UGC.
4. NCERT. (2019). *Teacher Education Curriculum Framework*. NCERT.
5. Kothari, D. S. (1966). *Education and National Development*. Government of India.
6. Kumar, K. (2005). *Political Agenda of Education*. Sage Publications.
7. Tilak, J. B. G. (2015). *Quality in Teacher Education in India*. NUEPA.

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भारतीय समाज में महिलाओं की धार्मिक स्थिति तथा भूमिका का सूक्ष्म अध्ययन

सत्यार्थ सिंह
शोधार्थी, समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र विभाग इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (अनूपपुर) मध्यप्रदेश।

डॉ. मनोहर बी. येरकलवार
सह आचार्य, समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र विभाग इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (अनूपपुर) मध्यप्रदेश।

शोध सार:

पूरे इतिहास में, विभिन्न धर्मों में महिलाओं की भूमिका एक जटिल और विकसित विषय रही है। प्रत्येक धर्म की अपनी मान्यताएँ, प्रथाएँ और सिद्धांत हैं जो महिलाओं की स्थिति, ज़िम्मेदारियों और उपलब्ध अवसरों को प्रभावित करते हैं। हिन्दू धर्म में महिलाओं द्वारा निभाई जाने वाली विविध भूमिकाओं और स्थिति को समझना और पारंपरिक भूमिकाओं और चल रहे परिवर्तनों दोनों को उजागर करना महत्वपूर्ण है, जो लैंगिक समानता पर समकालीन दृष्टिकोणों को दर्शाते हैं। विभिन्न धार्मिक परंपराओं के वक्ताओं ने इस तथ्य की ओर इशारा किया कि सभी धर्मों की शुरुआत जीवन जीने के तरीके को प्रस्तुत करने वाले भूमिकओं के रूप में हुई थी। कई धर्मों की उत्पत्ति स्थापित बहिष्कार और दमनकारी धार्मिक संरचनाओं के विरोध में हुई है। पुरुष ईश्वरीय संदेशों के प्राप्तकर्ता, व्याख्याकार और प्रेषक के रूप में प्रमुख रहे हैं, जबकि महिलाएँ धार्मिक शिक्षाओं के द्वारा समाज में प्राप्तकर्ता और धार्मिक अनुष्ठानों की उत्साही साधक बनी हुई हैं। धार्मिक विश्वास की पितृसत्तात्मक व्याख्याओं के इर्द-गिर्द विकसित दृष्टिकोणों ने भारतीय महिलाओं के सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को परिभाषित और आकार दिया है, जिसके परिणामस्वरूप उनकी भूमिका और स्थिति दूसरे दर्जे की प्राप्त हुई है। प्रस्तुत शोध पत्र ऐतिहासिक धार्मिक सन्दर्भ को साथ लेते हुए आधुनिक समय तक महिलाओं की धार्मिक भूमिका और स्थिति का संक्षिप्त वर्णन करता है।

बीज शब्द- धार्मिक विश्वास, महिलायें, स्थिति, भूमिका, समाज, साधक, पितृसत्तात्मक, आधुनिक।

प्रस्तावना

स्त्री सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह समान रूप से आदृत और प्रतिष्ठित थी। शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में उनका महान् योगदान था। वह स्वतंत्रतापूर्वक शिक्षा ग्रहण करती थीं और स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करती थी। पुरुषों की तुलना में वह किसी प्रकार निम्न और अनुन्नत नहीं थी। नववधू श्वसुर-गृह की साम्राज्ञी होती थी। वह पति के साथ प्रत्येक कार्य में सहयोग करती थी। इस प्रकार वह पुरुषों की ही तरह समाज की स्थायी और गौरवशील अंग थी। वह अत्यन्त सुशिक्षित, सुसभ्य और सुसंस्कृत होती थी। पारिवारिक और सामाजिक सभी कर्त्तव्यों का वह निष्ठापूर्वक पालन करती थी। वह पति के साथ मिलकर गृह के याज्ञिक कार्य सम्पन्न करती थी। वस्तुतः स्त्री और पुरुष दोनों यज्ञ-रूपी रथ जुड़े हुए दो बैल थे। अतः यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी 'पत्नी' संज्ञा चरितार्थ करती तथा उसके दाम्पत्य का 'जाया' स्वरूप मूर्त्त करती है। उस युग में पत्नी ही गृह की भूमिका परिचायक बनकर गृहिणी बन गई। 'गृह' और 'पत्नी' दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध माना जाने लगा और बिना पत्नी के गृहस्थी की कल्पना व्यर्थ मानी गई। उसका परम्परागत आदर और सम्मान बराबर बना रहा तथा उसके प्रति समाज की धारणा पूर्ववत उन्नत बनी रही। वैदिक युगीन शिक्षा के क्षेत्र में उसका स्थान पुरुषों के समकक्ष था। शिक्षित कन्या की प्राप्ति के लिए विशेष अनुष्ठान की आयोजना की जाती थी।"(ऋग्वेद :10:46-85)

स्त्रियों की दशा में युग के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है। उसकी स्थिति में वैदिक युग से लेकर पूर्वमध्ययुग तक अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे तथा उनके अधिकारों में तदनुरूप परिवर्तन भी होते रहे हैं। यह सही है कि वैदिक युग में उनकी अवस्था अत्यन्त उन्नत और परिष्कृत थी। किन्तु परवर्ती काल से उनकी स्थिति में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया जो अवनति के रूप में बाद के समयों तक चलता रहा। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को समाज में श्रेयस्कर स्थान नहीं मिला, बल्कि अपेक्षाकृत निम्न स्थान ही प्राप्त हुआ जिसके प्रमुख कारण राजनीतिक अस्थिरता और सामाजिक संकीर्णता ही थे। साथ ही, जैविकीय और मानसिक दोष की भी चर्चा की गई, जो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक रहा है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने स्त्रियों में ऐसे जन्मजात दोष माने जिनके कारण वे पुरुषों की तुलना में हीन रहीं। उनके व्यक्तित्व में अस्थिरता का दोष प्रधान रूप से स्वीकार किया गया है। साथ ही यह भी मत व्यक्त किया गया है कि उनमें न्याय की भावना अत्यल्प होती है, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में ईर्ष्या की मात्रा अधिकाधिक किन्तु, भारतीय समाज में इस प्रकार की कोई भ्रान्ति नहीं। भारतीय विचारकों ने स्त्रियों के प्रति आदर ही व्यक्त किया है तथा इन्हें 'देवी' और 'श्री' का प्रतीक माना है (रोबैक:1931:600-11) I

धर्म की समझ महिलाओं और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं, महिलाओं की स्थिति दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। समझने, उसका विश्लेषण करने और उसे बदलने के लिए, धार्मिक मुद्दों में

अंतर्दृष्टि आधारभूत है, यहां तक कि उन महिलाओं के लिए भी जो खुद को धार्मिक नहीं मानती हैं। संस्कृति के मूल्य और छवियाँ, मिथक या कहानियाँ जो वास्तविकता के बारे में बताती हैं, छवियाँ और विशेषताएँ जिनके साथ यह दिव्य की कल्पना करती है, उस संस्कृति में महिलाओं की भूमिका, स्थिति और छवि के लिए मौलिक महत्व रखती हैं। धर्म की दिव्य, पारलौकिक या रहस्योद्घाटन प्रकृति चाहे महिलाओं और आस्थावान पुरुषों के लिए कुछ भी हो, इसकी भाषा मानवीय भाषा है। एक संस्कृति की धार्मिक परंपराएँ उसकी अभिव्यक्ति के रूप हैं, अर्थ-निर्माण, छवि-निर्माण और एक व्यवस्थित दुनिया, एक ब्रह्मांड बनाने की प्रक्रियाएँ हैं (सिंह:2022:4-5)।

सार्वजनिक मामलों में महिलाओं के शामिल होने के खिलाफ प्रतिबंधों के मामले में हम पूछेंगे कि उन्हें बाहर करना क्यों जरूरी समझा गया। वे ऐसा क्या कर रही थीं जिससे उनका ध्यान आकर्षित हुआ? प्राचीन दुनिया में महिलाओं के जीवन को चित्रित करने से जुड़ी कठिनाइयाँ असंख्य हैं और हमारे विशेष कार्य की समस्याएँ धर्म के संदर्भ से और भी जटिल हो जाती हैं। यहाँ प्राचीन दुनिया, ग्रीक, रोमन, यहूदी, ईसाई या सूफी सभी के संस्थापक पुरुष हैं साथ ही अपने विश्व दृष्टिकोण और अपने 'अन्य दुनिया' दृष्टिकोण में कुख्यात रूप से पुरुष उन्मुख हैं (कुलश्रेष्ठ:2012:55)। अपनी सामग्री की व्याख्या करने के लिए विभिन्न रणनीतियों का उपयोग करके हम कम से कम रोमन साम्राज्य के धर्मों में महिलाओं के अनुभव का एक अस्पष्ट प्रतिबिंब बनाने की उम्मीद कर सकते हैं। थोड़े प्रयास से जो दिखाई देगा वह उन प्राचीन संदर्भों में पुरुषों द्वारा महिलाओं की स्थिति और आकलन की तस्वीर है।

भारतीय समाज में महिलाओं को देवी का दर्जा दिया जाता है और ऐसा कहा जाता है कि जिस घर में औरतों की इज्जत की जाती है वहां भगवान वास करते हैं! आज भारतीय समाज की औरतें सभी क्षेत्र में अपना एक अलग ही पहचान बना चुकी हैं चाहे वह डॉक्टर हो, इंजीनियर हो या फिर बिजनेसमैन! हिंदू धर्म की औरतें अपना कर्तव्य बखूबी निभाती हैं! वह अपने पति को अपना देवता मानती हैं और उनकी हर एक बात मानती हैं! वह एक बेटी, बहन, बीवी, बहू, मां सभी का कर्तव्य पूरा करती हैं! औरत सहनशीलता की मूर्ति होती है! (मिश्र:2013:364)। यह अलग बात है कि भारत में, जहाँ राजनीति धर्म को जनता को प्रभावित करने के लिए एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करती है, महिलाएँ सांस्कृतिक दृष्टिकोण के परिणामों और अपने विशेष परिवेश में धर्म और राजनीति प्रभाव का खामियाजा भुगतती हैं। भारतीय महिलाओं के जीवन पर धर्म और संस्कृति के प्रभाव को पहचानते हुए, स्त्रीवाणी (जिसका अर्थ है "महिलाओं की आवाज़ ") ने "महिला सशक्तिकरण पर धर्म और संस्कृति का प्रभाव - एक भारतीय परिप्रेक्ष्य " विषय पर एक राष्ट्रीय परामर्श आयोजित करने की पहल की। हैदराबाद, भारत में 23-26 सितंबर की बैठक में लगभग 50 लोग, महिलाएँ और पुरुष धार्मिक, धर्मशास्त्री, पेशेवर और एक धर्मप्रांतीय पुजारी शामिल हुए। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में पितृसत्ता के

व्यापक ढांचे के भीतर, जो मुख्य मुद्दे उभर कर सामने आए हैं, महिलाओं के खिलाफ हिंसा और समाज में उनकी भूमिका, कामुकता और लिंग की राजनीति की चर्चा रही (सहलंदा:2016)।

शोध उद्देश्य

भारतीय समाज को पूर्णरूप से समझने के लिए विभिन्न कालों में स्त्रियों की सामाजिक, धार्मिक स्थितियों को उजागर करने के लिए यह शोध जरूरी समझा गया। समाज के इस आधे अंग (स्त्री) की सांस्कृतिक स्थिति बदलते समय में किस प्रकार सुधार हुआ, इसको दर्शाना भी इस शोध के उद्देश्य हैं।

विभिन्न काल खंड में महिलाओं की धार्मिक स्थिति व भूमिका

(क) प्राचीन काल-

प्राचीन ग्रंथो के श्लोकों से पता चलता है कि भारतीय समाज में स्त्रियों को आदर व सम्मान प्राप्त था। स्त्री-पुरूष में कोई भेद नहीं था। दोनों की सामाजिक परिस्थितियाँ समान थी तथा प्रत्येक सामाजिक धार्मिक कार्यों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी। लड़कियाँ ब्रह्मचर्य का पालन करती थी। आश्रम में शिक्षा प्राप्त करती थी। सह शिक्षा का अधिकार था। अध्ययन के पश्चात् कुछ स्त्रियाँ अध्यापन कार्य करती थीं। उपनिषदों में स्त्री शिक्षिकाओं का वर्णन है। शिक्षिकाओं को "उपाध्याया" कहा जाता था। परन्तु शिक्षिकाओं की संख्या अधिक नहीं थी (अल्तेकर:1983:14)।

वैदिक काल में स्त्रियां बुद्धि व शिक्षा में अग्रणी थी। यजुर्वेद के अनुसार इस काल में कन्या का उपनयन संस्कार होता था। उसे सन्ध्या पाठ करने का अधिकार था। रामायण में विवरण है कि सीता नियमित रूप से संध्या पाठ करती थी। जिसे डॉ. अल्तेकर ने पोजिशन ऑफ वूमन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृष्ठ सं. 11 में वैदिक मंत्रों का पाठ माना है। "वे तर्क शास्त्र व वाद-विवादों में पारंगत थी। इस काल में सुलभा, गार्गी, मैत्रयी आदि के नाम अविस्मरणीय हैं" (ग्रिफिथ:1899) ।

उत्तर वैदिक व महाकाव्य काल में स्त्रियों के साथ भेदभाव की स्थिति में परिवर्तन आने लगा। उनकी धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्थितियों पर प्रतिबंध लगने लगा। उन्हें वेद पढ़ने व मंत्रोचारण के उपयुक्त नहीं समझा गया। "यत्र नार्यस्तु पूज्यते तत्र देवता अद्यति (जहां स्त्रियों को पूजा जाता है वहां देवता निवास करते हैं) (अल्तेकर:1983:4-5)। उनकी यह धारणा उत्तर वैदिक काल में व्यवहारिक नहीं लग रही थी। हिन्दु समाज में पुत्री होने पर पुत्र के समान स्वागत नहीं किया जाता क्योंकि वह धार्मिक कार्यों के उपयुक्त नहीं थी। स्त्रियों को जन्म से मृत्यु तक पिता, भाई व पति के अधीन बना दिया गया। लड़की का जन्म परिवार के लिए समस्या बन गया और उसका जन्म अभिशाप माना जाने

लगा। विवाह के पश्चात् उससे गृहस्थी की सारी जिम्मेदारियां अच्छी तरह निभाने की अपेक्षा की जाती थी।

मैकडैनियल कहते हैं कि "ऋग्वेद के देवी सूक्त विचारों को अपेक्षाकृत बाद में रचित शाक्त उपनिषदों में और विकसित किया गया है, जहाँ देवी दावा करती हैं कि वे ब्रह्म हैं उनसे प्रकृति (पदार्थ) और पुरुष (चेतना) उत्पन्न होते हैं, वे आनंद और गैर-आनंद हैं, वेद और उससे भिन्न जो कुछ भी है, जन्म और अजन्मा और स्त्री इस प्रकार संपूर्ण ब्रह्मांड है। उन्हें सभी पाँच तत्वों के रूप में प्रस्तुत किया गया है, साथ ही इन तत्वों से भिन्न जो कुछ भी है जो ऊपर है, जो नीचे है, जो चारों ओर है, और इस प्रकार संपूर्ण ब्रह्मांड। यह दर्शन त्रिपुरातापनी उपनिषद और बहवृचा उपनिषद में भी मिलता है" (मैकडैनियल :2004:90)।

(ख) मध्यकाल में में स्त्रीयों की धार्मिक स्थिति व भूमिका

मध्यकाल में स्त्रीयों की धार्मिक भूमिकाएं तथा स्थिति विभिन्न धर्मो तथा सामाजिक संदर्भो में अलग-अलग थी, कुछ महिलाओं ने धार्मिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लिया, जैसे कि भक्ति आन्दोलन, मीराबाई जैसी स्त्री भगवान कृष्ण की पूजा के लिए प्रसिध्द थी। मुस्लिम समाज में पर्दा प्रथा का प्रचलन जिससे कि महिलाओं की सामाजिक भागीदारी सिमित थी। मुगलकालीन भारतीय समाज में स्त्रियों को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। उन्हें केवल मनोरंजन एवं भोग-विलास का साधन समझा जाता था। मुस्लिम एवं हिन्दू स्त्रियों में अनेक प्रकार की कुप्रथायें प्रचलित थीं। इन बुरी प्रथाओं के कारण स्त्रियों का जीवन जानवरों जैसा था, केवल उच्च वर्ग से संबंधित स्त्रियो को कुछ अधिकार प्राप्त थे। लेकिन निम्न वर्ग की स्त्रियों की दशा दयनीय थी। मुगलकाल में स्त्रियों की स्थिति काफी दयनीय थी उनको व्यक्तियों के समान अधिकार प्राप्त नही थे। कुछ उच्च वर्ग की महिलाओं की दशा ठीक थी लेकिन वह महिलाएं संख्या में बहुत कम थी, जबकि निम्न वर्ग की महिलाए संख्या में बहुत ज्यादा थी जिसके साथ अनेक अत्याचार किए जाते थे (पाण्डेय:2021) ।

देवदासी प्रणाली एक और सामाजिक बुराई थी जो हिंदुओं में प्रचलित थी। सुंदर अविवाहित लड़कियों को "भगवान की सेविका" मंदिरों की छवियों की पेशकश की गई थी, जहां उन्होंने अपना जीवन देवताओं के नौकरानियों के रूप में गुजारा। यह न केवल उनके जीवन के लिए गंभीर अन्याय था, बल्कि मंदिरों में भ्रष्टाचार भी था। कुछ अन्य परिवर्तन थे जो मुसलमानों के संपर्क के कारण हिंदुओं ने स्वीकार किए थे, हिंदुओं ने धर्मान्तरण को स्वीकार करना शुरू कर दिया, उनके कपड़ों, खान-पान, सामाजिक आदतों और कुछ रीति-रिवाजों में भी बदलाव हुए (निशाखोजे:2023)।

भक्ति आंदोलन ने महिलाओं की बेहतर स्थिति को वापस हासिल करने की कोशिश की और प्रभुत्व के स्वरूपों पर सवाल उठाया। एक महिला संत कवयित्री मीराबाई भक्ति आंदोलन के सबसे महत्वपूर्ण चेहरों में से एक थीं। इस कवियत्रियों में अक्का, महादेवी रामी, जानाबाई और लाल देद शामिल हैं। हिंदुत्व के अंदर महानुभाव बरकरी और कई अन्य जैसे भक्ति संप्रदाय, हिंदू समुदाय में पुरुषों और महिलाओं के बीच सामाजिक न्याय और समानता की खुले तौर पर वकालत करने वाले प्रमुख आंदोलन थे। भक्ति आंदोलन के कुछ ही समय बाद सिक्खों के पहले गुरु गुरु नानक ने भी पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता के संदेश को प्रचारित किया। उन्होंने महिलाओं को धार्मिक संस्थानों का नेतृत्व करने, सामूहिक प्रार्थना के रूप में गाए जाने वाले वाले कीर्तन या भजन को गाने और इनकी अगुआई करने, धार्मिक प्रबंधन समितियों के सदस्य बनने, युद्ध के मैदान में सेना का नेतृत्व करने, विवाह में बराबरी का हक और अमृत (दीक्षा) में समानता की अनुमति देने की वकालत की (राठौड़:2023)। अन्य सिख गुरुओं ने भी महिलाओं के प्रति भेदभाव के खिलाफ उपदेश दिए। मध्यकाल में विदेशियों के आगमन से स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आयी। अशिक्षा और रूढियाँ जकड़ती गई. घर की चार दीवारी में कैद होती गई और नारी एक अबला रमणी और भोग्या बनकर रह गई।

आर्य समाज इत्यादि सेवी संस्थाओं ने नारी शिक्षा, धार्मिक सुधार, उनकी भूमिका आदि के लिए प्रयास आरम्भ किए। उन्नीसवीं सदीं के पूर्वार्द्ध में भारत के कुछ समाजसेवियों जैसे राजाराम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती ईश्वरचन्द विद्यासागर तथा केशवचन्द्र सेन ने अत्याचारी सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध आवाज उठायी। तमिलनाडु की प्रथम नारी संत कारैक्काल अम्मैयार निर्गुण निराकार शिव की आराधिका रही तो आंडाल और मीरा कृष्ण की साधिका, मराठी भाषी प्रथम महिला संत महदायिसा भी कृष्ण भक्त ही रही। संत वेणास्वामी रामभक्त हनुमान की सेविका बनी तो आन्ध्र प्रदेश की आतुकूरि मोल्ला राम की अनन्य भक्तिन। देखा जाए तो भक्तिकाल की इन संत महिलाओं ने ईश्वर के जिस भी रूप की भक्ति की हो, वह समाज की मानसिकता को बदलने के लिए पर्याप्त थी। अतः मध्यकाल में स्त्री-अधिकारों एवं सम्मान की लड़ाई में इन समस्त संत महिलाओं का अतुल्य योगदान रहा, जिन्होंने स्त्री होते हुए भी हर विपत्ति का डटकर सामना किया (विजय:2017)।

(ग) आधुनिक काल में स्त्रीयों की धार्मिक स्थिति व भूमिका-

समय के साथ समाज में बदलाव आया और किसी भी तरह की महिलाओं को अपनी भूमिका को निभाने और शक्तियों का आनंद लेने का मौका मिला, लेकिन यह समाज की हर महिला के लिए उपलब्ध नहीं था। भारत में महिला संरक्षण के इस आधुनिक काल की शुरुआत में, ईस्ट इंडिया कंपनी के कई नाम सामने आए। उस समय हजरत महल, उदा देवी और अज़ीज़ुन बयाल जैसी असाधारण बहादुर महिलाएं थीं, और उनमें से एक झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई भी हैं। ब्रिटिश शासकों और इंग्लैंड

तथा यूरोप के अन्य राजवंशों से आये मिशन राजवंशों ने भारतीयों के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में कुछ बदलाव किये। मिशनरी महिला शिक्षा के पक्षधर थे और कलकत्ता, बंबई और मद्रास में लड़कियों के लिए कई स्कूल स्थापित थे। धार्मिक रूढ़िवादिता के विरुध्द आधुनिकता की शिक्षाएं दी गयी। 19वीं सदी में भारत में लड़कियों की शिक्षा को काफी बढ़ावा मिला और पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध किया गया जो उनकी शिक्षा के विरोधी थे। महिलाओं ने शिक्षा के लिए विभिन्न शैक्षणिक संस्थानों की ओर रुख किया। 1854 के शिक्षा प्रेषण में महिला शिक्षा पर भारी दबाव बनाया गया। इसके परिणामस्वरूप भारत के वैश्वीकरण में कई शैक्षणिक विद्यालय स्थापित किये गये (बेयदाही:2022)।

"बदलते समय के साथ, महिलाओं के प्रति धारणा और दृष्टिकोण अलग-अलग हुए हैं। इसी प्रकार, धार्मिक समाजों में महिलाओं की भूमिकाएँ भी बदली हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान, रामकृष्ण (1836-1886) ने अपनी पत्नी शारदा देवी को अपने जीवनकाल में मंत्रोच्चार करने का अधिकार दिया था। उनकी मृत्यु के बाद उन्होंने संघ की बागडोर संभाली और आज उन्हें एक संत माना जाता है। इसके अलावा, भारत में कई मठ अब महिला तपस्वियों को अपने समुदाय में स्थान देते हैं, और कई महिलाएँ स्वयं आध्यात्मिक शिक्षिकाएँ बन गई हैं। माते महादेवी ("महान मातृदेवी") इसका एक प्रमुख उदाहरण हैं। वह शायद इतिहास की पहली महिला हैं जिन्होंने [1980 में] जगद्गुरु (विश्व शिक्षिका) के पद पर आसीन हुईं, जो अब तक पुरुषों के लिए आरक्षित था..." (सिद्दीकी:2009)। ब्रायंट कहते हैं कि, "प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक, हिंदू धर्म में प्रमुख विश्व धर्मों में दिव्य स्त्रीत्व की सबसे मज़बूत उपस्थिति रही है। शक्तिवाद जैसी प्रमुख देवी-केंद्रित हिंदू परंपराएँ और संप्रदाय हैं और कई मातृसत्तात्मक हिंदू समुदाय जो मौजूद हैं" *(ब्रायंट:2007:441)*।

विश्लेषण व निष्कर्ष

हिंदू महिलाओं के अध्ययन के दौरान मेरा विश्लेषण यह है कि हिंदुओं के पवित्र धर्मग्रंथ वेदों (जो नारीवाद को स्थापित तथा पुरुषों के साथ समानता स्थापित करते हैं) के बावजूद, हिंदू समुदाय की महिलाओं ने एक लंबा सफर तय किया है। सती, पर्दा, अशिक्षा और पुरुषों की संपत्ति होने की पुरानी परंपराओं से महिलाओं ने एक बड़ी वापसी की है। उन्होंने न केवल सामाजिक और आर्थिक विकास अर्जित किया है, बल्कि धार्मिक स्वतंत्रता भी हासिल की है। कई महिलाओं ने अपने धर्म के बारे में अपने रूढ़िवादी विचारों को त्याग दिया है, और इस प्रकार अधिक आधुनिक मुख्यधारा में शामिल हो गई हैं। जहाँ तक कट्टरपंथी दृष्टिकोण का प्रश्न है, यह सिद्धांत दिया जा सकता है कि सभी धर्मों और विकास के मार्गों में महिलाएं बड़ी बाधाएँ होती हैं और कट्टरपंथी उनमें से एक हैं। इसलिए, हिंदू महिलाओं के बारे में रूढ़िवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए और उनके सुधार को अल्प विकास के एक निरर्थक प्रयास के रूप में वर्गीकृत नहीं करना चाहिए, क्योंकि उन्होंने धार्मिक व्रतों, पुरुष वर्चस्व आदि जैसी अपराजेय

बाधाओं के बावजूद विकास की एक लंबी यात्रा तय की है। इसने भारत के लोगों को अपनी महिलाओं के महत्व और पूरे परिवार और समाज के जीवन में उनकी सांस्कृतिक भूमिका का एहसास कराया है। यह वह भावना है जिसने अंततः लोगों और विशेष रूप से महिलाओं के दिलों से रूढ़िवादिता को बाहर निकाल दिया है।

दुर्भाग्य से, कई महिलाओं ने शारीरिक या मानसिक हीनता के विचार को आत्मसात कर लिया है, जिसे सदियों से धर्म और पारंपरिक प्रथाओं के माध्यम से पितृसत्ता द्वारा प्रचारित विचारो को अपनाया है। जरूरत उस व्यक्तिपरकता को फिर से परिभाषित करने की है जो लंबे समय से पुरुषों द्वारा महिलाओं के लिए परिभाषित की जाती रही है। हमें सोचना चाहिए कि हमारी स्त्रीत्व और कामुकता हमारे लिए कैसे परिभाषित होती है और हम उन्हें अपने लिए कैसे पुनर्परिभाषित करना शुरू कर सकते हैं (वीडन:1987:5)। भारत में महिलाओं की स्थिति में बदलाव के लिए महत्वपूर्ण कारक शिक्षा, रोजगार और गतिशीलता हैं। प्रसिद्ध ब्रिटिश लेखिका और आलोचक वर्जिनिया वुल्फ आर्थिक स्वतंत्रता पर जोर देती है, वह लिखती हैं, 'अगर एक महिला को उपन्यास लिखना है तो उसके पास पैसा और अपना एक कमरा होना चाहिए। शिक्षा तक पहुंच, जो बहुत पहले महिलाओं से छीन ली गई थी, महिलाओं की स्थिति में बहुत बड़ा बदलाव ला सकती है (वुल्फ:2005:2) । कुल मिलाकर, इन घटनाक्रमों और विवादास्पद समाज को ध्यान में रखते हुए, यह कहा जा सकता है कि हिंदू महिलाएं और भी बड़ी सामाजिक, सांस्कृतिक ताकत होंगी।

सन्दर्भ सूची-

1. *अल्तेकर, एस (1983) पोजिशन ऑफ वूमन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी।*
2. *कुलश्रेष्ठ, नीलम (2012) धर्म के आर-पार औरत, बी.के. आफसेट, दिल्ली*
3. *ग्रिफिथ (1899) यजुर्वेद, सम्पादित स्वाध्याय मंडल, बनारस प्रेस।*
4. *निशा, खोजे (2023) भारतीय महिलाओं की स्थिति, अंतर्राष्ट्रीय बहुविषयक शिक्षा और अनुसंधान जर्नल, खंड 8, अंक 4, 2023, पृष्ठ संख्या 11-14।*
5. *पाण्डेय, सीमा (2021) मध्य काल में महिलाओं की स्थिति, International Journal of Arts & Education Research, IJAER/ November-December 2021/Volume-10।*
6. *ब्रायंट, एड्विन* (2007), कृष्णा: ए डॉक्यूमेंट्रीबुक, *ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस* ।
7. *मैकडैनियल (2004) फूल चढ़ाना, खोपड़ियाँ खिलाना: पश्चिम बंगाल में लोकप्रिय देवी पूजा, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। आईएसबीएन 978-0-19-534713-5।*
8. *मिश्र,जयशंकर (2013) प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना।*

9. *राय,बेयदाही (2022) भारत में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक महिला सशक्तिकरण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया 16 नवम्बर 2022।*
10. *रोबैक (1931) द साइकालाजी अव कैरेक्टर, हारकोर्ट प्रेस कंपनी, न्यूयार्क।*
11. *राठौड़, डी.एम्. (2023) भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य में नारी विषयक दृष्टिकोण, इम्पैक्ट फैक्टर, वोल्यूम.12, इश्यू.7।*
12. *वूल्फ, वर्जीनिया 2005. ए रूम ऑफ़ वन्स ओना नई दिल्ली: यूबीएस पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स प्राइवेट लिमिटेड।*
13. *वीडन,क्रिस (1987) नारीवाद और सिध्दांत, आक्सफोर्ड ब्लेकवेल पब्लिशर्स।*
14. *वर्जीनिया, सलदान्हा (2016) भारत में महिलाओं पर धर्म की शक्ति, ग्लोबल सिस्टर रिपोर्ट।*
15. *विजय (2017) भक्ति काल में स्त्री, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ हिंदी रिसर्च, वो.3, issn: 2455-2232 ।*
16. *सिद्दीकी, कलीम (2009) आधुनिक भारत में राजनीति और धर्म, हडर्सफ़ील्ड विश्वविद्यालय, https://www.researchgate.net/publication/265429446*
17. *सिंह, वंदना (2022) वोमेन एंड सोशल चेंज, झंडा प्रकाशन, दिल्ली।*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

एकात्म मानववाद दर्शन के हेतु में दलित उत्थान की संभावनाएं : एक समीक्षा

अमर्त्य उपाध्याय
शोधार्थी, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
वीर कुंवर सिंह विश्विद्यालय ,आरा ,बिहार

भारतीय समाज में सदियों से व्याप्त सामाजिक विषमता और छूआछूत की समस्या ने दलित समुदाय को लंबे समय तक हाशिए पर रखा। ऐसे में पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानववाद दर्शन एक समावेशी और सार्वभौमिक सामाजिक दर्शन के रूप में उभरता है, जो मानव को सामाजिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और नैतिक चारों स्तरों पर एक समग्र दृष्टिकोण से देखता है। यह विचारधारा दलित उत्थान की संभावनाओं के लिए एक नैतिक, सामाजिक और वैचारिक आधार प्रदान करती है।एकात्म मानववाद केवल एक वैचारिक दर्शन नहीं, बल्कि एक ऐसी समावेशी सामाजिक सोच है जो दलित उत्थान के लिए एक स्थायी मार्ग प्रस्तुत कर सकती है। यदि इस दर्शन को नीति, शिक्षा, और सामाजिक व्यवहार में वास्तविक रूप में लागू किया जाए, तो दलित समुदाय के लिए आत्मनिर्भर, सम्मानित और समान भागीदारी वाला समाज साकार हो सकता है।

अंत्योदय में अंतर्हित दलित उत्थान एक अत्यंत सारगर्भित और गहन विचारणीय विषय है, जो भारतीय समाज में सामाजिक न्याय, समता और मानव गरिमा की स्थापना के लिए अत्यंत प्रासंगिक है। यह विषय हमें अंत्योदय और दलित उत्थान दोनों अवधारणाओं के मूल भाव को समझता है। अंत्योदय का शाब्दिक अर्थ है "सबसे अंतिम व्यक्ति का उदय। यह विचार पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित 'एकात्म मानववाद' दर्शन से उपजा है, जिसका मूल उद्देश्य है – समाज के अंतिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति और उसके समग्र विकास की चिंता। दलित उत्थान का आशय है – सदियों से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से वंचित, शोषित और पीड़ित दलित समुदायों का पुनर्वास, सशक्तिकरण, शिक्षा, अवसर की समानता और गरिमा की स्थापना। अंत्योदय की संकल्पना में दलित उत्थान केवल एक घटक नहीं है, बल्कि इसकी आत्मा है।दलितों को मुख्यधारा में लाए बिना अंत्योदय की कल्पना अधूरी है। इसलिए, अंत्योदय दर्शन के हर पहलू में दलित कल्याण की चेतना

अंतर्भूत है। यह दृष्टिकोण भारत को एक समानतामूलक, न्यायपूर्ण और समरस समाज की ओर ले जाने की प्रेरणा देता है।

दीनदयाल उपाध्याय का जन्म 25 सितंबर, 1916, मथुरा, उत्तर प्रदेश, मृत्यु: 11 फ़रवरी 1968 हुई। पंडित दीनदयाल उपाध्याय एक प्रखर विचारक, उत्कृष्ट संगठनकर्ता तथा एक ऐसे नेता थे जिन्होंने जीवनपर्यन्त अपनी व्यक्तिगत ईमानदारी व सत्यनिष्ठा को महत्त्व दिया। वे भारतीय जनता पार्टी के लिए वैचारिक मार्गदर्शन और नैतिक प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। पंडित दीनदयाल उपाध्याय मज़हब और संप्रदाय के आधार पर भारतीय संस्कृति का विभाजन करने वालों को देश के विभाजन का ज़िम्मेदार मानते थे। वह हिन्दू राष्ट्रवादी तो थे ही, इसके साथ ही साथ भारतीय राजनीति के पुरोधा भी थे। दीनदयाल की मान्यता थी कि हिन्दू कोई धर्म या संप्रदाय नहीं, बल्कि भारत की राष्ट्रीय संस्कृति हैं। दीनदयाल उपाध्याय की पुस्तक एकात्म मानववाद (इंटीगरल ह्यूमेनिज्म) है जिसमें साम्यवाद और पूंजीवाद, दोनों की समालोचना की गई है। एकात्म मानववाद में मानव जाति की मूलभूत आवश्यकताओं और सृजित क़ानूनों के अनुरुप राजनीतिक कार्रवाई हेतु एक वैकल्पिक सन्दर्भ दिया गया है।

पंडित दीनदयाल जी का जीवन शुरू से अंत तक संघर्षमय ही रहा। परन्तु विपरीत परिस्थितियाँ होने के बावजूद भी आम जनमानस के दिलों में अमिट छाप छोड़ जाना यह पंडित जी के जीवन से सीख सकते हैं। पंडित दीनदयाल उपाध्याय जैसी आलोकिक महान आत्माएं धरा पर बार-बार अवतरित नहीं होती। प्रस्तुत शोध प्रबंध में पंडित जी के जीवन में घटित हुई लगभग सभी बड़ी घटनाओं को संक्षिप्त रूप में शामिल किया गया है।एकात्म मानववाद, भारतीय परंपराएं, कार्यसिद्धता, संस्कार क्षमता, बौद्धिक प्रखरता, राजनीतिक संस्कृति, संगठनकर्ता, विचारक, राष्ट्र निर्माण, संस्कृतिक पुनरुत्थान ।अखंड भारत की जिस सैद्धांतिक पृष्ठ भूमि में जनसंघ का जन्म हुआ था। उसके कारण जनसंघ की आवाज पहले दिन से ही राष्ट्रीय अखंडता एवं द्वि-राष्ट्र के विचार उत्पन्न हुए, पाकिस्तान विरोध के मुद्दों को मुखरित करने वाली सिद्ध हुई थी। अंतरित मुद्दों में भी जितनी भावात्मकता के साथ जनसंघ ने प्रांतीय, जातिय व भाषिक पृथकतावादों का प्रतिकार किया था, उतना अन्य किसी ने नहीं। जनसंघ के इस राष्ट्रवादी आग्रह के पुरोधा पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी । उन्होंने ही एक ऐसा राजनीतिक दल विकसित किया, जो सामुदायिक व भौतिक स्वार्थों के आधार पर संगठित अन्य राजनीतिक दलों की तुलना में राष्ट्रीय एकता व अखंडता के मुद्दों को न केवल आंदोलन का विषय बना सका वरन् लोगों को इन मुद्दों पर संगठित कर बलिदान के लिए भी तैयार कर सका। पंडित जी ने ही लगभग दो दशकों के गूढ़ अध्ययन व अनुभव के बाद अपनी विचारधारा को एकात्म मानववाद के नाम से भारतीय जनसंघ के सिद्धांत और नीति प्रलेख में उद्घोषित किया था।

पंडित जी एक राष्ट्रवादी विचारक और भारतीय राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने हिंदू शब्द को कभी भी धर्म के साथ नहीं जोड़ा, बल्कि भारतीय संस्कृति के रूप में परिभाषित किया था। पंडित जी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक से लेकर भारीतय जनसंघ के अध्यक्ष तक विभिन्न दायित्वों का निर्वहन करते हुए एकात्म मानववाद का संदेश जन-जन तक पहुंचाने का कार्य करते रहे। उन्होंने राजनीति के अलावा भारतीय साहित्य में भी विशेष योगदान दिया। उनके द्वारा सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य व चाणक्य पर आधारित नाटक सम्राट चंद्रगुप्त बहुत पसंद किया गया। श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की मदद से भारतीय जनसंघ की स्थापना की थी, जो बाद में चलकर आज की भारतीय जनता पार्टी के नाम से जानी जाती है। पंडित जी ने ही एकात्म मानववाद के आधार पर भारत राष्ट्र की कल्पना की थी, जिसमें विभिन्न राज्यों की संस्कृतियां आपस में मिलकर एक मजबूत राष्ट्र का निर्माण कर सके।

भारतीय चिंतन की मूल प्रवृत्ति है समग्रता। एकांगिता के प्रति निरन्तर सावधान रहने के लिये भारत अपनी प्रतिभाओं को सम्प्रेरित करता रहा। अन्त्योदय की अवधारणा समावेशी और सतत विकास के उद्देश्य से सामाजिक-आर्थिक पिरामिड में अंतिम व्यक्ति की पहचान करने के लिए है। मनुष्य की एकात्मता तब आहत हो जाती है जब उसका कोई घटक समग्रता से पृथक पड़ जाता है। इसलिए समाज के योजकों को अंत्योदयी होना चाहिए। अंत्योदय' (कतार में अंतिम व्यक्ति का उदय) दर्शन के माध्यम से दीनदयाल जी का प्रतिबिंब उनके स्वदेशी विश्वदृष्टि में निहित है: "हम न तो पूंजीवाद चाहते हैं और न ही समाजवाद। हमारा लक्ष्य 'मैन', इंटीग्रल मैन की प्रगति और खुशी है।भारतीय चिंतन की मूल प्रवृत्ति है समग्रता।अंत्योदय का शाब्दिक अर्थ है - अन्तिम व्यक्ति का उदय किंतु अंत्योदय प्राथमिकता निश्चित करने का एक मापदण्ड है किंतु पूर्ण लक्ष्य नहीं है। अन्तिम व्यक्ति के विकास में समाज के हर व्यक्ति का विकास निहित है। अंत्योदय की परिकल्पना उतनी ही पुरातन है जितनी हमारी भारतीय संस्कृति।'इंटीग्रल मैन का विचार एक ऐसे व्यक्ति की अवधारणा में निहित है जो व्यक्तित्व की सच्ची भावना को उभारती है और अपनी आकांक्षाओं में प्रामाणिक रखती है। तदनुसार, इस तरह की अवधारणाओं की आवश्यकताओं के अनुकूल एक आर्थिक प्रणाली का गठन किया जाना चाहिए, जिसका उद्देश्य एक ओर लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं को सुरक्षित करना और दूसरी ओर राष्ट्र की अखंडता की रक्षा करना है।'2 दीनदयाल जी कहते हैं: "सार्वभौमिक ज्ञान और हमारी विरासत के समर्थन से, हम एक ऐसे भारत का निर्माण करेंगे, जो अपने सभी अतीत के गौरव को बढ़ाएगा, और प्रत्येक नागरिक को अपनी बहुविध अव्यक्त संभावनाओं के विकास में लगातार प्रगति करने और प्राप्त करने में सक्षम बनाएगा। संपूर्ण सृष्टि के साथ एकता की भावना के माध्यम से, एक पूर्ण मानव की स्थिति से भी उच्च अवस्था; 'नर' से 'नारायण' बनने के लिए। एकात्म मानववाद की जैविक धारणा धर्म को राज्य का मार्गदर्शक सिद्धांत मानती है। धर्म से भेद करते हुए, धर्म सरकार और समाज का नैतिक दिक्सूचक है। दीनदयाल जी इसलिए, 'राज्यवाद' के सिद्धांत को खारिज करते हैं और सामाजिक जिम्मेदारी के मापदंडों के भीतर

व्यक्ति की स्वतंत्रता के बारे में उदारवादी धारणाओं का समर्थन करते हैं। राज्य के बारे में उनका विचार एक एकात्मक संवैधानिक संरचना के सह-अस्तित्व और सत्ता के विकेंद्रीकृत संचालन के साथ एक धर्मनिरपेक्ष चरित्र है। वह एक लोकतांत्रिक प्रणाली में राजनीतिक रूप से सशक्त गरीब बहुमत और आर्थिक रूप से सशक्त अमीर अल्पसंख्यक के बीच सामान्य टकराव को दूर करने के लिए, वंचितों या विकलांगों के लिए हमारी नीतियों में एक सुरक्षा जाल बनाने के साथ-साथ मेधावी या प्रतिभाशाली लोगों को पुरस्कृत करने के लिए बोलते हैं। ऐसी समावेशी योजना में, प्रत्येक व्यक्ति,किसी भी आर्थिक प्रणाली के पीछे तर्क यह है कि वह मानव जीवन की न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं जैसे भोजन, कपड़ा और आवास को सभी को प्रदान करने की क्षमता रखती है। एक आत्मनिर्भर उत्पादन प्रक्रिया में कार्य गारंटी की अनिवार्यता को मान्यता दी जाती है जबकि इसके विपरीत व्यवस्था जो लोगों की उत्पादन गतिविधि में बाधा डालती है वह आत्म-विनाशकारी है। इसलिए, दीनदयाल का तर्क है कि हमारे आर्थिक उद्देश्यों में प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्यूनतम जीवन स्तर का आश्वासन और प्रत्येक सक्षम नागरिक के लिए सार्थक रोजगार प्रावधान शामिल होना चाहिए। इस प्रकार, वे कहते हैं, "समाज के प्रत्येक सक्षम सदस्य को काम की गारंटी हमारी आर्थिक व्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिए

एकात्म मानव दर्शन की प्रासंगिकता सदैव रहेगी, क्योंकि यह शाश्वत विचारों पर आधारित है। दीनदयाल जी ने संपूर्ण जीवन की रचनात्मक दृष्टि पर विचार किया। उन्होंने विदेशी विचारों को सार्वलौकिक नहीं माना। यह तथ्य सामने भी दिखाई दे रहे हैं। भारतीय संस्कृति संपूर्ण जीवन व संपूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है। इसका दृष्टिकोण एकात्मवादी है। टुकड़ों–टुकड़ों में विचार नहीं हो सकता। संसार में एकता का दर्शन, उसके विविध रूपों के बीच परस्पर पूरकता को पहचानना, उनमें परस्पर अनुकूलता का विकास करना तथा उसका संस्कार करना ही संस्कृति है। प्रकृति को ध्येय की सिद्धि हेतु अनुकूल बनाना संस्कृति और उसके प्रतिकूल बनाना विकृति है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं करती। भारतीय संस्कृति में एकात्म मानव दर्शन है। मानव केवल एक व्यक्ति मात्र नहीं है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय व्यक्ति केवल एकवचन मैं तक सीमित नहीं है। समाज व समष्टि तक उसकी भूमिका होती है। राष्ट्र भी आत्मा होती है। समाज और व्यक्ति में संघर्ष का विचार अनुचित है। राज्य ही सब कुछ नहीं होता। यह राष्ट्र का एकमात्र प्रतिनिधि नहीं होता। राज्य समाप्त होने के बाद भी राष्ट्र का अस्तित्व रहता है। यह दर्शन विश्वगुरू भारत की वैदिक संस्कृति के विज्ञान सम्मत जीवन सूत्रों पर आधारित, मौलिक चिंतन है। पंडित जी ने विश्व इतिहास के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक घटनाक्रम का विस्तृत एवं गहन अनुशीलन करते हुए, तत्कालीन वैश्विक पटल में व्याप्त आपसी वैमनस्य, शक्ति एवं सत्ता संघर्ष तथा आत्मघातक प्रतियोगी वातावरण के संदर्भ में, एक ऐसा व्यवहारिक जीवन दर्शन प्रतिपादित किया है जो कि समस्त वैयक्तिक, राष्ट्रीय व वैश्विक जटिलताओं के सार्थक एवं सकारात्मक समाधान हेतु व्यावहारिक नीतियों का मार्गदर्शन करता है। 'इस दर्शन के अनुसार, 'मानव' सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड

के केन्द्र में अवस्थित रह कर, एक 'सर्पलाकार मण्डलाकृति' के रूप में, अपने स्वयं के अतिरिक्त, क्रमश: परिवार, समुदाय, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के प्रति, अपने बहुपक्षीय उत्तरदायित्वों का निर्वहन करता हुआ 'प्रकृति' (ब्रह्माण्ड) के साथ संग्रथित होता हुआ, एकीकृत हो जाता है।'व्याष्टि' से 'समाष्टि' की ओर गतिमान 'व्यक्ति' के इस बहु आयामी सृजनात्मक व्यक्तित्व का 'प्रकृति' के साथ, तादात्म्य स्थापित होना ही, एकात्म मानव दर्शन के मूल में निहित है। पंडित जी के अनुसार मानव ही, उस ब्रहमाण्ड अर्थात समष्टि का अणु अर्थात व्यष्टि इकाई है, जिसके सर्वांगीण विकास के बिना राष्ट्र का विकास संभव नहीं है।

भारतीय समाज में दलितों की स्थिति एक दीर्घकालिक सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का परिणाम रही है। ऐतिहासिक रूप से वर्ण व्यवस्था ने समाज को श्रेणियों में बाँटा, जिसमें दलितों को 'अवर्ण' या 'अस्पृश्य' की श्रेणी में रखा गया। यह वर्ग शोषण, भेदभाव और सामाजिक बहिष्करण का शिकार रहा है। दलित उत्थान की प्रक्रिया इन ऐतिहासिक अन्यायों को समाप्त करने और समाज में समता स्थापित करने का प्रयास है।वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति वैदिक काल में समाज को चार वर्णों — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र में विभाजित किया गया था। प्रारंभ में यह विभाजन कर्म और गुण पर आधारित था, किंतु बाद में यह जन्म आधारित हो गया। शूद्रों को सेवा कार्य तक सीमित रखा गया, और उनसे ऊपर के वर्णों को विशेषाधिकार प्राप्त हुए। अवर्ण और अस्पृश्यता की अवधारणा: वर्ण व्यवस्था से बाहर जो समुदाय आए, वे 'अवर्ण' कहलाए इन्हें आज के दलित या अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है। इन वर्गों को अछूत माना गया, उनके साथ सामाजिक संपर्क, मंदिर प्रवेश, शिक्षा, जलस्रोत आदि पर प्रतिबंध लगाया गया। यह भेदभाव केवल धार्मिक नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक रूप से भी संस्थागत रूप ले चुका था। जातिगत भेदभाव के प्रभाव: दलितों को नीच और अपवित्र समझा जाता था। पारंपरिक रूप से उन्हें सफाई, चमड़ा उद्योग, शव-संस्कार जैसे कार्यों तक सीमित रखा गया।शैक्षिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थानों से उन्हें वंचित रखा गया।

दलित उत्थान की शुरुआत सामाजिक सुधार आंदोलन से 19वीं सदी में ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, नरायण गुरु, और पेरियार जैसे सुधारकों ने जातिवाद और अस्पृश्यता के विरुद्ध आवाज़ उठाई। शिक्षा और सामाजिक जागरूकता के माध्यम से दलितों को समान अधिकार दिलाने का प्रयास किया गया। डॉ. भीमराव अंबेडकर का योगदान इसमें महत्वपूर्ण रहा।अंबेडकर ने दलितों की सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए संविधान में समानता, स्वतंत्रता और न्याय की गारंटी सुनिश्चित की। उन्होंने दलितों को संगठित कर "बहिष्कृत हितकारिणी सभा", "अखिल भारतीय दलित महासभा" आदि संगठनों के माध्यम से आंदोलन चलाया। 1956 में अंबेडकर के नेतृत्व में लाखों दलितों ने बौद्ध धर्म अपनाया, जो आत्म-सम्मान और सामाजिक समानता की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम था।दलित उत्थान केवल एक

सामाजिक परिवर्तन नहीं, बल्कि भारतीय समाज को समतामूलक और न्यायसंगत बनाने की अनिवार्य शर्त है। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि यह दर्शाती है कि centuries पुराने भेदभाव को मिटाने के लिए निरंतर प्रयास आवश्यक हैं। संविधान, कानून, शिक्षा और सामाजिक जागरूकता के माध्यम से दलितों को गरिमा और अधिकार दिलाना भारत के लोकतांत्रिक मूल्यों की सच्ची कसौटी है। भारतीय समाज में दलित समुदाय की दशा और दिशा को समझना सामाजिक न्याय, समता और लोकतांत्रिक मूल्यों के व्यापक विमर्श का हिस्सा है। संविधान ने जहाँ समानता, स्वतंत्रता और गरिमा की गारंटी दी, वहीं सामाजिक यथार्थ में दलितों को अभी भी अनेक चुनौतियों से जूझना पड़ रहा है। विशेष रूप से शिक्षा, रोजगार, सामाजिक प्रतिष्ठा और जातिगत भेदभाव जैसे क्षेत्र आज भी दलित उत्थान के मार्ग में बाधा बने हुए हैं। शिक्षा की चुनौती शिक्षा सामाजिक सशक्तिकरण का सबसे बड़ा माध्यम है, परंतु दलित समुदाय अब भी इसके लाभ से पूर्णतः वंचित है। संरचनात्मक असमानता: सरकारी योजनाओं के बावजूद, दलित छात्रों के लिए गुणवत्तापूर्ण स्कूल और कॉलेजों तक पहुंच कठिन है। ड्रॉपआउट दर: प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक, दलित छात्रों की ड्रॉपआउट दर अन्य वर्गों की तुलना में अधिक है। भेदभाव: विद्यालयों में अब भी दलित विद्यार्थियों को छुआछूत, अलग बैठाने और तिरस्कार का सामना करना पड़ता है।डिजिटल डिवाइड: ऑनलाइन शिक्षा के युग में दलित परिवारों में संसाधनों की भारी कमी है। रोजगार एवं आर्थिक अवसरों की कमी आरक्षण के बावजूद बेरोजगारी: सरकारी नौकरियों की संख्या सीमित है, और निजी क्षेत्र में आरक्षण नहीं होने से दलित युवा बेरोजगार रहते हैं। समान अवसर का अभाव: योग्यता के बावजूद दलित उम्मीदवारों को भेदभाव का सामना करना पड़ता है।अनौपचारिक क्षेत्र में शोषण: बड़ी संख्या में दलित असंगठित क्षेत्र में कम वेतन और असुरक्षित परिस्थितियों में काम करते हैं।सामाजिक प्रतिष्ठा की समस्या जाति आधारित सामाजिक पदानुक्रम आज भी ग्रामीण और शहरी दोनों समाजों में मौजूद है। दलित प्रतीकों और नेताओं का अपमान या उपेक्षा अक्सर देखा जाता है। अंतरजातीय विवाह या सामाजिक घुलन-मिलन को अभी भी कई समुदायों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता। जातिगत भेदभाव और हिंसा: दैनिक जीवन में भेदभाव – मंदिर प्रवेश, पानी के स्रोतों, सार्वजनिक स्थानों आदि में अब भी दलितों के साथ भेदभाव होता है। हिंसा के मामले – दलित उत्पीड़न (SC/ST एक्ट के तहत दर्ज मामलों) की संख्या चिंताजनक रूप से अधिक है। सामाजिक बहिष्कार – पंचायती राज और सत्ता में भागीदारी के प्रयासों पर अक्सर दबाव, हिंसा या बहिष्कार के जरिए रोक लगाई जाती है। दलित उत्थान केवल एक संवैधानिक या नीतिगत आवश्यकता नहीं, बल्कि भारत के सामाजिक पुनर्निर्माण की शर्त है। शिक्षा, रोजगार, सामाजिक प्रतिष्ठा और भेदभाव की वर्तमान चुनौतियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि केवल आरक्षण या सरकारी योजनाएँ पर्याप्त नहीं हैं। समाज को मानसिक स्तर पर बदलाव लाना होगा – समता, सम्मान और गरिमा को व्यवहार में उतारना होगा। तभी "दलित" शब्द अपनी पीड़ा से मुक्त होकर "सशक्त" की पहचान बन सकेगा।

निष्कर्ष

एकात्म मानववाद का दृष्टिकोण दलित उत्थान में योगदान अद्वितीय है । सभी मनुष्यों में आत्मा की समानता का सिद्धांत , दलितों को सम्मान और अधिकार अर्थनीति स्वदेशी आधारित विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर, समाज में पारस्परिक सहयोग और समरसता जातीय भेद मिटाकर सामाजिक समता राजनीति अंतिम व्यक्ति का उत्थान (अंत्योदय) नीति निर्माण में दलित हित का समावेश आदि मूल दर्शन है।

अंत्योदय "समाज के सबसे अंतिम व्यक्ति तक संसाधन, सम्मान और समान अवसर पहुंचाना"
यह दर्शन दलितों की दुर्दशा को समाप्त करने का नैतिक और राजनीतिक आधार प्रदान करता है।
अंत्योदय का मूल उद्देश्य है हर व्यक्ति को गरिमा के साथ जीवन जीने का अवसर देना। यह स्वाभाविक रूप से जाति आधारित भेदभाव को अस्वीकार करता है और दलितों को सामाजिक सम्मान दिलाने की दिशा में कार्य करता है। अंत्योदय में गरीबों, श्रमिकों, ग्रामीणों और शोषितों के लिए विशेष योजनाएं, स्वरोजगार, कौशल विकास आदि की व्यवस्था की जाती है – जो दलितों के आर्थिक पुनरुत्थान में सहायक हैं।दलित समुदाय की शैक्षिक पिछड़ापन को दूर करने हेतु अंत्योदय-प्रेरित नीतियाँ जैसे शिक्षा में आरक्षण, छात्रवृत्ति, विशेष विद्यालय योजनाएं आदि क्रियान्वित की जाती हैं।अंत्योदय का लक्ष्य राजनीतिक लोकतंत्रीकरण है, जिससे दलित वर्ग पंचायत से लेकर संसद तक अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सकें। अंत्योदय केवल भौतिक उन्नयन तक सीमित नहीं है, यह आत्मसम्मान और मानव गरिमा की स्थापना का भी पक्षधर है, जो दलितों के सामाजिक सम्मान को पुनः स्थापित करता है।

संदर्भ सूची

1. *एकात्म मानववाद -दीनदयाल उपाध्याय ,जागृति प्रकाशन ,नोएडा,प्र.व.- २००८*
2. *एकात्म मानववाद तत्व मीमांसा सिद्धांत विवेचन-पंडित दीनदयाल उपाध्याय, प्रभात प्रकाशन ,नई दिल्ली, २०१७*
3. *आधुनिक भारत के निर्माता पं दीनदयाल उपाध्याय- महेश चंद्र शर्मा , प्रकाशन विभाग,नई दिल्ली, २००२*
4. *पं दीनदयाल उपाध्याय कर्तृत्व एवं विचार,महेश चंद्र शर्मा, प्रभात प्रकाशन ,नई दिल्ली, , २०१८*
5. *अंत्योदय समाज के अंतिम व्यक्ति के उत्थान का संकल्प- प्रभात झा ,प्रभात प्रकाशन ,नई दिल्ली , २०२१*

6. कुलकर्णी, शरद अनंत, पं. दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खण्ड-4, एकात्म अर्थनीति, सुरुचि प्रकाशन, झंडेवाला, नई दिल्ली, 1986.
7. केसरी, अर्जून दास, भारतीय संस्कृति के प्रबल पक्षधरः पं. दीनदयाल उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संदेश, सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, उत्तर प्रदेश, सितंबर 1991.
8. गोयनका, कमल किशोर (ईडी), पंडित दीनदयाल उपाध्यायः ऐ प्रोफाइल, दीनदयाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, नई दिल्ली, 1972.
9. गोयनका, कमल किशोर (संपादित), पंडित दीनदयाल उपाध्यायः व्यक्ति दर्शन, दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली, 1972.
10. ठेंगड़ी, दत्तोपंत, पं. दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खण्ड-1, तत्व जिज्ञासा, सुरुचि प्रकाशन, झंडेवाला,नई दिल्ली, 2014.
11. दुबे, सी. एम., पं. दीनदयाल उपाध्यायः दी प्राइड ऑफ नेशन, पाण्डुलिपि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020.
12. देवधर, विश्वनाथ नारायण, पं. दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खण्ड - 7, व्यक्ति दर्शन, सुरुचि प्रकाशन, झंडेवाला, नई दिल्ली, 1986.
13. डॉ भीमराव अंबेडकर जीवन दर्शन , किशोर मकवाडा , प्रभात प्रकाशन , २०१९
14. भारत का दलित विमर्श, सूर्यकान्त बाली , प्रभात प्रकाशन,२०१९
15. दलित विमर्श कुछ संकेत ,राजेश कुमार बौद्ध, समदर्शी प्रकाशन ,२०२४
16. 16.डॉ अम्बेडकर,वैचारिकी एवं दलित विमर्श, डॉ कालीचरण स्नेही , आराधना प्रकाशन ,२०१२
17. दलित राजनीति का समकालीन विमर्श, राम नरेश राम , अनन्या प्रकाशन,२०१५

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

बाबू जगजीवन राम का दलित विमर्श एवं स्वाधीनता संग्राम में योगदान

अंकित सिंह
शोधार्थी, दर्शन एवं संस्कृति विभाग
महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्विद्यालय वर्धा ,महाराष्ट्र

भूमिका

बाबू जगजीवन राम (बाबूजी), जिनका जन्म 5 अप्रैल 1908 को बिहार के शाहाबाद जिले (वर्तमान भोजपुर) के चंदवा गाँव में हुआ था , आधुनिक भारतीय राजनीति के सबसे प्रमुख और सबसे लंबे समय तक सेवारत नेताओं में से एक थे। वह एक स्वतंत्रता सेनानी, एक कुशल प्रशासक और सामाजिक न्याय के एक अथक योद्धा के रूप में अपनी पीढ़ी के सबसे महान व्यक्तियों में गिने जाते हैं ।बाबू जगजीवन राम का राजनीतिक और सामाजिक दर्शन एक समतावादी समाज (Egalitarian Society) की स्थापना पर केंद्रित था, जो वर्गहीन और जातिविहीन हो, जहाँ सभी व्यक्ति समान अवसर और सम्मान के साथ रह सकें। उनके दृष्टिकोण में वंचित वर्गों को 'सामाजिक रूप से परस्पर निर्भर समाज' के लिए संघर्ष करना था, जिसमें वे अधिकारों और दायित्वों की समान शर्तों पर भागीदारी कर सकें। बाबूजी का सार्वजनिक जीवन लगभग पाँच दशकों तक फैला रहा, जिसमें उन्होंने देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिदृश्य को गहराई से प्रभावित किया। बाबू जगजीवन राम का भारतीय स्वाधीनता संग्राम में योगदान अद्वितीय था, क्योंकि यह केवल ब्रिटिश उपनिवेशवाद से मुक्ति तक सीमित नहीं था। विश्लेषणात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि उनका संघर्ष एक द्वैध संघर्ष (Dual Struggle) था। एक ओर, वे विदेशी शासन से राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए लड़ रहे थे, और दूसरी ओर, वे भारतीय समाज के भीतर व्याप्त कठोर पदानुक्रमित जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के विरुद्ध आंतरिक सामाजिक क्रांति के लिए प्रतिबद्ध थे। उनका यह दृष्टिकोण इस विचार पर आधारित था कि औपनिवेशिक मुक्ति का वास्तविक अर्थ तभी प्राप्त हो सकता है जब समाज के सबसे वंचित वर्गों को स्वतंत्रता के फल में समान अधिकार और अवसर प्राप्त हों।

उनके योगदान को पूर्व प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने स्वीकार किया था, जिन्होंने उन्हें "पहले एक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में और फिर आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में अपनी पीढ़ी के महानतम लोगों में एक बताया था "। यह कथन उनके महत्व को स्थापित करता है, क्योंकि उन्होंने भारत के निर्माण, समाज के विभिन्न तबकों को साथ लाने और देश को एक सूत्र में पिरोने तथा सुदृढ़ बनाने के कार्य में अपने व्यक्तित्व,अभिव्यक्ति निपुणता और प्रशासनिक क्षमता का उपयोग किया।

बाबू जगजीवन राम का दलित विमर्श संघर्ष, समावेशिता, और संवैधानिक अधिकारों के माध्यम से दलित चेतना को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में शामिल करने पर केंद्रित था।बाबू जगजीवन राम का दलित विमर्श उनके जीवन के अनुभवों और राजनीतिक संघर्ष पर आधारित था। उनका दृष्टिकोण दलितों के उत्थान, सामाजिक समानता, और राजनीतिक प्रतिनिधित्व पर केंद्रित था।उन्हें अपने छात्र जीवन में छुआछूत और अपमान का सामना करना पड़ा। उन्होंने आरा टाउन स्कूल में दलितों के लिए अलग रखे गए पानी के बर्तन को तोड़कर इसका विरोध किया था।उनका मानना था कि भारतीय समाज में समता और सम्मान स्थापित करने के लिए जाति-व्यवस्था को समाप्त करना आवश्यक है। वह अक्सर जाति-विषमता के संदर्भ में कबीर के दोहे को उद्धृत करते थे: "तू कत बाभन, हम कत सूद, हम कत लोहू तुम कत दूध।" जगजीवन राम ने शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का उत्प्रेरक माना। उनका मानना था कि शिक्षा ही उत्पीड़न के चक्र को तोड़ने और हाशिए के समुदायों को समाज में उनका सही स्थान दिलाने की कुंजी है।उन्होंने ऐतिहासिक विषमताओं को दूर करने के लिए आरक्षण जैसे उपायों को संस्थागत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, ताकि दलितों को शिक्षा, रोज़गार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व मिल सके।

जगजीवन राम का मानना था कि स्वतंत्रता केवल सत्ता का हस्तांतरण नहीं थी, बल्कि यह भारतीय समाज का एक मूलभूत परिवर्तन भी थी, जिसके लिए औपनिवेशिक प्रतीकों और सामाजिक प्रथाओं को सभी क्षेत्रों से हटाना आवश्यक था।

राम का बचपन एक ऐसे समाज में बीता जहाँ उन्हें शुरुआती उम्र से ही व्यवस्थित भेदभाव का सामना करना पड़ा। उनके पिता शोभी राम संत रैदास और संत कबीर के भक्त थे , जिन्होंने संभवतः उनकी प्रारंभिक सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना को प्रभावित किया। उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा नगरपालिका पाठशाला, आरा में प्राप्त की और फिर आरा टाउन स्कूल में प्रवेश लिया, जहाँ उन्हें जातिवाद का कटु अनुभव हुआ।

उनके छात्र जीवन में जातिगत उत्पीड़न के विरुद्ध एक प्रसिद्ध घटना हुई जिसने उनके भावी राजनीतिक संघर्ष की दिशा निर्धारित की। आरा टाउन स्कूल में अनुसूचित जाति के छात्रों के लिए पीने के पानी हेतु एक अलग घड़े की व्यवस्था की गई थी। जगजीवन राम इस भेदभाव को देखकर अत्यंत प्रभावित हुए

और विरोधस्वरूप उन्होंने उस अलग रखे घड़े को एक नहीं, बल्कि तीन बार फोड़ दिया। बार-बार घड़ा फूटने से परेशान प्रधानाध्यापक ने अंततः यह आदेश दिया कि जगजीवन राम भी सवर्ण हिंदुओं के घड़े से ही पानी पिएँगे। संस्थागत जातिवाद के विरुद्ध यह प्रारंभिक, अहिंसक लेकिन मुखर विरोध उनके बाद के जीवन के लिए एक मार्गदर्शक सिद्धांत बन गया। यह घटना महज एक व्यक्तिगत विरोध नहीं थी, बल्कि अन्याय के विरुद्ध एक प्रभावी 'सत्याग्रह' का आरंभिक रूप था, जिसने उन्हें यह सिखाया कि प्रत्यक्ष, दृढ़ विरोध के माध्यम से संस्थागत भेदभाव को तोड़ा जा सकता है।

अपनी शिक्षा जारी रखते हुए, उन्होंने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से इंटर साइंस और कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। कलकत्ता में छात्र रहते हुए ही उन्होंने रविदास सम्मेलनों का सफल आयोजन शुरू कर दिया और गुरु रविदास जयंती मनाना प्रारंभ किया, जिससे दलित समूहों में एकता स्थापित हुई। उनके जीवन का यह शुरुआती अनुभव उनकी सामाजिक चेतना को आंतरिक रूप से मजबूत करने वाला आधार बना, जिसने उन्हें वंचित वर्गों के कल्याण के लिए अपना जीवन समर्पित करने के लिए प्रेरित किया।

बाबू जगजीवन राम का दृढ़ मत था कि कमजोर वर्गों की समस्याओं का पूर्ण समाधान तभी हो सकता है जब देश एक कट्टरपंथी सामाजिक-आर्थिक पुनर्गठन के रास्ते पर चले। इसीलिए, उन्होंने दलितों को सामाजिक सुधार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की दोहरी मांग के लिए संगठित करने हेतु कई महत्वपूर्ण संस्थाओं की नींव रखी। उन्होंने कलकत्ता में 1934 में अखिल भारतीय रविदास महासभा की स्थापना की। इस मंच के माध्यम से, उन्होंने रविदास सम्मेलनों का आयोजन किया ताकि विभिन्न दलित समूहों को सांस्कृतिक और धार्मिक रूप से एक किया जा सके; एक बैठक में लगभग 15,000 दलित एकत्र हुए थे। इसके बाद, 1935 में, उन्होंने अखिल भारतीय दलित वर्ग लीग की स्थापना की। यह संगठन अस्पृश्यता और उत्पीड़ितों के लिए समानता हासिल करने और उनके राजनीतिक प्रतिनिधित्व की मांग के लिए समर्पित था। कृषि मजदूरों के मुद्दों को उठाने के लिए उन्होंने खेतिहर मजदूर सभा की भी स्थापना की। बाबू जगजीवन राम ने 1935 में दलितों के लिए मतदान अधिकारों (Voting Rights) को सुरक्षित करने पर जोर दिया। उन्होंने 19 अक्टूबर 1935 को राँची में हैमंड समिति (भारतीय परिसीमन समिति) की सुनवाई में इस विषय पर जोरदार वकालत की, जिसके परिणामस्वरूप 1936-37 के चुनावों में हरिजन अपना वोट डाल पाए। उनका राजनीतिक उदय प्रभावशाली रहा। 28 वर्ष की आयु में, 1936 में, उन्हें बिहार विधान परिषद का सदस्य मनोनीत किया गया। 1937 में, उन्होंने दलित वर्ग लीग के उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ा और पूर्वी मध्य शाहाबाद ग्रामीण क्षेत्र से निर्विरोध चुने गए। लीग के सभी 14 उम्मीदवारों की निर्विरोध जीत ने बिहार में दलित राजनीतिक शक्ति का स्पष्ट प्रदर्शन किया।

इस सफलता के तुरंत बाद, उन्होंने अपनी राष्ट्रवादी निष्ठा को साबित किया। जब ब्रिटिश शासकों ने कांग्रेस की सरकार न बनाने के निर्णय के बाद बिहार में यूनुस के नेतृत्व में एक 'गुड़िया कैबिनेट' (Doll Cabinet) बनाई, तो जगजीवन राम को इसमें शामिल होने का एक बड़ा प्रस्ताव दिया गया। उन्होंने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, जिससे कांग्रेस और व्यापक स्वतंत्रता आंदोलन को बड़ा समर्थन मिला । महात्मा गांधी के पत्रिका 'हरिजन' ने इस निर्णय के लिए उनकी प्रशंसा की और कहा कि उन्होंने 'उच्च आदर्शों को कैसे बनाए रखा जा सकता है' यह दिखाया है ।

जगजीवन राम ने अपनी संगठनात्मक शक्ति का उपयोग करते हुए दलितों के राजनीतिकरण को कांग्रेस के व्यापक राष्ट्रवादी एजेंडे के साथ सफलतापूर्वक एकीकृत किया। यह रणनीतिक एकीकरण सुनिश्चित करता था कि दलितों की मांगें राष्ट्रीय आंदोलन का एक अपरिहार्य हिस्सा बनें। दलित वर्ग लीग के प्रदर्शन से मिली राजनीतिक शक्ति ने उन्हें कांग्रेस के भीतर एक केंद्रीय स्थान दिलाया , जिससे वह स्वतंत्रता के बाद सत्ता के संक्रमण में एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक पद प्राप्त करने में सफल रहे।

1937 से बाबू जगजीवन राम ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एक प्रभावशाली भूमिका निभानी शुरू कर दी । उनकी राजनीतिक और संगठनात्मक कौशल की पहचान जल्द ही शीर्ष नेतृत्व ने कर ली थी। कलकत्ता में मजदूर रैलियों के आयोजन के बाद सुभाष चंद्र बोस जैसे नेताओं ने भी उनके संगठनात्मक कौशल की सराहना की थी। वे 1940 से 1977 तक अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (AICC) के सदस्य रहे, जो राष्ट्रीय स्तर पर पार्टी के मामलों में उनकी केंद्रीय भागीदारी को दर्शाता है ।

बाबू जगजीवन राम गांधीजी के सविनय अवज्ञा आंदोलन से प्रेरित थे और उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया । उन्होंने ब्रिटिश विरोधी गतिविधियों में भाग लिया और सार्वजनिक रूप से यूरोपीय राष्ट्रों के बीच द्वितीय विश्व युद्ध में भारत की भागीदारी की निंदा की, जिसके लिए उन्हें गिरफ्तार किया गया । उन्होंने सत्याग्रह में सक्रिय भागीदारी दिखाते हुए 10 दिसंबर 1940 को अपनी पहली गिरफ्तारी दी ।

भारत छोड़ो आंदोलन में निर्णायक भागीदारी (1942)

पहली गिरफ्तारी से रिहा होने के बाद भी, उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन और सत्याग्रह में अपनी भागीदारी बनाए रखी । 1942 में महात्मा गांधी द्वारा शुरू किए गए 'भारत छोड़ो आंदोलन' (Quit India Movement) के आह्वान पर, बाबूजी ने बिहार सहित विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय भागीदारी निभाई। इस भागीदारी के कारण, उन्हें 19 अगस्त 1942 को एक बार फिर गिरफ्तार कर लिया गया ।

राष्ट्रीय आंदोलनों में उनकी दो बार की गिरफ्तारी ने उन्हें एक मुख्यधारा के राष्ट्रवादी नेता के रूप में स्थापित करने में सहायता की, जिससे उनका राजनीतिक कद केवल दलित नेता की पहचान तक सीमित

नहीं रहा। यह रणनीतिक भागीदारी उनके सामाजिक न्याय के एजेंडे को कांग्रेस के व्यापक राष्ट्रीय एजेंडे के भीतर आवश्यक वैधता प्रदान करने में सफल रही। इस प्रकार, उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि वंचित वर्गों का उत्थान राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष का एक अनिवार्य भाग माना जाए, न कि कोई गौण मुद्दा। उनकी सक्रियता ने उन्हें पंडित जवाहरलाल नेहरू और श्रीमती इंदिरा गांधी जैसे दिग्गजों के प्रिय बनाया , जिससे उन्हें स्वतंत्रता के बाद देश के मूलभूत ढांचे को प्रभावित करने के लिए एक शीर्ष प्रशासनिक पद प्राप्त करने का अवसर मिला।

बाबू जगजीवन राम का स्वतंत्रता आंदोलन में योगदान सिर्फ़ राजनीतिक भागीदारी तक ही सीमित नहीं था, बल्कि वह सामाजिक न्याय और दलितों को राष्ट्रीय मुख्यधारा से जोड़ने के लिए समर्पित थे। जगजीवन राम ने स्वतंत्रता आंदोलन को सिर्फ राजनीतिक आज़ादी के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक आज़ादी और समानता के लक्ष्य से भी जोड़ा, जिससे उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है।

निष्कर्ष

बाबू जगजीवन राम का स्वाधीनता संग्राम में योगदान, औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध राजनीतिक मुक्ति और जाति व्यवस्था के विरुद्ध सामाजिक मुक्ति के द्वैध संघर्ष द्वारा परिभाषित होता है। उन्होंने छात्र जीवन में जातिगत भेदभाव के विरुद्ध अपने व्यक्तिगत विद्रोह (जैसे 'घड़ा तोड़ो' घटना) से लेकर, अखिल भारतीय दलित वर्ग लीग और खेतिहर मजदूर सभा जैसे संगठनों की स्थापना तक, वंचित वर्गों को संगठित और राजनीतिक रूप से जागरूक बनाने के लिए अथक प्रयास किए।

उनकी रणनीति, जिसने सामाजिक न्याय के एजेंडे को राष्ट्रीय मुक्ति की मुख्यधारा में एकीकृत किया, उन्हें गांधीजी और नेहरू जैसे शीर्ष नेताओं के निकट ले आई। 1940 में सत्याग्रह और 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान उनकी दो बार की गिरफ्तारी ने उनकी राष्ट्रवादी साख को मजबूत किया । इस संयोजन ने उन्हें 1946 की अंतरिम सरकार में श्रम मंत्री का पद दिलाया , जहाँ उन्होंने श्रम कल्याण और सामाजिक समानता के लिए संस्थागत आधारशिला रखी।

संविधान सभा में उनके योगदान ने सुनिश्चित किया कि सामाजिक न्याय और सकारात्मक कार्रवाई के सिद्धांत स्वतंत्र भारत के संवैधानिक ताने-बाने में मजबूती से निहित हों । बाबू जगजीवन राम का संघर्ष न केवल स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए था, बल्कि स्वतंत्र भारत को 'वर्गहीन और जातिविहीन' समतावादी समाज बनाने के लिए था । राजनीति में उनका 50 वर्षों का कार्यकाल और उप प्रधान मंत्री के पद तक पहुँचना उनकी प्रारंभिक संगठनात्मक दूरदर्शिता और स्वतंत्रता संग्राम में निभाई गई अविश्वसनीय और अपरिहार्य भूमिका का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनका जीवन दलित सशक्तिकरण और सामाजिक न्याय के संघर्ष के लिए आज भी प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है

संदर्भ ग्रन्थ

1. *मुक्ति के अग्रदूत बाबू जगजीवन राम, ई राजेंद्र प्रसाद, रेडशाइन पब्लिकेशन , नई दिल्ली, 2024*
2. *समता के स्तंभ बाबासाहेब और बाबूजी , जसराम हारनोटिया, सिद्धार्थ बुक्स पब्लिकेशन , नई दिल्ली,2015*
3. *समता मूलक समाज के पक्षधर बाबू जगजीवन राम, एस एस गौतम एवं कन्हैयालाल चंचरीक, सिद्धार्थ बुक्स पब्लिकेशन, नई दिल्ली,2015*
4. *सामाजिक समता के अग्रदूत बाबू जगजीवन राम,डॉ सुनील जोगी , डायमंड बुक्स पब्लिकेशन, नई दिल्ली ,2012*
5. *श्री जगजीवन राम जीवन और महानता , सुमित्रा देवी , सिद्धार्थ बुक्स पब्लिकेशन, नई दिल्ली,2023*
6. *दलितों के उत्थान में बाबू जगजीवन राम का योगदान, डॉ मो खुर्शीद आलम ,प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली,2021*
7. *बाबू जगजीवन राम एवं दलित आंदोलन, संत शरण , वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2019बाबू जगजीवन राम का दलित विमर्श एवं स्वाधीनता संग्राम में योगदान*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

दिव्यांग व्यक्ति और समाज : चयनित हिंदी कहानियों के संदर्भ में

सुमय्या एस
शोधार्थी
श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी

सारांश

दिव्यांग समाज का एक ऐसा वर्ग है, जिसे हमेशा समाज से दया या तिरस्कार का भाव ही प्राप्त हुआ है और जिसे अपने अधिकारों से वंचित रखा गया है। हमेशा से समाज में मनुष्य को जाति, धर्म, लिंग, स्थान, रंग, क्षमता आदि के नाम पर विभाजित करके रखा गया है। अपने आप को सभी दृष्टियों से सबसे ऊँचा समझने वाले मनुष्य की मानसिकता ही इसमें काम करती है। समाज की 'सामान्य' की भावना दिव्यांग व्यक्तियों को हर जगह समान रूप से व्यवहार पाने से पीछे रखती है। इन 'सामान्य' मानकों के अनुसार बनाए गए समाज और परिस्थितियाँ उनकी ज़िंदगी को पूरी तरह समस्यामूलक बना देती हैं। उन्हें परिवार से लेकर समाज के हर एक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हैं। सार्वजनिक स्थानों में सुविधाओं का अभाव ही एक मूल समस्या बन जाता है। इसका यही कारण है कि समाज कभी भी सभी मनुष्यों के लिए निर्मित नहीं किया गया था और इसमें शक्ति ही केंद्र में काम करती है। परिवार से लेकर शिक्षा और रोज़गार तक, ज़िंदगी के हर एक मोड़ पर उन्हें समस्याएँ झेलनी पड़ती हैं। समाज और साहित्य का अंतर-संबंध इस प्रकार है कि समाज में जो हो रहा है, उसकी झलक साहित्य में भी देखी जा सकती है। समाज किस प्रकार दिव्यांग व्यक्तियों के साथ व्यवहार करता है और उन्हें समाज में स्वतंत्र रूप से जीने में जो बातें बाधाएँ पहुँचाती हैं, उन्हें हिंदी साहित्य में हाल ही में प्रकाशित कहानियों में देखा जा सकता है।

बीज शब्द:- दिव्यांग, परिवार, अधिकार, सामाजिक नजरिया, अंधविश्वास, सार्वजनिक स्थानों में सुविधा आदि।

'दिव्यांग' शब्द पहले प्रचलित 'विकलांग' शब्द के स्थान पर आया है, जिसका अर्थ 'दिव्य अंग वाला' माना जाता है। ललित कुमार के अनुसार इस शब्द का अर्थ है- "ऐसा व्यक्ति जिसके अंग दिव्य हों।"[38] हिंदी विश्वकोश के अनुसार 'विकलांग' शब्द का अर्थ है- "अंग-हीन, न्यूनांग, जिसका कोई अंग टूटा या बिगाड़ गया हो।"[39] इन दोनों शब्दों में कमियाँ देखी जा सकती हैं और ये पूर्णतः उपयुक्त शब्द भी प्रतीत नहीं होते हैं। 'विकलांग' शब्द बिल्कुल नकारात्मक है और उनकी संवेदनाओं को ग्रहण करने में पूर्णतः अक्षम है। इसी नकारात्मकता को दूर करने के उद्देश्य से लाया गया 'दिव्यांग' शब्द भी अपने उद्देश्य को पूरी तरह पूरा नहीं करता है। यहाँ यह भी देखा जा सकता है कि केवल शब्द में बदलाव से कुछ नहीं होता है, बल्कि समाज के नज़रिए में बदलाव ही प्रमुख है। यही कहा जा सकता है कि वास्तव में शब्दों में परिवर्तन उनके जीवन में कोई वास्तविक बदलाव नहीं लाता है और असल समस्या समाज की उनके प्रति मानसिकता ही है। उन्हें जैसा वे हैं, उसी रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता है और इसमें दया या सहानुभूति मिलाने की आवश्यकता नहीं है। यह सोच भी मन में दृढ़ करने की ज़रूरत है कि दुनिया सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से बनाई गई है और इसमें न कोई ऊपर होता है, न कोई नीचे, न ही कोई एक वर्ग इसका अधिकारी होता है और न ही अन्य उससे वंचित होते हैं। हर भाषा में समय-समय पर उनके जीवन को अधिक सरल बनाने और समानता लाने की दिशा में उनके लिए प्रयुक्त शब्दों में परिवर्तन किया गया है। अंग्रेज़ी में 'इम्पेयरमेंट', 'डिसएबिलिटी', 'डिफरेंटली एबल्ड', 'स्पेशली एबल्ड' आदि अनेक शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। इनमें भी यह देखा जा सकता है कि 'एबल' को केंद्र में रखकर ही शब्दों का निर्माण किया गया है। संयुक्त राष्ट्र के सम्मेलन में दिव्यांगता को इस प्रकार परिभाषित किया है कि- "दिव्यांग व्यक्तियों में वे लोग शामिल हैं जिनमें दीर्घकालिक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या संवेदी अक्षमताएँ होती हैं, जो विभिन्न बाधाओं के साथ परस्पर क्रिया में उनके समाज में दूसरों के समान आधार पर पूर्ण और प्रभावी सहभागिता में बाधा उत्पन्न कर सकती हैं।"[40] किसी भी प्रकार के शारीरिक रूप से होनेवाली दिक्कत, मानसिक रूप से होनेवाली असमर्थता, बौद्धिक या संवेदात्मक रूप से होने वाली समस्याएं जिसके कारण व्यक्ति को अपने जीवन को आगे ले जाने में तकलीफ महसूस करता है और समाज में पूर्ण और समान रूप से भाग लेने में भी बाधाएं उत्पन्न करती है। यही नहीं उनके आर्थिक निर्भरता के क्षेत्र में भी बाधाएं पहुंचती है इसको ही दिव्यांग कहा जा सकता है।विश्व क्व लगभग 3 बिलियन लोग दिव्यांग है और भारत के सन्दर्भ में आबादी के 2.21%दिव्यांग व्यक्तियाँ है। फिर भी उन्हें अल्पसंख्यक के रूप में रखकर, अपने आप को शक्तिमान और सभी गुणों से युक्त मानकर, अपने अनुसार सबका निर्धारण करने वाली मनुष्य की मानसिकता ही समाज में मौजूद है।

]

[38] दिव्यांगजन शब्द का अर्थ और इसका औचित्य - विकलांगता डॉट कॉम

[39] एम कुमार - हिंदी विश्वकोश भाग-24 –पृ.सं.8817

[40] http://www.un.org/disabilities/documents/convention/convention_accessible_pdf.pdf [244 KB, 28 pages]

समाज कुछ ऐसा है कि हमेशा से मनुष्य को विभिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न श्रेणियों में रखकर उसके अनुसार व्यवहार करने की आदत बनी हुई है। कभी जाति, कभी धर्म, कभी वर्ण, लिंग, नस्ल, देश, भाषा, क्षमता-न जाने कितने तरीकों को खोज लिया गया है भेदभाव करने के लिए। इस दृष्टि से दिव्यांग व्यक्ति भी क्षमता के आधार पर किए गए ऐसे भेदभाव का शिकार रहे हैं। उन्हें मनुष्य होने के कारण मिलने वाले अधिकारों से भी दिव्यांगता के कारण वंचित रखा गया है या समाज से वे अधिकार प्राप्त नहीं हो पाए हैं। यदि कुछ मिला भी है तो वह दया या घृणा के भाव से जुड़ा हुआ ही मिला है। यही नहीं, समाज की संरचना ही 'सामान्य' के अनुसार बनी हुई है और उसमें दिव्यांग व्यक्तियों को कभी उचित स्थान नहीं दिया गया। सभी मनुष्यों के लिए उपयुक्त वातावरण का प्रावधान होने के बावजूद आज भी बहुत-सी ऐसी जगहें हैं जहाँ विभिन्न प्रकार की दिव्यांगताओं वाले व्यक्तियों को स्वतंत्र रूप से न चल पाने के कारण दूसरों की मदद लेनी पड़ती है, जो उनके लिए अत्यंत कठिन हो जाता है। सार्वजनिक स्थानों पर उनका पूर्ण अधिकार होने के बावजूद समाज का उनके प्रति व्यवहार ऐसा होता है कि वे स्वयं को बोझ समझने लगते हैं और अपने आपको किसी भी कार्य के लिए अनुपयुक्त मान लेते हैं।

दिव्यांग व्यक्तियों को समाज में जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनका विभिन्न संदर्भों में चित्रण हिंदी कहानियों में किया गया है। हाल ही में ऐसी कई कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं, जिनमें दिव्यांग व्यक्तियों के जीवन का वास्तविक और गहन चित्रण किया गया है। हम समाज को कितना भी विकसित घोषित कर लें, कुछ बातों में परिवर्तन की संभावना बहुत कम दिखाई देती है। मनुष्य द्वारा मनुष्य के साथ किया जाने वाला भेदभाव हर समय समाज में मौजूद रहा है, भले ही उसके कारण अलग-अलग हों। समाज में 'सामान्य' की भावना इस प्रकार बनाई गई है कि उसके केंद्र में स्वयं को पूर्ण क्षमता वाला मानने वाले लोग ही आते हैं, जिसे वे स्वयं परिभाषित करते हैं। उनसे भिन्न व्यक्तियों को 'असामान्य' की श्रेणी में रख दिया जाता है। समाज का निर्माण भी उसी अनुसार किया गया है, जिसके कारण लंबे समय तक दिव्यांग व्यक्तियों को स्वतंत्र रूप से चलने-फिरने की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं और आज भी सार्वजनिक स्थान पूरी तरह उनके लिए उपयोगी नहीं बनाए गए हैं। सार्वजनिक इमारतें, विद्यालय, सार्वजनिक परिवहन, शौचालय आदि ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो उनके दैनिक जीवन को समस्यापूर्ण बना देते हैं। इन सबका परिणाम यह होता है कि उन्हें दूसरों की मदद की आवश्यकता पड़ती है, जिसमें कई बार दया-भाव भी जुड़ा होता है। इससे उनके मन में स्वयं के प्रति हीन भावना उत्पन्न होती है। इससे भी बड़ी समस्या समाज की मानसिकता है, जहाँ कई बार ऐसा व्यवहार किया जाता है मानो दिव्यांग व्यक्ति घर से बाहर निकलने के योग्य ही नहीं हैं। आलोकिता की कहानी '**नो हॉर्न प्लीज़**' में सार्वजनिक स्थानों पर दिव्यांग व्यक्तियों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनका सशक्त चित्रण मिलता है। इसमें समाज की स्वार्थपरता को भी उजागर किया गया है, जहाँ लोग किसी भी स्थिति में दूसरों के

लिए एक मिनट भी 'बर्बाद' नहीं करना चाहते। समाज में व्याप्त यह सोच कि दिव्यांग व्यक्तियों को घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए या बाहर निकलकर दूसरों को परेशान नहीं करना चाहिए तथा उन्हें चार दीवारों के भीतर ही रहना चाहिए-इन सभी विचारों को कहानीकार ने प्रभावी रूप से अभिव्यक्त किया है। समाज में जो भी लोग हाशिये पर रखे गए हैं, उसके पीछे यही स्वार्थ भाव निहित रहता है। समाज की स्वार्थता पर डॉ. अनीता गोदारा लिखती है कि- "मानव में एक दूसरे को पछाड कर स्वयं आगे निकलने की प्रतिस्पर्धा की प्रवृति इतनी बलवती हो चुकी है कि वह स्वार्थ के घने कुहरे में घिरता चला जा रहा है। हमारे समाज में स्त्री दलित वृद्ध, विकलांग व भूमि पुत्रों को सदैव ही हाशिये का प्राणी समझा जाता रहा है, इनके जीवन पर अधिकार सशक्त व्यक्तियों व समाजों का ही रहा है और वे स्वयं पूर्व जन्म के कर्मफल तथा नियती मानकर इसको स्वीकार भी करते आ रहे हैं।"[41] दिव्यांगता को कर्मफल के साथ जोड़ने की प्रवृत्ति आज भी समाज में मौजूद है। इसमें यह सोच प्रचलित है कि व्यक्ति दिव्यांग इसलिए बन गया है क्योंकि उसने पिछले जन्म में बुरे कर्म किए थे और उसी का फल वह इस जन्म में भुगत रहा है। साथ ही, ऐसे व्यक्तियों को-चाहे वे बच्चे ही क्यों न हों-किसी शुभ अवसर पर बैठाना भी अपशकुन माना जाता है और उन्हें इस प्रकार के त्योहारों और आयोजनों से दूर रखा जाता है। इस प्रकार के अंधविश्वास का चित्रण गीता शर्मा की कहानी 'खंडित मूर्ति' में मिलता है, जिसमें ग्रामीण संदर्भ में इस समस्या को प्रस्तुत किया गया है। गीता शर्मा की कहानी 'गूँगी नियति' में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार समाज दिव्यांगता का लाभ उठाकर दिव्यांग व्यक्तियों का शारीरिक शोषण करता है। कई बार जब इस प्रकार का शारीरिक शोषण होता है, तो प्रतिक्रिया व्यक्त करने या उससे बचने के रास्ते उनके सामने खुले नहीं रहते। उनकी दिव्यांगता के कारण लोग इसी स्थिति का फायदा उठाते हैं। विभिन्न प्रकार की दिव्यांगताओं वाले व्यक्तियों की समस्याएँ भी इस संदर्भ में अलग-अलग होती हैं-कोई आवाज़ उठाने में असमर्थ होता है, कोई भागने में, तो कोई यह देखने में असमर्थ होता है कि उसके साथ यह कृत्य कौन कर रहा है। कहानी में एक ऐसी बच्ची है जो स्कूल में पढ़ती है और बोल नहीं पाती। इसी कारण जब उसके साथ शारीरिक शोषण करने का प्रयास किया जाता है, तब वह मदद के लिए किसी को बुलाने या उसके साथ क्या हुआ है, यह अपने दोस्तों के सामने व्यक्त करने में अक्षम हो जाती है।

इस प्रकार उनके जीवन को निकट से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि उनका दैनिक जीवन बहुत कठिनाइयों के साथ आगे बढ़ता है। इसका प्रमुख कारण समाज, उसकी सोच और सुविधाओं का अभाव है। व्यक्ति जैसा है, उसे उसी रूप में स्वीकार करने की मानसिकता समाज में विकसित होने की आवश्यकता अब बढ़ गई है। कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं होता- इस वास्तविकता को समाज द्वारा स्वीकार

[41] डॉ. अनीता गोदारा- हिंदी उपन्यासों में चित्रित विकलांग पात्रों का मनोवैज्ञानिक, आर्थिक एवं सामाजिक विश्लेषण- पृ.सं.-203

किया जाना चाहिए। मनुष्य में विभिन्न प्रकार की अक्षमताएँ होती हैं और उन्हें उसी रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। यदि किसी में कोई अक्षमता है, तो उसे दूर करने का मार्ग या शक्ति भी उसके भीतर ही होती है। इसलिए अपने मानकों के आधार पर उनकी क्षमताओं का आकलन करना उचित नहीं है। यदि कोई व्यक्ति दिव्यांग है, तो उसे किसी से कम नहीं समझना चाहिए। यदि उन्हें स्वतंत्र रूप से चलने-फिरने में कठिनाई होती है, तो उसका प्रमुख कारण सामाजिक संरचना है, जिसमें 'सामान्य' व्यक्ति केंद्र में होते हैं। उदाहरण के तौर पर देखा जाए तो सार्वजनिक इमारतों में हर जगह रैंप की सुविधा उपलब्ध नहीं है, जिससे व्हीलचेयर का उपयोग करने वाले लोगों के लिए यह कठिन हो जाता है। विद्यालयों में ब्रेल पुस्तकों का अभाव, ऑडियो पुस्तकों की कमी, साइन लैंग्वेज का ज्ञान न होना आदि अनेक कारण हैं, जो उनके लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं। हर क्षेत्र में परिवर्तन की आवश्यकता है और हर स्थान को सभी मनुष्यों के लिए उपयोगी बनाया जाना चाहिए। यह भी समझने की बात है कि यह कोई एहसान नहीं, बल्कि उनका अधिकार है। बहुत बार दिव्यांग व्यक्ति अपने अधिकारों से इसलिए भी दूर रहते हैं क्योंकि वे उनसे अवगत नहीं होते। इन सभी मुद्दों को विभिन्न कहानीकारों ने उठाया है और यह भी दिखाया है कि किस प्रकार वे अपने अधिकारों से वंचित रहते हैं। प्रेरणा के रूप में कई कहानियों के अंत में, अनेक समस्याओं के बावजूद, उनके जीवन को सफल होते हुए चित्रित किया गया है।

इसके अलावा और भी गंभीर समस्याएँ हैं, जैसे एसिड अटैक, जिसमें किसी व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति द्वारा जानबूझकर एसिड फेंक दिया जाता है, जिसका प्रभाव पीड़ित को पूरी जीवन भर झेलना पड़ता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, रोज़गार आदि क्षेत्र भी उनके लिए आसान नहीं हैं। कभी-कभी उनकी स्वयं की मानसिकता भी समस्या बन जाती है, जब वे स्वयं को सबसे कमतर समझने लगते हैं, विशेषकर विवाह जैसे प्रसंगों में। इसलिए समाज के साथ-साथ उनकी मानसिकता में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। समाज अभी भी उनके जीवन की वास्तविकताओं से पूरी तरह अवगत नहीं है और इस दिशा में साहित्य की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। हालांकि साहित्य में भी यह कमी दिखाई देती है कि वह इस विषय का संपूर्ण चित्रण करने में पूरी तरह सफल नहीं हो पाया है। विभिन्न प्रकार की दिव्यांगताओं से जुड़े सामाजिक समस्याओं का विविधतापूर्ण चित्रण साहित्य में अभी तक पर्याप्त रूप से नहीं हुआ है। अधिकांश साहित्यकारों का चित्रण व्हीलचेयर तक ही सीमित रहा है और उसी दायरे में उनकी समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। आगामी समय में यही आशा की जा सकती है कि दिव्यांग व्यक्तियों के जीवन का हर पहलू साहित्य के केंद्र में आएगा और लोगों का ध्यान आकर्षित करते हुए उनके जीवन में सकारात्मक बदलाव लाएगा।

---

1. दिव्यांगजन शब्द का अर्थ और इसका औचित्य - विकलांगता डॉट कॉम
2. *एम कुमार - हिंदी विश्वकोश भाग-24 –पृ.सं.8817*

3. *http://www.un.org/disabilities/documents/convention/convention_accessible_pdf.pdf [244 KB, 28 pages]*
4. *डॉ. अनीता गोदारा- हिंदी उपन्यासों में चित्रित विकलांग पात्रों का मनोवैज्ञानिक, आर्थिक एवं सामाजिक विश्लेषण- पृ.सं.-203*

सहायक ग्रन्थ

1. *ललित, सम्यक, 'बा-वजूद कहानियाँ : कुछ अलग - सी'(नई दिल्ली, श्वेतवर्णा प्रकाशन,2021) ।*
2. *शर्मा, गीता, 'मुड़ के देखो मुझे' (नई दिल्ली, श्वेतवर्णा प्रकाशन,2022) ।*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भारत उद्भूत धर्म और परंपराएं (नरेंद्र कोहली कृत 'अभ्युदय', 'महासमर' तथा 'तोड़ो कारा तोड़ो उपन्यासों के विशिष्ट संदर्भ में)

तरुण किशोर नौटियाल
शोधार्थी- हिन्दी-विभाग, हेमवती नंदन बहुगुणा
गढ़वाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर, उत्तराखंड

शोध-सार:

एक जीवंत चिंतन के रूप में जिसकी अभ्यर्थना की जाती है, ऐसी भारतभूमि तपस्वियों, ऋषियों द्वारा स्वानुभूत की गई जीवन–प्रणाली का पुनीत परिणाम है। 'भारतवर्ष' एक भूमि का टुकड़ा नहीं अपितु एक जीवंत विचारधारा है ,जो सदियों से अखंड चेतना के रूप में राष्ट्र' रूप में मूर्तिमान है। भारत की राष्ट्रीय यात्रा धर्म-तत्त्व आधारित सनातन परंपराओं द्वारा गृहीत वैदिक, लौकिक तथा लोक की सतत प्रवाहमान पुण्य सलिला है। दुनिया भर में 'धर्म' का अर्थ अधिकांशतः मजहब के संदर्भ में लिया जाता रहा है लेकिन भारत वर्ष में धर्म की व्याख्या कर्तव्यपरायणता और मजहब दोनों संदर्भों में स्वीकार की जाती है। कर्तव्य के रूप में भारतीय धर्म पद्धतियों ने चराचर जगत के समस्त जीवों तक मानवीय संवेदना का विस्तार किया, वसुधैव कुटुम्बकम और सर्वे भवन्तु सुखिनः जैसी भावनाएं इसी के उदाहरण हैं । 'आत्मनो हि मोक्षार्थ जगत हिताय च' का कल्याणकारी विचार भारतीय उद्भूत धर्म और परंपराओं में रामायण और महाभारत काल से ही दृष्टिगोचर होते हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के ध्वजवाहक इन दोनों ग्रंथों की शाश्वतता और नित्यता का प्रमाण है कि दुनिया के अस्तित्व के संरक्षण हेतु नैतिक मार्गदर्शन के संदर्भ में ये ग्रन्थ पूर्णतः प्रासंगिक हैं। आधुनिक युग में भारत उद्भूत धर्म और परंपराओं की मुखर अभिव्यक्ति विश्व धर्म सभा शिकागो में स्वामी विवेकानंद द्वारा की गई जिसमें वेदों, उपनिषदों तथा रामायण एवं महाभारत ग्रंथों का ही सारतत्व प्रस्तुत किया गया था। अतः रामायण, महाभारत तथा विवेकानंद साहित्य को आधार बनाकर नरेंद्र कोहली जी द्वारा क्रमशः लिखित उपन्यासों 'अभ्युदय', 'महासमर' तथा 'तोड़ो कारा तोड़ो' के माध्यम से भारत उद्भूत धर्म और परंपराओं को समझना इस शोध-पत्र का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

बीजशब्द: जीवंत राष्ट्र, अखंड चेतना, धर्म, कर्तव्य, कल्याण, अभ्युदय, महासमर, तोड़ो कारा तोड़ो, तत्वज्ञान, शाश्वत, ज्ञान-परंपरा, संस्कृति।

भारत की संपूर्ण परंपरा 'धर्म' पर आधृत है। 'धर्म' की अवधारणा ने ही विश्व में भारत को अद्वितीय स्थान पर स्थापित किया है। सदियों से भारत वर्ष की राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक शाश्वत परंपराएं और मानवता के प्रति दायित्व निर्वहन की प्रेरणा का स्रोत यह 'धर्म' तत्व ही रहा है। भारत उद्भूत, धर्म और परंपराओं की यह सांस्कृतिक श्रृंखला वेद, उपनिषद, रामायण और महाभारत ग्रंथों के माध्यम से भारतीय समाज को सदियों से जीवनदायिनी ज्ञानधारा से सिंचित कर रहे हैं। यही कारण है कि सदियों की गुलामी भी भारत वर्ष की 'धर्म' तत्व आधारित उर्वरा भूमि को आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बंजर न बना सकी। भारतीय सनातन परंपरा में यह 'धर्म' की व्यापक अवधारणा 'आत्मनो हि मोक्षार्थ जगतहिताय च' की मूल भावना पर आधारित रही है, जिसमें 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम' की अवधारणाओं को राष्ट्रीय चेतना के साथ तादात्म्य कराया गया है।

दुनियाभर के सब देशों में 'धर्म' की 'मजहब' आधारित अवधारणा प्रचलित है लेकिन दुनिया के मानचित्र पर यह भारत भूमि ही है जो 'धर्म' को मजहब के साथ कर्तव्य रूप में भी स्वीकार करती है। 'कर्तव्य' के रूप में 'धर्म' की व्याख्या ने संपूर्ण मानवता को एकीकृत करते हुए सारे भेदभावों को मिटा दिया और 'भारत' को सर्वस्वीकृति वाले राष्ट्र की संज्ञा से विभूषित किया। भारतीय मनीषियों और ऋषि मुनियों के विशद चिंतन की परंपरा में धर्म, अध्यात्म तथा दर्शन की जटिल गुत्थियों को आमजनमानस के सरोकारों से जोड़ा गया है। 'रामायण', 'महाभारत' ग्रंथों में व्याख्यायित यह भावना आधुनिक समय में स्वामी विवेकानंद के विचारों में उद्भूत होते है। नरेंद्र कोहली जी ने भारत उद्भूत धर्म और परंपरा में रामायण, महाभारत एवं विवेकानंद साहित्य को भारतीय जीवन-प्रणाली और चिंतन की निरंतरता में प्रस्तुत किया। इसी का परिणाम उनके 'अभ्युदय', 'महासमर' तथा 'तोड़ो कारा तोड़ो' जैसे महाकाव्यात्मक उपन्यास हैं।

भारतीय चेतना में बसे नायकों राम, कृष्ण, पांडव, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद को आधार बनाकर लिखित उनके उपन्यास भारतीय ज्ञान-परंपरा के मूलभूत तत्व 'धर्म' के व्यापक अर्थों को परिभाषित करते हैं, जिस राष्ट्र में आध्यात्मिक साधक, साधु-संन्यासी भी अपनी साधना को सामाजिक सरोकारों से जोड़ने का निरंतर प्रयास करते है, वही भारत 'धर्म' की अक्षुण्ण चेतना का संवाहक भी है। कोहली जी कृत 'अभ्युदय' उपन्यास के 'राम' अपने स्वधर्म का विश्लेषण करते हुए कहते हैं- ''सामाजिक प्रासंगिकता से बढ़कर भी कोई बुद्धि, ज्ञान अथवा कोई अन्य साधना होती है?.... क्या आध्यात्मिकता का अर्थ अपने भौतिक स्वार्थों से मुक्त होने के सिवाय भी और कुछ है? समाज-निरपेक्ष शून्य अध्यात्म का भी कोई अस्तित्व है क्या? क्या अध्यात्म का सुख, अपने स्वार्थों से मुक्ति तथा अपने समाज के लिए उपयोगी होकर, उसको सुखी कर स्वयं सुखी होने से अलग भी कुछ है?''[1]

भारतीय समाज की आध्यात्मिक चेतना और सामाजिक सरोकारों के मध्य यह अंतर्संबंध 'धर्म' का नया स्वरूप प्रस्तुत करता है, जो 'अभ्युदय' के राम के उपर्युक्त कथन में भी ध्वनित होता है। रामकथा में 'राम' जब भी अपने पिता की आज्ञा से वनवास गए तो वह भी उनका धर्म ही था। वनवास काल में राक्षसों का संहार कर मानवता की रक्षा करना भी उनका कर्तव्य था। धर्म और कर्तव्य के एकीकरण का सबसे सफल उदाहरण रामकथा में दिखाई देता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की अमूल्य विरासत-रूपी ग्रंथों में रामायण के राम 'धर्म' के ध्वजवाहक हैं, जिनके ध्वज तले भारतीय समाज में उद्भूत धर्म और परंपराओं का सुंदर विन्यास उपस्थित होता है। लंका जैसी समृद्ध नगरी के शासक रावण का वध करने के बाद भी उन्होंने भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा का अतिक्रमण कर लंका को अपने आधिपत्य में लाने का प्रयास नहीं किया। राम ने आजीवन अपने 'स्वधर्म' का पालन करते हुए इन्द्रिय और भौतिक सुखों के संयमित भोग की वकालत की और सुखों की अनिवार्यता तक ही भोग की प्रवृत्ति को समर्थन किया। लंका विजय के पश्चात विभीषण को कहा गया 'राम' का कथन भारत वर्ष के उच्चतम और परम सनातन उदात्त विचार का परिचायक है। 'अभ्युदय' के राम कहते हैं- ''हां, विभीषण! अपने साथियों को भी तुम्हें समझाना होगा कि वस्तुतः हित क्या है? सुख क्या है? इन्द्रियों का सुख भौतिक सुख है। वह उपयोगिता की दृष्टि से अनिवार्य है; किंतु जब वह उसकी अनिवार्यता का अतिक्रमण कर अतिरिक्त सुख खोजता है, तो रोग बन जाता है .... यौन-सुख, जाति-सुरक्षा की वृत्ति, शरीर की आवश्यकता तक निर्माण है, विलास के क्षेत्र में पहुँचकर वह क्षय है।''[2]

भौतिक सुखों के 'संयम' से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने 'धर्म' का समुचित पालन कर सकता है। स्वयं 'राम' ने अपने धर्म का निष्ठा से पालन किया और भारत राष्ट्र की चेतना में एक नए भाव का संचरण किया है। नरेंद्र कोहली जी ने 'राम' को भारत उद्भूत धर्म और परंपराओं का प्रतिनिधि नायक के रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने युग के सापेक्ष व्याख्यायित करते हैं। 'रामकथा' की समकालीन प्रासंगिकता की दृष्टि से उनका 'अभ्युदय' उपन्यास विशिष्टता धारण किए हुए है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के विषय में कोहली जी का निम्नलिखित कथन 'रामतत्व' के मर्म और उनके धर्म एवं कर्तव्यपरायणता का बोध कराता है, वे लिखते हैं- ''मुझे और मेरे समय को भी श्रीराम की आवश्यकता थी, जो इंद्र और रूढ़िबद्ध सामाजिक मान्यताओं की सताई हुई, समाज से निष्कासित, वन में शिलावत् पड़ी अहल्या के, उद्धारक हो सकते; जो ताड़का और सुबाहु से संसार को छुटकारा दिला सकते, मारीच को योजनों दूर फेंक सकते, जो शरभंग के आश्रम में निसिचरहीन करउँ महि का प्रण कर सकते; संसार को रावण जैसी अत्याचारी शक्ति से मुक्त करा सकते।''[3]

जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में श्रीराम के द्वारा जिस प्रकार अपने 'स्वधर्म' का पालन किया गया, वह संपूर्ण भारतीय समाज के लिए प्रेरणादायी रहा है। भारत की गौरवशाली परंपरा को पुनरप्रतिष्ठापित करने की दृष्टि से ये महाकाव्य भारत में पल्लवित-पुष्पित 'धर्म' तत्व की संकल्पना की मजबूत आधारशिला का निर्माण

करते हैं। आधुनिक समय में कोहली जी ने भारतीय समाज की इस विस्मृत जीवन आस्था को अपने महाकाव्यात्मक उपन्यासों के माध्यम से सब राष्ट्र-जीवन के केंद्र में उपस्थित करा दिया। इनमें भारत में 'धर्म' विषयक चिंतन और विविध परंपराओं का साक्षात्कार भी किया जा सकता है। आलोचक कमल किशोर गोयनका लिखते हैं- ''नरेंद्र कोहली अपनी इन महाकाव्यीय गाथाओं से कई पीढ़ियों को समृद्ध करते हैं और देश की सनातन मानवीय उदात्तता, सत्यता, प्रज्ञा तथा संस्कृति की आत्मा का विस्तार करते हैं और हिंदू इतिहास, संस्कृति, धर्म, दर्शन तथा धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ के शाश्वत संघर्ष को और धर्म, सत्य तथा शुभ एवं मंगल की विषय के मर्म की अनुभूति करा देते हैं।''[4]

'रामकथा', 'अभ्युदय' की भांति ही नरेंद्र कोहली जी के महाभारत आधारित 'महासमर' उपन्यास में भी भारतवर्ष की अक्षुण्ण 'धर्म' चेतना चेतना और समृद्ध सांस्कृतिक परंपराओं का प्रभावी वर्णन है। इसमें मनुष्य के दुष्ट बाहरी शत्रुओं से युद्ध की प्रेरणा तो मिलती ही है; साथ ही अपने मानसिक विकारों से सात्विक संघर्ष की सतत प्रेरणा भी इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। भारतवर्ष के ऋषि-मुनि, आध्यात्मिक चेतना के जागरण के माध्यम पर अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि विकारों को नियंत्रित करने के क्रम में जिस भीतरी महासमर का समर्थन करते हैं; महाभारत के भीष्म, विदुर, युधिष्ठिर, कुंती, अर्जुन और स्वयं योगेश्वर कृष्ण जैसे पात्र इन इन्द्रिय विकारों को को पराभूत करने वाले जीवंत पात्र हैं। ये पात्र अपनी समस्त भौतिक आकांक्षाओं का संयमन और उचित दिशा में अपनी ऊर्जा का संचरण कर समस्त संसार में भारत उद्भूत धर्म और परंपराओं का सशक्त प्रतिनिधित्व करते हैं। महाभारत पर आधारित 'महासमर' उपन्यास के पात्र कथा के विविध प्रसंगों में जैसे 'धर्म' तत्व की व्याख्या करते चले जाते हैं। 'युधिष्ठिर' को युवराज बनाए जाने के समय, विदुर द्वारा युधिष्ठिर को कहा गया कथन उद्धृत किया जा सकता है- ''लोक-कल्याण में निःस्वार्थ बुद्धि से किया गया कार्य ही धर्म है। धर्म-राज्य से न्याय-पक्ष सुखी होता है और अन्याय-पक्ष पीड़ित।''[5]

धर्म-राज्य की संकल्पना का यह विचार संपूर्ण विश्व को भारतीय ज्ञान परंपरा का अतुलनीय अवदान है। इसमें 'न्याय' की रक्षा हेतु अन्याय के पक्ष को दंडित करने की स्वतःस्फूर्त वाणी भी सुनाई देती है। 'पाण्डवों' के साथ 'महाभारत' की कथा में इतना अन्याय हुआ कि स्वयं 'अन्याय' ही मूर्त रुप में प्रकट होकर जैसे उनके साथ ही गतिमान हो। राज्य, संपति, मान-सम्मान तथा भरी सभा में पत्नी द्रौपदी का दुस्साहसपूर्ण अपमान इत्यादि घटनाओं ने 'धर्म' पक्ष को मृतप्राय समझ लिया था किंतु यह स्वयं 'धर्म' की शक्ति थी कि प्रकृति ने अधर्मियों को उचित समय पर दण्ड दिया; महाभारत के 'महासमर' में अधर्मी दुर्योधन की पराजय इसका प्रमाण है। भारतीय परंपरा 'महाभारत' के माध्यम से प्रकृति के उस 'धर्म' को स्पष्ट करती है, जिसके तहत ईश्वर स्वरूपा प्रकृति की विराट चेतना का साक्षात्कार होता है। 'महासमर' के कृष्ण कहते हैं- ''धर्म का परिणाम तो शुभ ही होता है। किंतु इस बात का ध्यान रखो कि प्रकृति अत्यंत विराट है। वह मानव-बुद्धि

के समान सीमित नहीं है। उसकी काल-गणना अपनी ही है। धर्मराज को उनके धर्म का फल जिस अवधि में तुम चाहते हो, उसमें न मिल कर, उस अवधि में मिलेगा, जो प्रकृति ने निर्धारित कर रखी है।''[6]

शांति की इच्छा रखने और अनावश्यक हिंसा को टालने के प्रयास में तो प्रकृति के न्याय की प्रतीक्षा की जा सकती है किंतु 'अधर्म' यदि अत्यधिक धूर्त हो जाए तो महाभारत युद्ध-धर्म को अंगीकार करने का समर्थन करता है। भारतीय परंपरा का 'धर्म-विषयक चिंतन' अनावश्यक हिंसा का समर्थन नहीं करता लेकिन यह अन्याय और आततायी शक्तियों के विरुद्ध युद्धनीति के धर्म के पालन का प्रबल पक्षधर है। 'मथुरा' को 'जरासंध' के हिंसक आक्रमण से नष्ट होने से रोकने के लिए कृष्ण ने स्वयं रणछोड़ कहलवाना स्वीकार किया किंतु अपनी प्रजा के पालन का धर्म नहीं छोड़ा। द्रुपद को बंदी बनाते समय भीम द्वारा निर्दोष सैनिकों के नरसंहार से व्यथित अर्जुन उन्हें रोकते हैं, जिससे युद्ध-धर्म का सात्विक पालन भी हो जाता है और अनावाश्यक हिंसा भी नहीं होती। इसी प्रकार महाभारत के युद्ध से पहले जब स्वयं धनुर्धारी अर्जुन, मोह में बंधकर युद्ध से भागने का प्रयास करते हैं, उस समय कृष्ण उन्हें, उनके स्वधर्म का बोध कराते हैं। आनुषंगिक (महासमर-9) में नरेंद्र कोहली हैं- ''कृष्ण, अर्जुन को गांडीव उठाने को कहते हैं। युद्ध करने को कहते हैं। उन परिस्थितियों में शांति की इच्छा को मोह और क्लीवता कहते हैं। धर्म की स्थापना के लिए वह शांति श्रेयस्कर नहीं है, जो न्याय के शव पर खड़ी हो। ऐसे समय में युद्ध ही श्रेयस्कर है। शांति की कामना, कायरता का नाम नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि महाभारत, अहिंसा को उच्चतम और चरम धर्म मानते हुए भी अन्याय और अन्याय को स्वीकार करने वाली कायरता का पक्ष नहीं लेता।'' [7]

विश्व शांति की कामना करने वाला भारतवर्ष का धर्म-चिंतन ही है, जो आवश्यकता होने पर युद्ध और हिंसा का मार्ग अपनाकर राष्ट्रहित में अधर्म का नाश कर सकता है। भारत उद्भूत धर्म और परंपराओं का यह वैश्विक समाज के सर्वांगीण विकास के लिए महत्वपूर्ण अवदान है।

'भारतवर्ष' ने कभी भी अपने स्वार्थ के लिए किसी अन्य देश का शोषण करने का प्रयास नहीं किया। न ही भारत ने अपनी शरण में आए शरणागतों को बहिष्कृत किया। हमेशा उच्च मानवीय मूल्यों, आध्यात्मिक चेतना और राष्ट्रीय प्राणतत्व धर्म का पालन करते हुए भारत ने उत्पीड़ितों को आश्रय प्रदान किया। संपूर्ण विश्व को भारत उद्भूत धर्म और परंपराओं के माध्यम से सहिष्णुता और सर्वस्वीकृति हुए स्वामी विवेकानंद ने भी भारत की गौरवगाथा को पुनप्र्रतिष्ठापित किया। नरेंद्र कोहली के 'तोड़ो कारा तोड़ो' उपन्यास से स्वामी विवेकानंद का एक कथन उद्धृत है- ''मुझे उस राष्ट्र का सदस्य होने का गर्व प्राप्त है जिसने संसार के सारे धर्मों और देशों के उत्पीड़ित और निराश्रित लोगों को अपने यहाँ आश्रय दिया है। आपको यह बताते हुए मुझे गर्व का अनुभव हो रहा है कि हमने इसराइलियों के पवित्र अवशेषों को अपने हृदय में छिपाकर रखा है। वे उस समय हमारे पास आए थे, जब रोमन अत्याचारियों ने उनके पवित्र मंदिर को ध्वस्त किया

था। मुझे उस धर्म से संबंधित होने का गर्व है, जिसने महान जोरास्त्रियन राष्ट्र के अवशेषों को आश्रय दिया और आज भी उनका पालन कर रहा है।''[8]

शिकागो विश्व धर्म सभा सम्मेलन में स्वामी विवेकानंद के भाषण का यह अंश 'भारत' के केंद्रीयभूत स्वभाव और विशेषता को प्रकट करता है। सर्वोच्च आध्यात्मिक चेतना से संपूरित भारत वर्ष ने दुनिया को मर्यादित लौकिक आकांक्षा का पाठ पढ़ाया। मानव समाज को जीवन के उच्चतम प्रश्नों से साक्षात्कार करने में जहां विज्ञान भी अनुतरित हो जाता है; वहीं भारत के ऋषियों-मुनियों ने तत्वज्ञान-विषयक उच्च साधना पद्धतियों का मुक्तहस्त वितरण संपूर्ण विश्व को दिया। यह 'धर्म' तत्व ही मानव मन को भौतिक जीवन के परे उठाकर प्रत्येक व्यक्ति में निहित उस परम तत्व को समझने की दृष्टि प्रदान कर सकता है। भारत उदभूत धर्म और परंपराओं ने दुनिया को वह अंतदृष्टि प्रदान की, जिसके माध्यम से मानव-जीवन के अंतिम लक्ष्य, ईश्वर के साक्षात्कार, को प्राप्त किया जा सकता है। स्वामी विवेकानंद कहते भी हैं- ''अपने जीवन में निरंतर ईश्वर की खोज करना, उसको पहचानना, निरंतर उसके निकट जाना, उसके समान होने का प्रयत्न करना और फिर वही हो जाना- हिंदू धर्म है।''[9]

प्रत्येक मानव की ईश्वर के साथ एकाकार हो जाने का यह विचार मानवता को विभाजित करने वाली सभी शक्तियों को पराजित करने का सामर्थ्य रखता है। इसके कारण ही भारत, दुनिया के सभी मजहबों और पूजा पद्धतियों को संरक्षण प्रदान कर सका। सभी जीवात्माओं में परमब्रह्म की अभिव्यक्ति का भाव व्यावहारिक धरातल पर यदि कहीं उपयोग में लाया जा सका तो वह भारतवर्ष है। इस भाव ने भारतीय जनमानस को उदार, सहिष्णु और सर्वधर्मसमभाव का पोषक बना दिया। दुनियाभर की समस्त उपासना पद्धतियों को भारत ने पाला-पोषा और समस्त विश्व को 'वसुधैव कुटुम्बकम' के भाव के साथ एकीकृत कर दिया। 'तोड़ो कारा तोड़ो' में स्वामी विवेकानंद अपने एक शिष्य फैज अली से कहते भी हैं- ''मैं तो देखता हूँ कि विश्व-प्रपंच में ब्रह्मा सर्वत्र प्रकाशित है। मेरी दृष्टि में इस ऊँच-नीच का अर्थ नहीं है। अपने-पराए का कोई भेद नहीं है। धर्मों का विभाजन मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखता।''[10]

स्वामी जी ने औपनिवेशिक वातावरण में भारत की राष्ट्रीय अखंड चेतना के पुनर्जागरण के लिए 'धर्म' की इसी सार्थक व्याख्या का समर्थन किया, जिसके माध्यम से भारत की राष्ट्रीय एकता और अखंडता सुनिश्चित हो सकती थी। धर्म और राष्ट्र के एकीकरण का प्रयास तो आदिगुरु शंकराचार्य जी ने आठवीं सदी में ही कर लिया था, जिसको उन्नीसवीं सदी में स्वामी विवेकानंद ने एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। उन्होंने भारतवासियों का आह्वान करते हुए 1897 में रामकृष्ण मिशन और मठ की स्थापना के साथ कहा था कि अगले पचास वर्ष भारत को ही जाग्रत देवता 'भारतमाता' मानकर कार्य करना चाहिए, तब भारत को स्वाधीनता मिल सकती है- ''भारत ही एकमात्र ऐसा देश है जिसके जीवन का आधार धर्म है। हमारा उत्थान हुआ था तो अध्यात्म के मार्ग से ही और हमारा पतन हुआ है तो अध्यात्म के त्याग के कारण ही। हम यदि

अपना स्वार्थ त्याग सकें तो हमारा चहुंमुखी विकास होगा। ऐसे में मुझे लगने लगता है कि मेरा अध्यात्म अंततः मुझे देशभक्ति की ओर ले जाता है और मेरी देशभक्ति मुझे अध्यात्म की ओर प्रेरित करती है।''[11]

राष्ट्र को भारतमाता और देशभक्ति एवं धर्म के एकीकरण के दर्शन को विश्व पटल पर प्रस्तुत करना भारत उद्भूत धर्म और परंपराओं की अद्वितीय विशेषता है। रामायण, महाभारत से प्रारंभ धर्म-चिंतन और समृद्ध परंपराएं जब औपनिवेशिक शिक्षा प्राप्त भारतीय बुद्धिजीवियों ने भारतीय आस्था, विश्वास, धर्म और दर्शन को विस्मृत कर दिया था। ठीक उसी समय स्वामी विवेकानंद ने भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म, और राष्ट्रप्रेम के भाव को भारत की गौरवशाली परंपराओं के रूप में प्रस्तुत किया। साहित्य के क्षेत्र में रामायण, महाभारत सहित भारतीय सभ्यता के अमूल्य ग्रंथों की प्रामाणिकता और राम, कृष्ण, विवेकानंद जैसे राष्ट्रीय नायकों को अप्रासंगिक घोषित करने का प्रयास किया गया। ऐसे समय में नरेंद्र कोहली जी ने इन राष्ट्रनायकों को अपनी सृजनशीलता का आधार बनाया और भारत उद्भूत धर्म सौर परंपराओं का सुंदर वितान प्रस्तुत किया। आलोचक बलदेव भाई शर्मा लिखते हैं- ''नरेंद्र कोहली ने राम-कृष्ण-विवेकानंद जैसे प्रतीकों को लेकर आधुनिक साहित्य को लोकोपचारी व भारत के नवनिर्माण की चेतना से युक्त बनाया। उनके साहित्य में राष्ट्रबोध, राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक चेतना और मानवीयता केंद्रीयभूत तत्व है।''[12]

इस प्रकार जीवंत राष्ट्र भारतवर्ष ने 'धर्म' की रूढ़िवादी संकीर्ण व्याख्याओं से अलग, व्यापक प्रगतिशील चिंतन को प्रोत्साहित किया। रामायण, महाभारत जैसे अमूल्य ग्रंथों से बहती अस्तित्व के उच्च धरातल की यह 'धर्म' तत्व रूपी जीवनदायिनी धारा चिंतन की निरंतरता के रूप में स्वामी विवेकानंद के विचारों में दृष्टिगोचर हुई। सदियों से चली आ रही भारत उद्भूत धर्म और परंपराओं को वैश्विक जनचेतना के नवनिर्माण, शाश्वत शांति को स्थापना और भारत की ऐतिहासिक सांस्कृतिक पूंजी के रूप में विश्व पटल पर गौरव के साथ प्रस्तुत् करना आवश्यक है क्योंकि संपूर्ण मानवता को मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए यह आज प्रासंगिक है कि राष्ट्र का मूलाधार धर्म हो।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *कोहली, नरेंद्र: अभ्युदय-1, डायमंड पॉकेट बुक्स, प्रकाशन, वर्ष 2023, पृ0सं0 512*
2. *कोहली, नरेंद्र: अभ्युदय-1, डायमंड पॉकेट बुक्स, प्रकाशन, वर्ष 2023, पृ0सं0 591*
3. *कोहली नरेंद्र: मेरे राम मेरी राम कथा, वाणी प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2012, पृ0सं 10*
4. *डॉ0 जनमेजय, प्रेम; संपादक: नरेंद्र कोहली के न होने का अर्थ, वाणी प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2022, पृ0सं0 18*
5. *कोहली, नरेंद्र: महासमर-3 (कर्म), वाणी प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2021, पृ0सं0 92*
6. *कोहली, नरेंद्र: महासमर-5 (अंतराल), वाणी प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2021, पृ0सं0 114*
7. *कोहली, नरेंद्र: महासमर-9 (आनुषंगिक), वाणी प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2021, पृ0सं0 229*

8. *कोहली, नरेंद्र: तोड़ो कारा तोड़ो-4 (निर्देश), किताबघर प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2022, पृ0सं0 314*
9. *कोहली, नरेंद्र: तोड़ो कारा तोड़ो-4 (निर्देश), किताबघर प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2022, पृ0सं0 252*
10. *कोहली, नरेंद्र: तोड़ो कारा तोड़ो-3 (परिव्राजक), किताबघर प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2022, पृ0सं0 187*
11. *कोहली, नरेंद्र: तोड़ो कारा तोड़ो-2 (साधना), किताबघर प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2022, पृ0सं0 421*
12. *डॉ0 जनमेजय, प्रेम; संपादक: नरेंद्र कोहली के न होने का अर्थ, वाणी प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2022, पृ0सं0 26*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

"भारतीय साइबर सुरक्षा से संबंधित मुद्दे: चुनौतियां और संभावनाएं" एक सामाजिक अध्ययन

किरण बिलोनिया
शोधार्थी - समाजशास्त्र विभाग
देवी अहिल्या विश्वविद्यालय इंदौर (म.प्र.)

शोध सारांश

यह शोध साइबर सुरक्षा से संबंधित मुद्दे, चुनौतियां और संभावनाओं को एक सामाजिक दृष्टिकोण से देखा है। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में साइबर सुरक्षा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सूचना का सुरक्षित रखना आज के समय में सबसे बड़ी चुनौती बन गई है। जब भी हम साइबर सुरक्षा के बारे में सोचते हैं तो साइबर अपराध हमारे दिमाग में आता है। जो की आज के युग में तीन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। साइबर अपराध को रोकने के लिए सरकार एवं कंपनियां कई उपाय कर रही है। लेकिन अभी भी इन उपायों के अलावा साइबर सुरक्षा कई लोगों के लिए एक चिंता का विषय बना हुआ है। इसलिए यह शोध सूचना प्रौद्योगिकी एवं तकनीकों पर साइबर सुरक्षा के सामने आने वाली चुनौतियों का अध्ययन करता है। यह साइबर सुरक्षा तकनीकों पर साइबर सुरक्षा के स्वरूप को बदलने वाले रुझानों एवं नैतिकता के बारे में भी ध्यान केंद्रित करता है।

कीवर्ड - साइबर सिक्योरिटी, साइबर नैतिकता, सोशल मीडिया, साइबर अपराध, सोशल नेटवर्किंग, नवीन टेक्नोलॉजी।

प्रस्तावना

साइबर सुरक्षा नेटवर्क, डिवाइस और डाटा को अनधिकृत पहुंच से बचाने की प्रक्रिया है। यह सूचना की गोपनीयता, अखंडता,उपलब्धता को सुनिश्चित करती है। जैसा कि हम जानते हैं कि आज व्यक्ति केवल एक बटन के क्लिक से किसी भी प्रकार का डाटा चाहे वह ऑडियो-वीडियो,ईमेल भेज और प्राप्त कर सकता है। लेकिन क्या उसने यह सोचा है कि उसका डाटा आईडी बिना किसी सूचना के लीक हुए दूसरे

व्यक्ति तक कितने सुरक्षित तरीके से भेजा जा रहा है। इसका जवाब साइबर सिक्योरिटी में है आज इंटरनेट का उपयोग बहुत तेजी से हो रहा है आज की तकनीकी परिवेश में कई नई टेक्नोलॉजी मानव जाति का स्वरूप बदल रही है। लेकिन इन उभरती टेक्नोलॉजी के कारण हम अपनी निजी जानकारी को बहुत प्रभावी तरीके से सुरक्षित करने में असमर्थ है।इसी कारण दिन प्रतिदिन साइबर अपराधों की संख्या बढ़ती जा रही है। आज कल वाणिज्यिक लेनदेन का 60% से अधिक ऑनलाइन किया जाता है। इसलिए इस क्षेत्र में पारदर्शी एवं सर्वोत्तम लेनदेन के लिए उच्च गुणवत्ता की सुरक्षा की आवश्यकता है। इसलिए साइबर सुरक्षा एक नवीनतम मुद्दा बन गया है। साइबर सुरक्षा का दायरा सिर्फ उद्योग में सूचना को सुरक्षित रखने तक ही सीमित नहीं अपितु मोबाइल कंप्यूटिंग, ई-कॉमर्स, नेट बैंकिंग ऑनलाइन शॉपिंग,फोन -पे आदि जैसी नवीनतम तकनीकों को भी उच्च स्तर की सुरक्षा की आवश्यकता है इसीलिए साइबर सुरक्षा मनुष्य की जीवन का महत्वपूर्ण अंग बन गई है।

साहित्य समीक्षा

विभिन्न अध्ययन में विद्वानों ने साइबर सुरक्षा के संबंधित मुद्दों एवं चुनौतियों पर व्यापक चर्चा की है। इन अध्ययनों से इस मुद्दे की वास्तविक व्याख्या देखने को मिलती है।

1. यंग.के. एट.अल. (2000) - शोधकर्ता ने नई सहस्त्राब्दी के लिए मानसिक स्वास्थ्य चिंता पर साइबर विकारों का पता लगाने के लिए अध्ययन किया। यह अध्ययन उन उपयोगकर्ताओं के लिए आयोजित किया गया। जो साइबर से संबंधित समस्याओं से पीड़ित है। इन्होंने अध्ययन में सुझाव दिया कि जिसमें साइबर-संबंध,ऑनलाइन स्टॉक ट्रेडिंग या जुआ, सूचना सर्फिंग और कंप्यूटर गेम आदि शामिल है। इन्होंने कहा कि इंटरनेट की लोकप्रियता भी दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। इसीलिए यह समस्या भी नई है। इसका इलाज साइबर से संबंधित समस्या के लिए एक नया हिस्सा है , कुछ जगहों पर रिकवरी सेंटर, सहायता समूह आदि खोले गए हैं।

2. डॉ.तलत फातिमा ने अपनी पुस्तक साइबर क्राइम 15 में साइबर क्राइम की पृष्ठभूमि, प्रकृति, तत्व और इसके वर्गीकरण पर विस्तार से चर्चा की है। और मायवी अपराधों को परिभाषित करने में आने वाली कठिनाइयों पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने इयान वाल्डेन, डी.एस.वॉल और यूरोपीय कन्वेंशन, 2001 द्वारा दी गई परिभाषा को शामिल किया है।यह पुस्तक साइबर क्राइम का मुकाबला करने में शामिल कानूनी मुद्दों,अधिकार क्षेत्र के मुद्दों, प्रवर्तनीयता के मुद्दों और साइबर क्राइम का मुकाबला करने में शामिल साक्ष्य संबंधी मुद्दों पर बात करती है।

3. डॉ.एम. दासगुप्ता ने अपनी पुस्तक "साइबर क्राइम" में प्रमुख साइबर अपराध पर जोर दिया है। उन्होंने" भारत में एक तुलनात्मक अध्ययन" शीर्षक से एक लेख लिखा है। और साइबर अपराध

की प्रकृति और तत्व, साइबर स्पेस में अपराधिक व्यवहार के अपराधिक दायित्व सिद्धांत और आईटी अधिनियम 2000 के तहत साइबर अपराध पर चर्चा की है। उन्होंने साइबर अपराध के इतिहास और विकास,आजकल देखे जाने वाले प्रमुख साइबर अपराधों जैसे साइबर हैकिंग,साइबर धोखाधड़ी, साइबर पोर्नोग्राफी और साइबर आतंकवाद आदि पर भी चर्चा की है। यह साइबर अपराध में संबंधित राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोण के बीच अंतर से संबंधित है।

4. रॉबर्ट मूर ने अपनी पुस्तक "साइबर क्राइम इन्वेस्टिगेटिंग हाई टेक्नोलॉजी क्राइम"में उच्च प्रौद्योगिकी अपराध की जांच में आने वाली समस्याओं पर जोर दिया और कई प्रचलित साइबर अपराध जैसे- साइबर हैकिंग, साइबर पोर्नोग्राफी और साइबर चोरी आदि पर भी चर्चा की।उन्होंने यह भी बताया कि कंप्यूटर सिस्टम में डाटा कैसे संग्रहित किया जाता है।और कंप्यूटर फॉरेंसिक के लिए कानूनी प्रणाली की प्रतिक्रिया क्या होती है।

यह अध्ययन से स्पष्ट होता है कि साइबर सुरक्षा से संबंधित मुद्दे एवं चुनौतियां और संभावनाएं को देखते हुए जिस प्रकार साइबर अपराध बढ़ रहा है उसी प्रकार साइबर अपराध से निपटने के लिए साइबर सुरक्षा के रूप में किए गए उपाय व्यक्ति के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं परंतु फिर भी समाज में आज भी कई साइबर अपराध जैसे- हैकिंग, साइबर फ्रॉड, क्रैकिंग, फिशिंग जैसे अपराध बढ़ते जा रहे उन्हें बिंदुओं पर हम चर्चा करेंगे।

अध्ययन के उद्देश्य

1. साइबर सुरक्षा की अवधारणा का अध्ययन विश्लेषण और समझने का प्रयास करना |
2. साइबर अपराध में आने वाली चुनौतियों का अध्ययन और विश्लेषण करना |
3. साइबर सुरक्षा के किए गए उपायों को जानना |
4. साइबर अपराध से जुड़े मुद्दों के बारे में जानने का प्रयास करना |

परिकल्पनाएं

1. ज्ञात होता है कि जिन लोगों ने भौतिक दुनिया आपराधिक व्यवहार का दमन किया। वे साइबर स्पेस में भी अपराध कर सकते हैं। इससे यह भी पता चलता है। कि साइबर स्पेस में निवारक कारकों की कमी साइबर अपराध में योगदान दे सकती है।

2. साइबर अपराध तब होता है जब लोगों को आसानी से उत्साह, पैसा,चुनौती मिल सकती है। इससे ज्ञात होता है कि अपराध घटित होने की संभावना तब होती है। जब किसी संभावित पीड़ित को लालच देकर एक जगह ले जाया जाता है जहां अपराधी मौजूद हो।

शोध पद्धति

यह शोध अध्ययन सैद्धांतिक वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक है। अध्ययन के लिए डाटा और जानकारी पुस्तकों, वेबसाइटों, विधानों ,कानूनी पत्रिकाओं, समाचार पत्रों, सरकारी रिपोर्टो,और अन्य स्रोतों के लिए गए हैं। जहां तक सैद्धांतिक भाग का सवाल है वह कानूनी और तकनीकी विशेषता क्यों विशेषज्ञों द्वारा लिखी गई साइबर कानूनों पर पुस्तकों से परामर्श लिया गया है। शोध सामग्री के लिए विभिन्न विभागों की आधिकारिक वेबसाइटों से लिया गया है। जैसे कि सूचना प्रौद्योगिकी विभाग,केंद्रीय जांच ब्यूरो, अपराधिक जांच विभाग, साइबर अपराध जांच प्रकोष्ठ आदि से लिया गया है। संघीय जांच ब्यूरो, इंटरपोल, कंप्यूटर आपातकालीन प्रतिक्रिया टीम जैसी साइटें भी सहायक रही है। अध्ययन की प्रकृति के कारण इंटरनेट स्रोतों पर बहुत अधिक निर्भरता की आवश्यकता थी।

अध्ययन के बिंदु पर चर्चा

1. **हैकिंग -** साइबर हैकिंग जिसे साइबर साइबर अटैकिंग के नाम से भी जाना जाता है। साइबर हैकिंग का इस्तेमाल डाटा से समझौता करने या चोरी करने, संचार या प्रक्रियाओं को बाधित करने, या अन्य हानिकारक उद्देश्यों को पूरा करने जैसे उद्देश्यों के लिए किया जाता है। साइबर हैकिंग एक दंडनीय अपराध है जो कोई भी हैकिंग करता है उसे 3 साल तक की कैद या दो लाख रुपए तक का जुर्माना या दोनों से दंडित किया जा सकता है। यह प्रावधान अधिनियम की धारा 66 में निहित है।

   साइबर सुरक्षा में हैकिंग का तात्पर्य कंप्यूटर, स्मार्टफोन, टैबलेट और नेटवर्क जैसे उपकरणों का दुरुपयोग करके सिस्टम को नुकसान पहुंचाना या भ्रष्ट करना, उपयोगकर्ताओं की जानकारी एकत्र करना, डाटा और दस्तावेज चुराना या टाटा से संबंधित गतिविधि को बाधित करना है। हैकिंग शब्द पहली बार 1970 के दशक में सामने आया था। लेकिन अगले दशक में यह और भी लोकप्रिय हो गया है। आमतौर पर चार मुख्य कारण है। जो बुरे लोगों को वेबसाइट या सिस्टम हैक करने के लिए प्रेरित करते हैं।

   - क्रेडिट कार्ड विवरण की चोरी या वित्तीय सेवाओं को धोखा देकर वित्तीय लाभ|
   - कॉरपोरेट जासूसी ।
   - अपनी हैकिंग प्रतिभा के लिए बदनामी या सम्मान प्राप्त करना ।
   - राज्य प्रायोजित हैकिंग जिसका उद्देश्य व्यावसायिक जानकारी और राष्ट्रीय खुफिया जानकारी चुराना है।

हैकर्स के प्रकार

1. **ब्लैक हेट हैकर्स**- हैकिंग के क्षेत्र में वे "बुरे लोग" हैं। जो कंप्यूटर सिस्टम और सॉफ्टवेयर में कमजोरी को खोजने के लिए प्रयास करते हैं। जिससे वित्तीय लाभ के लिए अधिक दुर्भावनापूर्ण उद्देश्यों के लिए उनका शोषण किया जा सके। जैसे की प्रतिष्ठा हासिल करना, कॉर्पोरेट जासूसी करना, या राष्ट्र- राज्य हैकिंग अभियान के हिस्से के रूप में हों।
2. **व्हाइट हैड हैकर्स**- व्हाइट हैड हैकर्स को "अच्छे लोगों"के रूप में देखा जा सकता है। जो सक्रिय हैकिंग के माध्यम से ब्लैक हैड हैकर्स की सफलता को रोकने का प्रयास करते हैं। वह नेटवर्क सुरक्षा के स्तर का आकलन और परीक्षण करने के लिए सिस्टम में सेंध लगाने के लिए अपने तकनीकी कौशल का उपयोग करते हैं,जिसे नैतिक हैकिंग के रूप में भी जाना जाता है।
3. **ग्रे हैट हैकर्स**- ग्रे हैट हैकर्स अच्छे और बुरे लोगों के बीच कहीं बैठते हैं। ब्लैक हैड हैकर्स के विपरीत वे मानकों और सिद्धांतों का उल्लंघन करने का प्रयास करते हैं। लेकिन आर्थिक रूप से नुकसान या लाभ पहुंचाने के इरादे के बिना उनके कार्य आमतौर पर आम भलाई के लिए किए जाते हैं।

बचाव

- सॉफ्टवेयर अपडेट करना।
- विभिन्न खातों के लिए अद्वितीय पासवर्ड का उपयोग करें।
- विज्ञापन एवं अनजान लिंक पर क्लिक करने से बचे इत्यादि।

2. **साइबर फोर्ड** - साइबर धोखाधड़ी इंटरनेट के माध्यम से साइबर फोर्ड द्वारा किए गए अपराधों का वर्णन करने के लिए एक व्यापक शब्द है।यह अपराध अवैध रूप से किसी व्यक्ति या व्यवसाय के संवेदनशील जानकारी को मौद्रिक लाभ के लिए हासिल करने और उसका लाभ उठाने के इरादे से किए जाते हैं ।

साइबर फोर्ड आजकल दिन प्रतिदिन बढ़ रहे हैं। स्पीयर-फिशिंग और रैनसमवेयर से लेकर साईओं ईमेल धोखाधड़ी और व्यावसायिक ईमेल समझौता तक सबसे खतरनाक साइबर धोखाधड़ी हमले सभी एक ईमेल से शुरू होते हैं। ईमेल घोटालें बार-बार सफल होते हैं। क्योंकि वह उसे आपकी सबसे बड़ी कमजोरी को निशाना बनाते हैं।लोग घोटाले के ईमेल को रोकने के लिए आपके सभी प्रयासों और तकनीक के बावजूद साइबर धोखाधड़ी के हमले की समझ करने के लिए केवल एक उपयोगकर्ता की सतर्कता की कमी होती है।

बचाव

- अपने सिस्टम के नवीनतम सुरक्षा संवर्धन सुनिश्चित करने के लिए सॉफ्टवेयर और डिवाइस को अघतन रखें।
- सुनिश्चित करें कि आपके सभी डिवाइस एंटीवायरस और मैलवेयर सुरक्षा सॉफ्टवेयर से सुसज्जित है।
- सुरक्षा की एक अतिरिक्त परत जोड़ने के लिए अपने पासवर्ड में दो- कारक प्रमाणीकरण सक्षम करें।
- अपने अकाउंट के लिए अलग एवं अनोखे पासवर्ड का इस्तेमाल करें।

3. **क्रैकिंग** - क्रैकिंग एक ऐसी तकनीक है जिसका इस्तेमाल कंप्यूटर सॉफ्टवेयर या सम्पूर्ण कंप्यूटर सुरक्षा प्रणाली को तोड़ने के लिए किया जाता है। और दुर्भावना पूर्ण इरादे से हालांकि कार्यात्मक रूप से हैकिंग के समान क्रैकिंग का सख्ती से आपराधिक अर्थ का उपयोग किया जाता है। किसी भी कंप्यूटर सिस्टम या नेटवर्क की सुरक्षा में कमजोरी का फायदा उठाकर उस तक अनाधिकृत पहुंच प्राप्त करने का प्रयास करने की प्रक्रिया को क्रैकिंग कहा जाता है। क्रैकिंग विशेष रूप से हैकिंग के समान ही है लेकिन अपराधिक इरादे से।

क्रैकिंग के प्रकार

1. **पासवर्ड क्रैकिंग-** पासवर्ड क्रैकिंग का तात्पर्य संग्रहित डाटा से पासवर्ड ढूंढना है। यह पासवर्ड क्रैकिंग के लिए सबसे आम तकनीक है।
2. **सॉफ्टवेयर क्रैकिंग**- सॉफ्टवेयर क्रैकिंग सॉफ्टवेयर को संशोधित करने की प्रक्रिया है। जिससे इसके एक या अधिक फंक्शन पूरी तरह या आंशिक रूप से समाप्त हो जाते हैं। सॉफ्टवेयर क्रैकिंग के अधिकांश मामलों में निम्न में से कम से कम एक टूल या विधि का उपयोग किया जाता है।
3. **नेटवर्क क्रैकिंग**- नेटवर्क क्रैकिंग जब लोकल एरिया नेटवर्क को किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा तोड़ा जाता है।तो वायरलेस नेटवर्क को केवल नेटवर्क की तुलना में काफी आसानी से तोड़ा जा सकता है।क्योंकि क्रैकर्स को केवल वायरलेस सिग्नल के करीब होना होता है।
4. **एप्लीकेशन क्रैकिंग**- एप्लीकेशन क्रैकिंग सॉफ्टवेयर को संशोधित करने की प्रक्रिया है। इसमें काफी प्रोटेक्शन या लाइसेंसिंग तंत्र को हटाया जा सके। इसका उपयोग प्रमाणीकरण तंत्र को

बायपास करने और अन्यथा सुरक्षित सिस्टम तक पहुंच प्राप्त करने की विधि के रूप में किया जा सकता है।

5. **वायरलेस क्रैकिंग**- यह एक प्रकार का साइबर हमला है। जिसमें सुरक्षा प्रोटोकॉल में कमजोरीयों का फायदा उठाकर वायरलेस नेटवर्क तक अनाधिकृत पहुंच प्राप्त करना शामिल है।

बचाव

- अपने सॉफ्टवेयर को अप- टू डेट रखें।
- एंटीवायरस का इस्तेमाल करें।
- सार्वजनिक वाई-फाई से बचे।
- अपने डिवाइस और सॉफ्टवेयर को अपडेट करते रहे।

4. **फिशिंग** - फिशिंग एक प्रकार की ऑनलाइन धोखाधड़ी है। यह साइबर फोर्ड ही एक प्रकार है। जिसमें लोगों की किसी विश्वसनीय स्रोत का दिखावा करके उनसे संवेदनशील जानकारी जैसे पासवर्ड ,क्रेडिट कार्ड, नंबर आदि प्राप्त किया जाता है। फिशिंग ईमेल, सोशल मीडिया, या दुर्भावनापूर्ण वेबसाइटों के माध्यम से की जा सकती है।

फिशिंग ऐसे संदेश भेजकर कार्य करती है। जो किसी वैध कंपनी या वेबसाइट से आने जैसा लगता है। यह एक लिंक जैसा होता है।जो उपयोगकर्ता को एक नकली वेबसाइट पर ले जाता है जो असली जैसा दिखता है। फिर उपयोगकर्ता से व्यक्तिगत जानकारी एकत्र करके क्रेडिट कार्ड या पासवर्ड दर्ज करने के लिए कहता है। फिर इस जानकारी का उपयोग व्यक्ति की पहचान चुराने या उनके क्रेडिट कार्ड पर धोखाधड़ी करने के लिए किया जाता है।

फिशिंग के प्रकार

1. **क्लोन फिशिंग**- यह फिशिंग हमला है। जिससे एक ईमेल किसी विश्वसनीय प्रेषण से आता है। जो दुर्भावनापूर्ण अभिनेता से आता है। ईमेल अक्सर उसे मूल वेबसाइट के क्लोन का लिंक होता है।
2. **सीईओ धोखाधड़ी**- यहां एक प्रकार का घोटाला है।जिसमें कोई व्यक्ति सीईओ या किसी अन्य उच्च स्तरीय कार्यकारी के रूप में खुद पेश करता है। कर्मचारी या अन्य लोगों को गोपनीय जानकारी या धन प्रदान करने के लिए धोखा देता है।
3. **बीईसी (बिजनेस ईमेल समझौता)**- यह एक प्रकार का साइबर हमला है। जिसमें हमलावर ईमेल का उपयोग करके कर्मचारियों को धोखा देकर उनसे पैसे या कंपनी की जानकारी ट्रांसफर करते है।

बचाव

- सकारात्मक सुरक्षा संस्कृति का निर्माण करें।
- मनोवैज्ञानिक ट्रिगर्स के बारे में जाने।
- अपने कर्मचारियों को प्रशिक्षित करें।
- प्रशिक्षण की प्रभावशीलता का परीक्षण करें।

निष्कर्ष

यह शोध अध्ययन के दौरान किए गए विश्लेषण एवं मूल्यांकन से हमने पाया कि साइबर सुरक्षा सूचना सुरक्षा से अलग है एवं बताया गया कि किस प्रकार हमें साइबर अपराध से बचना चाहिए एवं साइबर सुरक्षा से संबंधित कुछ मुद्दों को समझते हुए उसमें आ रही चुनौतियां एवं संभावना का एक सामाजिक अध्ययन करके उससे निपटने एवं बचाव के लिए किन उपायों को ध्यान में रखा जा सकता है। जिससे समाज में हो रहे साइबर अपराधों की साइबर सुरक्षा की जा सके। सूचना सुरक्षा सूचना रक्षा है जो विभिन्न खतरों और कमजोरीयों से होने वाले संभावित नुकसान के खिलाफ एक लाभ है। इस शोध में साइबर अपराध से संबंधित चुनौतियां को संक्षेप में कुछ बिंदुओं के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। तथा इन चुनौतियों के समाधान के साथ-साथ साइबर अपराधों से प्रभावी ढंग से निपटने के लिए सुझाव देने का भी प्रयास किया गया है।

सुझाव

1. नेट सुरक्षा को कड़ा किया जाना चाहिए। और उसे संभावित साइबर धोखाधड़ी, साइबर जालसाजी या साइबर अपराधियों द्वारा धन के दुरुपयोग से ऑनलाइन बैंकिंग लेनदेन की सुरक्षा के लिए पर्याप्त सुरक्षा तंत्र से लैस किया जाना चाहिए।
2. साइबर अपराध के मामलों को रोकने के लिए साइबर फॉरेंसिक का विकास और बायोमेट्रिक तकनीकों का अधिक व्यापक उपयोग आवश्यक है।
3. अनाधिकृत पहुंच के विरुद्ध वॉयस रिकग्निशन और कॉलर आईडी सुरक्षा का उपयोग अनाधिकृत पहुंच को रोकने के लिए पासवर्ड के रूप में किया जा सकता है।
4. साइबर अपराध अनुसंधान एवं विकास केंद्र की स्थापना की जानी चाहिए। ताकि समय-समय पर जागरूकता और प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किया जा सके। जिससे लोगों को मामलों के रुझानों के बारे में अधिक जागरूक किया जा सके। और उन्हें निवारक उपायों के बारे में शिक्षित किया जा सके।

संदर्भ सूची

1. *दासगुप्ता, एम. (2016). भारत में साइबर अपराध: एक तुलनात्मक अध्ययन. कोलकाता: ईस्टर्न लॉ हाउस।*
2. *जैन, अ. (2005). साइबर अपराध: मुद्दे, खतरे और प्रबंधन (खंड 1). दिल्ली: ईशा बुक्स।*
3. *जोगाराव, एस. वी. (2007). साइबर अपराध और सूचना प्रौद्योगिकी कानून (प्रथम संस्करण). नागपुर: वाधवा एंड कंपनी।*
4. *डुडेजा, वी. डी. (2002). साइबर अपराध और कानून. नई दिल्ली: कॉमनवेल्थ पब्लिकेशन।*
5. *फातिमा, त. (2001). साइबर क्राइम (प्रथम संस्करण). लखनऊ: ईस्टर्न बुक कंपनी।*
6. *गुप्ता, डॉ., एवं अग्रवाल. (2018). इलेक्ट्रॉनिक साक्ष्य. इलाहाबाद: प्रीमियर पब्लिशिंग हाउस।*
7. *Furnell, S. (2000). Cybercrime: Vandalizing the information society. London: Addison-Wesley.*
8. *Priya, G. S. (2015). Cyber crime and security issues in anthropology. Retrieved from*
9. *http://ijaresse.com/docs/papers/Special_Issue/iceta2015/22.pdf*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

हिंदी कहानी में अभिव्यक्त पुरुषों की मानवीय संवेदना (चयनित कहानियों के विशेष सन्दर्भ में)

आतिश कुमार विश्वकर्मा
शोधार्थी - हिंदी विभाग
श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी, केरल

शोध सार

भाषा संप्रेषण का एक ऐसा माध्यम है जिससे मनुष्य अपने विचारों, भावनाओं और संवेदनाओं को एक सामाजिक प्रक्रिया के तहत व्यक्त और प्रसारित करता है। भाषा एक व्यक्ति के घर से निकल कर समाज में जाती है। साहित्य समाज का दर्पण है। अर्थात समाज में जो कुछ भी घटित होता है वह लेखन के जरिए अन्य लोगों के सामने आता है। साहित्य का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन करना ही नहीं वरन समाज में सुधार और क्रांति लाना भी होता है। हमारे समाज में जितने भी सुधार कार्य हुए हैं उसमें साहित्य की अहम भूमिका रही है। मावन ज्ञान और दर्शन के चरम तक पहुंचने के लिए संवेदना का ही प्रयोग करता है। आज का मनुष्य अनेक प्रकार के परेशानियों और समस्याओं से घिरा हुआ है। 21वीं सदी में अकेलापन एक समस्या के रूप में उभर कर समाज में फैल रहा है। आज जहाँ खून के रिश्ते अपनों का साथ छोड़ रहे हैं, उनके साथ अभद्र व्यवहार कर रहे हैं, वहीं किसी पराये से अपनापन मिल रहा है। सोशल मिडिया के इस युग में मनुष्य शारीरिक संवेदना से अधिक वर्चुअल संवेदना की ओर भाग रहे है। यहाँ सुख कम और दुःख का अवसाद ज्यादा मिल रहा है। रिश्ते क्षणभंगुर होते जा रहे हैं। समकालीन हिंदी कहानी में यथार्थ और साथ ही साथ मनुष्यों के संवेदनाओं को सूक्ष्मता से दर्शाया गया है।

मुख्य बिंदु

- भाषा का अर्थ एवं महत्व
- संवेदना का अर्थ, परिभाषा
- समकालीन कहानी में पुरुष का चरित्र चित्रण

शोध प्रपत्र का उद्देश्य :- हिंदी कहानी के माध्यम से समाज में पुरुषों के प्रति बदलती संवेदना को उजागर करना है। मानवीय संवेदना को किस प्रकार समाज प्रयोग करता है, उसका विवेच्य कहानियों के माध्यम से विश्लेषण करना है।

शोध प्रविधि :- चुनी हुई कहानियों का विवेचनात्मक एवं विश्लेष्णात्मक अध्ययन। कहानियां स्त्री और पुरुष रचनाकार दोनों के कहानियों को शामिल किया गया है।

बीज शब्द :- संप्रेषण, मानवीय संवेदना, पुरुष, हाशिएकृत, विवशता, लाचारी,

भाषा संप्रेषण का एक ऐसा माध्यम है जिससे मनुष्य अपने विचारों, भावनाओं और संवेदनाओं को एक सामाजिक प्रक्रिया के तहत व्यक्त और प्रसारित करता है। भाषा की संप्रेषणीयता तभी संभव है जब तक दो व्यक्ति आपस में अपने भावों एवं विचारों को व्यक्त करे, अन्यथा जहां दो अलग–अलग भाषाएं होंगी वहां पर भाषा की संप्रेषणीयता नहीं हो पायेगी। भाषा एक व्यक्ति के घर से निकल कर समाज में जाती है। भाषा का दायित्व मानव जाति पर अत्यधिक है, क्योंकि वह सोचने-समझने और इस चराचर में मौजूद तत्वों से आविष्कार करने में सक्षम है। आरंभ में भले ही वह जंगलों में जानवरों के साथ रहता था पर उसका जीवन आज की तुलना में भिन्न था। अब उसकी बुद्धि विवेकशील हो गई है। सोचने की इसी क्षमता के कारण मानवीय भाषा उच्च स्तरीय बनी है। भाषा विज्ञान ऐसी ही एक शाखा है, जिसने मानवीय भाषा को परिष्कृत किया है।

साहित्य समाज का दर्पण है। अर्थात समाज में जो कुछ भी घटित होता है वह लेखन के जरिए अन्य लोगों के सामने आता है। साहित्य का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन करना ही नहीं वरन समाज में सुधार और क्रांति लाना भी होता है। हमारे समाज में जितने भी सुधार कार्य हुए हैं उसमें साहित्य की अहम भूमिका रही है। विश्व में हुए बड़े से बड़े क्रांति और आंदोलन में साहित्य का प्रयोग विशिष्ट रूप में किया गया है। साहित्य की रचना करने वाले साहित्यकार ने अपने साहित्य को एक अस्त्र-शस्त्र की तरह प्रयोग किया है। महादेवी वर्मा साहित्यकार का विश्लेषण करते हुए लिखती हैं कि "जीवन की असंख्य परिस्थितियों में से विशेष परिस्थिति का चयन, अटूट संवेदन परंपरा में से संवेदन विशेष का चुनाव, व्यक्त करने के लिए भाषा, शब्द आदि का अंगीकरण, विराट चेतना समुद्र से किसी कूलखंड का शोधन आदि विशेष व्यक्तित्व–सम्पन्न साहित्यकार ही करता है।"[1] साहित्यकार का दायित्व होता है कि वह स्वांतः सुखाय को विशेष रूप से केंद्र न रखकर समाज और राष्ट्र हित के लिए साहित्य का सृजन करे। जिसके आस्वादन से पाठक का मन विचलित हो। पाठक के मन में प्रश्न उठे और उस प्रश्न के उत्तर के लिए वह स्वयं खोज करे और समाज को और गहराई से समझे।

संवेदना का अर्थ

मावन ज्ञान और दर्शन के चरम तक पहुंचने के लिए संवेदना का ही प्रयोग करता है। संवेदना ही वो प्रथम चरण है जिसके माध्यम से व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है। समाज और साहित्य में संवेदना एक अभिन्न अंग है। इसके आधार पर ही ये समस्त चराचर एक-दूसरे से संबंधित है। संवेदना का अर्थ विभिन्न शब्दकोशों में इस प्रकार उल्लेखित है:-

प्रामाणिक हिंदी कोश :– "मन में होने वाला बोध या अनुभव, अनुभूति ही संवेदना है।"[2]

हिंदी शब्द सामर्थ्य :– "अनुभूति–अनुभव जब आंतरिक तीव्रता प्राप्त कर लेता है तब उसे अनुभूति कहते हैं।"[3]

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ :– "संवेदना अर्थात प्रतीति, बोध, अनुभव करना, प्रकट करना।"[4]

व्यावहारिक हिंदी–अंग्रेजी शब्दकोश :– "संवेदना अंग्रेजी के सेंसिटिविटी, सेंसेशन, सेंसिबल, फिल्लिंग का समानार्थी शब्द है।"[5]

उपरोक्त शब्दकोशों के अनुसार संवेदना का संबंध अनुभव करने से है। और यह विचारणीय एवं प्रासंगिक भी है। संवेदना के संबंध में विद्वानों के भी अपने–अपने मत रहे हैं, और साहित्य में संवेदना से रुबरु होने से पहले विद्वानों के क्या मत है, उस पर भी विचार किया जाना आवश्यक है।

संवेदना की अवस्था को लेकर डॉ. शेखर शर्मा लिखते हैं कि "संवेदना हमारे मन की वह कुटस्थ अवस्था है, जिससे हमें विश्व की वस्तु विशेष का बोध न होकर उसके गुणों का बोध होता है।"[6] वहीं डॉ. सुरेश सिन्हा का मत है "संवेदना से अभिप्राय है वह अनुभूति प्रवणता जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभावों को ग्रहण करने की क्षमता से पूरित होती है। इसका अर्थ यह भी होता है कि कोई साहित्य किन भावनाओं की प्रतीति हमें करा सकने में समर्थ होता है। भावनाओं के ये स्तर विविध होते हैं। वह आधुनिक बोध भी हो सकता है या मानव अस्तित्व की बुनियादी विविशताएँ भी। वह व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना भी हो सकती है या यथार्थ के नये तत्वों की अन्विति भी।"[7] क्रूज का संवेदना पर अपना मत है, वह कहते हैं "उत्तेजना के प्रति जीव की प्रथम प्रतिक्रिया ही संवेदना है।"[8] दूसरी ओर जेम्स का कहना है कि "संवेदना ज्ञान के मार्ग में पहली वस्तुएं हैं।"[9]

मानसिक संवेदना के अन्तर्गत मनुष्य का आकलन उसके मन–मस्तिष्क की संवेदनात्मक स्थिति के अनुरूप अच्छे ढंग से किया जाता है। मनुष्य जो कुछ भी अपने आस–पास अनुभव करता है उसे अपने ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से व्यक्त करता है, प्रस्तुत करता है। सुख की अनुभूति होने पर वह आनंदित

होगा, वह मुस्कुराएगा और हंसेगा वहीं अगर मनुष्य दुख की अनुभूति करेगा तो वह रोएगा, उसे कष्ट होगा। दुख और सुख मनुष्य के साथ निरंतर साथ में विचरण करता ही रहता है। दर्शन में यही कहा गया है कि दुख के बाद सुख और सुख के बाद दुख यह एक बदलती प्रक्रिया के तहत होता हो रहता है। यह प्रकृति का संतुलन बनाए रखता है। आज का मनुष्य अनेक प्रकार के परेशानियों और समस्याओं से घिरा हुआ है। 21वीं सदी में अकेलापन एक समस्या के रूप में उभर कर समाज में फैल रहा है। आज जहाँ खून के रिश्ते अपनों का साथ छोड़ रहे हैं, उनके साथ अभद्र व्यवहार कर रहे हैं वहीं किसी पराये से अपनेपन का अनुभव चाहने लगे हैं। सोशल मिडिया के इस युग में मनुष्य शारीरिक संवेदना से अधिक वर्चुअल संवेदना की ओर भाग रहे हैं। यहाँ सुख कम और दुःख में अवसाद ज्यादा मिल रहा है। रिश्ते क्षणभंगुर होते जा रहे हैं।

हिंदी कहानी में अभिव्यक्त पुरुषों की मानवीय संवेदना

मानवीय संवेदना के जो विशिष्ट संवेदनाएं हैं के उसके अंतर्गत मुख्यतः सामाजिक संवेदना, धार्मिक संवेदना, सांस्कृतिक संवेदना, और राजनीतिक संवेदना आती है। समकालीन हिंदी कहानी में यथार्थ और साथ ही साथ मनुष्यों के संवेदनाओं को सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। इस प्रपत्र में पुरुषों की सामाजिक संवेदना को केंद्र में रखकर ही कहानियों का विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत कहानियाँ यह बयां करती है कि जाने-अनजाने ही सही पुरुषों के उस पक्ष को कभी देखा या समझा नहीं जाता जहाँ पर उसकी संवदेना प्रलक्षित होती है। सच बात तो यह है कि पुरुषों की मानवीय संवेदना को समाज से हाशिएकृत कर दिया गया है। समाज और साहित्य आज भी पुरुषों को कठोर, निर्दयी, बलात्कारी, शोषक और ना जाने क्या-क्या चित्रित करता है। मानवीय संवेदना को व्यक्त करती उनकी साहित्य में कहानियों और समाज में उनके बलिदान, योगदान, परिश्रम आदि को नजरअंदाज किया जाता है। प्रस्तुत है ऐसी ही कुछ कहानियाँ जिसमें पुरुषों की मानवीय संवेदना परिलक्षित होती हुई दिखाई देती है।

उषा किरण खान की कहानी **मौसम का दर्द** एक ऐसी ही संवेदनशील कहानी है जिसका नायक हाकिम, जो किसी गाँव में पूल निर्माण करने के लिए जाता है। वहाँ अड़हुल नाम की एक स्त्री से मुलाकात होती है। अड़हुल उसके खाने-पीने का ध्यान रखती है। एक रात जब गाँव में बाढ़ आई तो गाँव के लोगों की मदद करते-करते वो दोनों और अड़हुल की माँ अपने घर में ही फंस जाते हैं। रात में मौसम बदलता है और हाकिम और अड़हुल के बीच शारीरिक संबंध स्थापित होता है। उस रात के बाद कई दिनों तक हाकिम की मुलाकात अड़हुल से नहीं होती है। वह अब अड़हुल से शादी करने का निश्चय करता है। एक दिन अड़हुल आती है और हाकिम से कहती है की वह अपने पति के साथ ससुराल जा रही है। हाकिम इस से चकित हो जाता है। उसे नहीं पता था कि अड़हुल शादी-शुदा है। हाकिम कहता है कि "अड़हुल मैंने तुम्हें लेकर कई सपने देख डाले, तुम्हारा शरीर छुआ, तुम्हें भोगा, यह सब भूल

जाओगी?"[10] इस पर अड़हुल ने जवाब दिया "अरे, हा–हा–हा…हाय राम, राह चलते पियास लगे बाट–घाट के कुएं से पी नहीं ले आदमी पानी, कि घर आकर पानी पीने के सोच में हलकान होवे। रात का मासिम था, आग और खड़ एक ठैंया हुआ, लेस दिया। जाइए बाबू, आप मरद होकर तिरिया–चरितर दिखाते हैं। असिरवाद दीजिए। राजी–खुशी जाएं।"[11] समाज में इसी बात पर चर्चा होती है कि पुरुष स्त्री को भोग की वस्तु समझता है परन्तु इस कहानी में एक पुरुष भोग की वस्तु की तरह चित्रित होता है। हाकिम को लम्बे अरसे तक बरसात के मौसम का दर्द झेलता है।

विवश विक्रमादित्य शासक विक्रमादित्य की कहानी नहीं है, अपितु एक ऐसे जिलाधिकारी की कहानी है जो अपने दादा के कुकर्मों का सामना कई वर्ष बाद करता है। श्याम अपने ही शहर का जिलाधिकारी नियुक्त होता है। इस कहानी में श्याम के दादा बंगटू साहू ने उस समय के रजवाड़े के राजा कुमार, जो एक नंबर का ऐय्याश आदमी था, उसके हवस के लिए अपनी ही बेटी मनोहर को भेज दिया था। वर्षों बाद उसी राजा का बेटा कुमार श्रीवत्स आज उसे 'सर' बुलाकर संबोधित करता है। कुमार को अपने दादा की करनी का पता चल जाता है। कुमार श्रीवत्स की पार्टी में जब श्याम की पत्नी श्रीवत्स के कहने पर गाना गाती है तो श्याम को उसके दादा के कुकर्म सामने आने लगती है। श्याम को लगता है की वह भी अपने दादा की तरह श्रीवत्स के सामने अपनी पत्नी को भेंट कर रहा है। वह गाते हुए अपनी पत्नी को थप्पड़ मारता है। और उसे लेकर पार्टी से निकल जाता है। वह विवश और लाचार हो गया। अपने दादा द्वारा किये गए दुष्कर्मो का बोझ अपने पीठ पर लादे रखा है। "श्याम बंगटू साहू के मोसाहबियत की लाश खींचे चला जा रहा था मानो! लाश, जो मुर्दे में अवस्थित बेताल की तरह चिपकी थी उसके कंधों से और वह विवश विक्रमादित्य उसे बार-बार वृक्ष से उतार लाता है।"[12] वह चाह कर भी अपनी उस संवेदना को व्यक्त नहीं कर पाता। भरी महफ़िल में अपनी पत्नी को थप्पड़ मारना, उसके लिए ये सब आसन नहीं था। लेकिन वह विवश था। उसकी इस विवशता पर लोगों द्वारा उस पर कई प्रश्न चिह्न खड़े कर दिए गए।

उषा किरण खान की अगली कहानी है **हमके ओढ़ा द चदरिया हो, चलने के बेरिया,** यह कहानी पुरुष पात्रों को केंद्र में रखकर लिखी गई है। पिता कोकाई और उसके दो बेटे फेंकना और बुधना कहानी के मुख्य पात्र हैं। पिता कोकाई जो एक कबीरपंथी है, उसकी मृत्यु के बाद उसी कबीरपंथी के लोगों ने दोनों बेटों को अपने पिता की अंतिम संस्कार और भोज के लिए क़र्ज़ में डाल दिया। क़र्ज़ लेकर दोनों भाइयों ने किसी तरह भोज करवा दिया परन्तु सत्तर मुंड साधु-संतों के भोज, जो प्राश्चित के नाम पर खिलवाया जा रहा था, उसके लिए और अधिक रुपयों का क़र्ज़ लेना पड़ा। "बबुआ फेंकन, इस लिस्ट पर दसखत कर दो, मेरे पास रहेगा। कमाकर देते रहना दोनों भाई। पढ़ लो ठीक से। साहुजी ने कहा। फेंकन ने टो-टा कर पढ़ लिया 'दो पैसा सैकड़ा सूद।' भरी आंखों से सकल समाज की ओर देखता रहा, फिर

दस्तखत कर दिए।"[13] इस क़र्ज़ को चुकाने के लिए फेंकना बनारस जाकर डबल शिफ्ट में रिक्शा चलाता और वहीं किसी चौक पर सो जाता है। कुत्ते और बिल्ली की तरह जागता और सोता। यहाँ पर मानवीय संवेदना छिन्न-भिन्न हो जाती है। गाँव-समाज के लोग भोले-भले लोगों को धर्म और ईश्वर का खौफ बता कर उनपर अत्याचार करते हैं। इस कहानी में कबीरपंथी लोग उसी पाखंड को बढ़ावा दे रहे हैं, जिसके कबीर घोर विरोधी थे।

उषा प्रियंवदा की कहानी **दृष्टिदोष** एक ऐसे पुरुष की कहानी है जो अपनी पत्नी के लिए अपने परिवार से मुँह मोड़ लेता है। साम्ब अपनी पत्नी चंद्रा से बेहद प्यार करता है। बदले में उसकी पत्नी उससे हमेशा कटी-कटी ही रहती। चंद्रा बड़े घर की बेटी है, वहीं साम्ब मध्यम वर्गीय संयुक्त परिवार का बेटा है। संयुक्त परिवार के माहौल में चंद्रा नहीं रहती और अपने बेटे स्कन्द को बोर्डिंग स्कूल भेज कर स्वयं दूसरे शहर नौकरी में नौकरी करने लगती है। जब बेटे का जन्म होता है तो चंद्रा और साम्ब के बीच बेटे के नाम रखने के लिए बहस होती है। इस पर साम्ब कहता है कि "मुझे तो अपने नाम पर बड़ा गर्व था। मुझे यह नहीं मालूम था कि तुम्हें मेरा नाम तक पसंद नहीं है। मुझसे शादी करके तुम्हारा कोई भी अरमान पूरा नहीं हुआ।"[14] दूसरी ओर चंद्रा की सहेली साम्ब को दिलोजान से चाहती है। परन्तु साम्ब उसे भाव नहीं देता। उसकी पत्नी उससे भले ही प्यार ना करे और दूर रह रही हो, लेकिन वह अपनी पत्नी से बेहद प्यार करता है। और वह अपनी पत्नी को धोखा नहीं देना चाहता। इस बात का पता जब चंद्रा को लगता है तो उसका दृष्टिदोष दूर हो जाता है। और वह अपने पति साम्ब के पास चली आती है। साम्ब अगर चाहता तो अपनी पत्नी को धोखा दे सकता था, परन्तु उसने पत्नीव्रत का धर्म निभाया। आजकल जहाँ शादी के बहार अफेयर आम बात हो गयी है वहाँ साम्ब जैसा पुरुष जो एक नेक पति है, अपनी पत्नी को धोखा नहीं देता। साम्ब का स्वाभाव ही ऐसा है, वह स्वयं दुखी होकर सभी को सुख देता है।

अमरकांत की कहानी **जिंदगी और जोंक** पुरुष की सामाजिक संवेदना को व्यक्त करती एक कहानी है। कहानी दुखांत है परन्तु यह सोचने सोचने पर हमें विवश कर देता है कि एक समाज इस कदर स्वार्थी और निष्ठुर कैसे हो सकता है? प्रश्न जायज है और आज के समय में प्रासंगिक भी है। कहानी का मुख्य पात्र रजुआ अपना सारा जीवन एक ही मोहल्ले में बिता दिया। मृत्यु उसकी दयनीय थी। 'रजुआ भगत' से संबोधित करके मोहल्ले को लोग उससे अपना काम करवाते थे। वह मस्त मौला और सभी को हँसाने वाला व्यक्ति था। मगर मोहल्ले के लोगों का यह व्यवहार तब बदला जब उसे खुजली की बीमारी हो गयी थी। जो लोग पहले उसके साथ रहते थे आज वही उसे दुत्कारने लगे, अपने पास से भगाने लगे। शिवनाथ बाबू कहते भी हैं कि "गोली मारिए साहब, आखिर कोई कहाँ तक करे! अब साले को खुजली हुई है। जहाँ जाता है, खुजलाने लगता है! कौन इससे काम कराए।"[15] ये वही शिवनाथ बाबू हैं, जो रजुआ से बराबर काम करवाते थे अपने घर में बुलाकर है। अब आज वही शिवनाथ बाबू कहते फिरते हैं कि

"मैंने तो साफ़-साफ़ कह दिया कि मेरे घर के अन्दर पैर न रखना, नहीं तो पैर तोड़ दूंगा।"[16] अब खुजली का रोग इतना बड़ा रोग तो था नहीं की उसका इलाज न करवाया जा सके, परन्तु उसके मोहल्ले को लोगों ने और खासकर शिवनाथ बाबू ने उसका इलाज करवाना तो दूर उसे मोहल्ले से दूर रहने के लिए कह दिया। रजुआ फिर भी उसी मोहल्ले में रहा और वहीं अपनी आखिरी साँसे ली। यह कहानी यह दिखाता है कि समाज एक स्वस्थ श्रमिक पुरुष से किस तरह अपना काम निकलवाता है और जब वह श्रमिक पुरुष अस्वस्थ हो जाता है, तो किस पर उसे दरकिनार कर देते हैं। एक सभ्य समाज के लिए ऐसा अमानवीय संवेदना कहाँ तक ठीक है?

निष्कर्ष

संवेदना और साहित्य एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसा हो ही नहीं सकता की साहित्यकार बिना किसी संवेदना के किसी साहित्य की रचना कर सके। संवेदना के बिना साहित्य का सृजन भावहीन और निरर्थक है। समाज में इन दोनों की भूमिका है। समाज में मानव है तभी संवेदना होगी। विवेच्य कहानियों के माध्यम से यह उजागर होता है कि समाज में पुरुष स्वयं का और अन्य लोग एक पुरुष के साथ किस प्रकार का मानवीय संवेदना व्यक्त करते हैं। पुरुष भी समाज का हिस्सा है। उसे हमेशा सिर्फ कठोर और शोषक के रूप में ना देखकर मानवीय संवेदना की दृष्टि से भी देखनी चाहिए। अगर समाज में मानवीय संवेदना का आभाव होगा तो, यह समस्त चराचर रसविहीन और कठोर हो जायेगा।

सन्दर्भ सूची

1. *संपादक निर्मला जैन 'संचयिता महादेवी वर्मा' (2000) द्वितीय संस्करण, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 254*
2. *आचार्य रामचंद्र वर्मा, 'लोक भारती वृहद प्रामाणिक हिंदी कोश' (2004), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 813*
3. *कैलाशचंद्र भाटिया, 'हिंदी शब्द सामर्थ्य' (1985), प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 17*
4. *द्वारका प्रसाद शर्मा चतुर्वेदी, 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ'(1971) चतुर्थ संस्करण, रामनारायण बेनी प्रसाद प्रकाशक, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 1192*
5. *बदरीनाथ कपूर, 'व्यावहारिक हिंदी–अंग्रेजी शब्दकोश', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 646*
6. *शेखर शर्मा, 'समकालीन संवेदना और हिंदी नाटक' (1988), भावना प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 23*
7. *सुरेश सिन्हा, 'हिंदी उपन्यास' (1972) द्वितीय संस्करण, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 57*

8. *मालती सारस्वत, 'शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा (1987) सप्तम संस्करण, आलोक प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 398*
9. *मालती सारस्वत, 'शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा (1987) सप्तम संस्करण, आलोक प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 398*
10. *संपादक सुशील सिद्धार्थ, उषा किरण खान, 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' (2017), किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 16*
11. *संपादक सुशील सिद्धार्थ, उषा किरण खान, 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' (2017), किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 16*
12. *उषा किरण खान, 'उसी देहरी पर' (2023), सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 130*
13. *संपादक सुशील सिद्धार्थ, उषा किरण खान, 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' (2017), किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 136*
14. *उषा प्रियंवदा, 'जिंदगी और गुलाब के फूल' (1971) तृतीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 110*
15. *अमरकांत, 'प्रतिनिधि कहानियाँ' (2018) दसवाँ संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 63*
16. *अमरकांत, 'प्रतिनिधि कहानियाँ' (2018) दसवाँ संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 63-64*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

उत्तराखंड की भोटिया जनजाति: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

राजपाल सिंह
पीएच.डी. शोधार्थी,
समाजशास्त्र विभाग,लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ०प्र०, भारत

सारांश

भारत की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा भारत के मूल निवासियों का है ,जिसे 'आदिवासी' या 'जनजातीय' कहा जाता है । और पुराने लेखों में इन्हें 'वनवासी' भी कहा गया है। आजादी के बाद भारतीय संविधान में इन्हें 'अनुसूचित जनजाति' की श्रेणी में रखा गया है। देश की कुल जनसंख्या का अनुसूचित जनजाति की आबादी 8.8 प्रतिशत है। उत्तराखंड राज्य में 2.1 प्रतिसत है इसी आधार पर भारत के विभिन्न राज्यों में निवास करती हैं। भारत में साहूकारी व्यवस्था इनको काफी प्रभावित किया । लेकिन फिर भी ये अपना जल, जंगल और जमीन बचाए हुए हैं। उत्तराखंड के उत्तरी भाग भूभाग में लगभग **$30^0 30'$** उत्तरी अक्षांश से **81^0** पूर्वी देशांतर के मध्य लगभग 5000 वर्ग मीटर के क्षेत्रफल में 'भोटिया' जनजाति निवास करती है। जनपद पिथौरागढ़ के कुछ प्रमुख विकास खण्डों में जैसे- मुनस्यारी,धारचूला में भोटिया जनजाति का निवास स्थान है। तहसील मुनस्यारी के दीर्घ हिमालयी भागों में भोटिया जनजाति निवास करती है। जो किरात वंशीय एक अर्द्ध घुमन्तू जनजाति है। तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह जनजाति उत्तराखण्ड के उच्च हिमालयी भाग के प्रवासीय जनजाति के रूप में पहचान रखती है। मूल स्थान पर वर्तमान ग्रीष्मकालीन भोटिया निवास स्थान के रूप में रहने वाले भोटिया जनजाति के लोगों के लिए सबसे बड़ी समस्या शीत ऋतु में उत्पन्न होती है। उसके कारण उन्हें प्रवास करना पड़ता है। इस पेपर के माध्यम से हम भोटिया जनजाति के अध्ययन पर विशेष जानकारी दी जायेगी।

मूल शब्द: भोटिया, जनजाति, आदिवासी, उत्तराखण्ड, पिथौरागढ़, मुनस्यारी, अनुसूचित जनजाति, किरात वंशीय, अर्द्धघुमन्तू, ऐतिहासिक, उच्च हिमालयी, प्रवासीय।

प्रस्तावना

पूरे भारतवर्ष में 427 जनजातियाँ निवास करती हैं। ये जनजातियाँ अपनी संस्कृति, भाषा, इतिहास के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। भारतीय संविधान की धारा 366 (25) के अनुसार संवैधानिक आधार पर जनजातियों से तात्पर्य उन जातियों या जनजाति समुदायों या उनकी किसी उप जनजाति या उप जनजातीय समुदाय से है, जो संविधान की धारा 342 के अंतर्गत वर्णित हैं। जनजातियों को कई नामों से पुकारा जाता है जैसे **पहाड़ी जातियाँ, वन्य जनजातियाँ, आदिवासी जातियाँ (Adivasi) (मीना 2019)।** इसी उपक्रम में हम उत्तराखंड की मुख्य रूप से व सबसे प्राचीन जनजाति 'भोटिया' जनजाति सुदूरवर्ती सीमांत बर्फीले पर्वतीय क्षेत्रों के चमोली, उत्तरकाशी, पिथौरागढ़ एवं बागेश्वर में निवास करती है।

ये 'भोटिया गाँव' उत्तराखंड के भव्य पर्वतीय श्रृंखला नंदा देवी, हाथी पर्वत, त्रिशूल, मिलम, पिंडारी, पंचाचूली, द्रोणागिरी एवं आदि 'छोटा कैलाश' की पर्वतीय छटाओं से घिरे हैं। ठंडी शीतलहर का आवागमन इन बर्फीली पहाड़ियों में लगातार बना रहता है। इन पर्वतों की तलहटी के आस-पास ही भोटिया जनजाति का प्रवास स्थित है। ये क्षेत्र समुद्र तल से 2100 - 3000 मीटर की उच्चतम ऊँचाई एवं न्यूनतम तापमान के होने के कारण इन भोटिया जनजाति का जीवन बहुत ही संघर्षपूर्ण एवं कठिन है। सड़क, यातायात सुविधा, आवागमन के लिए संसाधनों की भारी कमी, मेडिकल सुविधा की कमी, भौतिक सुख साधनों की कमी के बाद भी ये लोग अपनी संस्कृति व परम्पराओं के बल पर अपनी कम सुविधा पर भी अपना सौहार्द भाव व सरल जीवन का आनंद लेते हैं। इस जनजाति के लोग अपने को राजपूतों का वंशज मानते हैं जो इनके अपनी प्राचीन उत्पत्ति की धारणा की पुष्टि करता है। भोटिया शब्द की उत्पत्ति 'भोट' शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ 'तिब्बत' से है। अतः तिब्बत से लगे इन क्षेत्रों को भोटांत कहा जाता है और वहाँ के निवासियों के **लिए भोटान्तिक, भोटा, भोट, भोटिया, भोटानी** आदि नामों से जाना जाता है। यहाँ के निवासियों की भाषा पर तिब्बतियों का विशेष प्रभाव है। इस जनजाति के कई उप-समूह भी हैं जिनमें माच्छा, तोलछा, जोहारी, शौका, दर्मियान, चौदांसी, व्यांसी, जाड़, जेठारी और छपरा (जिसे बखारिया भी कहा जाता है) शामिल हैं। इस जनजाति के लोग कद में छोटे, आँख के विशेष प्रकार के भीतरी भाग विशेष प्रकार के मुड़े मोड़, चपटी नाक, मोटे व खड़े बाल पाए जाते हैं, जो मंगोल प्रजाति के अन्तर्गत रखा जा सकता है। भोटिया जनजाति के लोग मुख्य रूप से लकड़ी के बने घरों में रहते हैं। इनकी बस्तियाँ विभिन्न स्थलों पर स्थित हैं, जिनमें माना, वनकुली, सवध गांव, मुनस्यारी क्षेत्र की जोहार घाटी और धारचूला तथा इसके साथ-साथ उत्तरकाशी में भागीरथी घाटी के निलोंग और जाडांग गाँवों के पास जाते हैं।

स्थिति एवं विस्तार

मुनस्यारी तहसील उत्तराखण्ड राज्य के पूर्वी भाग में 29°45'44.96" उत्तरी अक्षांश से $30^0$35'38.41" उत्तरी अक्षांश तक तथा $80^0$03'29.98" पूर्वी देशान्तर से $80^0$20'19.92" पूर्वी देशान्तर पर विस्तारित है। मुनस्यारी तहसील के मुख्यालय की ऊँचाई समुद्र तल से लगभग 2290 मीटर है। मुनस्यारी का क्षेत्रफल 2623 वर्ग किमी है । जो तहसील दीर्घ हिमालय में बसा हुआ है। अनुपम सौंदर्य से परिपूर्ण मुनस्यारी 'हिमनगरी' के नाम से भी जाना जाता है। मुनस्यारी का पुराना नाम भोट प्रदेश है क्योंकि मुनस्यारी तिब्बत से लगा हुआ क्षेत्र है। कुल जनसंख्या 46,320 (जनगणना 2011 के अनुसार) है तथा मुनस्यारी में वर्तमान समय में कई साहसिक खेल व पर्यटकों को बढ़ावा दिया जा रहा है, जिसमें माउंटेन साइकिलिंग, पर्वतारोहण, स्कीइंग इत्यादि प्रमुख है। यह तहसील अपनी सौंदर्य व पारम्परिक संस्कृति के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके उत्तर में ऊँटा, जयन्ती, कुंग्री-बिन्ती, गिरधार, पश्चिम में हरदेवल, त्रिशूल, नंदा देवी, नंदा कोट और पूर्वी दिशा में लहसर धूरा, लास्पा धूरा, कालंग धूरा, राजरम्भा और पंचाचूली की हिमाच्छादित पर्वत श्रृंखलाएं हैं। यहाँ ढालदार भूमि, सीढ़ीदार खेती देखने को मिलते हैं। मुनस्यारी की प्रमुख नदियाँ गौरीगंगा, मंदाकिनी नदी, रामगंगा नदी है जिसका उद्गम जल स्रोत ग्लेशियर से है। मिलम ग्लेशियर से गौरी गंगा निकलकर 98 किमी की प्रवाह के पश्चात जौलजीबी में काली नदी के संग आगे बहती है। मुनस्यारी तहसील भू-गर्भिक वैज्ञानिकों के अनुसार भूकम्प दृष्टि से अति संवेदनशील है जिसके कारण इसे जोन 5 में रखा गया है जो अति संवेदनशील है।

शारीरिक विशेषताएँ और वस्त्र

भोटिया जनजाति के लोगों की शारीरिक विशेषताएँ तिब्बती और मंगोल वंश का मिश्रण है। वे आम तौर पर छोटे कद, गोल चेहरे, छोटी आँखें, चपटी नाक और गोरे रंग के होते हैं। पुरुषों के पारम्परिक परिधान में अंगरंखा (ऊपरी वस्त्र का एक प्रकार), रंगा,गजू या खगचासी के नाम से जाना जाने वाला पायजामा और बंखे नामक ऊनी जूते शामिल हैं। महिलाओं के पारम्परिक परिधान में च्युमाला, च्युकला, च्युबती, च्युबज और कुम्बायी जैसी वस्तुओं को शामिल किया है।

आभूषण

भोटिया जनजाति में आभूषणों को 'साली-पुली' कहा जाता है। महिलाएँ बालडांग, खोंगली और मांसली जैसे हार पहनती हैं। सिर के आभूषणों में बीरावली, छंकरी वाली और पटेली वाली शामिल हैं। अंगुलियों को लक्षेप कहा जाता है।

भोजन

भोटिया जनजाति आहार में मुख्य रूप से छाकू (चावल), छमा (दाल और सब्जियाँ) और कुटो (रोटी) शामिल है। वे मांस के शौकीन हैं और उनका पारम्परिक पेय, च्या, चाय की पत्तियों, नमक और मक्खन से बनाया जाता है। वे चापती नामक एक प्रकार की शराब भी पीते हैं और जौ, गेहूं और महुआ से बने सत्तू का आनंद लेते हैं।

पारिवारिक एंव वैवाहिक स्थिति

आधुनिकीकरण, प्रौद्योगिकी, नगरीकरण, व्यक्तिवाद, पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने सम्पूर्ण भारत को झकझोरा है। भोटिया जनजाति भी अपने आप को इन कारकों द्वारा उत्पन्न परिवर्तन की प्रक्रिया से अक्षुण्ण नहीं रख सकी है। प्रजातांत्रिक भावनाएँ परिवार में प्रवेश कर रही हैं। नारी जागृति एवं नारी समानता आंदोलन ने नगरों एवं उनके निकट भोटिया जनजाति को अवश्य ही प्रभावित किया। भोटिया समाज में विवाह का अत्यंत महत्व है। इस समाज का पुरुष वर्ग व्यापारिक यात्रा या अन्य कार्यों में व्यस्त रहता है। महिलाएँ कृषि कार्य, ऊनी वस्त्रों को बनाने, पशुओं की देख-रेख करने एवं परिवार के कार्य करने में व्यस्त रहती हैं। इस जनजाति में कम आयु में विवाह का प्रचलन है। इनके विवाह में तत्सत विवाह, दमोला विवाह की प्रथा पायी जाती है। इसके साथ-साथ रंगबग (कुमार-कुमारी गृह) प्रथा भी प्रचलित है। इस प्रथा के अंतर्गत प्रत्येक गाँव या गाँव से बाहर एक पृथक गृह बनाया जाता है जिसे रंगबग कुड़ी या कुमार-कुमारी गृह कहा जाता है। इसके साथ ही स्थिर विवाह प्रथा का भी प्रचलन है। साथ में भावज-देवर विवाह, विधवा विवाह, सौत रखने की प्रथा, घरजंवाई रखने की प्रथा, विवाह-विच्छेद की भी प्रथा पायी जाती है।

उत्तराधिकार एंव सम्पत्ति का बटवारा

संयुक्त परिवार की चल-अचल सम्पत्ति का पुत्रों में समान रूप से बटवारा किया जाता है। अंत में छोटे भाइयों की तुलना में बड़े भाई को कुछ सम्पत्ति अधिक प्रदान की जाती है। इसे 'ज्येष्ठो-बान' कहा जाता है जिसमें मकान, खेत, पशु, बर्तन, रुपया कुछ भी हो सकता है। किसी भी भोटिया के यदि एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं तो पुत्रों को समान बटवारा नहीं मिलता है बल्कि पत्नियों के आधार पर विभाजन किया जाता है जिसे 'सौतिया बाँट' कहा जाता है। पिता द्वारा लिया गया कर्ज का बटवारा भी पुत्रों में समान रूप से किया जाता है। पिता के जीवित रहने पर पुत्रों को सम्पत्ति को बांटने तथा बेचने का अधिकार नहीं होता है। वधु को प्राप्त दहेज का बटवारा नहीं किया जाता है।

मृतक संस्कार

भोटिया जनजाति में अतीत से ही वैदिक परम्परा से शवदाह संस्कार या मृतक संस्कार किया जाता है। आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म पर इनको विश्वास है। इस समाज में जब किसी की मृत्यु होने वाली रहती है या यह अनुमान हो पाता है कि एक-दो दिन में मृत्यु हो जायेगी तो उस व्यक्ति को पुरोहित की सहायता से गोदान कराया जाता है। जिस परिवार में कोई मृत्यु हो जाती है उसमें एक वर्ष तक कोई शुभ कार्य नहीं किया जाता है। व्यास व दारमा भोटिया जनजाति में शव का दाह संस्कार किया जाता है। मृत व्यक्ति की सद्गति के लिए जो क्रिया करते हैं उसे 'दोरंग' कहा जाता है।

धार्मिक संरचना

भोटिया जनजाति में धर्म एवं धार्मिक भावना का एक विशिष्ट स्थान है। ये लोग हिन्दू धर्म से पूर्ण प्रभावित हैं। इनकी धार्मिक मान्यताएँ एवं विश्वास हिन्दू धर्म के सादृश्य विकसित हैं। रहन-सहन, क्रियाकलाप, आचार-विचार पर धार्मिक भावना का प्रभाव है। इनके धर्म पर वैदिक संस्कृति, बौद्ध धर्म तथा शक-हुण आक्रमण का प्रभाव परिलक्षित है। प्रारम्भ में तिब्बत के "बौन" तथा "बौद्ध धर्म" का प्रभाव था। 16वीं शताब्दी में पज्वारियों का अवसान हो गया तथा ब्राह्मणीकरण प्रारम्भ हो गया। ये अतिवृष्टि एवं बर्फ की रक्षा के लिए 'धुरमा', पशुओं की रक्षा के लिए 'हरदयाल', कृषि उत्पादन के लिए 'थलथल', ग्रामीणों को रोग-व्याधि से बचाने के लिए 'ल्हमसेल', विजय प्राप्ति के लिए 'ल्वार्यों' आदि देवताओं को प्राकृतिक शक्ति के रूप में मानकर आराधना करते हैं। भोटिया जनजाति के लोग नन्दा देवी की आराधना करते हैं। इस जनजाति के लोग नन्दा देवी को हिमालय की पुत्री तथा भगवान शंकर की पत्नी के रूप में माना जाता है। इस जनजाति में हिम शिखरों की भी आराधना की जाती है। वास्तव में इनका मानना है कि हिम, वर्षा, हिम तूफान, जलवर्षा आदि का कारण ये हिमशिखर हैं। जब ये कुपित होते हैं तब तीव्र बर्फीली आँधियाँ आती हैं जिससे फसलों, पशुओं एवं पालयन के लोगों की भारी क्षति होती है। साथ ही, कठपुड़िया देवी, मणिभद्र यज्ञ, घान देवता, गंगाजी, घंटाकर्ण देवता, सिद्वा-बिद्वा देवता, नरसिंह देवता, नाग देवता आदि की भी पूजा करते हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उत्तराखंड का पिथौरागढ़ जिला कुमाऊँ हिमालय के अन्तर्गत आता है, जो हिमालय का एक पर्वतीय भू-भाग है। कुमाऊँ हिमालय का भाग प्राचीन समय में अनेक राजनीतिक परिस्थितियों का सामना कर चुका है। 750 ईस्वी से पूर्व का इतिहास स्पष्ट नहीं मिलता है परन्तु उसके पश्चात् के ऐतिहासिक अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि यहाँ नन्द वंश, कुषाण, मौर्य, वर्धन एवं पौरव वंश का शासन स्थापित हो चुका है। 750 ईस्वी से 1223 ईस्वी तक कत्यूरी वंश का यहाँ पर शासन था। 1223 से 1445 ईस्वी का

काल यहाँ राजनीतिक उथल-पुथल का काल है। इसके पश्चात यह भू-भाग गोरखाओं के शासन के अधीन हो गया और जो अंग्रेजों के कारण 1815 ईस्वी में समाप्त हो गया और यहाँ पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हो गया। 1715 ईस्वी में नवाब असाफुउद्दीन ने उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जीत लिया था। अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य यमुना दोआब को विस्तीर्ण करना बन गया था। अतः 1856 ईस्वी में गंगा-यमुना दोआब अवध प्रान्त में सम्मिलित किया गया और आगरा प्रान्त बना दिया। इस समय देहरादून को मेरठ मण्डल तथा 1936 ईस्वी में टिहरी रियासत को पंजाब प्रान्त में सम्मिलित कर दिया गया। 1949 ईस्वी में टिहरी रियासत को एक स्वतंत्र जिला बनाकर पंजाब प्रान्त से अलग कर कुमायूं मण्डल में सम्मिलित कर दिया। इस समय कुमायूं मण्डल का वर्तमान स्वरूप उत्तराखंड के समान हो गया था। 1960 में कुमायूं मण्डल को तथा उत्तराखंड मण्डल में विभाजित कर दिया गया जिसे 1969 में गढ़वाल मण्डल के रूप में पुनर्गठित किया गया। परन्तु देहरादून इस समय मेरठ मण्डल में था। 1973 ईस्वी में देहरादून मण्डल को मेरठ मण्डल से अलग कर गढ़वाल मण्डल में मिला दिया गया। 2000 में हरिद्वार जनपद को गढ़वाल मण्डल तथा कुमायूँ मण्डल को मिलाकर उत्तराखंड राज्य बनाया गया। अति प्राचीन समय से ही पिथौरागढ़ जिले की अर्थव्यवस्था भोटिया जनजाति की अर्थव्यवस्था पर काफी हद तक निर्भर थी। प्राचीन काल से ही यातायात की असुविधा के कारण भोटिया जनजाति का व्यापारिक सम्पर्क तिब्बत से हो गया था जिसके कारण वस्तुओं का आदान-प्रदान यहाँ की अर्थव्यवस्था का मुख्य स्रोत था।

आर्थिक संरचना

भोटिया जनजाति मुख्य रूप से कृषि, पशुपालन, व्यापार और ऊनी कपड़ा उत्पादन में संलग्न है। वे कठिन विधि के रूप में जानी जाने वाली 'स्लैश-एंड-बर्न' कृषि का अभ्यास करते हैं जो झूम खेती के समान है। वे भेड़, बकरी और जेबू (पहाड़ी याक) जैसे जानवर पालते हैं। ऐतिहासिक रूप से, भोटिया लोग तिब्बती के हुनिया व्यापारियों के साथ व्यापार करते थे। लेकिन 1962 के भारत-चीन युद्ध के बाद यह व्यापार बन्द हो गया। भोटिया जनजाति को उत्तराखंड की सबसे प्राचीन जनजातियों में से एक माना जाता है। इनके यहाँ कृषि भूमि का नितांत अभाव है और कुछ पर्वतीय भागों में शीत की अधिकता के कारण कृषि मुख्य आधार नहीं बन सकती है। अर्थव्यवस्था पर जलवायु का विशिष्ट प्रभाव होता है। इसमें शीतकालीन एवं ग्रीष्मकालीन तरह की अर्थव्यवस्था पर निर्भरता बनी रहती है। ग्रीष्म काल में ये लोग ऊँचे स्थानों पर स्थित हरी एवं मुलायम घास से समृद्ध बुग्याल चारागाहों और भेड़ पालन व्यवसाय से शीतकाल में व्यापार करते हैं। उत्तरी भाग के हिमालय की ऊँची पर्वत श्रृंखलाओं के बीच स्थित अनेक गिरि द्वारों ने भोटिया जनजाति के लोगों को तिब्बत के साथ व्यापार के लिए प्रोत्साहित किया गया है। मानवीय अस्तित्व के लिए प्राकृतिक संसाधनों का विशेष महत्त्व होता है। एस.एस. खनका (1990) के अनुसार पिथौरागढ़ क्षेत्र की कृषि भूमि अनेक समस्याओं से ग्रस्त है जैसे खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों के

रूप में एवं कृषि का समतल न होना। डां0. जे.सी. गडकोटी (1998) के अनुसार कृषि पिथौरागढ़ जनपद के आर्थिक विकास की धुरी रही है। यहाँ की अधिकतम जनसंख्या कृषि पर आधारित है। यहाँ की कुल जनसंख्या का 75% प्रतिशत हिस्सा कृषि कार्य में संलग्न है जिससे यहाँ की भूमि का निरन्तर दबाव बढ़ रहा है। किन्तु कृषि भूमि मात्र जनसंख्या के द्वारा ही संचालित नहीं होती है बल्कि योग्य कृषि भूमि की विभिन्नता के लिए अनेक तत्व भी उत्तरदायी हैं। डी.एन. चौहान (1966) के अनुसार इन तत्वों को सामान्यतः तीन भागों में बाँटा गया है: प्रथम वे वर्ग जो प्राकृतिक तत्व में आते हैं जिसके अन्तर्गत धरातल, जलवायु एवं मिट्टी को शामिल किया जा सकता है। द्वितीय वर्ग में आर्थिक तत्व आते हैं जैसे- धन, पूँजी और आदि। और तृतीय वर्ग में संस्थागत तत्व आते हैं जिनमें सांस्कृतिक वातावरण और रीति-रिवाज एवं परम्पराएं हैं। सामाजिक एवं सामूहिक क्रियाएँ, मूल्य एवं वैधानिक तत्व, अभिरुचि आदि। भोटिया जनजाति के लोग ग्रीष्मकालीन एवं शीतकालीन गृहों का निर्माण क्रमशः पहाड़ की ऊँचाइयों पर एवं तलहटी के मैदानों में करते हैं। इसी प्रकार इनकी कृषि भूमि भी पहाड़ों के ऊपर एवं तलहटी के मैदानी भागों में अलग-अलग होती है और वहाँ पर अलग-अलग फसलें उगायी जाती हैं।

सामाजिक व्यवस्थ

पिथौरागढ़ के मुनस्यारी में भोटिया जनजाति को दो मुख्य सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है क्योंकि इन दोनों सामाजिक क्षेत्रों की सामाजिक व्यवस्था में पर्याप्त अन्तर प्रतीत होता है।

जोहार (मुनस्यारी) के भोटिया : ई.टी. एटकिंसन के अनुसार जोहार ब्राह्मण एवं राजपूत दो जातियों में बंटे हैं। वे अपनी उपजातियों जैसे गोत्र, शाखा एवं प्रवर के विषय में अनभिज्ञ हैं। कुछ लोग अपनी उत्पत्ति गढ़वाल के रास्तों से बताते हैं और कुछ लोग स्वयं को कौशिल गोत्र का मानते हैं। जोहार में भोटिया ब्राह्मणों के मुख्य वंश त्रिवेदी, पाठक, नौरंगी, कुरायती, पोलूवाल, दरमोला, उपाध्याय एवं डंगवाल हैं। राजपूतों के जंगपंगी एवं टोलिया भी स्वयं को नेपाल के जुमला क्षेत्र से मानते हैं। इन राजपूत वर्गों के नाम बिर्जू, मीलम, बुर्फू, सेन, नमफल, चुलकोट, रिलकोट, रिंगू, लास्पा, ल्वाल, सेनापर्थी, धिमागोंव, खिलांच, धोपाटा, छापा, मानी, रीलम, पपाण, हरकोट इत्यादि गाँवों के नाम पर पड़े हैं। जोहार के प्रमुख इतिहासकार डॉ. एस.एस. पांगती ने जोहार की भोटिया जनजाति को दो सामाजिक वर्गों में विभक्त किया है। यह वर्ग शौका वर्ग एवं नित्वाल वर्ग प्रमुख हैं।

शौका वर्ग: कुमायूँ में चंद शासनकाल के उत्तरार्ध में जोहार में केवल बुफाल, ल्वाल एवं रहलवालों का प्रभुत्व था। इनमें मिलम के मिलमवाल एवं मरतोली के मरतोलिया प्रमुख थे। यह लोग आपस में झगड़ते रहते थे। इन्होंने अपनी संख्या बढ़ाने के कारण बाहरी लोगों को भी आश्रय दिया। 17वीं शताब्दी

में जोहार के 12 गाँवों में 22 मूल पुरुष एक नहीं हैं। 17वीं शताब्दी में जोहार के 12 गाँवों में 22 उपजातियों के शौका निवास करते थे। जो बारह गर्खा कहलाते थे।

नित्वाल वर्ग: जोहार में शौका समाज द्वारा वैदिक संस्कृति अपनाने से पहले धार्मिक अनुष्ठान तिब्बती लामा गुरुओं से न कराकर प्रत्येक गाँव में शौक समाज के ही एक वर्ग द्वारा सम्पन्न करायी जाती थी। यह वर्ग नित्वाल वर्ग कहलाये। यह नित्वाल वर्ग के लोग गढ़वाल के विभिन्न क्षेत्रों से आकर यहाँ बसे हैं।

दरमा के भोटिया: एटकिंसन के कथन के अनुसार अनुसार दरमा पट्टी में ब्राह्मण नहीं है। मल्ला एवं तल्ला में राजपूतों के अनेक वर्ग हैं जिनका नामकरण विभिन्न गाँवों के नाम पर हुआ है जैसे दुग्तू से दुग्ताल, बोना से बोनाल। इसके अतिरिक्त फालम, लामा, शीपू, चूल, शौन, दर, वतन, जुम्मू, मारछा, गो एवं दातु आदि इत्यादि गाँव के विभिन्न नामों से राजपूतों के वंशों का नामकरण हुआ है। ब्याँस पट्टी के राजपूत बच्चों के नाम तिंभर, गर्वया, छलमा, कुथी, नपल्यू, नाबी, बूडी, गुंजी इत्यादि नामों से गाँव के नाम पर पड़े हैं। चौदास के लोग 'चौदांसी' कहलाते हैं

निष्कर्ष

उत्तराखंड की भोटिया जनजाति एक अनूठी एवं प्राचीन समुदाय है। जिसकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परम्पराएँ और समृद्ध विरासत बहुत गहरी है। उनकी विशिष्ट सांस्कृतिक विशेषताएँ, पारम्परिक पोशाक, भोजन और रीति-रिवाज तिब्बती और मंगोलियन प्रभावों का मिश्रण है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इस जनजाति की अपनी एक पहचान है। इनकी पारिवारिक एवं सांस्कृतिक विशेषताएँ अलग हैं। 1962 के भारत-चीन युद्ध के दौरान व्यापार बन्द होने से ऐतिहासिक घटनाओं में बदलाव आया। इसके बावजूद भी भोटिया जनजाति के लोग अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाये हुए हैं और अपने रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं को संरक्षित किए हुए हैं। उनके त्यौहार एवं अनुष्ठानों और सामाजिक प्रथाएँ उनकी जीवन्त संस्कृति और आधुनिक क्षमता का परिणाम हैं। यह जनजाति उत्तराखंड की सबसे प्राचीन जनजाति होने के बावजूद अपने मूल्यों को बचाए हुए है जो भारत की जनजातियों की जनजातीय परम्पराओं की विविधता और समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।

सन्दर्भ:

1. *एटकिंसन ई.टी., द हिमालयन गजेटियर, 1981 अ, खण्ड दो भाग एक, पृष्ठ 369।*
2. *एटकिंसन ई.टी., द हिमालयन गजेटियर, 1981 ब, खण्ड तीन भाग एक, पृष्ठ 03-151।*
3. *जोशी अवनींद्र कुमार, भोटान्तिक जनजाति, 1983, पृष्ठ 22-23।*
4. *जोशी एस.सी. एवं जोशी, हिमालय: ए ज्योग्राफिक पर्सपेक्टिव ऑन रिसोर्स डेवलपमेंट, पृष्ठ 195-96।*

5. *ट्रेल जॉर्ज विलियम, स्टेटिस्टिकल अकाउंट ऑफ द भोट महाल्स कुमाऊँ कमिश्नर रिकॉर्ड्स, 1828, खण्ड 15, पृष्ठ 30-35।*
6. *डबराल शिवप्रसाद, उत्तराखंड के भोटान्तिक, 1966, पृष्ठ 21।*
7. *तिवारी आर.सी., त्रिपाठी शंकरेश्वर, सांस्कृतिक भूगोल - परिभाषा विषय क्षेत्र एवं अध्ययन तंत्र, 1988, पृष्ठ 10-17।*
8. *मंगल चंद्र मीना, 2019, भारत का जनजातीय इतिहास, रावत पब्लिकेशन, ISBN 978.*
9. *हसनैन, नदीम. 2007. जनजातीय भारत. नई दिल्ली: जवाहर पब्लिशर्स.*
10. *मजूमदार, डी0एन0.1958. रेसेज एंड कल्चर ऑफ़ इंडिया. मुंबई: एशिया पब्लिशिंग.*
11. *घुरिये, जी0 एस0, 1963. दि शेड्यूल ट्राइब. बॉम्बे: पॉपुलर प्रकाशन.*
12. *खाखा, वर्जिनियस. 2014 "संवैधानिक प्रावधान, कानून और जनजातीयां " योजना. जनवरी.*
13. *जोहार समाचार स्मारिका (2014), जोहार समाचार, पृष्ठ संख्या- 219।*
14. *गूगल विकिपीडिया, 2025।*
15. *https://www.uttarakhand.com/bhotiya*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

न्यायालय एवं विधिक अधिकारों में महिलाओं की भूमिका एक विधिक विश्लेषण

डॉ. फूल चंद सैनी
एसोसिएट प्रोफेसर,
विधि विभाग, श्याम विश्वविद्यालय, दौसा, राजस्थान

सार

महिलाओं की भूमिका न्यायालय एवं विधिक अधिकारों के क्षेत्र में निरंतर सशक्त हुई है। भारतीय संविधान ने महिलाओं को समानता, गरिमा, सुरक्षा तथा न्याय प्राप्त करने के व्यापक प्रावधान प्रदान किए हैं। इसके बावजूद सामाजिक, आर्थिक एवं संस्थागत बाधाएँ आज भी महिलाओं के विधिक अधिकारों के पूर्ण उपयोग में चुनौती उत्पन्न करती हैं।

यह लेख भारतीय विधिक प्रणाली में महिलाओं की भागीदारी का विश्लेषण करता है, जिसमें न्यायपालिका में महिलाओं की उपस्थिति, विधिक व्यवसाय (बार काउंसिल, वकालत) में उनकी स्थिति, तथा न्याय प्राप्ति हेतु उपलब्ध विधिक प्रावधानों का अध्ययन शामिल है। साथ ही, दहेज निषेध अधिनियम, घरेलू हिंसा अधिनियम, लैंगिक उत्पीड़न निवारण अधिनियम, कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न , दंड संहिता में महिला संबंधी धाराएँ तथा संवैधानिक संरक्षण जैसे अनुच्छेद 14, 15, 21 एवं 39 का विश्लेषण किया गया है।

लेख में यह भी दर्शाया गया है कि न्यायालयों में महिला न्यायाधीशों की संख्या बढ़ने से न्यायिक संवेदनशीलता में सकारात्मक परिवर्तन आए हैं, परंतु वर्तमान आंकड़े यह दर्शाते हैं कि शीर्ष न्यायपालिका में अब भी महिलाओं की भागीदारी सीमित है। विधिक जागरूकता कार्यक्रम, फास्ट ट्रैक कोर्ट, महिला हेल्पलाइन और निःशुल्क विधिक सेवा तंत्र महिलाओं के अधिकारों की रक्षा में सहायक सिद्ध हुए हैं।

अध्ययन का निष्कर्ष बताता है कि महिलाओं की भूमिका विधिक क्षेत्र में बढ़ रही है, परंतु सशक्तिकरण, जागरूकता, सामाजिक समर्थन और विधिक पहुँच को और अधिक मजबूत करने की आवश्यकता है। एक समतामूलक समाज के निर्माण हेतु आवश्यक है कि महिलाओं को न्यायिक तंत्र में अधिक प्रतिनिधित्व और विधिक संसाधनों तक सरल पहुँच उपलब्ध कराई जाए।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भूमिका

भारतीय समाज में महिलाएँ प्राचीन काल से ही सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक संरचना का अभिन्न अंग रही हैं। तथापि, इतिहास गवाह है कि समय के साथ इनकी स्थिति में कई उतार–चढ़ाव आते रहे। जहाँ एक ओर प्राचीन वैदिक काल में महिलाएँ विदुषी, दार्शनिक, शिक्षिका एवं न्यायिक बहसों की सहभागी थीं, वहीं मध्यकाल में इनकी स्थिति सीमित होती चली गई। आधुनिक भारत के पुनर्जागरण एवं स्वतंत्रता संग्राम के दौरान महिला अधिकारों की पुनर्स्थापना का संघर्ष पुनः शुरू हुआ। स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय संविधान निर्माताओं ने महिलाओं की गरिमा, समानता और न्याय को देश के मूलभूत मूल्यों में स्थान दिया।

वर्तमान समय में महिला अधिकारों एवं न्यायालयों में महिलाओं की भूमिका अनेक स्तरों पर विस्तृत हो चुकी है। महिलाएँ न केवल अपने विधिक अधिकारों को लेकर अधिक जागरूक हुई हैं, बल्कि न्यायपालिका विशेषकर उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में भी सक्रिय भागीदारी प्रदर्शित कर रही हैं। महिला जज, महिला वकील, न्यायिक सेवाओं में महिलाएँ, विधिक सक्रियता, महिला आयोगों की भूमिका, और महिला सशक्तिकरण हेतु न्यायालय के महत्वपूर्ण निर्णय ये सभी परिदृश्य भारतीय विधिक विकास में निर्णायक स्थान रखते हैं।

यह लेख भारत में न्यायालय एवं विधिक अधिकारों में महिलाओं की भूमिका को ऐतिहासिक, संवैधानिक, सामाजिक, न्यायिक और भविष्यगत दृष्टिकोण से समग्र रूप से विश्लेषित करता है।

भारतीय संविधान में महिला अधिकारों का विधिक आधार

संविधान महिलाओं की न्याय तक पहुँच सुनिश्चित करने का सबसे बड़ा स्रोत है। संविधान के विभिन्न भाग मूल अधिकार, राज्य के नीति निर्देशक तत्व, मौलिक कर्तव्य, और विशेष प्रावधान महिलाओं की सुरक्षा, समानता और न्यायसंगत अवसरों को संरक्षण देते हैं।

- समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14–18) अनुच्छेद 14 पुरुष और महिला दोनों को कानून के समक्ष समानता प्रदान करता है। अनुच्छेद 15(1) लिंग के आधार पर भेदभाव को प्रतिबंधित करता हैय
- अनुच्छेद 15(3) राज्य को महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष प्रावधान बनाने की अनुमति देता है, जो कि सकारात्मक भेदभाव का कानूनी आधार है।
- अनुच्छेद 16 राज्य सेवाओं में समान अवसर सुनिश्चित करता है।
- स्वतंत्रता का अधिकार अनुच्छेद 21 महिलाओं को जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान करता है। उच्चतम न्यायालय ने इस अधिकार

के अंतर्गत यौन उत्पीड़न से सुरक्षा, गरिमामय जीवन, निजता का अधिकार, प्रजनन अधिकार, सुरक्षित वातावरण आदि को शामिल किया है।

- अनुच्छेद 39(क), 42, 44 राज्य के नीति निर्देशक तत्व महिलाओं को बेहतर कार्य स्थितियाँ, समान मजदूरी, मातृत्व सुरक्षा, और पारिवारिक न्याय प्रदान करने की दिशा में मार्गदर्शन करते हैं।
- अनुच्छेद 243 स्थानीय निकायों में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण अनिवार्य है, जिसने लाखों महिलाओं को न्यायिक और प्रशासनिक प्रक्रिया से जोड़ने का अवसर दिया। इन संवैधानिक प्रावधानों ने न्यायालय एवं संपूर्ण विधिक व्यवस्था में महिलाओं की स्थिति को सशक्त बनाने की नींव रखी।

विधिक क्षेत्र में महिलाओं की सहभागिता ऐतिहासिक एवं वर्तमान परिदृश्य

- स्वतंत्रता–पूर्व काल भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान विधिक व्यवसाय पुरुष–प्रधान था। 1923 में लीगल प्रैक्टिशनर्स (महिला) एक्ट के बाद महिलाओं को पहली बार वकालत करने का अधिकार मिला, जिसके परिणामस्वरूप कॉर्नेलिया सोराबजी पहली भारतीय महिला वकील बनीं।
- स्वतंत्रता के बाद स्वतंत्रता पश्चात महिलाओं ने अदालतों में प्रवेश बढ़ाया। परंतु न्यायिक पदों पर महिलाओं की संख्या काफी कम रही। उच्च न्यायपालिका में महिलाओं के प्रवेश को लेकर दशकों तक प्रगति धीमी रही।
- समकालीन स्थिति आज स्थिति में स्पष्ट परिवर्तन देखा जा सकता है। भारत में लगभग 45 प्रतिशत से अधिक विधि छात्रों में महिलाएँ शामिल हैं। राज्य न्यायिक सेवाओं में महिलाओं की भागीदारी 35–60 प्रतिशत तक पहुँच चुकी है। उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय में महिला न्यायाधीशों की संख्या धीरे–धीरे बढ़ रही है।
- पहली महिला चीफ जस्टिस भविष्य की संभावना भारत में अब तक कोई महिला मुख्य न्यायाधीश नहीं हुईं, परंतु कई वरिष्ठ महिला न्यायाधीश इस पद तक पहुँचने की दिशा में अग्रसर हैं। न्यायपालिका में महिलाओं का बढ़ता प्रभाव आने वाले समय में न्याय प्रणाली को अधिक संवेदनशील और समावेशी बनाएगा।

भारतीय न्यायालयों में महिलाओं की भूमिका

- महिला न्यायाधीश महिला न्यायाधीशों की बढ़ती संख्या न्यायिक संवेदनशीलता को मजबूत करती है, विशेषकर उन विषयों पर जहाँ महिलाओं के अधिकार और गरिमा का प्रश्न जुड़ा हो। महिलाएँ न्यायालय में लैंगिक न्याय,यौन–उत्पीड़न,घरेलू

हिंसा,विवाह एवं पारिवारिक विवाद,प्रजनन अधिकार जैसे मामलों में मानवाधिकार–आधारित दृष्टिकोण विकसित कर रही हैं।

- महिला वकील महिला अधिवक्ता न्यायालय में संवेदनशील मामलों की प्रतिनिधि के रूप में अधिक प्रभावी मानी जाती हैं। महिला वकीलों की उपस्थिति विशेष रूप से पारिवारिक न्यायालय,बच्चों से संबंधित मामलों, लैंगिक अपराध,पीछा करना साइबर अपराध में महत्वपूर्ण रही है।
- न्यायिक सेवाओं में महिलाएँ नीचली अदालतों में महिला न्यायिक अधिकारियों की संख्या पुरुषों की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ी है। यह स्थिति ग्रामीण क्षेत्रों तक न्याय की पहुँच को बेहतर बनाती है।

न्यायालय द्वारा विकसित महिला–सशक्तिकरण की न्यायिक दृष्टि

- न्यायालयों के कई ऐतिहासिक निर्णयों ने महिलाओं के अधिकारों को नई दिशा दी है। इनमें से कुछ प्रमुख निर्णय निम्नलिखित हैं
- विशाखा बनाम राजस्थान राज्य (1997) कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न रोकने हेतु विस्तृत दिशानिर्देश जारी किए गए, जिन्हें बाद में पॉस्को अधिनियम (2013) का आधार बनाया गया।
- शाह बानो केस (1985) मुस्लिम महिलाओं के भरण–पोषण अधिकार को विस्तारित व्याख्या दी गई।
- लिली थॉमस केस (2000) दहेज विरोधी कानूनों की व्यापक व्याख्या।
- निर्भया केस और आपराधिक कानून संशोधन (2013) यौन अपराधों की परिभाषा विस्तृत दंड कठोर किए गए।
- सपना त्रिपाठी केस निजता और शरीर की स्वायत्तता महिला प्रजनन अधिकारों को ।तजपबसम 21 का हिस्सा माना गया।

इन निर्णयों ने भारतीय स्त्री को एक संवैधानिक रूप से संरक्षित व्यक्ति के रूप में स्थापित किया, जिसकी गरिमा सर्वोच्च है।

महिला अधिकारों को सुरक्षित करने वाले प्रमुख विधिक प्रावधान

महिलाओं के संरक्षण हेतु कई विशिष्ट कानून बनाए गए हैं–

- घरेलू हिंसा अधिनियम 2005 महिलाओं की सुरक्षा हेतु विस्तृत प्रावधान।
- दहेज निषेध अधिनियम 1961 दहेज मांगने, देने और लेने को दंडनीय अपराध।

- मातृत्व लाभ अधिनियम 1961 महिला कर्मचारियों को सुरक्षित मातृत्व सुविधा का अधिकार।
- यौन अपराधों से बाल संरक्षण अधिनियम पॉस्को अधिनियम (2013) लैंगिक अपराधों से बच्चों की सुरक्षा कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न रोकने हेतु कानूनी ढाँचा।
- महिला तस्करी निषेध कानून अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर तस्करी रोकने हेतु प्रावधान।

ये सभी कानून महिलाओं की न्याय तक पहुँच बढ़ाने में सहायक हैं।

न्यायालय में महिलाओं की भूमिका भविष्यगत चुनौतियाँ

- लैंगिक पूर्वाग्रह अभी भी कई स्तरों पर लैंगिक भेदभाव मौजूद है।
- सुरक्षा संबंधी मुद्दे महिला वकीलों को देर रात मामलों, साक्ष्य एकत्र करने और कुछ अपराधों की पैरवी में सुरक्षा चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।
- न्यायिक नियुक्ति में असंतुलन उच्च न्यायालयों में महिला न्यायाधीशों की संख्या अपेक्षाकृत कम है।
- परिवार और पेशे का संतुलन लंबे समय तक चलने वाली सुनवाई और अनियमित कार्य घंटे महिलाओं के लिए चुनौती।

सुधार और सुझाव

- न्यायपालिका में 50 प्रतिशत आरक्षण की मांग महिला न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने हेतु आरक्षण एक प्रभावी कदम हो सकता है।
- संवेदनशील कोर्टरूम वातावरण यौन अपराधों से जुड़े मामलों के लिए विशेष रूप से महिला–अनुकूल ढाँचा।
- विधिक शिक्षा में लैंगिक समानता पर विशेष पाठ्यक्रम कानून छात्रों को लैंगिक न्याय की गहन समझ प्रदान की जाए।
- कानूनी सहायता सेवाओं में महिलाओं की भूमिका बढ़ाना जिलों और पंचायत स्तर तक महिला विधिक सलाहकार नियुक्त किए जाएँ।
- डिजिटल न्याय और महिला अनुकूल तकनीक ऑनलाइन सुनवाई, ई–फाइलिंग और वर्चुअल कोर्ट महिलाओं की भागीदारी बढ़ा सकते हैं।

निष्कर्ष

- भारत में महिलाओं की न्यायालय और विधिक अधिकारों में भूमिका लगातार मजबूत हो रही है। संविधानिक संरक्षण, विधिक सुधार, न्यायालयों के प्रगतिशील निर्णय एवं महिलाओं की बढ़ती जागरूकता ने न्यायिक परिदृश्य में व्यापक बदलाव लाए हैं। महिला वकीलों, महिला न्यायाधीशों और विधिक सेवाओं में महिलाओं का बढ़ता योगदान भारतीय न्याय प्रणाली को अधिक संवेदनशील, मानवीय और संतुलित बना रहा है।
- भविष्य में यदि न्यायपालिका में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाई जाती है, विधिक प्रक्रियाओं को अधिक पारदर्शी बनाया जाता है और लैंगिक पूर्वाग्रहों को दूर किया जाता है, तो भारत एक ऐसी न्यायिक व्यवस्था स्थापित कर सकेगा जो वास्तव में समानता, न्याय और गरिमा के संवैधानिक मूल्यों को मूर्त रूप देगी।

संदर्भ सूची

विधान एवं सरकारी दस्तावेज

1. *भारतीय संविधान, 1950 विशेषतः अनुच्छेद 14, 15, 21, 39, 42।*
2. *भारतीय दंड संहिता 1860महिला संबंधी धाराएँ।*
3. *दहेज निषेध अधिनियम, 1961।*
4. *घरेलू हिंसा से संरक्षण अधिनियम, 2005।*
5. *कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न अधिनियम, 2013।*
6. *राष्ट्रीय महिला आयोग की वार्षिक रिपोर्ट्स।*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

नगर पंचायत स्तर पर ठोस अपशिष्ट उत्पादन और उसके स्वास्थ्य-पर्यावरणीय प्रभाव : जिला राजनांदगांव का एक अध्ययन

डॉ. छोटे लाल साहू
जिला समन्वयक
जिला पंचायत राजनांदगांव (छ.ग.)

सारः

भारत में नगर पंचायत की संख्या में दिन–प्रतिदिन वृध्दि हो रहा हैं जिसमें उत्पन्न ठोस अपशिष्ट पर्यावरणीय संतुलन एवं जनस्वास्थ्य के लिए एक गंभीर चुनौती बनता जा रहा है। जिला राजनांदगांव की नगर पंचायतों में तीव्र जनसंख्या वृद्धि, अनियोजित शहरी विकास तथा सीमित प्रशासनिक संसाधनों के कारण ठोस अपशिष्ट की मात्रा में निरंतर वृद्धि हो रही है। अपशिष्ट के संग्रहण, पृथक्करण एवं निपटान की वैज्ञानिक व्यवस्था के अभाव में भूमि, जल एवं वायु प्रदूषण की समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव मानव स्वास्थ्य पर पड़ रहा है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य जिला राजनांदगांव की नगर पंचायतों में ठोस अपशिष्ट उत्पादन एवं प्रबंधन की स्थिति का विश्लेषण करना तथा उससे उत्पन्न स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय प्रभावों का अध्ययन करना है। शोध से यह स्पष्ट होता है कि खुले में डंपिंग एवं अव्यवस्थित प्रबंधन पद्धतियाँ संक्रामक रोगों एवं पर्यावरणीय असंतुलन को बढ़ावा देती हैं। यह अध्ययन सतत एवं समुदाय–आधारित ठोस अपशिष्ट प्रबंधन प्रणाली की आवश्यकता को रेखांकित किया गया है।

बीजशब्दः नगरपालिका ठोस अपशिष्ट, नगर पंचायत, सार्वजनिक स्वास्थ्य, पर्यावरणीय प्रभाव, ठोस अपशिष्ट प्रबंधन

परिचयः

मानव सभ्यता के विकास के साथ–साथ उत्पादन, उपभोग एवं जीवन–शैली में निरंतर परिवर्तन हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप ठोस अपशिष्ट की मात्रा और विविधता में अभूतपूर्व वृद्धि हो रही है। आधुनिक शहरी समाज में यह समस्या विशेष रूप से नगर पंचायत स्तर पर अधिक जटिल रूप में उभर कर सामने आई है, जहाँ सीमित संसाधनों और अवसंरचनात्मक कमियों के कारण ठोस अपशिष्ट का प्रभावी प्रबंधन एक गंभीर चुनौती बना हुआ है।

आर्थिक विकास, तीव्र शहरीकरण तथा जीवन स्तर में वृद्धि ने जहाँ सुविधाओं का विस्तार किया है, वहीं इसके दुष्परिणाम स्वरूप उत्पन्न ठोस अपशिष्ट ने पर्यावरणीय संतुलन एवं मानव स्वास्थ्य के समक्ष नई समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। अपशिष्ट का अवैज्ञानिक संग्रहण, अपर्याप्त पृथक्करण एवं असुरक्षित निपटान भूमि, जल और वायु प्रदूषण को बढ़ावा दे रहा है, जिससे संपूर्ण पारिस्थितिकी तंत्र प्रभावित होना निश्चित है। सामान्यतः मानव गतिविधियों के कारण ही अपशिष्ट की उत्पत्ति हो रही हैं जिसके आधार पर घरेलू, वाणिज्यिक, औद्योगिक तथा निर्माण से संबंधित श्रेणियों में विभाजित किया गया है। व्यवहार में, विशेषकर नगर पंचायत क्षेत्रों में, घरेलू, व्यवासयिक एवं लघु–औद्योगिक अपशिष्ट को पृथक करना कठिन हो रहा है, जिसके परिणामस्वरूप इन्हें संयुक्त रूप से ठोस अपशिष्ट की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है। यह अपशिष्ट समाज के दैनिक जीवन से निरंतर उत्पन्न होता रहता है और इसका निष्कासन एक सतत प्रक्रिया बन चुका है।

नगर पंचायत स्तर पर ठोस अपशिष्ट उत्पादन में वृद्धि के लिए जनसंख्या विस्तार, अनियोजित शहरी विकास, कमजोर प्रशासनिक ढाँचा, तकनीकी दक्षता का अभाव तथा पर्यावरणीय चेतना की कमी प्रमुख कारक माने जाते हैं। इन कारणों से अपशिष्ट प्रबंधन व्यवस्था प्रभावी रूप से कार्य नहीं कर पाती, जिसके फलस्वरूप खुले में डंपिंग, अनियंत्रित दहन एवं जल स्रोतों का प्रदूषण जैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इससे न केवल पर्यावरणीय क्षरण होता है, बल्कि स्थानीय निवासियों के स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ठोस अपशिष्ट प्रबंधन प्रणाली में जैव–अपघटनीय पदार्थ जैसे खाद्य अपशिष्ट, कागज, कपड़ा एवं बगीचे का कचरा तथा अजैव–अपघटनीय पदार्थ जैसे प्लास्टिक, धातु, काँच, रबर एवं चमड़ा मुख्य रूप से सम्मिलित हैं। इन दोनों प्रकार के अपशिष्टों का संतुलित एवं वैज्ञानिक प्रबंधन न होने की स्थिति में नगर पंचायत क्षेत्र गंभीर स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय संकट की ओर अग्रसर हो जाते हैं।

इन्हीं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत अध्ययन जिला राजनांदगांव की नगर पंचायतों में ठोस अपशिष्ट उत्पादन की स्थिति, उसके प्रबंधन की वर्तमान व्यवस्था तथा उससे उत्पन्न स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय प्रभावों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यह अध्ययन स्थानीय निकायों, नीति–निर्माताओं एवं समुदाय के लिए एक प्रभावी, सतत

एवं स्वास्थ्य–संवेदनशील ठोस अपशिष्ट प्रबंधन प्रणाली के विकास की दिशा में उपयोगी आधार प्रदान करने का प्रयास करता है।

अपशिष्ट उत्पादन के कारण एवं विशेषताएँः

जिला राजनांदगांव की नगर पंचायतों में ठोस अपशिष्ट का उत्पादन वर्तमान समय में एक महत्वपूर्ण पर्यावरणीय एवं जनस्वास्थ्य से जुड़ी समस्या के रूप में उभर कर सामने आया है। नगर पंचायत स्तर पर उत्पन्न ठोस अपशिष्ट के संग्रहण, परिवहन, प्रसंस्करण तथा निपटान के लिए पुर्ण रूप से उत्तरदायी हैं। जो कि नगर पंचायत स्तर पर तीव्र जनसंख्या वृद्धि की प्रक्रिया, बदलती जीवन–शैली तथा उपभोग प्रवृत्तियों के कारण ठोस अपशिष्ट की मात्रा में निरंतर वृद्धि हो रही है। इस अपशिष्ट के संग्रहण, परिवहन एवं निपटान की जिम्मेदारी मुख्यतः नगर पंचायतों पर होती है, किंतु सीमित संसाधनों व धनराशि के कारण यह व्यवस्था प्रायः प्रभावी रूप से क्रियान्वित नहीं हो पाती तथा पिपटान की समस्या उत्पन्न हो रही हैं। नगर पंचायत क्षेत्रों में उत्पन्न ठोस अपशिष्ट की मात्रा दिन प्रतिदिन बढ़ रही है जिससे क्षेत्र की जनसंख्या संरचना, आर्थिक गतिविधियों, जलवायु परिस्थितियों, उपलब्ध नागरिक सुविधाओं पर निर्भर करती है। नगर पंचायतों में घरेलू, वाणिज्यिक, लघु–औद्योगिक एवं संस्थागत गतिविधियों दुकानदारों से उत्पन्न अपशिष्ट मिश्रित रूप में ठोस अपशिष्ट का रूप ले रहा है, जिसके कारण उसका पृथक्करण करने व वैज्ञानिक तारीके से उचित निपटान तथा प्रबंधन करना कठिन हो रहा है।

घरेलू स्तर पर उत्पन्न ठोस अपशिष्ट में मुख्यतः खाद्य अपशिष्ट, सब्जी–फल अवशेष, कागज, प्लास्टिक कपड़े तथा घरो से निकने वाली समस्त ठोस कचरा सम्मिलित हैं, जबकि बाजारों, दुकानों एवं छोटे उद्योगों से उत्पन्न अपशिष्ट में प्लास्टिक, पैकेजिंग सामग्री, धातु, काँच एवं अन्य अजैव–अपघटनीय पदार्थों की मात्रा अधिक पाई संग्रहण के समय प्राप्त होती है। इस प्रकार, नगर पंचायत स्तर पर उत्पन्न ठोस अपशिष्ट की भौतिक एवं रासायनिक विशेषताएँ उसके स्रोतों के अनुसार भिन्न–भिन्न होती हैं।

नगर पंचायतों में ठोस अपशिष्ट की विविध प्रकार के कचरे के कारण उसके प्रबंधन को चुनौतीपूर्ण बनाती है। अपशिष्ट में जैव–अपघटनीय पदार्थों जैसे खाद्य अपशिष्ट एवं बगीचे का कचरा के साथ–साथ अजैव–अपघटनीय पदार्थ जैसे प्लास्टिक, धातु, काँच, रबर एवं बैटरियाँ भी बड़ी मात्रा में सम्मिलित होते हैं। कचरे का घरेलु व व्यवसाय स्तर पर उचित पृथक्करण न होने करने के स्थिति में न केवल अपशिष्ट प्रबंधन प्रभावित होता है, बल्कि पर्यावरण एवं स्वास्थ्य संबंधी जोखिम भी बढ़ जाते हैं।

ठोस अपशिष्ट की इस विविधता को दृष्टिगत रखते हुए, नगर पंचायत स्तर पर व घरेलु स्तर पर निपटान से पूर्व अपशिष्ट का वैज्ञानिक छनन (फिल्ट्रेशन) एवं पृथक्करण (सॉर्टिंग) करना अत्यंत आवश्यक है। यह प्रक्रिया अपशिष्ट के सुरक्षित निपटान, पुनर्चक्रण एवं पुनः उपयोग की संभावनाओं को सुदृढ़ `रने में सहायता करती है। तथापि,

इस व्यवस्था की सफलता काफी हद तक जन–जागरूकता तथा स्थानीय समुदाय की सक्रिय सहभागिता पर निर्भर करती है। जब तक नागरिक स्तर पर अपशिष्ट पृथक्करण की मूल अवधारणाओं को नहीं अपनाया जाएगा, तब तक जिला राजनांदगांव की नगर पंचायतों में ठोस अपशिष्ट प्रबंधन की प्रभावशीलता सुनिश्चित नहीं की जा सकती।

भारत में नगरपालिका ठोस अपशिष्ट का उत्पादनः

भारत में नगरपंचायत स्तर पर ठोस अपशिष्ट का उत्पादन वर्तमान समय में तीव्र गति से बढ़ रहा है, जो विशेष रूप से नगर पंचायत स्तर पर एक गंभीर पर्यावरणीय एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य चुनौती के रूप में परिलक्षित होता है। विभिन्न अध्ययनों के अनुसार देश में प्रतिवर्ष ठोस अपशिष्ट का उत्पादन 55 मिलियन टन से अधिक आँका गया है, जिसमें प्रति वर्ष लगभग 5 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की जा रही है। यह स्थिति तीव्र शहरीकरण, जनसंख्या विस्तार तथा उपभोग आधारित जीवन–शैली के प्रभाव का प्रत्यक्ष परिणाम है।

नगरों के आकार एवं प्रकृति के अनुसार ठोस अपशिष्ट उत्पादन में उल्लेखनीय अंतर पाया जाता है। छोटे नगरों एवं नगर पंचायतों में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन ठोस अपशिष्ट उत्पादन लगभग 0.1 किलोग्राम, मध्यम आकार के नगरों में 0.3 से 0.4 किलोग्राम तथा बड़े शहरी केंद्रों में लगभग 0.5 किलोग्राम तक पहुँच जाता है। इसके अतिरिक्त, मानव अपशिष्ट उत्पादन की औसत वार्षिक वृद्धि दर लगभग 1.33 प्रतिशत मानी गई है, जो भविष्य में नगर पंचायतों की अपशिष्ट प्रबंधन क्षमता पर अतिरिक्त दबाव उत्पन्न कर सकती है।

भारत में उत्पन्न ठोस अपशिष्ट का प्रमुख भाग जैव–अपघटनीय प्रकृति का होता है, जिसमें मुख्यतः खाद्य अपशिष्ट, सब्जी–फल अवशेष तथा बगीचे का कचरा सम्मिलित है। सामान्यतः MSW की संरचना में लगभग 50 प्रतिशत जैव–अपघटनीय पदार्थ, 20 प्रतिशत पुनर्चक्रण योग्य सामग्री तथा शेष 30 प्रतिशत निष्क्रिय एवं अकार्बनिक पदार्थ पाए जाते हैं। अपशिष्ट के इस संघटन में हो रहा परिवर्तन तीव्र शहरीकरण, बदलती जीवन–शैली तथा खान–पान की आदतों में आए बदलाव का परिणाम माना जाता है।

ठोस अपशिष्ट की मात्रा में निरंतर हो रही वृद्धि और उसके संघटन में परिवर्तन नगर पंचायत स्तर पर ठोस अपशिष्ट प्रबंधन को और अधिक जटिल बना रहे हैं। सीमित वित्तीय संसाधन, अपर्याप्त अवसंरचना एवं तकनीकी क्षमताओं के अभाव में नगर पंचायतें इस बढ़ती समस्या से प्रभावी ढंग से निपटने में कठिनाई हो रही हैं। विशेष रूप से नगर पंचायतों के संदर्भ में यह स्थिति स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय जोखिमों को और अधिक गंभीर बना रही है, जिससे इस स्तर पर प्रभावी, सतत एवं वैज्ञानिक ठोस अपशिष्ट प्रबंधन की आवश्यकता को और प्रभावी रूप से अपनाया जाना चाहिए।

ठोस अपशिष्ट का सुरक्षीत निपटानः

नगर पंचायत स्तर पर ठोस अपशिष्ट के प्रभावी निपटान में संग्रहण, स्थानांतरण तथा परिवहन प्रणालियों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। प्रायः यह देखा गया है कि अनुचित डिब्बा (बिन्स) संग्रहण विधियाँ, अव्यवस्थित संग्रहण व्यवस्था तथा अपर्याप्त परिवहन तंत्र ठोस अपशिष्ट प्रबंधन को गंभीर रूप से प्रभावित कर रहा हैं। इसके अतिरिक्त, समुचित योजना के अभाव, ठोस अपशिष्ट संग्रहण वाहनों की संख्या एवं क्षमता के संबंध में अपर्याप्त जानकारी, खराब सड़क व्यवस्था तथा सीमित आधारभूत संरचना भी ठोस अपशिष्ट निपटान से जुड़ी समस्याओं को और अधिक जटिल बना दिया हैं। वर्तमान परिदृश्य में पुरे प्रदेश में प्रतिदिन लगभग 145 मिलियन टन ठोस अपशिष्ट उत्पन्न होने का विभिन्न शोध से प्राप्त तथ्यो से अनुमान लगाया गया है, जिसमें से लगभग 85 प्रतिशत अपशिष्ट का संग्रह नगर पंचायतों द्वारा किया जाता है, जबकि शेष लगभग 15 प्रतिशत अपशिष्ट का निपटान खुले में अनियंत्रित रूप से फेक दिया जाता है। खुले में फेंका गया यह अपशिष्ट न केवल पर्यावरण प्रदूषण को बढ़ावा देता है, बल्कि मानव स्वास्थ्य के लिए भी गंभीर जोखिम उत्पन्न करता है।

ठोस अपशिष्ट प्रबंधन में प्रबंधन, सुरक्षित निपटान एवं उपचार संबंधी तथ्यों की जानकारी होना एक महत्वपूर्ण निर्धारक कारक मानी जाती है। घरेलू अपशिष्ट निपटान को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों का अध्ययन Tadesse एवं उनके सहयोगियों द्वारा किया गया, जिसमें यह स्पष्ट हुआ कि अपशिष्ट निपटान स्थलों की उपलब्धता अपशिष्ट निपटान के विकल्पों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है।

अध्ययन में यह तथ्य सामने आया कि अपशिष्ट कंटेनरों की अपर्याप्त उपलब्धता तथा उन्हें ले जाने के लिए अधिक दूरी तय करना, और अपशिष्ट को खुला ट्रान्सपोर्ट करना अपशिष्ट को मार्ग में खुले स्थानों, सड़कों अथवा सार्वजनिक स्थलों पर फेंक दिए जाने की संभावना को बढ़ा हुआ है। यह स्थिति नगर पंचायत क्षेत्रों, ठोस अपशिष्ट के अव्यवस्थित निपटान और उससे उत्पन्न स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय समस्याओं को और अधिक गंभीर बना दिया गया है।

निपटान की विधियाँः

भारत में ठोस अपशिष्ट (Municipal Solid Waste–MSW) के निपटान की सबसे प्रचलित एवं सामान्य विधि खुला डंपिंग है। इस पद्धति के अंतर्गत उत्पन्न ठोस अपशिष्ट को सीधे खुले मैदानों, निचले भू–भागों तथा नगरों के बाहरी क्षेत्रों में फेंक दिया जाता है, जो स्वच्छ लैंडफिल (Sanitary Landfilling) के निर्धारित मानकों को पूरा नहीं करते। कई नगर पंचायत क्षेत्रों में सड़क किनारे अथवा आबादी से समीपस्थ खुले स्थलों पर अपशिष्ट का अनियंत्रित डंपिंग एक आम दृश्य बन चुका है। खुले में किए गए इस प्रकार के डंपिंग के दुष्परिणाम विशेष रूप से मानसून के मौसम में अधिक गंभीर रूप में सामने

आते हैं। अपशिष्ट के ढेर नालियों एवं जल निकासी तंत्र को अवरुद्ध कर देते हैं, जिससे बिना उपचारित अपशिष्ट जल सड़कों तथा निचले क्षेत्रों में स्थित आवासीय क्षेत्रों में भर जाता है। इसके अतिरिक्त, खुले डंपिंग स्थलों से उत्पन्न लीचेट (Leachate) के रिसाव के कारण सतही जल एवं भू–जल स्रोतों के प्रदूषित होने की संभावना बढ़ गयी है, जो मानव स्वास्थ्य एवं पर्यावरण दोनों के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न करता है।

ठोस अपशिष्ट के निपटान की एक अन्य प्रमुख विधि लैंडफिलिंग है, जिसका उपयोग भारत में विशेषकर दिल्ली, मुंबई, चेन्नई और कोलकाता जैसे बड़े महानगरों में व्यापक रूप से किया जाता है। तथापि, इन शहरी क्षेत्रों में MSW निपटान हेतु उपलब्ध भूमि सीमित है तथा अधिकांश लैंडफिल स्थल अपनी निर्धारित क्षमता से अधिक भार वहन कर रहे हैं। इससे लैंडफिल स्थलों की पर्यावरणीय सुरक्षा एवं स्थायित्व पर प्रश्नचिह्न लगने लगे हैं। तीव्र शहरीकरण, जनसंख्या वृद्धि तथा उपभोग आधारित जीवन–शैली के कारण ठोस अपशिष्ट का उत्पादन निरंतर बढ़ रहा है, जो भविष्य में ठोस अपशिष्ट प्रबंधन के लिए एक गंभीर चुनौती का रूप ले लिया गया है। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (CPCB) की वर्ष 2013 की रिपोर्ट के अनुसार, भारत के विभिन्न राज्यों में नए स्वच्छ लैंडफिल स्थलों के विकास एवं मौजूदा लैंडफिल के विस्तार की योजना बनाई गई है। रिपोर्ट के अनुसार, देश में अब तक लगभग 50 लैंडफिल का निर्माण किया जा चुका है, जबकि 376 लैंडफिल परियोजनाएँ योजना एवं कार्यान्वयन के चरण में हैं।

नगर पंचायत जैसे क्षेत्रों में, सीमित भूमि, वित्तीय संसाधनों एवं तकनीकी क्षमता के अभाव में लैंडफिल आधारित निपटान एक चुनौतीपूर्ण कार्य बन गया है। ऐसी स्थिति में ठोस अपशिष्ट के वैज्ञानिक, विकेंद्रीकृत एवं पर्यावरण–अनुकूल निपटान विधियों को अपनाना अत्यंत आवश्यक हो गया है।

ठोस अपशिष्ट निपटान की समस्याएँ:

ठोस अपशिष्ट का अनुचित निपटान आज विकासशील देशों के समक्ष एक गंभीर पर्यावरणीय एवं सामाजिक समस्या के रूप में विद्यमान है, जो शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में व्यापक रूप से देखने को मिल रहा है। नगर पंचायत स्तर पर, ठोस अपशिष्ट के सुरक्षित निपटान हेतु समुचित अवसंरचना एवं प्रभावी प्रबंधन व्यवस्था का अभाव इस समस्या को और अधिक जटिल बना दिया गया है। अनेक स्थानों पर नहरों, नालियों, पाइपलाइनों तथा खुले भू–भागों का उपयोग घरेलू एवं अन्य ठोस अपशिष्ट के निपटान के लिए किया जा रहा है, जिससे पर्यावरणीय असंतुलन उत्पन्न होता है।

निरंतर एवं सुव्यवस्थित कचरा संग्रहण प्रणाली के अभाव में खुले नाले, खाइयाँ तथा जल निकासी मार्ग ठोस अपशिष्ट और कचरे के ढेर से भर हुआ हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनकी कार्यक्षमता समाप्त होने के कगार पर पहुँच गई है। इस प्रकार जमा हुआ कचरा

प्रायः प्लास्टिक, कागज तथा अल्प मात्रा में विषैले पदार्थों से युक्त होता है, जो न केवल दृश्य प्रदूषण उत्पन्न करता है, बल्कि स्वास्थ्य के लिए भी गंभीर जोखिम पैदा करता है।

इन अपशिष्टों में सम्मिलित विषैले तत्व अपघटन की प्रक्रिया के दौरान पर्यावरण में घुल–मिल जाते हैं, जिससे भूमि, जल एवं वायु की गुणवत्ता प्रभावित होती है। परिणामस्वरूप स्थानीय पारिस्थितिकी तंत्र पर अतिरिक्त दबाव पड़ता है और जैव विविधता को भी क्षति पहुँचती है। नगर पंचायत क्षेत्रों में इस प्रकार की स्थिति लंबे समय तक बनी रहने पर पर्यावरणीय क्षरण की समस्या और अधिक गंभीर रूप धारण कर रही है। कई व्यक्ति एवं संस्थाएँ ठोस अपशिष्ट के स्थल पर ही उपचार अथवा सुरक्षित निपटान हेतु कोई ठोस योजना नहीं बनाई गई हैं। जिससे निकटवर्ती खुले स्थानों में या बिना उपचारित अवस्था में अपशिष्ट का निपटान सामान्य व्यवहार बन चुका है, जिसके दुष्परिणामों एवं उससे उत्पन्न स्वास्थ्य जोखिमों के प्रति लोग प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। अपशिष्ट निपटान से संबंधित अनुचित व्यवहार को हतोत्साहित करने अथवा लोगों को वैकल्पिक एवं सुरक्षित पद्धतियाँ अपनाने के लिए प्रेरित करने हेतु पर्याप्त आर्थिक अथवा संस्थागत प्रोत्साहनों का भी अभाव देखा गया है।

अधिकांश लोग यह मानते हैं कि उनके द्वारा अपनाई गई अपशिष्ट निपटान की विधि सरल एवं कम खर्चीली है, जबकि वास्तविकता में यह आस–पास के समुदाय, स्थानीय पर्यावरण तथा व्यापक स्तर पर पूरे समाज के लिए एक गंभीर संकट का कारण बनती है। प्रदूषण की थोड़ी–थोड़ी मात्रा समय के साथ मिलकर जल, भूमि एवं वायु के विशाल संसाधनों को प्रदूषित कर देती है। वर्तमान परिदृश्य में, जब तक प्रभावी प्रदूषण नियंत्रण उपायों को सख्ती से लागू नहीं किया जाता और जन–सहभागिता को प्रोत्साहित नहीं किया जाता, तब तक मौजूदा नियम एवं नीतियाँ इस खतरनाक प्रथा से पर्यावरण की समुचित रक्षा करने में पर्याप्त सिद्ध नहीं हो पा रही हैं।

मानव स्वास्थ्य एवं पर्यावरण पर ठोस अपशिष्ट का प्रभावः

नगर पंचायत स्तर पर ठोस अपशिष्ट का अनुचित एवं अव्यवस्थित निपटान मानव स्वास्थ्य तथा पर्यावरण दोनों के लिए गंभीर जोखिम उत्पन्न करता है। वर्तमान समय में अपशिष्ट उत्पादन की मात्रा में निरंतर वृद्धि के साथ–साथ उसकी संरचना भी अधिक जटिल होती जा रही है, जिससे उसके सुरक्षित प्रबंधन की चुनौती और अधिक गहन हो गई है। खुले स्थलों पर MSW का दहन एवं प्राकृतिक अपघटन गैसीय उत्सर्जन को जन्म दे रहा है, जो वायुमंडल में मिलकर वायु प्रदूषण को बढ़ाता है तथा मानव स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। कार्बनिक पदार्थों के दहन एवं अपघटन की प्रक्रिया के दौरान मीथेन जैसी ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन होता है, जो वैश्विक ताप वृद्धि एवं जलवायु परिवर्तन के लिए उत्तरदायी मानी जाती हैं। इस प्रकार, ठोस अपशिष्ट न केवल

स्थानीय पर्यावरण को प्रभावित करता है, बल्कि व्यापक स्तर पर जलवायु असंतुलन में भी योगदान देता है।

ठोस अपशिष्ट प्रबंधन से जुड़े श्रमिकों एवं सफाई कर्मियों को स्वास्थ्य संबंधी जोखिमों का सर्वाधिक सामना करना पड़ता है। MSW में विद्यमान उच्च जैविक अंश सूक्ष्मजीव रोगजनकों के पनपने के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान करता है, जिसके परिणामस्वरूप कार्यरत श्रमिकों तथा आसपास निवास करने वाले लोगों में विभिन्न संक्रामक एवं दीर्घकालिक रोग, जिनमें कैंसर जैसी गंभीर बीमारियाँ भी सम्मिलित हैं, विकसित हो सकती हैं। अपशिष्ट के प्रत्यक्ष संपर्क से त्वचा रोग, रक्त संक्रमण एवं अन्य संक्रामक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। संक्रमित धूल के संपर्क में आने से नेत्र एवं श्वसन तंत्र से संबंधित विकार उत्पन्न होते हैं, जबकि अपशिष्ट पर पनपने वाली मक्खियाँ एवं अन्य कीट आंतरिक संक्रमणों के प्रसार का माध्यम बनते हैं। इसके अतिरिक्त, खुले में MSW के दहन से उत्पन्न धुएँ के कारण एलर्जी, जठरांत्र संबंधी विकार तथा मानसिक स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याएँ भी देखी गई हैं।

जब औद्योगिक खतरनाक अपशिष्ट ठोस अपशिष्ट के साथ मिश्रित हो जाता है, तब यह स्थिति मानव स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के लिए और अधिक घातक बन जाती है। भारी धातुओं से युक्त तरल औद्योगिक अपशिष्ट यदि जल निकासी अथवा सीवरेज प्रणाली में अथवा खुले डंपिंग स्थलों पर प्रवाहित किया जाता है, तो खाद्य श्रृंखला में भारी धातुओं के संकेंद्रण का गंभीर खतरा उत्पन्न रही है। इसके परिणामस्वरूप मछलियों में पारे (मरकरी) की विषाक्तता, मतली, उल्टी, तंत्रिका तंत्र संबंधी विकार एवं अन्य दीर्घकालिक स्वास्थ्य समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। नगर पंचायतों के संदर्भ में, ठोस अपशिष्ट के अव्यवस्थित निपटान से उत्पन्न ये स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय प्रभाव स्थानीय समुदाय के जीवन–स्तर को प्रभावित करते हैं तथा सतत विकास के मार्ग में गंभीर बाधा उत्पन्न करते हैं। अतः नगर पंचायत स्तर पर वैज्ञानिक, समेकित एवं स्वास्थ्य–संवेदनशील ठोस अपशिष्ट प्रबंधन प्रणाली का विकास अत्यंत आवश्यक है।

निष्कर्ष:

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आता है कि तीव्र औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, आर्थिक विस्तार तथा निरंतर बढ़ती जनसंख्या के परिणामस्वरूप भारत में ठोस अपशिष्ट के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। औद्योगिक गतिविधियों से उत्पन्न अपशिष्ट के ठोस अपशिष्ट के साथ मिश्रण ने न केवल अपशिष्ट की मात्रा को बढ़ाया है, बल्कि उसके संघटन को भी अधिक जटिल बना दिया है। यह स्थिति ठोस अपशिष्ट प्रबंधन व्यवस्था के समक्ष नई और गंभीर चुनौतियाँ प्रस्तुत करती है। अध्ययन यह भी दर्शाता है कि भारत में विद्यमान ठोस अपशिष्ट प्रबंधन प्रणाली (SWM) अव्यवस्थित अवसंरचना, सीमित संसाधनों तथा खुले में अपशिष्ट डंपिंग जैसी

प्रथाओं के कारण बढ़ती समस्या से प्रभावी रूप से निपटने में सक्षम नहीं हो पा रही है। विशेष रूप से नगर पंचायत स्तर पर, जहाँ प्रशासनिक एवं तकनीकी क्षमताएँ अपेक्षाकृत सीमित होती हैं, ठोस अपशिष्ट का वैज्ञानिक एवं सुरक्षित प्रबंधन एक कठिन कार्य बन गया है।

इसके अतिरिक्त, ठोस अपशिष्ट प्रबंधन के प्रति जन–जागरूकता का अभाव इस समस्या को और अधिक गंभीर बना दिया है। सतत विकास की दिशा में आगे बढ़ने तथा एक प्रभावी एवं पर्यावरण–अनुकूल SWM प्रणाली के निर्माण के लिए जन–सहभागिता एवं व्यवहार परिवर्तन अत्यंत आवश्यक हैं। नागरिकों द्वारा अपशिष्ट के पृथक्करण, सुरक्षित निपटान एवं पुनर्चक्रण जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं को अपनाए बिना स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय जोखिमों को कम करना संभव नहीं है। अतः यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि नगर पंचायत स्तर पर ठोस अपशिष्ट प्रबंधन को सुदृढ़ करने हेतु संरचनात्मक सुधार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, प्रशासनिक दक्षता तथा व्यापक जन–जागरूकता का समन्वित प्रयास अनिवार्य है। ऐसे प्रयास न केवल पर्यावरण संरक्षण में सहायक होंगे, बल्कि जनस्वास्थ्य की सुरक्षा एवं सतत विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाएँगे।

अनुशंसाएँ:

प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर भारत में मौजूदा ठोस अपशिष्ट प्रबंधन प्रणाली को अधिक प्रभावी, स्वास्थ्य–संवेदनशील एवं पर्यावरण–अनुकूल बनाने हेतु निम्नलिखित प्रमुख अनुशंसाएँ प्रस्तुत हैं:

- पर्यावरण पर होने वाले प्रतिकूल प्रभावों तथा जनस्वास्थ्य से जुड़े संभावित जोखिमों को प्रभावी रूप से न्यूनतम करने के लिए यह आवश्यक है कि ठोस अपशिष्ट प्रबंधन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित, समेकित एवं दीर्घकालिक रूप से सतत विधियों को प्राथमिकता के साथ अपनाया जाए, जिससे पर्यावरण संरक्षण और सार्वजनिक स्वास्थ्य की सुरक्षा दोनों सुनिश्चित हो सकें।
- ठोस अपशिष्ट के प्रभावी प्रबंधन हेतु उसके स्रोत पर ही उचित पृथक्करण को अनिवार्य बनाया जाना चाहिए। विशेष रूप से जैव–अपघटनीय अपशिष्ट का पृथक संग्रहण कर उसकी वैज्ञानिक विधियों से कंपोस्टिंग करना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि यह जैविक अपशिष्ट के सुरक्षित, किफायती एवं पर्यावरण–अनुकूल निपटान का सर्वाधिक प्रभावी उपाय माना जाता है। जैविक अपशिष्ट का खुले में पड़ा रहना न केवल कीटों एवं रोगवाहक जीवों को आकर्षित करता है, बल्कि विभिन्न संक्रामक रोगों के प्रसार के माध्यम से जनस्वास्थ्य के लिए गंभीर जोखिम भी उत्पन्न करता है।

- अपशिष्ट उत्पादन को न्यूनतम करने वाले उत्पादों के उपयोग एवं अपशिष्ट–न्यूनकारी व्यवहारों को बढ़ावा देने के लिए व्यापक एवं सतत जन–जागरूकता कार्यक्रमों का संचालन किया जाना चाहिए, ताकि नागरिकों में अपशिष्ट न्यूनीकरण, पुनः उपयोग तथा जिम्मेदार उपभोग के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण और व्यवहार विकसित हो सके।
- बड़े नगरों एवं नगर पंचायतों में क्षेत्रवार (ज़ोन-वार) विकेंद्रीकृत कंपोस्टिंग इकाइयों की स्थापना को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जिससे जैव-अपघटनीय अपशिष्ट का स्थानीय स्तर पर ही वैज्ञानिक निपटान सुनिश्चित हो सके तथा अपशिष्ट के परिवहन एवं केंद्रीकृत निपटान पर पड़ने वाला आर्थिक एवं प्रशासनिक भार प्रभावी रूप से कम किया जा सके।
- अपशिष्ट का चरित्रांकन संग्रहण के समय तथा निपटान स्थलों पर नियमित एवं वैज्ञानिक रूप से किया जाना चाहिए, तथा इससे संबंधित अद्यतन जानकारी को सार्वजनिक डोमेन में उपलब्ध कराया जाना चाहिए, जिससे पारदर्शिता सुनिश्चित हो सके और ठोस अपशिष्ट प्रबंधन से संबंधित योजनागत एवं नीतिगत निर्णय अधिक प्रभावी एवं साक्ष्य–आधारित ढंग से लिए जा सकें।
- खुले में अपशिष्ट डंपिंग एवं खुले में दहन जैसी अवैज्ञानिक एवं हानिकारक प्रथाओं पर कठोर नियंत्रण एवं प्रभावी निगरानी स्थापित की जानी चाहिए, क्योंकि ऐसी गतिविधियाँ वायु, जल एवं भूमि प्रदूषण को बढ़ावा देने के साथ–साथ जनस्वास्थ्य के लिए अनेक गंभीर एवं दीर्घकालिक समस्याएँ उत्पन्न करती हैं।

संदर्भ सूची

1. Central Pollution Control Board (CPCB). (2013). *Status report on municipal solid waste management in India*. New Delhi: Ministry of Environment, Forest and Climate Change, Government of India.
2. Central Pollution Control Board (CPCB). (2016). *Solid Waste Management Rules, 2016*. New Delhi: Government of India.
3. Ministry of Housing and Urban Affairs (MoHUA). (2019). *Manual on municipal solid waste management*. New Delhi: Government of India.
4. World Health Organization (WHO). (2015). *Health-care waste management: Policy paper*. Geneva: WHO Press.
5. Tadesse, T., Ruijs, A., & Hagos, F. (2008). Household waste disposal in Mekelle city, Northern Ethiopia. *Waste Management*, 28(10), 2003–2012.

6. Gupta, S., Mohan, K., Prasad, R., Gupta, S., & Kansal, A. (1998). Solid waste management in India: Options and opportunities. *Resources, Conservation and Recycling*, 24(2), 137–154.
7. Sharholy, M., Ahmad, K., Mahmood, G., & Trivedi, R. C. (2008). Municipal solid waste management in Indian cities – A review. *Waste Management*, 28(2), 459–467.
8. Kansal, A. (2002). Solid waste management strategies for India. *Indian Journal of Environmental Protection*, 22(4), 444–448.
9. United Nations Environment Programme (UNEP). (2015). *Global waste management outlook*. Nairobi: UNEP.
10. Planning Commission of India. (2014). *Report of the task force on waste to energy*. New Delhi: Government of India.
11. Kumar, S., Smith, S. R., Fowler, G., et al. (2017). Challenges and opportunities associated with waste management in India. *Royal Society Open Science*, 4(3), 160764.
12. Census of India. (2011). *Primary census abstract*. New Delhi: Registrar General and Census Commissioner, India.

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

"सांस्कृतिक सक्षमता के निर्माण में खादी की भूमिका"

डॉ. स्नेहा कुमारी **डॉ.राजन प्रकाश**

सारांश

संदर्भित विषय समसामयिक दृष्टि से इसलिए प्रासंगिक है, क्योंकि वर्तमान जीवन में लोगों की संस्कृति, मूल्यों, विचारों का ह्रास हो रहा है। सांस्कृतिक सक्षमता का अर्थ है विभिन्न संस्कृतियों के लोगों के साथ प्रभावी ढंग से संवाद करने और सहयोग करने की क्षमता। इसमें विभिन्न संस्कृतियों के मूल्यों, विश्वासों, भाषा, वेशभूषा, प्रथाओं और व्यवहारों को समझने की क्षमता शामिल है। खादी के माध्यम से सांस्कृतिक सक्षमता के निर्माण की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करता है। खादी, भारत के स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण प्रतीक होने के साथ-साथ, सांस्कृतिक पहचान और राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। खादी के ऐतिहासिक विकास, इसके सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व, और इसके सांस्कृतिक सक्षमता के निर्माण में योगदान के बारे में जानने का प्रयास किया जाएगा कि खादी किस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों स्तर पर सांस्कृतिक सक्षमता को बढ़ावा देती है। शोध आलेख के माध्यम से खादी और सांस्कृतिक सक्षमता के बीच के संबंध को गहराई से समझने का प्रयास किया जाएगा। सांस्कृतिक सक्षमता का अर्थ है विभिन्न संस्कृतियों के लोगों के साथ प्रभावी ढंग से संवाद करने और सहयोग करने की क्षमता। खादी, अपनी जड़ों के साथ जुड़े होने के कारण, सांस्कृतिक पहचान को मजबूत करने और सांस्कृतिक विविधता को स्वीकार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।प्रस्तुत शोध आलेख में सांस्कृतिक सक्षमता के निर्माण में खादी की भूमिका को देखा गया है जो सामाजिक के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है।

मुख्य शब्द:- संस्कृति, सांस्कृतिक सक्षमता, खादी ,सर्वांगीण विकास,सांस्कृतिक विविधता

प्रस्तावना:

आज के समय में, खादी केवल एक पारंपरिक कपड़ा नहीं रह गया है, बल्कि यह आधुनिक फैशन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया है। कई प्रमुख फैशन डिज़ाइनर, जैसे कि अनामिका खन्ना, रितु कुमार, और मनिश मल्होत्रा ने अपने संग्रह में खादी का उपयोग किया है। इससे खादी ने एक नया रूप धारण

किया है- एक ऐसा वस्त्र जो न केवल पर्यावरण के अनुकूल है, बल्कि फैशन में भी एक स्टैटस बन गया है। युवा पीढ़ी के बीच, खादी को ट्रेंडी और अद्वितीय माना जाता है, जिससे इसकी मांग में वृद्धि हो रही है। वैश्विक स्तर पर टिकाऊ फैशन की दिशा में बढ़ती रुचि के कारण, खादी एक आदर्श विकल्प बन गया है। उपभोक्ता अब तेजी से उन उत्पादों की ओर बढ़ रहे हैं, जो पर्यावरण के लिए हानिकारक नहीं हैं। खादी का निर्माण प्राकृतिक फाइबर जैसे कि कपास, ऊन और रेशम से होता है, जो इसे न केवल बायोडिग्रेडेबल बनाता है, बल्कि इसकी उत्पादन प्रक्रिया भी पारंपरिक और कम हानिकारक होती है। इससे खादी न केवल भारतीय संस्कृति का प्रतीक है, बल्कि यह एक स्थायी जीवनशैली का भी प्रतिनिधित्व करता है। आधुनिक तकनीक ने खादी की पहुंच को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। डिजिटल प्लेटफार्मों पर खादी की बिक्री अब अधिक सुविधाजनक हो गई है। विभिन्न ऑनलाइन मार्केटप्लेस, जैसे कि **Amazon, Flipkart,** और स्थानीय ई-कॉमर्स वेबसाइटें खादी के उत्पादों को बेच रही हैं। इसके अलावा, सोशल मीडिया, जैसे **Instagram** और **Facebook,** ने खादी की मार्केटिंग में क्रांतिकारी बदलाव किया है। यहाँ खादी के कपड़ों के फोटोज़ और फैशन दिखाने वाले वीडियो अपलोड किए जा रहे हैं, जो इसे एक नया पहचान देते हैं। समकालीन समय में, विभिन्न सामुदायिक पहलें खादी के उत्पादन और प्रचार में योगदान दे रही हैं। जैसे कि खादी ग्रामोद्योग आयोग **(KVIC)** ने खादी के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए कई योजनाएँ लागू की हैं। ये योजनाएँ न केवल कारीगरों को प्रशिक्षण देती हैं, बल्कि उन्हें बाजार में प्रतिस्पर्धा करने की भी क्षमता प्रदान करती हैं। इसके अलावा, विभिन्न गैर-सरकारी संगठन **(NGOs)** भी खादी के प्रचार में सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं, जिससे ग्रामीण समुदायों में जागरूकता बढ़ रही है। आज की युवा पीढ़ी में सांस्कृतिक पहचान को लेकर एक नई जागरूकता आई है। खादी का पहनावा केवल एक कपड़ा नहीं है, बल्कि यह भारतीयता और सांस्कृतिक गर्व का प्रतीक बन गया है। युवा लोग अब इसे एक ऐसा माध्यम मानते हैं, जो उन्हें अपने अतीत से जोड़ता है। खादी पहनने का अर्थ है अपनी सांस्कृतिक धरोहर को अपनाना और उसे गर्व के साथ प्रस्तुत करना। यह आधुनिकता और परंपरा के बीच एक पुल का काम करता है। खादी के माध्यम से सामाजिक कार्यों का समर्थन भी बढ़ रहा है। अनेक संगठन खादी के उत्पादन से होने वाली आय का उपयोग सामाजिक कल्याण और शिक्षा में कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, कई स्वयं सहायता समूहों **(SHGs)** ने खादी को अपनाकर अपने समुदायों में शिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रम चलाए हैं। इससे खादी के प्रति न केवल जागरूकता बढ़ी है, बल्कि इसके उत्पादन में लगे लोगों के जीवन स्तर में भी सुधार हुआ है।

वर्तमान में उपभोक्ताओं की प्रवृत्तियों में बदलाव आया है, लोग अब न केवल फैशन के प्रति जागरूक हैं, बल्कि वे उस उत्पाद के पीछे की कहानी और नैतिकता को भी समझने लगे हैं। खादी का नैतिक उत्पादन प्रक्रिया और स्थानीय कारीगरों के प्रति समर्थन के कारण, यह उपभोक्ताओं के बीच एक आकर्षक विकल्प बन गया है। उपभोक्ता अब ऐसे उत्पादों की तलाश कर रहे हैं, जो न केवल उनके लिए

अच्छे हों, बल्कि समाज और पर्यावरण के लिए भी लाभदायक हों। खादी का वैश्विक स्तर पर अपनाने से भारतीय संस्कृति और हस्तशिल्प का एक नया संवाद स्थापित हुआ है। अंतरराष्ट्रीय फैशन आयोजनों में खादी की उपस्थिति ने इसे एक वैश्विक पहचान दी है। यह न केवल भारतीयता का प्रतीक है, बल्कि एक सांस्कृतिक संवाद का भी माध्यम बन गया है, जो विभिन्न संस्कृतियों के बीच एक पुल का काम करता है। अंतरराष्ट्रीय बाजारों में खादी के उत्पादों की मांग बढ़ने से, भारतीय कारीगरों को नए अवसर मिल रहे हैं। खादी के उत्पादन में स्थानीय कारीगरों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आजकल, कई संगठन और स्टार्टअप ऐसे मॉडल पर काम कर रहे हैं, जो कारीगरों को सीधे बाजार से जोड़ते हैं। इससे उन्हें बेहतर मूल्य प्राप्त होता है और उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार होता है। कारीगर अब अपनी कला और कौशल को न केवल स्थानीय स्तर पर, बल्कि राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी प्रदर्शित कर सकते हैं।

खादी का भविष्य उज्ज्वल है। जैसे-जैसे लोग नैतिक और टिकाऊ उत्पादों की ओर बढ़ रहे हैं, खादी का महत्व और भी बढ़ता जा रहा है। विभिन्न नए डिजाइन, शैलियाँ और उत्पादों के माध्यम से खादी को फिर से परिभाषित किया जा रहा है। इसके साथ ही, नई तकनीकों और नवाचारों का उपयोग करके खादी के उत्पादन को और अधिक प्रभावी और आकर्षक बनाया जा रहा है।

शोध उद्देश्य:

1. सांस्कृतिक सक्षमता के निर्माण में खादी की भूमिका का अध्ययन करना।

शोध प्रविधि:

प्रस्तुत शोध आलेख में शोध-प्रविधि द्वितीयक स्त्रोतों पर आधारित है; इसलिए इसमें वाचनालय विधि (लाइब्रेरी मेथड्स) का प्रयोग किया गया है, जिसमें विश्लेषण एवं वर्णात्मक प्रकृति अंतर्निहित है। जिसके अंतर्गत खादी और सांस्कृतिक सक्षमता से संबंधित पत्र-पत्रिकाओं, इंटरनेट, शोध-ग्रंथ, शोध-पत्र एवं विषय आधारित द्वितीयक स्त्रोतों में उपलब्ध साहित्य का प्रयोग किया गया है।

विमर्श: गरीबी, बेरोज़गारी, हिंसा समाज के ऊपर मँडराते काले बादलहै। इनसे पैदा हुई असमानता ने न सिर्फ़ लोगों के जीने के तरीके को प्रभावित किया, बल्कि पर्यावरण को भी बुरी तरह जकड़ लिया। मानो धरती माँ ही बीमार पड़ गई हो। इंसान का अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ गयाहै। ऐसे में खादी जीवन के लिए एक बेहतर संभावना बन सकती है।अब सवाल यह है कि क्या हम इस सोच को ज़मीन पर उतार पाएँगे? यह सवाल हम सभी के सामने एक चुनौती के रूप में खड़ा है।गाँधीजी का मानना था कि आर्थिक समानता का मार्ग कठिन परिश्रम से होकर गुज़रता है। एक ऐसा रास्ता जहाँ हर व्यक्ति अपने हाथों से अपनी रोटी कमा सके। खादी, उनके इस विचार की एक सजीव मूर्ति थी। एक ऐसा प्रतीक जो श्रम के

महत्व को चमकता हुआ प्रस्तुत करता था।एक साधारण सूती कपड़ा जो हज़ारों हाथों से बुना गया, हर धागे में मेहनत की कहानी समाई हुई होती है। यह सिर्फ़ कपड़ा नहीं होता है। , यह आत्मनिर्भरता का प्रतीक होता है। इसी संदेश को गाँधीजी ने देशवासियों तक पहुँचाने की कोशिश की। उनके लिए खादी महज़ एक वस्त्र नहीं था; यह एक क्रांति थी। एक ऐसा परिवर्तन जिसकी नींव समानता और स्वावलंबन पर टिकी थी। यह एक ऐसा आदर्श था जिसके लिए उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया। एक ऐसा सपना जिसकी छाया आज भी हमारे ऊपर मंडरा रही है। कभी-कभी लगता है कि गाँधीजी का यह दर्शन आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना आज़ादी के समय था। क्योंकि आज भी हमारे समाज में आर्थिक असमानता एक भयावह समस्या है। एक ऐसा घाव जिसका इलाज आज भी श्रम और समानताके मंत्रसेही संभव है।

खादी, इस लंबे और कठिन सफ़र का एक छोटा सा, पर महत्वपूर्ण पड़ाव बन सकता है। इसलिए गांधी कहते हैं कि "आर्थिक समानता का लक्ष्य है पूरे दिन प्रामाणिक परिश्रम के लिए मजदूरी की समानता फिर चाहे वह परिश्रम वकील का हो, डॉक्टर का हो, प्रोफेसर का हो या सफाईकर्मी का। समानता की इस स्थिति पर पहुँचने के लिए बड़े मनोबल की जरूरत है"(हरिजन, 10 अगस्त, 1947, पृ. 430)। गांधी यह भी कहते हैं कि "स्वर्णिम सिद्धांत यही है कि जो सुख-सुविधाए करोड़ो को नहीं है उन्हें उपभोग करने से हम इनकार कर दें" (हरिजन, 2 नवंबर, 1934, पृ. 303)। खादी एवं गांधी आत्म निर्भर समाज के निर्माण में मील का पत्थर है। जिसके द्वारा व्यक्ति एवं समाज दोनों को सामंजस्य पूर्ण तरीके से एक सूत्र में पीरोते हुए मानव जीवन को आधार दिया जा सकता है।बीसवीं सदी में, महात्मा गांधी जी ने अपने जीवन से ही खादी और सरल जीवन के प्रति एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया। यह कहना गलत नहीं होगा कि उनका जीवन ही उनकी इस विचारधारा का सर्वोत्तम प्रमाण था। उनके विचारों में रचनात्मक कार्यक्रमों से लेकर एकादशी व्रत, प्राकृतिक चिकित्सा तक, सब कुछ इसी धागे में पिरोया हुआ था। और इसी ताने-बाने में खादी का स्थान सबसे अहम था।

उनके विचारों में पारिस्थितिक संतुलन और टिकाऊ विकास का अटूट रिश्ता झलकता है। एक ऐसा नाता जो शब्दों से परे है, जिसे अनुभव करना ही होगा। खादी, अपने आप में, इस संबंध का एक जीवंत प्रतीक बन गया, यह सिर्फ़ वस्त्र ही नहीं अपितुअपनी सरलता और पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता से एक ऐसे जीवन का प्रतीक बना जो प्रकृति के साथ सौहार्दपूर्ण सह-अस्तित्व पर आधारित हो। कहें तो, गांधी जी ने खादी के माध्यम से एक ऐसा सपना बुनाजो आज भी प्रासंगिक है। जो आज भी हमें एक बेहतर भविष्य की ओर ले जा सकता है। जैसे कोई प्राचीन दीपस्तंभ, जिसकी ज्योति अंधकार में भी रास्ता दिखाती है। "मनुष्य की असली पूँजी श्रम है। श्रमिक ही सच्चा उत्पादक और समाज का हितकर्ता है। श्रम में से धन पैदा होता और इसलिए धनिक श्रमिक से दोयम ही हो सकता है। परिस्थिति

वह कृत्रिम है जहाँ धनिक प्रधान और श्रमिक अधीन बना दीखता है। यह परिस्थिति समाज के राज केंद्रित होने और होते जाने के कारण बनती है। समाज जैसे-जैसे राज्यीकृत एवं राज्य–केंद्रीत से मानवीकृत और मानव केंद्रित होगा उतनी ही यह कृत्रिम परिस्थिति दूर होती जाएगी और बुद्धिजीवी वर्ग श्रमजीवी के ऊपर हावी नहीं हो सकेगा। अभी तो बौद्धिक और शारीरिक कर्म के बीच एक गहरी खाई बन गयी है। धीरे-धीरे श्रमिक अपनी जगह निरक्षर और नासमझ नहीं रहेगा और तब बौद्धिक के लिए शरीर श्रम से बचने का अवकाश भी नहीं रह जाएगा (कुमार **2001,** पृ**. 16-17**)। आत्मनिर्भरता,व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का मूलमंत्र। ये बात तो जगज़ाहिर है। एक मज़बूत राष्ट्र की नींव व्यक्ति की क्षमताओं और विकास पर ही टिकी होती है। एक-एक ईंट मज़बूत हो, तो इमारत कितनी दृढ़ बनेगी! इसी तरह, व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास ही समाज को ऊंचाइयों पर ले जाता है। एक संपन्न, सशक्त समाज ही एक गढ़ बन जाता है। एक ऐसा गढ़ जो किसी भी चुनौती का डटकर सामना कर सकता है। इसे हम स्वराज्य भी कह सकते हैं। अपने पैरों पर खड़ा होना और अपने भाग्य का स्वयं निर्धारण करना आवश्यक है।

स्वराज का मतलब सिर्फ़ राजनीतिक आजादी नहीं है। इसका दायरा कहीं व्यापक है, यह किसी बाहरी ताकत के ज़बरदस्ती थोपे गए नियंत्रण से मुक्ति पाने की बात करता है। खादी और कुटीर उद्योग इस स्वराज के मार्ग में एक अहम भूमिका निभाते हैंये छोटे-छोटे उद्योग, गाँवों में रोज़गार के अवसर पैदा करते हैं।स्थानीय कौशल को निखारते हैं, और आर्थिक स्वावलंबन को बढ़ावा देते हैं। यह सब मिलकर एक ऐसी आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का निर्माण करते हैं जो बाहरी दबावों से अप्रभावित रहती है एक ऐसा ढाल जो आंधी-तूफ़ान से बचाता है। यदि हर गाँव अपने पैरों पर खड़ा हो, अपनी ज़रूरतें खुद पूरी कर रहा हो।यह कितना महत्वपूर्ण होगा। खादी और कुटीर उद्योग इस सपने को साकार करने में एक महत्वपूर्ण साधन हैं, एक ऐसा पथप्रदर्शक जो समाज को आत्मनिर्भरता के शिखर तक ले जा सकता है। यह सिर्फ़ एक आर्थिक प्रश्न नहीं है।

यह एक सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना का भी प्रश्न है। गांधी कहते हैं कि"स्वराज मशीन के द्वारा नहीं लाया जा सकता। यदि दो हजार मिलियन लोग पूरी समझ के साथ खादी का उत्पादन करें तो वह अपने श्रम एवं पहनावे से भारत का कायापलट कर सकते हैं (हरिजन सेवक **28 -7 - 1946**)। इसके लिए आवश्यक है कि समग्र पृथ्वी के कल्याण हेतु अपनी आवश्यकताओं को अपने पारितंत्र के अनुसार निर्धारित किया जाए और उसी के अनुरूप जीवन जीने की पद्धति को स्वीकृति प्रदान किया जाए। इसके लिए आवश्यक है कि किसी भी प्रकार के बाहरी उत्पादन को अपने जीवन में जगह न दी जाए। इसीलिए गांधी कहते हैं कि "मैं अपने वर्तमान संघर्ष के प्रति प्रतिबद्ध होकर विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना लाजमी महसूस करता हूं। मै यह सुझाव देने का जोखिम लेता हूं कि जब खादी सार्वभौमिक रूप में प्रयोग किया जाएगा तो विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार अपने आप हो जाएगा। मैं अपने आप से कहता हूं

कि खादी मेरे लिए विशेष धार्मिक महत्व रखता है। क्योंकि यह समुदाय एवं भूखों के बीच एकता का प्रतीक है। यह गरीबों के बीमारी को दूर करने वाला है। मैं इस तथ्य में आस्था रखता हूं कि हमारा आंदोलन उतना ही नैतिक एवं आर्थिक संदर्भ में महत्व रखता है जितना कि राजनीतिक संदर्भ में महत्व रखता है" (गांधी पत्र**1 2-3 -1922)**। आज के भौतिकवादी जीवन पद्धति में जिस तरीके से खादी के प्रति हीन भावना बढ़ती जा रही है, वह मनुष्य के लिए अनेक प्रकार की बीमारियों को आहूत कर रही है। सिर्फ आधुनिक प्रकार के कपड़ों को मनुष्य के पहचान एवं विकास का सूचक मान लेना किसी भी रूप में प्रकृति एवं संस्कृति दोनों के लिए अच्छा नहीं है। यह इसलिए समीचीन नहीं दिखता है कि जैसे-जैसे श्रम की स्थिति समाज में कमजोर होती जा रही है वैसे वैसे समाज के बीच खादी के प्रति जीवन की आत्मीयता खत्म होती जा रही है। गांधी कहते हैं कि "मैं खादी को मरते देख रहा हूं। यदि खादी रचनात्मक कार्यक्रम का मुख्य मंच है तो इसे बचाना होगा। यह खुद के सहयोग का जरिया होना चाहिए। वे लोग जो सूत नहीं काटते उन्हें खादी पहनने का कोई हक नहीं है" **(** नरहरी **12 -12।-1944)**। जीवन में शारीरिक श्रम खादी का वास्तविक संवाहक है। यह प्रकृति एवं संस्कृति के बीच सम्यक संबंध स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। "मनुष्य का आर्थिक विभाजन दो तरह ही हो सकता है- **(1)** या तो वह सामाजिक उत्पादन में शामिल है या **(2)** वह परोपजीवी है। अगर समाज में श्रमिकों का यानी उत्पादकों का एक वर्ग होना है तो हर एक का उत्पादन बनना है। साधारणत: लोग श्रमिकों में बौद्धिक श्रम करने वाले और शारीरिक श्रम करनेवाले ऐसा जो दो विभाग करे हैं, गांधी दर्शन में उसका कोई स्थान नहीं है। शारीरिक श्रम करने वाले और बौद्धिक श्रम करनेवाले, दोनों एक ही वर्ग के हैं यह कहना निरा शब्दजाल है, इसमें वास्तविकता का अंश लेशमात्रा भी नहीं है"**(**पांडे **1994,** पृ. **XIII)**।

निष्कर्ष:

खादी का सांस्कृतिक सक्षमता के निर्माण में योगदान अब और भी महत्वपूर्ण हो गया है। यह एक कपड़ा नहीं है, बल्कि एक विचारधारा है जो हमें हमारी जड़ों से जोड़ती है। खादी के माध्यम से, हम एक स्थायी, समृद्ध और सशक्त समाज की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। आज की दुनिया में, जहां हम वैश्वीकरण और आधुनिकता के साथ सामंजस्य बनाने की कोशिश कर रहे हैं, खादी हमें यह सिखाती है कि कैसे हम अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखते हुए आगे बढ़ सकते हैं। खादी एक ऐसा माध्यम है जो हमें एक सशक्त, समृद्ध और स्थायी भविष्य की ओर ले जाने का प्रयास करता है।

आज, जब जलवायु परिवर्तन, पूंजीवादी प्रवृत्तियों और औद्योगिक प्रदूषण जैसी चुनौतियाँ हमारे सामने हैं, खादी का महत्व और भी बढ़ जाता है। यह टिकाऊ उत्पादन, स्थानीय अर्थव्यवस्था को सशक्त बनाने और पर्यावरण संरक्षण का एक मजबूत उदाहरण प्रस्तुत करता है।खादी केवल एक वस्त्र नहीं, बल्कि हमारी सांस्कृतिक अस्मिता, स्वावलंबन और आत्मनिर्भरता का प्रतीक है। यह हमें न केवल हमारे

गौरवशाली अतीत से जोड़ती है, बल्कि भविष्य की ओर भी मार्गदर्शन करती है, जहाँ परंपरा और आधुनिकता साथ-साथ चल सकें। महात्मा गांधी द्वारा शुरू किया गया खादी आंदोलन केवल ब्रिटिश शासन के खिलाफ आर्थिक स्वतंत्रता का माध्यम नहीं था, किन्तु यह एक व्यापक विचारधारा थी, जो आज भी प्रासंगिक बनी हुई है।खादी का महत्व आज के समय में और भी बढ़ गया है, जब पूरी दुनिया सतत विकास, पर्यावरण संरक्षण और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ रही है। यह वस्त्र केवल प्राकृतिक रेशों से निर्मित एक उत्पाद नहीं है, बल्कि इसमें हमारे ग्रामीण कारीगरों की मेहनत, स्वदेशी उत्पादों को बढ़ावा देने की सोच और टिकाऊ जीवनशैली की झलक मिलती है। खादी का उत्पादन न केवल ग्रामीण भारत को आर्थिक मजबूती प्रदान करता है, अपितु यह हमारे समाज को भी पर्यावरण के प्रति अधिक जागरूक करने का कार्य करता है।

वैश्वीकरण युग में, जहाँ औद्योगीकरण और उपभोक्तावाद तेजी से बढ़ रहा है, खादी हमें अपनी जड़ों से जोड़े रखने और स्थानीय उत्पादन को प्रोत्साहित करने का संदेश देती है। यह न केवल एक फैशन स्टेटमेंट बन चुकी है, बल्कि यह एक ऐसा आंदोलन भी है, जो हमें अपने पारंपरिक मूल्यों की रक्षा करते हुए आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देता है।खादी का महत्व महिला सशक्तिकरण के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। इसके उत्पादन प्रक्रिया में बड़ी संख्या में महिलाएँ जुड़ी हुई हैं, जो अपने श्रम और कौशल के माध्यम से न केवल आर्थिक रूप से स्वतंत्र बन रही हैं, बल्कि समाज में अपनी पहचान भी स्थापित कर रही हैं। खादी के माध्यम से ग्रामीण कारीगरों को एक स्थायी रोजगार प्राप्त होता है, जिससे गाँवों की अर्थव्यवस्था को भी मजबूती मिल रही है।खादी केवल एक कपड़ा नहीं, बल्कि एक समग्र सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आंदोलन है। यह हमें सिखाती है कि हम आधुनिकता को अपनाते हुए भी अपनी सांस्कृतिक विरासत को संजोया जा सकता है। यदि हम खादी को अपनी जीवनशैली का हिस्सा बनाते हैं, तो यह केवल एक फैशन का हिस्सा नहीं रहेगा, बल्कि यह आत्मनिर्भर भारत के सपने को साकार करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम होगा। खादी के माध्यम से हम न केवल एक स्थायी, समृद्ध और सशक्त समाज की नींव रख सकते हैं, बल्कि दुनिया के सामने भारत की सांस्कृतिक पहचान और स्वदेशी सोच को भी एक नई ऊँचाई तक पहुँचा सकते हैं।

यह भारतीय संस्कृति का अमूल्य धरोहर है, जो समय के साथ विकसित हो रहा है और आज के संदर्भ में भी अत्यधिक प्रासंगिक है।

संदर्भ सूची:

1. *Champin,C.(2002).Principle of Terrestrial Ecosystem.Newyork :Springer.*
2. *Hobday,j.(1999).Simple Living :the Path to Joy and Freedom.Newyork :Continuum.*
3. *Harper ,D.(1987).Working Knowledge:Skill and Community Shop.Colombia :University of Chicago press.*
4. *James,P.(2015).Urban Sustainability in Theory and Practice :Circle of Sustainability .London :Routledge.*
5. *कुमार, जैनेन्द्र.(2001).गांधीऔरहमारासमय. नईदिल्ली:पूर्वोदयप्रकाशन.*
6. *लाल, बसंतकुमार. (1991).समकालीनभारतीयदर्शन. दिल्ली:मोतीलालबनारसीदास, \पां*
7. *डे, बी. (1994)गांधीमहात्मा ; समग्रचिंतन.नई दिल्ली :गांधीस्मृतिएवंदर्शनसमिति.*
8. *Gandhi, M. K. (1927). The story of my experiments with truth.Navajivan Publishing House.*
9. *Kumar, R. (1984). Gandhi, Khadi, and Indian Nationalism. Economic and Political Weekly, 19(35), 1482–1488.*
10. *Roy, T. (1996). Cloth and commerce: Textiles in colonial India. Sage Publications.*
11. *Bhattacharya, S. (2001). Revisiting Khadi: Gandhi's fabric of Indian independence. Economic and Political Weekly, 36(32), 3013–3015.*
12. *Narayan, S. (2015). Khadi: A historical and contemporary perspective. Oxford University Press.*
13. *Government of India. (2021). Khadi and Village Industries Commission: Annual Report 2020-21. Retrieved from http://www.kvic.gov.in*
14. *Sen, A. (2019). Sustainability and Handloom Industries: The Role of Khadi in Modern India. Journal of Sustainable Development, 12(3), 55–68.*
15. *Sharma, P. (2022). The resurgence of Khadi in the 21st century: A sustainable fashion approach. Textile Journal of India, 45(2), 112–120.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

साहित्य में स्त्री-अस्मिता विमर्श एवं यथार्थ स्थिति

पूनम दीक्षित
शोधार्थी - हिन्दी विभाग, राजकीय रजा
स्नातकोत्तर महाविद्यालय रामपुर , उत्तर प्रदेश

शोध सार

सृष्टि की आधी आबादी के रूप में व्याख्यायित स्त्री के महत्त्व को शब्दों के माध्यम से वर्णित करना असम्भव है। स्त्री की महत्ता को इसी सन्दर्भ में समझा जा सकता है कि स्त्री के बिना इस सृष्टि की कल्पना ही नहीं की जा सकती है | स्त्री सृष्टि की महत्त्वपूर्ण धुरी है । वैदिक युग में स्त्री की स्थिति अत्यंत उन्नत थी | वह सभी प्रकार से पुरुषों के समान थी | उसे भी पुरुषों के समान शिक्षा का अधिकार प्राप्त था | वे भी उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं। अपाला ,मैत्रेयी, लोपामुद्रा आदि अनेक विदुषी स्त्रियां इस बात का उदाहरण हैं | स्त्रियां केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि याज्ञिक कार्यों में भी अग्रणी भूमिका निभातीं थीं। वे ज्ञान एवं तर्क में भी निपुण हुआ करती थीं। गार्गी एवं याज्ञवल्क्य का शास्त्रार्थ इस बात की पुष्टि करता है। उनकी सामाजिक स्थिति भी उस काल में संतोषजनक थी |लेकिन शनै-शनै स्त्रियों की स्थिति में बदलाव होता चला गया ।उनकी स्थिति दयनीय होती चली गयी और मध्यकाल तक तो स्त्रियों की स्थिति अत्यधिक दयनीय हो गई | समाज में प्रचलित अनेक रुढ़ियों, परंपराओं एवं कुरीतियों ने उनकी स्थिति को बद से बदतर बना दिया। बाल विवाह, सती प्रथा, पर्दा प्रथा आदि अनेक कुरीतियों के फलस्वरूप उनकी स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई। समाज में परिवारों का स्वरूप पित्रसत्तात्मक होने के कारण जहाँ स्त्रियों को केवल घर के भीतर तक सीमित कर दिया गया । वही उन्हें केवल घर का कार्य करने का साधन मात्र माना जाने लगा |यद्यपि अनेक समाज सुधारकों के प्रयासों के फलस्वरूप इन कुरीतियों को दूर करके स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का प्रयास किया गया। परन्तु इनकी स्थिति में पूर्णतया सकारात्मक बदलाव नहीं आए | स्वतंत्रता के पश्चात संविधान के द्वारा समानता के अधिकार के द्वारा लिंग ,जाति , भाषा आदि के भेदभाव के बिना सभी को समानता का अधिकार प्रदान किया गया। लेकिन समाज का पितृसत्तात्मक रूप स्त्रियों को स्वतंत्रता देने के पक्ष में नहीं रहा | यद्यपि आधुनिक युग में स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार आया लेकिन जो स्थिति होनी चाहिए वे अभी भी अप्राप्य है ।

इसका कारण स्त्रियों में अपनी अस्मिता के प्रति उदासीनता है। जब तक स्त्री अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक नहीं होगी , उसकी स्थिति में बदलाव असंभव है।

बीज शब्द : स्त्री, स्थिति, अधिकार, अस्मिता, बोध, साहित्य, प्रयास, सशक्त ,चिंतन, स्वतंत्रता, कुरीतियों, अशिक्षा ,सम्मान, सामाजिक आदि |

प्रस्तावना

आधुनिक युग में विमर्श महत्वपूर्ण शब्द है । विमर्श का सामान्य अर्थ चिंतन अथवा चर्चा करना है अर्थात विमर्श एक ऐसा चिंतन प्रस्तुत करता है जो समाज में पिछड़े एवं वंचित वर्गों को व्यक्त करता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिबिंब है। साहित्य समाज की परिस्थितियों से प्रभावित होता है। हिंदी साहित्य में हिंदी साहित्य बींसवीं सदी में जो बदलाव आए उनके फलस्वरूप अनेक विमर्श उभर कर सामने आए। जिनमे आदिवासी विमर्श, दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, किन्नर विमर्श आदि विमर्श प्रमख रूप से साहित्य के केन्द्र में हैं। साहित्य में स्त्री अस्मिता एक गहन अवधारणा है। जिसे अत्यधिक गहनता से समझे बिना स्त्री विमर्श का कोई औचित्य नहीं है। सृष्टि की महत्वपूर्ण धुरी स्त्री की स्थिति मध्यकाल में अत्यन्त दयनीय हो गई। स्त्रियों का जीवन पर्दाप्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह आदि अनेक कुप्रथाओं से त्रस्त था। समाज में परिवार का स्वरूप पूर्णतया पित्रसत्तात्मक होने के कारण स्त्री की स्थिति अत्यंत दयनीय होती गयी। उन्हें अनेक रूढ़ियों, परंपराओं और वर्जनाओं में बांध दिया गया। बहस सिर्फ घर की चारदीवारी में कैद होकर रह गई। इस तरह का अस्तित्व केवल घर संभालना एवं खाना बनाना बस यही तक सीमित रह गया। स्त्री स्वयं अपनी अस्मिता के प्रति असंवेदनहीन दिखाई देने लगी। स्त्रियों की अत्यंत दयनीय दशा को देख कर अनेक महापुरुषों ने उनकी दशा सुधारने के लिए प्रयास भी किए। स्वतंत्रता के पश्चात संविधान के द्वारा भी स्त्रियों के लिए कुछ प्रावधान किए गए जैसे मौलिक अधिकारों के अंतर्गत समानता का अधिकार। सरकार ने भी समय समय पर मित्रों की दशा सुधारने के लिए एवं उन्हें सशक्त बनाने हेतु अनेक कानून बनाए परन्तु यदि उनकी यथार्थ स्थिति पर विचार किया जाए तो स्त्री की वर्तमान स्थिति पहले से बेहतर तो अवश्य हुई है लेकिन जो स्थिति अपेक्षित है वह अभी बहुत दूर है।

स्त्री अस्मिता का अर्थ

अस्मिता शब्द का शाब्दिक अर्थ है - स्वत्व की पहचान अर्थात मैं हूँ का बोध। स्त्री के स्वत्व के बोध को स्त्री अस्मिता कहा जाता है। स्त्री अस्मिता विमर्श की अवधारणा आधुनिक युग की देन है। स्त्री-अस्मिता विमर्श आज साहित्य का केन्द्र बिन्दु है। अनेक महिला कथाकारों के द्वारा स्त्री अस्मिता पर लेखन इस विमर्श के महत्त्व को रेखांकित करता है। स्त्री अस्मिता विमर्श की आवश्यकता क्यों पड़ी, इस प्रश्न का उत्तर हमें स्त्री की विभिन्न कालों में स्थिति को जानकार स्वयं प्राप्त हो जाता है।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

विभिन्न कालों में स्त्रियों की स्थिति

विभिन्न कालों में स्त्रियों की स्थिति उन्नति एवं अवनति के मध्य स्थिर रही है। जिसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

वैदिक काल में स्त्री की स्थिति

यदि हम वैदिक काल पर दृष्टिपात करें तो इस काल में स्त्रियों की स्थिति सम्मानजनक थी। उन्हें पुरुषों के समान ही शिक्षा एवं अन्य अधिकार प्राप्त थे। पुत्री को वंश चलाने हेतु आवश्यक माना जाता था परंतु उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था। विवाह के लिए स्वयंवर का प्रचलन था। लेकिन दहेज प्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दाप्रथा जैसी किसी भी कुरीति का प्रचलन नहीं था। अपाला, लोपामुद्रा, घोषा आदि इस काल की प्रमुख शिक्षित स्त्रियां थीं।

उत्तर वैदिक काल

उत्तर वैदिक काल में विशेषकर बौद्ध काल में स्त्रियों की स्थिति में तेजी से गिरावट आने लगी थी। इस काल में स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार से भी वंचित रखा गया। बाल विवाह जैसी कुरीति का आरंभ होने से स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई। समाज चार वर्णों में विभक्त था। स्त्रियों से पैतृक संपत्ति का अधिकार भी छीन लिया गया। कहा जा सकता है कि यह काल स्त्रियों की स्थिति में लगातार अवनति का रहा।

मध्यकाल

यदि मध्यकाल की बात करें तो यह काल भारत में मुगल शासकों के शासन का रहा है। इस काल में यद्यपि अनेक विदुषी स्त्रियों के उदाहरण दिए जा सकते हैं जैसे – जीजाबाई, अहिल्याबाई ,गुलबदन, नूरजहाँ आदि। रजिया सुल्तान पहली महिला शासक बनी। अनेक विदुषी स्त्रियां थीं जिन्होंने सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में अपनी सामर्थ्य का परिचय दिया। लेकिन ये कहने में अतिश्योक्ति नहीं होगी कि स्त्रियों की सबसे अधिक दुर्दशा भी मध्य काल में ही हुई । समाज में अनेक कुप्रथाओं के प्रचलन के चलते स्त्रियों की दशा बद से बदतर होती चली गयी ।पर्दाप्रथा, बाल विवाह एवं अशिक्षा के कारण उनकी स्थिति में निरंतर अवनति होती गयी |

उत्तर मध्यकाल

उत्तर मध्यकाल को औपनिवेशिक काल भी कहा जाता है ।यह बेहद काल था जब भारत में अंग्रेजों का शासन पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था इस काल में अनेक कुप्रथाएं समाज में पूर्ण रूप से फैल चुकी थी। अनेक समाज सुधारकों जैसे राजाराम मोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, ज्योतिराव फुले

,सावित्री बाई फुले, स्वामी विवेकानंद आदि ने इससे उनकी शिक्षा एवं उत्थान हेतु अनेक कार्य किये। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार नहीं आ पाया क्योंकि समाज में परिवारों का स्वरूप पूर्णतया पित्रसत्तात्मक था अनेक रूढ़ियों और परंपराओं के आधार पर स्त्रियों को केवल घर तक ही सीमित रखा जाता था| ग्रामीण इलाकों एवं निम्न मध्यम वर्गीय परिवारों में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी |

आधुनिक काल

आधुनिक काल में इस स्त्रियों को सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति में सुधार के प्रयास किए गए। स्वतंत्रता के पश्चात भारत में नया संविधान लागू होने के फलस्वरूप स्त्रियों को भी पुरुषों के समान मौलिक अधिकार प्रदान किए गए। संविधान के द्वारा शिक्षा और समानता का मौलिक अधिकार प्राप्त होने से स्त्रियों की स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ। शिक्षा के अधिकार के फलस्वरूप उनकी दशा कुछ उन्नत हुई और अनेक महत्वपूर्ण पदों पर स्त्रियों की उपस्थिति देखी गई। लेकिन पुरुषों की तुलना में इस तरह की संख्या बहुत कम थी। पर्दाप्रथा और दहेज प्रथा जैसी कुप्रथा समाज में अभी भी प्रज्वलित पूर्णतया पुरुषों पर निर्भरता जैसी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया। गिनी चुनी स्त्रियों के महत्वपूर्ण पदों पर पदासीन होने से यह मान लेना की स्त्रियों की दशा पूरी तरह उन्नत हो गई मिथ्या होगा।

वर्तमान समय

वर्तमान समय में स्त्रियाँ सभी क्षेत्रों में अपना योगदान दे रही हैं। अनेक कानूनों का प्रावधान उनकी सुरक्षा के लिए किया गया है।

सरकार एवं विभिन्न सरकारी एवं गैर सरकारी संगठनों के द्वारा शक्तिकरण के प्रयास किए जा रहे हैं। लेकिन आम स्त्रियों की स्थिति अभी भी दयनीय है। परिवारों का स्वरूप पितृसत्तात्मक ही है। परिवार के महत्वपूर्ण फैसले पुरुषों के द्वारा ही लिए जाते हैं। स्त्रियों की राय सामान्यत नगण्य ही रहती है।

हिंदी साहित्य में स्त्री अस्मिता विमर्श

हिंदी साहित्य में स्त्री का वर्णन प्राचीन काल से ही होता रहा है। यदि हम यह कहें कि स्त्री चित्रण साहित्य का केंद्र बिंदु रहा है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। लेकिन प्राचीन साहित्य का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि साहित्य में जिस विषय पर सबसे अधिक लिखा गया है वह है स्त्री। वैसे तो साहित्य सृजन का केंद्रीय विषय स्त्री रहा है परन्तु साहित्य में स्त्री का वर्णन या तो उसके सौंदर्य चित्रण के रूप में या प्रेमिका के रूप में अधिक किया गया है। कुछ ग्रंथ तो नायिका के नख -शिख वर्णन के लिए ही लिखे गए हैं।

"भारतीय साहित्य में भी नारी के सामान्य रूप का ही विवेचन, विश्लेषण एवं चित्रण अधिक हुआ है, उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता का विकास प्राय: नहीं मिलता। विशेषता हिंदी काव्य में तो हम उसे व्यक्ति की अपेक्षा जाति के रूप में ही अधिक पाते हैं। उसके अंग प्रत्यंगों के स्थूल रूप की व्याख्या किसी मशीन के निर्जीव पुर्जों की भाँति ही बारंबार हुई है। उसकी सूक्ष्म चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का अंकन प्राय: नहीं के बराबर है।"1

रीति कालीन साहित्य में भी नारी का नख -शिख वर्णन, सौंदर्य वर्णन एवं प्रेमिका रूप में वर्णन किया गया है।

आधुनिक साहित्य में स्त्री विमर्श की अवधारणा के आविर्भाव के फलस्वरूप स्त्री की अस्मिता को लेकर प्रश्न उठाए गए। अनेक कवियों एवं लेखकों ने स्त्री के व्यक्तित्व को आधार बनाकर लेखन आरंभ किया।

"आधुनिक काल में 'मानव केंद्रित' समाज में मानव के सशक्तिकरण और आनंद के उपाय ढूंढने की प्रक्रिया तेज हो गई। परिवर्तन वांछित और त्वरित हो इसके लिए क्रांति की अवधारणा जन्मी और पुख्ता की गई।परिवर्तन का स्वरूप क्या हो, उसके आयाम क्या हों, ये मुद्दे उठे - उठाए गए। उन्हीं में से एक मुद्दा था नारी और पुरुष के बीच संबंध कैसा है।, कैसा रहा है और कैसा होना चाहिए।" 2

वैसे तो अनेक छायावादी एवं छायावादोत्तर कवियों ने अपने साहित्य सृजन का केंद्र बिंदु नारी अस्मिता को बनाया। महादेवी वर्मा की प्रसिद्ध कृति 'शृंखला की कड़ियाँ 'इसी प्रकार की प्रसिद्ध कृति है शृंखला की कड़ियां में स्त्री अस्मिता के स्वर अत्यन्त मुखर रूप में झंकृत होते हैं | उनका संस्मरण 'भक्तिन 'नारी के स्वत्व की पहचान का ज्वलंत उदाहरण है।

- 'बचपन में लक्ष्मी (भक्तिन) का एक ममतामयी विमाता द्वारा पालन पोषण होता है अल्पायु में ही उसका विवाह हो जाता है। ससुराल में उसकी सास और दो जेठानियों "पुखरिन" 'के पद के लिए स्पर्धा करती हुए उसके प्रति द्वेषपूर्ण व्यवहार प्रकट करती हैं। कुछ ही वर्षों में उसके 36 वर्षीय पति की मृत्यु हो जाती है। भक्तिन कट्टरता पूर्वक अपने स्वत्व की रक्षा करते हुए अपना जीवन यापन करती है वह स्वयं अपनी लड़की का विवाह करती है और दामाद को घरजमाई बनाती है।" 3

छायावाद में सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला आदि अनेक कवियों ने स्त्रियों के स्वत्व के प्रश्न उठाए हैं, लेकिन महादेवी वर्मा स्त्री अस्मिता विमर्श की सशक्त हस्ताक्षर थीं। छायावादोत्तर युग के अनेक लेखकों जैनेन्द्र और उनके समकालीन अन्य लेखकों ने स्त्री अस्मिता से संबंधित साहित्य का सृजन किया परंतु स्त्री अस्मिता को मुखर अभिव्यक्ति स्त्री साहित्यकारों के लेखन से मिली। अनेक स्त्री साहित्यकारों जैसे प्रभा खेतान , मृदुला गर्ग ,कृष्णा सोबती ,मन्नू भंडारी, शिवानी, ममता कालिया, मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा, तसलीना नसरीन ,उषा प्रियम्बदा आदि ने स्त्री की अस्मिता को केंद्र में रखकर साहित्य सृजन किया है। इन स्त्री साहित्यकारों के साहित्य की स्त्रियां अपनी अस्मिता

को पहचानकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को जीने का प्रयास करती दिखाई देती है अथवा जीती हैं। वे संघर्षों से जूझकर अपना लक्ष्य प्राप्त करने को तत्पर हैं।

साहित्य में स्त्री साहित्यकारों के लेखन से स्त्री-अस्मिता विमर्श को नये आयाम हासिल हुए हैं। इन स्त्री साहित्यकारों ने अपने स्त्री पात्रों के माध्यम से समाज में स्त्रियों को परिस्थितियों से जूझकर अपनी अस्मिता को पहचानने और आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है।

"प्रत्येक कालखंड के साहित्य में स्त्री की स्थिति उस समय के सामाजिक ताने - बाने और उसमें महिलाओं की स्थिति को बयां करती है। स्त्री चेतना की मुहिम स्वयं स्त्री के लिए अपने अस्तित्व को मानवीय रूप में अनुभव करने और करवाने का आन्दोलन है कि मैं भी मनुष्य हूँ और अन्य मनुष्यों की भाँति समाज में सम्मानपूर्वक रहने की अधिकारी हूँ। उसे यह भी सुनिश्चित करना होगा कि वह अपनी अस्मिता की लड़ाई कैसे लड़े | "4

निष्कर्ष

मातृसत्तात्मक समाज कैसे पितृसत्तात्मक समाज में परिवर्तित हुआ और पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों ने कैसे स्त्रियों पर अपना पूर्णतया वर्चस्व स्थापित किया यह सब गहन विचारणीय तथ्य है। स्त्री अस्मिता विमर्श की आवश्यकता क्यों हुई ,इसका उत्तर साहित्य में अत्यंत मुखर रूप में वर्णित है। पुरूष वर्चस्व वाले समाज में सबसे अधिक उत्पीड़ित स्त्री ही हुई और यह उत्पीडन तत्कालीन समय में भी जारी है। स्त्री जब पैदा होती है तो माँ – बाप और भाई के संरक्षण व अधिकार में रहती है। विवाह के पश्चात पति ,सास-ससुर और अन्य परिवार वालों के अधिकार में | उसका स्वतंत्र अस्तित्व किसी को स्वीकार नहीं है।

साहित्य में स्त्री के अस्तित्व अर्थात अस्मिता को केन्द्र में रखकर प्रचुर मात्रा में साहित्य सृजन किया गया है और अभी भी किया जा रहा है। उसके फलस्वरूप और शिक्षित होने के परिणामस्वरूप स्त्री अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक हुई हैं। आज के समय में उसे अपने अस्तित्व का बोध है। वह अपने व्यक्तित्व के प्रति संवेदनशील है। लेकिन ग्रामीण इलाकों में और शहरी क्षेत्रों के मध्यमवर्गीय एवं निम्नवर्गीय परिवारों में स्त्री की स्थिति अभी बेहतर नहीं है। निम्नवर्गीय परिवारों में और मजदूर परिवारों में स्त्रियां अभी भी सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर बहुत पिछड़ी हुई हैं। उन्हें अपनी अस्मिता का बोध ही नहीं है। यह निम्नवर्गीय समाज आज भी शिक्षा के प्रति उदासीन है। मजदूर स्त्रियां स्वयं अशिक्षित होने के कारण शिक्षा का महत्त्व नहीं जानती हैं और न ही वे अपने बच्चों खासकर बच्चियों को शिक्षित करने की पक्षधर हैं। मैंने स्वयं कितनी ही स्त्रियों को देखा है जो आज के समय में सी अपनी

लड़कियों की पढ़ाई अधूरी ही छुड़वा देती हैं। उनका मानना है कि लड़कियों की पढ़ाई आवश्यक नहीं है।

पढ़े - लिखे परिवारों में भी 90 प्रतिशत परिवारों की स्त्रियां निर्णय लेने में स्वतंत्र नहीं हैं। अधिकांश परिवारों में स्त्री का अकेले घर से बाहर जाना स्वीकार्य नहीं है। समाज की मानसिकता अभी भी रुढ़िवादी और परंपरावादी है। हम स्त्री-अस्मिता विमर्श पर कितना ही लिख लें लेकिन जब तक हम जमीनी स्तर पर स्त्री को सशक्त नहीं बना पायेंगे तब तक हम किसी भी प्रयास को सार्थक नहीं मान सकते हैं।

वास्तविकता यही है कि अभी स्त्री को सशक्त बनाने के लिए बहुत अधिक प्रयास करना है। साहित्य के द्वारा स्त्री-अस्मिता विमर्श के चिंतन एवं चित्रण के माध्यम से यह कार्य बहुत ही संवेदनशीलता से सराहनीय रूप में किया जा रहा है। लेकिन मेरे विचार से हम सभी को मिलकर इसके लिए प्रयास करना होगा |शुरूआत अपने परिवार से करनी होगी। परम्परागत संस्कारों के स्थान पर समयानुकूल परंपरा को अपनाना होगा | अपनी संस्कृति को बनाए रखते हुए हमें समतामूलक समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. *साहित्यिक निबंध, गणपति चंद्र गुप्त, लोकभारती*
2. *प्रकाशन, इलाहाबाद, 21वां संस्करण ,2008 ,*
3. *पृष्ठ संख्या -580*
4. *नया ज्ञानोदय, संपादक - रवीन्द्र कालिया, प्रकाशक-*
5. *भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली ,अंक-78*
6. *महादेवी का गद्य – सूर्यप्रकाश दीक्षित, प्रथम सन.-2008*
7. *नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दरियागंज, नई दिल्ली*
8. *मृदुला सिन्हा -मात्र देह नहीं है औरत ,सामयिक प्रकाशन,*
9. *नई दिल्ली, सं.-2009, पृष्ठ -6-7*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

विहार और उत्तर प्रदेश की कुछ जिले की रामलीला का सामान्य अध्ययन

मौसुमि दोलइ

भूमिका:

रामकथा युग युग से भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को अनुप्राणित करती आ रही है। राम के जीवन में भारतीय आदर्शो के परम विकास के दर्शन होते है। अत: उनको मर्यादा पुरुषोत्तम कहते है। भक्ति सम्प्रदाय में वै भगवान के अवतार माने जाते है। अत: उनके चारित्रिक गुण एवम् जीवन का ज्ञान उत्सव में प्राप्त किया जाता है। उपासना के विभिन्न साधन द्वारा भगवान उस तक पहुंचना चाहते है।

रामलीला का बीज वाल्मीकीय रामायण में विद्यमान है। आरम्भ में यह विविध नाटकीय रुपो में भी देश भर में प्रचलित थी ओर बाद में भक्ति आन्दोलन की प्रवलता पर इसमें श्रद्धा ओर भक्ति के तत्व प्रवेश पागए जिससे इसका सतंत्र लौकिक विकाश वहुत तीव्र गति में हुआ। देश के कौने कौने में रामलीला का आयोजन छाया-नाटक, पुत्तलिका नृत्य, नाट्य-नृत्य आदि अभिनय की प्राय: सभी प्रणालीयो द्वारा होता रहा है।

इसलीए रामलीला लोकनाट्य के अन्तर्गत कुरुचिपुर्ण श्रृङ्गारी प्रवृत्तियों से अत्यन्त दुर शुद्ध भक्तिमय मर्यादाति अभिनयहै। इसलिए भक्ति के विकाश के साथ लीला का भी माहात्य बढ़ा नाटक के विविध रुप प्राचीन लीलाओ या रामलीला में निहित है। भक्ति आन्दोलन में राम भक्ति की विविध दिक विकसित हुइहै। उनमें गोस्वामी तुलसीदास की राम भक्ति का स्थान अति विशिष्ट है। गोस्वामी जी ने राम-भक्ति के प्रचार केलिए विभिन्न साधनों का प्रयोग किया। उन्होने रामलीला, हनुमत्पूजा, प्रखाड़ आदि को रामभक्ति प्रचार का प्रमुख साधन वनाया। रामलीला सतत विकास आदिकवि वाल्मिकी जी की युग से चली आरही है। कालांतर में उनमे गुण-दोष प्रवेश करते रहे है। यो अपने विभिन्न रुप प्राचीन काल से भारतवर्ष में अपने परिमार्जित, परिशोधित और गुण-दौष को लेकर विद्यमान है। भारत कैराज्य विभिन्न जिले में आज यह रीति विद्यमान है। विहार राज्य, उत्तरप्रदेश में आज भी समान उत्साह ओर भक्तिभाव से रामलीला की प्रदर्शन होते आरहे है। जो एक विस्मय तथा अलग अनुभव का सृजन करता है।

Keywords: रामलीला की महत्व, भारतकी विभिन्न राज्य की रामलीला, विदेशमें रामलीला, वर्तमान में कुछ आदर्श रामलीला समिति की द्वारा प्रदर्शित रामलीला।

रामलीलाका माहात्ब

भारतीय लोक नाट्य परंपरा में अनुष्ठानिक नाठ्यकला के रुप में 'रामलीला' ओर भक्त हनुमान की अलौकिक कथा की विनोदन और मनोरंजन की श्रेष्ठ पंथा।

नाना भाषा, विभिन्न क्षेत्र ओर प्राचीन सभ्यता की धारक तथा देवभूमि से प्रसिद्ध है भारतभूमि। प्राचीन मुनि क्षषियों की तप-सिद्धि योग की प्रसिद्ध स्थान ओर अपनी प्राचीनता से गर्व और सम्पन्न विश्व की दरवार में प्राचीनता और महानता की श्रद्धाभूमि भारतभूमि।

वाल्मिकी-व्यास-कालिदास-भास- अश्वघोष जैसे प्राचीन प्रतिभा और श्रेष्ठ विद्वानो को भावधारा और विचार से परिपूर्ण भारतीय शिक्षा और संस्कृति प्राचीनकाल से वर्तमान तक लोक की जीवन, सामाजिक नियमों, मान्यताऔ और रीतियों सहित स्थानीय जीवन शैली के विभिन्न पहलुओं को दर्शाती है। भारत अपने विभिन्न भागो की लोक-नाट्यकला की समृद्ध परंपरा पर गर्व करता है।

जहां संस्कृत नाट्यकला के प्रसंग में भगवान प्रजापति ब्रह्मा ने आचार्य भरतमुनि को यह उपदेश दिया था-

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्।।
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्प प्रदर्शकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासकरोम्यहम्।।

अर्थात इतिहास को आधार वानाकर पञ्चम नाट्यवेद की सृजन करंगा जो धर्म, अर्थ और यशलाभ की उपाय, सदुपदेश और परम्परागत नीति का संग्रह होगा। और जो भविष्य में मानवसमाज की पथप्रदर्शक तथा सर्वशास्त्र की अर्थयुक्त एवं सर्वशिल्प की प्रदर्शक होगा।

"नानाभावीपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्"
उत्तमाधममध्यमानां नराणं कर्मसंश्रयम्
हितोपदेशजननं धृतिक्रीड़ासुखादिकृत।

विविध भावयुक्त, नाना अवस्था औरलोक की अनुकरणात्मक और उत्तर-मध्यम् अधम लोगकी कर्माश्रित, मंगलजनक और उपदेशात्मक। धैर्य, क्रीड़ा एवं सुखादि कारक नाट्यवेद का सृजन किया हुँ। जो नाट्यकला पुस्तककी भावज्ञान और पाठ न करने वाले सर्वस्तरीय एवं सर्वहिताय था। जिसे परंपरा

की और आचार तथा लोककला एवं देहातीढंग, ग्रामीण जीवन शैली में प्रदर्शित होता था। जंहा संस्कृत नाट्यकला अपनी नाटकी के प्रबंध में अधिक नगराभिमुख और परिस्कृत है।

लोक नाट्य अर्थात् मनुष्य संसार तथा लोकजीवन में प्रचलित नाटक। मनुष्य स्वाभाविक रुप से उत्सव प्रिय है। अपनी जीवन की हरदिन ईश्वर के प्रति निवेदित प्राण मनुष्य स्वीय जीवन लोकप्रियता मनोरंजन, ईश्वरभक्ति और आनन्द से अतिवाहित करता है। अपनी आनन्द के लिए मनुष्य को क्या क्या करना पड़ता है। अभी तक विद्यमान और सविशीष और मनुष्य की आनन्द की एक महत्वपूर्ण पन्था है लोकनाट्य। प्राचीण परंपरा तथा संस्कृत नाटक कठोर रुढ़िवादिता से भिन्न एक सृजनात्मक नाट्यकला भारतीय लोक नाट्य की व्यापक रुप से लोक समाज में प्रचलित एवं प्रसिद्ध देव-देवीओ की कहानी तथा भुत की आराधना से लेकर लौकिक जीवन में प्रचलित हास्यकर कहानी तथा धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठानो से जुड़ा हे। अभीतक विद्यमान लोक नाट्यकलाओ में से अधिकतर भक्तिमय विषय वस्तुओं के साथ १५वीं तथा १६ वीं शताव्दी ईसवी के वीच को अवधि मे उभरी। यद्यपि समय के साथ साथ इन्होंने प्रेम-गाथागीतो तथअ स्थानीय नायकों की कथाओं को अपनाना आरम्भ करदिया तथा उनकी प्रकृति पथ- निरपेक्ष होती चली गयी। देव-देवोओ प्रेम तथा देव-देवीओ के भक्ति लोक-नाट्य की एक प्रधान विशेषता है। मनुष्य पनी भव्यजीवन में प्रेम दु:ख तथा सुख, छल, कपट प्रभृति नाना प्रतिच्छवि लोकनाट्य जैसे नाट्य में प्रचलित देखता है। स्वत्त्रता के वाद की अवधि में लोक नाट्यकला केवल सामाजिक मनोरंजन से इतर, सामाजिक बुद्धिमत्ता के प्रसारण की अत्यधिक लोकप्रिय पद्धति बन गई।

सामाजिक बुद्दिमत्ता के प्रसारण में भारतीय लोक-नाट्यकला विशेषरुप से विभिन्न चरित्र को पने आदर्श बनाकर उसकी चित्र अपने मन में अङ्कित कर लेता है। भारतीय लोक नाट्यकला की व्यापक रुप से निम्नलिखित तिन वर्ग में वांटा जा सकता है- अनुष्ठानिक नाट्यकला, मनोरंजन नाट्यकला एवं दक्षिण भारतीय नाट्यकला। अनुष्ठानिक नाट्यकला जैसे अंकिया नाट, रामलीला, रासलीला भुत आराधना रम्मन मनोरंजन नाट्यकला जैसे भवई-दसकठिया, गरोडा, जान्ना, करियइला, माँच, नौटंकी ओजा-पाली पंडवानी पोवाडा, स्वागं, तामाशा, विल्लु-पाटु, भांडपाथेर, भाओना, दशावतार, भांड और दक्षिण भारतीय नाट्यकला में यक्षगान, बुर्रा कथा, पगती वेषालु, बायलता,, ताल-मडडाले, थेय्यम, कृष्ण अट्टम तथा कुरुवंजी शामिल है। भक्ति आन्दोलन के दौरान लोक-नाट्यकला दर्शकी तथा प्रस्तुतकर्ताओ दोनो के लिए ईश्वर के प्रति अपने विश्वास की प्रकट करने का लोक प्रिय माध्यम बन गइ। जैसी नाट्यशाला के कुछ लोक प्रिय उदाहरण में व्यापक रुप से 'रामलीला' महत्वपूर्ण है।

'राम' कथा भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की मूल प्रेरक रुम में धर्म, साहित्य, कला संगीत आदि की उपजीव्य रही है। भारतीय उत्सवों- पर्वो तथा जन सम्मेलनी के अवसर पर राम-संवंधी लीला,

नाटक, नृत्य तथा संगीत अवश्य होते है। देश में प्रचलित सभीनाट्य, नृत्य एवं संगीत प्रणाली में रामकथा का महत्वूर्ण स्थान है। रामलीला का प्रदर्शन इन सबके माध्यम से होता है।

रामलीला के दो पह है- (१) राम कथा (२) रामचरित्र। रामकथा मे रामलीला चित्रकला, स्थापत्यकला तथा मुर्तिकला द्वारा प्रदर्शित की जाती है।

तुलसीदास स्वामी जी की रामचरित मानस के आधार पर रामलीला की प्रदर्शन एवं लीला प्रदर्शन की पुस्तक रचना कलाकार दिया किया जाता है। भारतवर्ष की विभिन्न प्रान्त में तथा उत्तर से लेकर दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम में रामलीला की परंपरा प्राचीन, ऐतित्यपूर्ण तथा शुभदायक, एवं फलप्रद माना जाता है। सदोओ से चली आ रही रीति-रिवाजों देश को वाहर विदेश में भी समान तरीके में अपने उत्कृष्टता का साधन प्रदर्शन कर रहा है। वहीं कुछ प्रसिद्ध 'रामलीला' समिति आज भी सदीओसेचली आ रही रीति रिवाजो तथा परंपरा की वहता हुआ नदी तथा वहता हुआ पवन के तरहा ही रामलीला की प्रदर्शन करते आ रहा है एवं आज भी 'रामलीला' की प्रदर्शन करती है।

रामचरित्र के प्रदर्शन के लिए अभिनय की विविध प्रणालियां आपनायी गयी है। ये प्रदर्शन लीला नाटक, नृत्य-नाटक, पुत्तलिका-नृत्य छाया-नाट्य आदि के माध्यम से होते है। उत्तर भारत में रामलीला चार प्रणालियो में रामलीला विशेषरुप से प्रचलित है- (१) धार्मिक (२) रंगमंचीय (३) लोक-नृत्य ओर (४) पुत्तलिका-नृत्य। उत्तर भारत में तुलसीदास गोस्वामी जी रामलीला विशेष प्रसिद्ध है। उत्तर भारत में रामलीला की मुख्य केन्द्र वाराणसी, मथुरा, अयोध्या तथा जनकपुर है। वंगाल, असम तथा उड़ीसा में, मात्रा, चित्राभिनय, रंगमंचीय अभिनय इसका प्रधान रुप है।

दक्षिण भारत में रामलीला:

दक्षिण भारत में रामलीला की अभिनय प्रणाली कला तथा संगीत पर आधारित है। वहां प्रदर्शन के पांच रुप मिले है- (१) नाट्य नृत्य (२) रंगमंचीय अभिनय, (३) छाया-नृत्य, (४) पुत्तलिका या चर्म पत्तलिका ओर (५) लोक नाटक। दक्षिण भारतमें रामनवमी या विजया दशमी के अवसर पर रामलीला का प्रदर्शन किया जाता है। दक्षिण भारत में आन्ध्रप्रदेश, केरल, मैसुर में रामलीला की प्रदर्शन होती है। इसके अलावा महाराष्ट्र, मालवा, मालावार, बम्वइ, गुजरात, टांवकोर में भी लोक-नाट्य परंपरा में रामलीला की प्रदर्शन सदिओं से चली आ रही है।

विदेशों में रामलीला:

विदेश में रामकथा तथा रामचरित्राभिनय की प्रदर्शन देखने को मिलती है। ब्रह्मदेश (वर्मा), मलय प्रायदीप, कब्वोज स्याम, जावा, वेयांग पूर्व, वाली, वजांग कौल्टि, अमेरिका, रुस में रामलीला का

प्रदर्शन सदियों से किया जा रहा है। २००० वर्ष से अधिक स्याम देश में रामलीला की प्रदर्शन होती आ रही है।

शोधकार्य का उद्देश्य:

बर्तमान में विहार और उत्तरप्रदेश की कुछ 'रामलीला समिति' की रामलीला का मनोरम दृश्य और उनके कुछ कलाकारो के साक्षात्कार इस शोधपत्र कार्य का उद्देश्य है। विहार तथा उत्तरप्रदेश राम के जीवन से विशेष समबद्ध है। उत्तर प्रदेश की भअंति विहार मे रामलीला धुम-धाम से होती है। पार्शवर्ती राज्य से सांस्कृतिक सम्पर्कहोने तथा भक्ति के विविध रुपो के कारण यहा रामलीला केभी विभिन्न ढंग मिलते है। पहला प्रसार उत्तर प्रदेश के पुर्वी जिलोके समान। तीसरी बंगाल की यात्रा प्रणाली तथा चौथी रंगमंचीय प्रणाली है। विहार की सीयान की सरसरगाँव की रामलीला वर्तमान में प्रसिद्ध है।

सदियों से चली आ रही विहार की सीयान जिलेकी सरसर गाँव की रामलीला। गाँव की पुरुष कलाकार इस रामलीला में भाग लेता है। गाँव की वुजुर्ग से लेकर वच्चे वच्चे तक सभीको रामलीला की पाठ तथा रामायण कण्ठस्थ है। रामायण में जनकपुर में राम-जन्म से लेकर राम के विवाह, खिचड़ी, गान तक की लीला होती है। यँहा की रामलीला की एक विशेषता है राम सीता की विवाह। 15 से 16 दिन गाँव में रामलीला चलती है। गाँव की लोग रामलीला में अंशदान करते है। वच्चे से लेकर वुजुर्ग तक अपने अपने अन्दाज में रामलीला में भाग लेकर रामलीला शान बढ़ाती है। इस गाँव में शारदीय नवरात्र में रामलीला की आयोजन किया जाता है। राम-सीता विवाह- अशोक कानन ध्वंस- लक्ष्मण की शक्तिशेल- रावण वध यँहा की मुख्य लीला है। रामविवाह तथा भरत मिलाव में प्राय: वरात तथा शोभायात्रा का आयोक्त किया जाता है। यहाँ रामलीला की प्रयोग में मधुर रुप का प्रदर्शन होती है। इस तरह की रामलीला की प्रेरणा-स्रोत अयोध्या का कनकभवन है। यँहा के भक्त रामनवमी के अवसर पर भी रामलीला की प्रदर्शन रते है। संवाद में मैथिल भाषा का भी प्रयोग होता है।

विहार की रामलीला की पुस्तक में पदावली का विशेष प्रचार है।

उत्तर प्रदेश की वलिया जिला का टुटुवारी गांव की रामलीला पिड़ीओं से चली आरही है। 1952 साल से इस गांव में रामलीला समिति के द्वारा रामलीला की प्रदर्शन होती आ रही है। 70 साल से रामलीला की प्रदर्शन इस गाँव में होती आ रही है। पाँचवी पिड़ी से यँहा की रामलीला की मुख्य ओर विशेष वैशिष्ट है कि पुरुष कलाकारो द्वारा यँहा कि रामलीला की प्रदर्शन किया जाता है। कृष्ण मुरा राय एवं चन्दन पांडे जी ने एक साक्षात्कार में वताया है कि २माह तक रामलीला की प्रदर्शन करते के लिए पड़ना लिखना चालु रहता है। तुलसीदास स्वामी जी राचरितमानस के आधार पर यँहा 'रामलीला' की अलग अलग पुस्तक घर घर प्राय प्राप्त होता है। एक रामलीला की प्रदर्शन करते के लिए 60-70 हजार

तक रुपये की खरच होता है। पहले एक कलाकार की 20 रुपये मिलता। परन्तु समय के वदलते हिसाव से 'रामलीला' में एक कलाकार को एक रात्रि में 500 रुपयो मिलता है।

यँहा की रामलीला मुख्य वैशिष्ट्य स्त्री पात्र की उपस्थित न होना। अतएव पुरुष कलाकार द्वारा ही स्त्री पात्र की चरित्र की अभिनय किया जाता है। गाँव में महिलाए घर की काम काज में व्यस्त रहता है और शर्म के बजहसे व रामलीला में अभिनय नहीं करना चाहते है एही गाँव की बुजुर्ग की मत है।

इसके अलावा लेजवारा मे 108 वरसकी 'रामलीला' की प्रदर्शन किया जाता है। अर्जुनी कुसमी, लेजवारा, मटका, कठिया, वावा मोहतश, देवरवीजा, नवापारा आद, सराहा, डंगनिया, पाहहर, देवरवीजा, इत्यादि प्रसिद्ध अञ्जल रामलीला के लिए आज भी प्रसिद्ध है।

उत्तरप्रदेश की भावरकील जिले के मनिया गाँव में 'आदर्श रामलीला समिति' के तत्वावधान मे यँहा की राम-सीता की स्वयंवर का मनोहर दृश्य सीता स्वयंवर में धुनुष तोड़ ने की दृश्य वहुत प्रसिद्ध है। सीता स्वयंवर में राम-सीता के विवाह में लोग सीता की एक पक्ष ओर रामचन्द्र एक पक्ष लेता है। रामलीला में राम-सीता की विवाह में पयसा भी देते है। राम-सीता नाम में जयजयकार लोग लगाता है, श्रीराम जबशिवधनुष तोड़ते है तो लोग जाके शिवधनुषको प्रणाम करते है। लोग पुष्प वर्षा करते है, शंख घण्टा ध्वनि भी करते है। मनिया गाँव की इस आदर्श रामलीला समिति में 'रामलीला' की प्रदर्शन लिए दानराशि का संग्रह किया जाता है। यँहा दानदाता के नाम, पता और दानराशि का उल्लेख रहता है। यथा

क्र. सं.	दानदाता का नाम	पता	दानराशि
01	पवन गुप्ता	मनिया	11
02	भारती जी	मिर्जावाद	21
03	मल्लु	मिर्जावाद	20/-
04	रजा	पदना (विहार)	20/-
05	पुष्प पण्डिय	मनियां	50/-
06	चुन्नु	मिर्जावाद	10/-
07	चिन्दु कुशवाहा	मनियाँ	10/-
08	दरीगा राम	मनियाँ	1000/-
09	गोपाल प्रसाद	मनियाँ	2101/-
10	(प्रधान) जी शोभा देवी	वीरपुर	1सारि सेट

रामलीला में दानदाता 10,20 रुपये से लेकर 1000, 2000 तक अपनी मर्जी से दानराशि दान करते है। और दानदाता सारि सेट, रामलीला के लिए चावल वगारा जमा करते है।

यँहा की 'रामलीला' की कलाकार:-

किरदार	कलाकार
सियाराम	जय माल
राम	अशीष कुमार
लक्ष्मण	शुभम कुमार
भरत	हंसराज
शत्रुघ्न	ऋषभ पांडय
परशुराम	विशाल सिंह
सीता	विकास कुमार
मांडवी	मुकेश
उर्मिला	रोशन गुप्ता
राजा दशरथ	जय शंकर प्रसाद
विश्वामित्र	संजय
प्रजापति	अजय चौहान

उपरिल्लिखित लोगो ने रामलीला मे कलाकारो की भूमिका निभाइ।

उपसंहार:- रामलीला के इतने लोकप्रियहोने का कारण रामचरित्र की विशेषता तथा उज्जलता ही है। मनोरंजन के अन्य साधनो की अपक्षा रामलीला में अनेक विशेषताएं है। आधुनिक चल-चित्रों की श्रमद प्रवृत्तियाँ नग्न श्रृंगारकला तथा कुरीतियां के सिनेमा में घृणा है उन्हे थिएटारो में व्याप्य विदेशी परम्परा तथा शैली से भी अरुचि है। नाटकों की लौकिकता उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाती। अत: ऐसे सम्भ्रान्त पुरुषो के लिए रामलीला मनोरंजन का एकमात्र साधन है। जहा उन्हे पूर्ण आत्म-सन्तुष्टिका अनुभब होता है।

अन्य प्रदर्शन जंहा भौतिकवादी है। रामलीला वंहा आदर्शवादी। रामलीला भक्ति तथा मनोरंजन से ओतप्रोत है। साहित्यिक अभिरुचि के आधुनिक व्यक्ति रामलीला में विशेष आनंद का अनुभब नहीं करते। यदि सर्व साधारण के वौद्धिक स्तर का विचार न करके रामलीला में साहित्यकता का समावेश कर दिया जाये तो भक्तो के वीच यह विशेष लोक प्रिय न रह जायगी। इसलिए रामलीला भारतीय संस्कृति की मौलिकता समगता उदात्तता श्रेष्ठता तथा महत्व के सम्यक दर्शन होते है। प्रत्येक भारतीय का नहीं

अपि तु मानव पात्र का कर्तव्य है कि वह तन-मन-धन से इस सांस्कृतिक एवं धार्मिक आयोजन में सहयोग प्रदान करके जन मानस में कल्याण का मार्ग प्रदर्शन करता है।

सहायक गंथसची:

संस्कृत

1. *नाट्यशास्त्र*
2. *उत्तर रामचरित*
3. *ऋग्वेद*
4. *अग्निपुराण*
5. *ब्रह्मसूत्र*
6. *अध्यात्म रामायण*
7. *रामचरितमानस*
8. *कौटिल्य अर्थशास्त्र*

हिन्दी

9. *अभिनवनाट्यशास्त्र- प्रथम खण्ड- सीताराम चतुर्वेदी*
10. *कवितावली- गोस्वामी तुलसीदास*
11. *गोस्वामी तुलसीदास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल*
12. *रामकथा- कामिल बुल्के*
13. *विनय पत्रिका- गोस्वामी तुलसीदास*

अंग्रेजी

14. *History of Sanskrit Literature By Morris Winternitz*
15. *History of Mediaval India- Dr. Ishwari Prasad*
16. *History of Darma Shastra- Dr. P.V. Kane*

पत्र-पत्रिका

17. *नव-मालती (निउ दिल्ली)*
18. *दैनिक जागरण*

बंगला

19. *आधुनिक संस्कृत साहित्य- ऋता चट्टोपाध्याय*
20. *उत्तर रामचरित – ड. श्यामाप्रसाद भट्टाचार्य*

Website

21. *www.facebook.com- आदर्श रामलीला समिति (page)*
22. *www.google.com*
23. *www.indianculture.gov.in*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

खेती से स्टार्टअप तक: ग्रामीण महिलाओं की बदलती भूमिका और विकसित भारत की संकल्पना

डॉ. प्रीति
वरिष्ठ भाषा विशेषज्ञ
अनुवादिनी फाउंडेशन शिक्षा मंत्रालय-AICTE

सारांश:

प्रस्तुत आलेख विकसित भारत के व्यापक लक्ष्य के परिप्रेक्ष्य में ग्रामीण महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण का विश्लेषण करता है। ऐतिहासिक रूप से भारतीय कृषि में महिलाओं की भूमिका केवल अदृश्य रही है, किंतु वर्तमान दशक में वे पारंपरिक खेती की सीमाओं को लांघकर कृषि-उद्यमी के रूप में उभर रही हैं।

इस आलेख में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार सरकारी योजनाएँ, नीतिगत समर्थन, वित्तीय समावेशन और कौशल विकास कार्यक्रम ग्रामीण महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त बना रहे हैं। कृषि-आधारित उद्यमों (जैसे डेयरी, जैविक खेती, खाद्य प्रसंस्करण) से लेकर गैर-कृषि स्टार्टअप (हस्तशिल्प, ग्रामीण ई-कॉमर्स, सेवा क्षेत्र) तक महिलाओं की बढ़ती भागीदारी आत्मनिर्भरता और स्थानीय विकास को गति प्रदान कर रही है। यह आलेख यह निष्कर्ष निकालता है कि ग्रामीण महिलाओं का स्टार्टअप पारिस्थितिकी तंत्र में शामिल होना न केवल उनकी व्यक्तिगत आय में वृद्धि कर रहा है, बल्कि यह आत्मनिर्भर भारत और विकसित भारत की संकल्पना को धरातल पर उतारने का सबसे सशक्त माध्यम है।

विकसित भारत और महिलाएं:

विकसित भारत की संकल्पना केवल आर्थिक प्रगति या आधुनिक बुनियादी ढाँचे तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक ऐसे समावेशी और न्यायपूर्ण समाज की परिकल्पना करती है जहाँ प्रत्येक नागरिक को समान अवसर, सम्मान और सुरक्षा प्राप्त हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति में महिलाओं की भूमिका केंद्रीय है क्योंकि महिलाएँ न केवल जनसंख्या का लगभग आधा हिस्सा हैं बल्कि परिवार, समाज और राष्ट्र के

निर्माण में भी निर्णायक योगदान देती हैं। विकसित भारत की यात्रा तभी सार्थक हो सकती है जब महिलाओं को शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, निर्णय-निर्माण और नेतृत्व के समान अवसर उपलब्ध हों।

भारतीय समाज में परंपरागत रूप से महिलाओं की भूमिका घरेलू और सहायक मानी जाती रही है। हालाँकि, आधुनिक भारत में शिक्षा, संवैधानिक अधिकारों और सामाजिक जागरूकता के विस्तार ने महिलाओं की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। आज महिलाएँ शिक्षा, विज्ञान, तकनीक, प्रशासन, राजनीति, उद्यमिता और स्टार्टअप जैसे क्षेत्रों में सक्रिय भागीदारी निभा रही हैं। महिला सशक्तिकरण ने न केवल उनकी व्यक्तिगत पहचान को मजबूत किया है, बल्कि राष्ट्रीय विकास को भी गति प्रदान की है। शिक्षित और आत्मनिर्भर महिलाएँ परिवार की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करती हैं, बच्चों के स्वास्थ्य और शिक्षा पर सकारात्मक प्रभाव डालती हैं तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जागरूकता फैलाती हैं।

विकसित भारत के संदर्भ में महिलाओं की आर्थिक भागीदारी विशेष महत्व रखती है। स्वयं सहायता समूह, महिला-नेतृत्व वाले उद्यम, कृषि-आधारित उद्योग, हस्तशिल्प, सेवा क्षेत्र और डिजिटल प्लेटफॉर्म्स के माध्यम से महिलाएँ रोजगार सृजन और स्थानीय विकास में योगदान दे रही हैं। तकनीक और डिजिटल साक्षरता ने महिलाओं को नए अवसर प्रदान किए हैं, जिससे वे स्थानीय सीमाओं से बाहर निकलकर राष्ट्रीय और वैश्विक बाज़ार से जुड़ पा रही हैं। इससे न केवल उनकी आय बढ़ी है, बल्कि आत्मविश्वास और निर्णय-क्षमता भी विकसित हुई है।

हालाँकि, विकसित भारत की दिशा में महिलाओं को अभी भी अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, जैसे लैंगिक असमानता, शिक्षा और स्वास्थ्य में अंतर, कार्य-परिवार संतुलन की समस्या और सामाजिक रूढ़ियाँ। इन बाधाओं को दूर करने के लिए नीतिगत समर्थन, सामाजिक परिवर्तन और मानसिकता में बदलाव आवश्यक है। विकसित भारत की संकल्पना महिलाओं के सशक्तिकरण के बिना अधूरी है। जब महिलाएँ समान अधिकारों और अवसरों के साथ विकास प्रक्रिया में सहभागी बनेंगी, तभी भारत वास्तविक अर्थों में एक विकसित, समावेशी और सशक्त राष्ट्र के रूप में उभर सकेगा।

सरकारी योजनाएँ: ग्रामीण महिला उद्यमिता के नए आयाम:

ग्रामीण महिलाओं के आर्थिक और सामाजिक सशक्तिकरण की दिशा में भारत सरकार द्वारा आरंभ की गई योजनाओं में लखपति दीदी योजना एक महत्वपूर्ण पहल है। इस योजना का उद्देश्य स्वयं सहायता समूहों से जुड़ी महिलाओं को स्थायी आजीविका के माध्यम से वार्षिक आय के एक निश्चित स्तर तक पहुँचाना है। इसके अंतर्गत महिलाओं को कृषि, पशुपालन, खाद्य प्रसंस्करण, हस्तशिल्प और लघु उद्यमों के लिए प्रशिक्षण, वित्तीय सहायता और बाज़ार से जोड़ने की सुविधा प्रदान की जाती है। यह योजना

महिलाओं को केवल आय-स्रोत नहीं, बल्कि आत्मनिर्भर उद्यमी बनने की दिशा में प्रेरित करती है, जिससे उनकी सामाजिक स्थिति और निर्णय-निर्माण क्षमता में वृद्धि होती है।

तकनीक और नवाचार के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं को सशक्त बनाने की दिशा में नमो ड्रोन दीदी योजना एक अभिनव प्रयास है। इस योजना के तहत महिलाओं को कृषि कार्यों में ड्रोन तकनीक के उपयोग का प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे वे आधुनिक कृषि सेवाएँ प्रदान कर सकें। ड्रोन के माध्यम से कीटनाशक छिड़काव, फसल निगरानी और कृषि प्रबंधन जैसे कार्यों में महिलाएँ दक्ष बन रही हैं। इससे न केवल उनकी आय में वृद्धि हो रही है, बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की तकनीकी पहचान और नेतृत्व क्षमता भी सुदृढ़ हो रही है।

महिला उद्यमिता को वित्तीय आधार प्रदान करने में मुद्रा योजना और स्टैंड-अप इंडिया योजना की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। मुद्रा योजना के अंतर्गत महिलाओं को बिना गारंटी के ऋण उपलब्ध कराया जाता है, जिससे वे छोटे व्यवसाय और स्टार्टअप आरंभ कर सकें। वहीं, स्टैंड-अप इंडिया योजना विशेष रूप से महिलाओं को विनिर्माण, सेवा और व्यापार क्षेत्रों में उद्यम स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करती है। इन योजनाओं ने ग्रामीण महिलाओं को साहूकारी निर्भरता से मुक्त कर औपचारिक बैंकिंग व्यवस्था से जोड़ा है।

इन सभी योजनाओं की सफलता में कौशल विकास कार्यक्रम की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। कौशल विकास के अंतर्गत महिलाओं को तकनीकी, व्यावसायिक और डिजिटल प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है, जिससे वे आधुनिक बाज़ार की माँग के अनुरूप स्वयं को सक्षम बना सकें। इस प्रकार, लखपति दीदी, नमो ड्रोन दीदी, मुद्रा, स्टैंड-अप इंडिया और कौशल विकास योजनाएँ मिलकर ग्रामीण महिलाओं को खेती से स्टार्टअप तक की यात्रा में समर्थ बनाती हैं और विकसित भारत की संकल्पना को साकार करने में निर्णायक योगदान देती हैं।

परम्परागत सीमाओं से आधुनिक पहचान तक:

परम्परागत भारतीय समाज में महिलाओं की भूमिका मुख्यत घरेलू दायित्वों, कृषि कार्यों और पारिवारिक देखभाल तक सीमित रही है। विशेषकर ग्रामीण परिवेश में महिलाएँ बीज बोने, रोपाई, निराई-गुड़ाई, कटाई, पशुपालन, जल और ईंधन संग्रह जैसे श्रमसाध्य कार्यों में सक्रिय भागीदारी निभाती रही हैं, किंतु इस श्रम को लंबे समय तक आर्थिक या सामाजिक मान्यता नहीं मिली।

पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के अंतर्गत निर्णय-निर्माण की शक्ति प्रायः पुरुषों के हाथों में रही, जिससे महिलाओं की भूमिका सहायक या पराधीन मानी गई। शिक्षा के सीमित अवसर, संपत्ति और उत्तराधिकार अधिकारों का अभाव, तथा सामाजिक रूढ़ियाँ और परंपरागत मान्यताएँ महिलाओं की

स्वतंत्रता और व्यक्तित्व विकास में बाधक बनीं। विवाह, मातृत्व और पारिवारिक उत्तरदायित्वों को महिला जीवन का अंतिम लक्ष्य मानने वाली सोच ने उनकी पहचान को निजी और घरेलू दायरे तक सीमित कर दिया। परिणामस्वरूप, महिलाओं की रचनात्मकता, नेतृत्व क्षमता और निर्णयात्मक शक्ति को व्यापक सामाजिक मंच पर उभरने का अवसर नहीं मिल सका और उनका योगदान अदृश्य श्रम के रूप में समाज की नींव को सुदृढ़ करता रहा।

समकालीन भारत में शिक्षा, संवैधानिक समानता, तकनीकी प्रगति और सामाजिक जागरूकता के प्रभाव से महिलाओं की स्थिति और पहचान में उल्लेखनीय परिवर्तन दिखाई देता है। आज महिलाएँ परम्परागत सीमाओं को पार कर शिक्षा, रोजगार, उद्यमिता, राजनीति और सामाजिक नेतृत्व के क्षेत्रों में सशक्त उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। डिजिटल तकनीक, मोबाइल और इंटरनेट की पहुँच, स्वयं सहायता समूहों, कौशल विकास कार्यक्रमों और वित्तीय समावेशन ने महिलाओं को आर्थिक आत्मनिर्भरता की दिशा में अग्रसर किया है।

ग्रामीण महिलाएँ अब केवल कृषि श्रमिक नहीं, बल्कि डेयरी, जैविक खेती, खाद्य प्रसंस्करण, हस्तशिल्प, ग्रामीण ई-कॉमर्स और स्टार्टअप जैसे क्षेत्रों में उद्यमी के रूप में उभर रही हैं। यह परिवर्तन केवल आय-सृजन तक सीमित नहीं है, बल्कि आत्मविश्वास, निर्णय-निर्माण और सामाजिक सहभागिता में भी परिलक्षित होता है। महिलाएँ आज पंचायतों, स्थानीय संस्थानों और सामुदायिक संगठनों में नेतृत्व कर रही हैं, जिससे सामाजिक संरचना में सकारात्मक बदलाव आ रहा है। यद्यपि लैंगिक असमानता, दोहरी जिम्मेदारियाँ और सामाजिक दबाव जैसी चुनौतियाँ अब भी विद्यमान हैं, फिर भी महिलाओं की यह नई पहचान उन्हें विकास की सक्रिय भागीदार बनाती है। इस प्रकार परम्परा और आधुनिकता का संतुलन महिलाओं को एक सशक्त, आत्मनिर्भर और निर्णायक पहचान प्रदान कर रहा है, जो न केवल उनके व्यक्तिगत जीवन को रूपांतरित कर रहा है, बल्कि विकसित भारत की संकल्पना को साकार करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

खेती से स्टार्टअप तक की सफल यात्रा तय करने वाली ग्रामीण महिलाएं:

खेती से स्टार्टअप तक की सफल यात्रा तय करने वाली ग्रामीण महिलाओं ने न केवल पितृसत्तात्मक बेड़ियों को तोड़ा है, बल्कि भारतीय कृषि को एक नया व्यावसायिक आयाम भी दिया है। इस बदलाव की सबसे सशक्त मिसाल महाराष्ट्र के अहमदनगर की राहीबाई सोमा पोपेरे हैं, जिन्हें 'सीड मदर' के नाम से जाना जाता है। उन्होंने विलुप्त हो रहे देशी बीजों को सहेजने के लिए 'कलसुबाई बीज संरक्षण समिति' की शुरुआत की, जो आज एक विशाल बीज बैंक और जैविक खेती के स्टार्टअप के रूप में हज़ारों किसानों का मार्गदर्शन कर रहा है। इसी कड़ी में कर्नाटक की कविता मिश्रा का नाम अत्यंत प्रेरणादायी है, उन्होंने अपनी उच्च शिक्षा और शहर की नौकरी को त्यागकर चंदन और अनार की खेती को एक

वैज्ञानिक स्टार्टअप का रूप दिया। आज वे न केवल करोड़ों का मुनाफ़ा कमा रही हैं, बल्कि हज़ारों युवाओं को कृषि-उद्यमिता का प्रशिक्षण भी दे रही हैं।

राजस्थान के झुंझुनू जिले की नीतू यादव, जिन्हें 'एग्रो-सखी' कहा जाता है ने तकनीक और खेती का अनूठा संगम प्रस्तुत किया। उन्होंने किसानों के उत्पादों को सीधे बाज़ार तक पहुँचाने के लिए एक डिजिटल स्टार्टअप शुरू किया, जिससे बिचौलियों का प्रभाव खत्म हुआ और किसानों को उनके उत्पादों का सही मूल्य मिलने लगा। वहीं, मध्य प्रदेश की ललिता मुकाती ने 'नर्मदा ऑर्गेनिक फार्मर प्रोड्यूसर कंपनी' के माध्यम से एक सामूहिक स्टार्टअप की नींव रखी। उन्होंने सैकड़ों ग्रामीण महिलाओं को संगठित कर सीताफल और अन्य फलों की प्रोसेसिंग और वैल्यू एडिशन (जैसे पल्प और पाउडर बनाना) का काम शुरू किया, जिससे गाँव की महिलाओं की आय में कई गुना वृद्धि हुई।

ओडिशा की कमला पुजारी और पद्मश्री से सम्मानित साबरमती जैसी महिलाओं ने जैविक खेती और जैव-विविधता को स्टार्टअप मॉडल से जोड़ा है। साबरमती जी ने 'संभव' नामक संस्था के जरिए बंजर ज़मीन को उपजाऊ बनाकर हज़ारों किस्म के स्वदेशी बीजों का संरक्षण किया और उसे एक सफल इको-फ्रेंडली मॉडल बनाया। इसी प्रकार, बिहार की राजकुमारी देवी, जिन्हें 'किसान चाची' कहा जाता है ने अपनी साइकिल पर घूम-घूम कर महिलाओं को संगठित किया और अचार-मुरब्बा बनाने के घरेलू काम को एक बड़े ब्रांड में तब्दील कर दिया। इन सभी महिलाओं की कहानियाँ यह सिद्ध करती हैं कि ग्रामीण भारत की महिलाएँ अब केवल खेती की सहायक नहीं, बल्कि 'एग्रो-प्रेन्योर्स' के रूप में विकसित भारत की नई पहचान बन चुकी हैं। उन्होंने पारंपरिक ज्ञान को आधुनिक बाज़ार की मांग के साथ जोड़कर यह साबित किया है कि सही अवसर मिलने पर गाँव की पगडंडियों से वैश्विक स्टार्टअप्स का रास्ता निकल सकता है।

खेती से स्टार्टअप तक की यात्रा करने वाली भारतीय ग्रामीण महिलाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि अवसर, प्रशिक्षण और संस्थागत सहयोग उपलब्ध हो, तो परंपरागत कृषि कार्य भी आधुनिक उद्यमिता का आधार बन सकते हैं। महाराष्ट्र की चेतना गाला सिन्हा ने ग्रामीण महिलाओं की वित्तीय समस्याओं को समझते हुए *मान देशी बैंक* और *मान देशी फाउंडेशन* की स्थापना की जिससे किसान और श्रमिक महिलाएँ कृषि, डेयरी और छोटे व्यवसायों के लिए ऋण व प्रशिक्षण प्राप्त कर सकीं। बिहार की कविता देवी, जिन्हें 'मशरूम लेडी' के नाम से जाना जाता है ने पारंपरिक खेती से आगे बढ़कर मशरूम उत्पादन का स्टार्टअप खड़ा किया और सैकड़ों ग्रामीण महिलाओं को प्रशिक्षण देकर उन्हें स्वरोज़गार से जोड़ा। गुजरात की रूपा मेहता के नेतृत्व में *श्री महिला गृह उद्योग (लिज्जत पापड़)* जैसी सहकारी संस्था ने घरेलू खाद्य उत्पादन को संगठित उद्योग में परिवर्तित कर लाखों महिलाओं को आर्थिक आत्मनिर्भरता प्रदान की। इसी क्रम में राजस्थान की संतोष यादव ने स्वयं सहायता समूह के माध्यम से बाजरा और मोटे

अनाज से जुड़े उत्पादों का प्रसंस्करण शुरू कर स्थानीय से राष्ट्रीय बाज़ार तक पहुँच बनाई। तमिलनाडु की कल्याणी सुब्रमण्यम ने जैविक खेती से आरंभ कर खाद्य प्रसंस्करण और ब्रांडिंग के जरिए अपने उत्पादों को ऑनलाइन प्लेटफॉर्म तक पहुँचाया, जिससे ग्रामीण कृषि को आधुनिक बाज़ार से जोड़ा जा सका। ओडिशा की प्रमिला प्रधान ने मत्स्य पालन को उद्यम के रूप में विकसित किया और महिलाओं के समूह बनाकर सामूहिक स्टार्टअप मॉडल प्रस्तुत किया।

इन सभी महिलाओं को लखपति दीदी, मुद्रा योजना, स्टैंड-अप इंडिया और कौशल विकास कार्यक्रमों जैसी सरकारी पहलों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ मिला, जिसने उन्हें पूँजी, प्रशिक्षण और बाज़ार तक पहुँच प्रदान की। ये उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि खेती से स्टार्टअप तक की यह यात्रा केवल व्यक्तिगत सफलता की कहानी नहीं है, बल्कि यह ग्रामीण अर्थव्यवस्था, महिला सशक्तिकरण और विकसित भारत की संकल्पना को साकार करने की दिशा में एक सामूहिक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का प्रतीक है।

स्टार्टअप संस्कृति एवं नवाचार:

स्टार्टअप संस्कृति एवं नवाचार के क्षेत्र में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी समकालीन भारत के सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण संकेत है। परंपरागत रूप से सीमित मानी जाने वाली महिलाओं की भूमिका आज नवाचार, जोखिम उठाने की क्षमता और नेतृत्व के रूप में उभर रही है। महिलाएँ कृषि, खाद्य प्रसंस्करण, हस्तशिल्प, स्वास्थ्य, शिक्षा, फिनटेक, एग्रीटेक और डिजिटल सेवाओं जैसे विविध क्षेत्रों में स्टार्टअप स्थापित कर रही हैं, जहाँ वे स्थानीय समस्याओं के व्यावहारिक और सतत समाधान प्रस्तुत कर रही हैं। महिला-नेतृत्व वाले स्टार्टअप प्रायः समावेशी दृष्टिकोण अपनाते हैं, जिनमें सामाजिक उत्तरदायित्व, सामुदायिक विकास और पर्यावरणीय संतुलन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। नवाचार के माध्यम से महिलाएँ पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक तकनीक का समन्वय कर नए उत्पाद और सेवाएँ विकसित कर रही हैं, जिससे ग्रामीण और शहरी दोनों अर्थव्यवस्थाओं को गति मिल रही है। स्टार्टअप संस्कृति ने महिलाओं को आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास और निर्णय-निर्माण की शक्ति प्रदान की है, जिससे वे केवल रोजगार चाहने वाली नहीं, बल्कि रोजगार सृजन करने वाली बन रही हैं। इस प्रकार महिलाओं की सक्रिय सहभागिता स्टार्टअप संस्कृति को अधिक संवेदनशील, टिकाऊ और मानव-केंद्रित बनाती है तथा नवाचार को सामाजिक परिवर्तन का प्रभावी माध्यम स्थापित करती है। यह स्टार्टअप संस्कृति ग्रामीण महिलाओं को 'रोजगार मांगने वाले' से 'रोजगार देने वाले' की श्रेणी में खड़ा कर रही है। नवाचार और उद्यम का यह संगम न केवल ग्रामीण गरीबी को मिटा रहा है, बल्कि 'विकसित भारत' के संकल्प को धरातल पर उतारने का सबसे सशक्त माध्यम भी बन गया है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत आलेख के समग्र विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि ग्रामीण भारत में महिलाएं अब केवल कृषि कार्यों में सहायक की भूमिका तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे एग्रो-प्रेन्योर्स और नवाचार की वाहक बनकर उभर रही हैं। खेती से स्टार्टअप तक का यह सफर न केवल उनके व्यक्तिगत आर्थिक उत्थान की कहानी है बल्कि यह ग्रामीण सामाजिक संरचना में आ रहे उस क्रांतिकारी बदलाव का प्रतीक है जहाँ महिलाएं निर्णय लेने की प्रक्रिया में केंद्र में आ गई हैं। लखपति दीदी, नमो ड्रोन दीदी और मुद्रा योजना जैसी सरकारी पहलों ने उनके कौशल और आत्मविश्वास को वह संस्थागत आधार प्रदान किया है, जिसने उनकी परंपरागत सीमाओं को वैश्विक संभावनाओं में बदल दिया है। राहीबाई पोपेरे और कविता मिश्रा जैसे उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि जब ग्रामीण प्रतिभा को तकनीक और वित्तीय समावेशन का साथ मिलता है, तो वह न केवल स्थानीय रोजगार का सृजन करती है बल्कि देश की जीडीपी में भी निर्णायक योगदान देती है।

अंततः महिलाओं की यह बदलती भूमिका विकसित भारत के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपरिहार्य है। एक विकसित राष्ट्र वही है जहाँ आधी आबादी आर्थिक रूप से स्वतंत्र, तकनीकी रूप से दक्ष और नेतृत्व करने में सक्षम हो। ग्रामीण महिलाओं का यह स्टार्टअप पारिस्थितिकी तंत्र आत्मनिर्भर भारत के संकल्प को धरातल पर उतारने का सबसे सशक्त और समावेशी माध्यम है।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. *शर्मा, आर. के. (2022): भारतीय कृषि में महिला उद्यमिता, पब्लिकेशन डिवीज़न, भारत सरकार।*
2. *गुप्ता, एस. एवं वर्मा, पी. (2021): "ग्रामीण महिलाओं का सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण और स्वयं सहायता समूहों की भूमिका", इंटरनेशनल जर्नल ऑफ रूरल डेवलपमेंट।*
3. *डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन फाउंडेशन: कृषि में महिलाएं और बीज संरक्षण, राहीबाई पोपेरे (सीड मदर) के विशेष संदर्भ में शोध पत्र।*
4. *मिश्र, शारदा. (2020).* भारतीय महिलाएँ और उद्यमिता. *नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन।*
5. *योजना आयोग. (2014).* ग्रामीण महिलाओं का आर्थिक विकास. *नई दिल्ली: भारत सरकार।*
6. *योजना (मासिक पत्रिका): विकसित भारत @ 2047: नारी शक्ति अंक।*
7. *कुरुक्षेत्र (मासिक पत्रिका): महिला सशक्तिकरण और ग्रामीण विकास अंक, ग्रामीण विकास मंत्रालय।*
8. *द हिंदू/दैनिक जागरण (फीचर लेख): 'किसान चाची' राजकुमारी देवी और 'मशरूम लेडी' कविता देवी की सफलता की कहानियाँ।*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

जवाहर नवोदय विद्यालय में अध्ययनरत विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताएँ (विशेष संदर्भ: जवाहर नवोदय विद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश का एक अध्ययन)

नंदलाल मौर्य
वरिष्ठ शोध अध्येता शिक्षा संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सारांश

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य उत्तर प्रदेश के वाराणसी जनपद स्थित जवाहर नवोदय विद्यालय में अध्ययनरत विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं का अध्ययन करना था। अध्ययन में वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया। नमूने में साधारण यादृच्छिक चयन विधि द्वारा चुने गए 180 विद्यार्थी सम्मिलित थे। आँकड़ों के संकलन हेतु डॉ. जे. एस. ग्रेवाल द्वारा निर्मित मार्गदर्शन आवश्यकता सूची का प्रयोग किया गया। अध्ययन में मार्गदर्शन की भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, शैक्षिक एवं व्यावसायिक आवश्यकताओं को सम्मिलित किया गया। लिंग एवं शैक्षणिक संकाय के आधार पर अंतर ज्ञात करने हेतु t-परीक्षण का प्रयोग किया गया। अध्ययन के निष्कर्षों से ज्ञात हुआ कि सभी क्षेत्रों में बालक एवं बालिकाओं तथा कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई सार्थक अंतर नहीं पाया गया। यह अध्ययन जवाहर नवोदय विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए समग्र एवं समावेशी मार्गदर्शन कार्यक्रमों की आवश्यकता को रेखांकित करता है।

मुख्य शब्द: मार्गदर्शन आवश्यकताएँ, किशोर, जवाहर नवोदय विद्यालय, लिंग, शैक्षणिक संकाय, आवासीय विद्यालय, शैक्षिक मार्गदर्शन, व्यावसायिक मार्गदर्शन

भूमिका

वर्तमान युग में शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह व्यक्ति की क्षमताओं को विकसित करने, अवसरों का विस्तार करने तथा जीवन की गुणवत्ता में सुधार करने में

सहायक होती है। शिक्षा केवल आर्थिक विकास का साधन ही नहीं है, बल्कि सामाजिक समावेशन, व्यक्तिगत उन्नति तथा राष्ट्रीय विकास का भी एक प्रभावी माध्यम है। मार्गदर्शन की अवधारणा प्राचीन काल से विद्यमान है। पारंपरिक समाजों में परिवार के वरिष्ठ सदस्य युवाओं को दिशा-निर्देश प्रदान करते थे। किंतु औद्योगीकरण, वैश्वीकरण, तकनीकी प्रगति तथा बढ़ती प्रतिस्पर्धा के कारण समाज में तीव्र परिवर्तन आए हैं, जिससे जीवन अधिक जटिल हो गया है। परिणामस्वरूप अनौपचारिक मार्गदर्शन आज के किशोरों की जटिल समस्याओं के समाधान के लिए अपर्याप्त सिद्ध हो रहा है। मार्गदर्शन विद्यार्थियों को आत्म-बोध, अपनी शक्तियों एवं कमजोरियों की पहचान, यथार्थपरक लक्ष्य निर्धारण तथा उचित शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्णय लेने में सहायता करता है। किशोरावस्था शारीरिक, भावनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों की अवस्था है, जिसमें विद्यार्थियों को निरंतर मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। जवाहर नवोदय विद्यालय आवासीय विद्यालय हैं, जहाँ विद्यार्थी अपने परिवार से दूर रहकर अध्ययन करते हैं। अतः ऐसे विद्यार्थियों को शैक्षणिक दबाव, भावनात्मक चुनौतियों एवं भविष्य की योजना बनाने हेतु व्यवस्थित एवं सतत मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन किया गया।

संबंधित साहित्य की समीक्षा

मार्गदर्शन आवश्यकताओं से संबंधित अनेक अध्ययन किए गए हैं। शाह (1969) ने पारिवारिक पृष्ठभूमि के आधार पर स्नातक विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं में सार्थक अंतर पाया। ग्रेवाल (1971) ने विभिन्न शैक्षणिक संकायों के विद्यार्थियों में मार्गदर्शन आवश्यकताओं में अंतर बताया तथा व्यावसायिक रुचियों में लिंग भिन्नता को रेखांकित किया। गुप्ता (1985) ने पाया कि शहरी विद्यालयों में मार्गदर्शन कार्यक्रम ग्रामीण विद्यालयों की तुलना में अधिक प्रभावी थे। नेहा सिंघा (2011) ने सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थियों में लिंग, संकाय एवं क्षेत्र के आधार पर मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई सार्थक अंतर नहीं पाया। थापर एवं कुमार (2015) ने निष्कर्ष निकाला कि केवल मार्गदर्शन आवश्यकताएँ ही शैक्षणिक उपलब्धि को प्रभावित नहीं करतीं, बल्कि अन्य कारक भी उत्तरदायी होते हैं। साहित्य समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि आवासीय विद्यालयों, विशेषकर जवाहर नवोदय विद्यालयों के संदर्भ में मार्गदर्शन आवश्यकताओं पर सीमित शोध कार्य उपलब्ध है, जिससे प्रस्तुत अध्ययन की प्रासंगिकता सिद्ध होती है।

अध्ययन का महत्व

मार्गदर्शन शिक्षा प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है। यह विद्यार्थियों को शैक्षणिक, सामाजिक, भावनात्मक एवं व्यावसायिक समस्याओं से उबरने में सहायता करता है तथा उनके सर्वांगीण विकास को सुनिश्चित करता है। किशोर राष्ट्र के भविष्य होते हैं, अतः उनका उचित मार्गदर्शन राष्ट्रीय विकास के लिए अनिवार्य

है। चूँकि जवाहर नवोदय विद्यालय आवासीय प्रणाली पर आधारित हैं, अतः वहाँ अध्ययनरत विद्यार्थियों को निरंतर मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन महत्वपूर्ण है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. जवाहर नवोदय विद्यालय, वाराणसी में अध्ययनरत विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं का अध्ययन करना।
2. भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, शैक्षिक एवं व्यावसायिक क्षेत्रों में बालक एवं बालिकाओं की मार्गदर्शन आवश्यकताओं की तुलना करना।
3. कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं की तुलना करना।

परिकल्पनाएँ

1. मार्गदर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में बालक एवं बालिकाओं की मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई सार्थक अंतर नहीं होगा।
2. मार्गदर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई सार्थक अंतर नहीं होगा।

अध्ययन की सीमाएँ

1. अध्ययन केवल वाराणसी जनपद के जवाहर नवोदय विद्यालय तक सीमित था।
2. नमूना कक्षा XI एवं XII के विद्यार्थियों तक सीमित था।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया। साधारण यादृच्छिक विधि द्वारा 180 विद्यार्थियों का चयन किया गया। आँकड़ों के संकलन हेतु डॉ. जे. एस. ग्रेवाल द्वारा निर्मित मार्गदर्शन आवश्यकता सूची का प्रयोग किया गया। परिकल्पनाओं की जाँच हेतु t-परीक्षण का प्रयोग किया गया।

नमूना विवरण

तालिका 1: लिंग के अनुसार नमूने का वितरण

लिंग	संख्या
बालक	92
बालिकाएँ	88
कुल	180

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

तालिका 2: शैक्षणिक संकाय के अनुसार नमूने का वितरण

संकाय	संख्या
कला	86
विज्ञान	94
कुल	180

आँकड़ों का विश्लेषण, परिणाम एवं व्याख्या

परिकल्पना – 1

मार्गदर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में बालक एवं बालिकाओं की मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई सार्थक अंतर नहीं होगा।

तालिका 3 : बालक एवं बालिकाओं की मार्गदर्शन आवश्यकताओं के माध्य, मानक विचलन एवं t-मूल्य

क्षेत्र	लिंग	N	माध्य	मानक विचलन	t-मूल्य	परिणाम
भौतिक	बालक	92	11.20	6.10	0.48	असार्थक
	बालिका	88	11.65	6.85		
सामाजिक	बालक	92	20.30	10.40	0.92	असार्थक
	बालिका	88	20.95	10.75		
मनोवैज्ञानिक	बालक	92	19.10	9.05	0.88	असार्थक
	बालिका	88	19.85	9.60		
शैक्षिक	बालक	92	20.40	12.90	0.61	असार्थक
	बालिका	88	19.80	13.20		
व्यावसायिक	बालक	92	8.60	5.70	1.20	असार्थक
	बालिका	88	7.90	5.40		
कुल	बालक	92	79.60	35.10	0.21	असार्थक
	बालिका	88	78.95	36.80		

व्याख्या:

तालिका 3 में बालक एवं बालिकाओं की विभिन्न मार्गदर्शन क्षेत्रों में माध्य, मानक विचलन, t-मूल्य तथा परिणाम प्रस्तुत किए गए हैं। भौतिक मार्गदर्शन आवश्यकता: बालकों का माध्य (M = 11.20)

तथा बालिकाओं का माध्य (M = 11.65) लगभग समान है। प्राप्त t-मूल्य (0.48) 0.05 स्तर पर सार्थक नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि भौतिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में बालक एवं बालिकाओं के मध्य कोई सार्थक अंतर नहीं है। सामाजिक मार्गदर्शन आवश्यकता: बालकों का माध्य (20.30) तथा बालिकाओं का माध्य (20.95) लगभग समान पाया गया। प्राप्त t-मूल्य (0.92) असार्थक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक समायोजन एवं अंतःव्यक्तिक संबंधों से संबंधित मार्गदर्शन आवश्यकताएँ दोनों के लिए समान हैं। मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन आवश्यकता: बालकों (M = 19.10) एवं बालिकाओं (M = 19.85) के माध्य लगभग समान हैं। प्राप्त t-मूल्य (0.88) असार्थक है, जिससे यह सिद्ध होता है कि दोनों में मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई सार्थक अंतर नहीं है। शैक्षिक मार्गदर्शन आवश्यकता: बालकों का माध्य 20.40 तथा बालिकाओं का माध्य 19.80 पाया गया। यद्यपि संख्यात्मक अंतर है, परंतु t-मूल्य (0.61) सार्थक नहीं है। अतः शैक्षिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में लिंग के आधार पर कोई अंतर नहीं पाया गया। व्यावसायिक मार्गदर्शन आवश्यकता: बालकों का माध्य (8.60) एवं बालिकाओं का माध्य (7.90) पाया गया। t-मूल्य (1.20) असार्थक है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों समूहों में व्यावसायिक मार्गदर्शन आवश्यकताएँ समान हैं। कुल मार्गदर्शन आवश्यकता: कुल मार्गदर्शन आवश्यकताओं में बालकों का माध्य 79.60 तथा बालिकाओं का माध्य 78.95 है। प्राप्त t-मूल्य (0.21) असार्थक है, जो यह दर्शाता है कि कुल मार्गदर्शन आवश्यकताओं में भी कोई सार्थक अंतर नहीं है।

तालिका 3 का समग्र निष्कर्ष: तालिका 3 से स्पष्ट होता है कि जवाहर नवोदय विद्यालय, वाराणसी में अध्ययनरत बालक एवं बालिकाएँ किसी भी मार्गदर्शन क्षेत्र में परस्पर भिन्न नहीं हैं। अतः लिंग के आधार पर निर्धारित शून्य परिकल्पना स्वीकार की जाती है।

परिकल्पना – 2

मार्गदर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई सार्थक अंतर नहीं होगा।

तालिका 4 : कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं के माध्य, मानक विचलन एवं t-मूल्य

क्षेत्र	संकाय	N	माध्य	मानक विचलन	t-मूल्य	परिणाम
भौतिक	कला	86	10.90	6.20	0.81	असार्थक
	विज्ञान	94	11.75	6.85		
सामाजिक	कला	86	20.10	10.60	0.04	असार्थक
	विज्ञान	94	20.15	10.70		

मनोवैज्ञानिक	कला	86	19.30	9.20	0.63	असार्थक
	विज्ञान	94	20.10	9.45		
शैक्षिक	कला	86	19.10	11.70	1.05	असार्थक
	विज्ञान	94	21.00	14.10		
व्यावसायिक	कला	86	7.50	4.60	1.10	असार्थक
	विज्ञान	94	8.45	6.30		
कुल	कला	86	76.90	34.40	1.08	असार्थक
	विज्ञान	94	82.10	37.10		

व्याख्या

तालिका 4 में कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं की तुलना प्रस्तुत की गई है।

भौतिक मार्गदर्शन आवश्यकता: कला संकाय का माध्य 10.90 तथा विज्ञान संकाय का माध्य 11.75 पाया गया। t-मूल्य (0.81) असार्थक है, जिससे स्पष्ट है कि दोनों संकायों की भौतिक मार्गदर्शन आवश्यकताएँ समान हैं।

सामाजिक मार्गदर्शन आवश्यकता: कला संकाय (20.10) एवं विज्ञान संकाय (20.15) के माध्य लगभग समान हैं। प्राप्त t-मूल्य (0.04) अत्यंत कम एवं असार्थक है, जो यह दर्शाता है कि सामाजिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई अंतर नहीं है। मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन आवश्यकता: कला (M = 19.30) एवं विज्ञान (M = 20.10) संकायों के माध्य में नगण्य अंतर पाया गया। t-मूल्य (0.63) असार्थक है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों समूहों की मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन आवश्यकताएँ समान हैं। शैक्षिक मार्गदर्शन आवश्यकता:विज्ञान संकाय का माध्य (21.00) कला संकाय (19.10) से थोड़ा अधिक है, परंतु प्राप्त t-मूल्य (1.05) सार्थक नहीं है। अतः शैक्षिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई सार्थक अंतर नहीं पाया गया। व्यावसायिक मार्गदर्शन आवश्यकता: कला संकाय का माध्य 7.50 तथा विज्ञान संकाय का माध्य 8.45 पाया गया। t-मूल्य (1.10) असार्थक है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों संकायों के विद्यार्थियों की व्यावसायिक मार्गदर्शन आवश्यकताएँ समान हैं। कुल मार्गदर्शन आवश्यकता: कला संकाय का कुल माध्य 76.90 तथा विज्ञान संकाय का कुल माध्य 82.10 पाया गया। यद्यपि विज्ञान संकाय का माध्य थोड़ा अधिक है, फिर भी t-मूल्य (1.08) असार्थक है। तालिका 4 का समग्र निष्कर्ष: तालिका 4 से यह स्पष्ट होता है कि कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताओं में किसी भी क्षेत्र में कोई सार्थक अंतर नहीं है। अतः संकाय के आधार पर निर्धारित शून्य परिकल्पना स्वीकार की जाती है।

अध्ययन के प्रमुख निष्कर्ष

- अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि जवाहर नवोदय विद्यालय, वाराणसी में अध्ययनरत बालक एवं बालिकाएँ अपनी भौतिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में सार्थक रूप से भिन्न नहीं हैं।
- सामाजिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में भी बालक एवं बालिकाओं के मध्य कोई सार्थक अंतर नहीं पाया गया, जिससे यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक समायोजन एवं अंतःव्यक्तिक संबंधों से संबंधित आवश्यकताएँ दोनों के लिए समान हैं।
- विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ कि मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन आवश्यकताएँ बालक एवं बालिकाओं में लगभग समान हैं, जो किशोरावस्था में समान भावनात्मक एवं मानसिक समायोजन आवश्यकताओं को दर्शाता है।
- शैक्षिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में भी बालक एवं बालिकाओं के मध्य कोई सार्थक अंतर नहीं पाया गया, जिससे यह संकेत मिलता है कि दोनों समूह समान शैक्षिक चुनौतियों का सामना करते हैं।
- अध्ययन के निष्कर्षों से यह स्पष्ट हुआ कि व्यावसायिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में लिंग के आधार पर कोई सार्थक अंतर नहीं है, जिससे यह सिद्ध होता है कि बालक एवं बालिकाएँ समान रूप से कैरियर संबंधी जानकारी एवं योजना की आवश्यकता रखते हैं।
- कुल मार्गदर्शन आवश्यकताओं में भी बालक एवं बालिकाओं के बीच कोई सांख्यिकीय रूप से सार्थक अंतर नहीं पाया गया, जिससे लिंग के आधार पर समान मार्गदर्शन आवश्यकताओं की पुष्टि होती है।
- अध्ययन से यह भी ज्ञात हुआ कि कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों की भौतिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कोई सार्थक अंतर नहीं है।
- सामाजिक मार्गदर्शन आवश्यकताएँ कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों में समान पाई गईं, जिससे दोनों संकायों में सामाजिक समायोजन की आवश्यकताओं की समानता स्पष्ट होती है।
- निष्कर्षों से यह ज्ञात हुआ कि मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में भी कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों के मध्य कोई सार्थक अंतर नहीं है।
- माध्य अंकों में हल्के अंतर के बावजूद, शैक्षिक मार्गदर्शन आवश्यकताएँ कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों में सांख्यिकीय रूप से समान पाई गईं।

- अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ कि व्यावसायिक मार्गदर्शन आवश्यकताओं में कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों के मध्य कोई सार्थक अंतर नहीं है, जिससे दोनों के कैरियर संबंधी चिंताओं की समानता सिद्ध होती है।
- कुल मार्गदर्शन आवश्यकताओं के संदर्भ में भी कला एवं विज्ञान संकाय के विद्यार्थियों के बीच कोई सार्थक अंतर नहीं पाया गया, जिससे विभिन्न संकायों में मार्गदर्शन आवश्यकताओं की समानता की पुष्टि होती है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जवाहर नवोदय विद्यालय, वाराणसी में अध्ययनरत विद्यार्थियों की भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, शैक्षिक एवं व्यावसायिक मार्गदर्शन आवश्यकताएँ लिंग एवं शैक्षणिक संकाय के आधार पर समान हैं। अध्ययन के निष्कर्ष यह स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि किशोरावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें सभी विद्यार्थियों को समान प्रकार की विकासात्मक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, जिसके लिए व्यवस्थित एवं सतत मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। चूँकि जवाहर नवोदय विद्यालय आवासीय संस्थान हैं, अतः यहाँ अध्ययनरत विद्यार्थी अपने परिवार से दूर रहकर शैक्षिक, भावनात्मक एवं सामाजिक चुनौतियों का सामना करते हैं। इसलिए विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए समग्र, सुव्यवस्थित एवं समावेशी मार्गदर्शन एवं परामर्श कार्यक्रमों की व्यवस्था अत्यंत आवश्यक है। अध्ययन यह भी स्पष्ट करता है कि मार्गदर्शन सेवाएँ लिंग या संकाय के आधार पर पृथक न होकर सभी विद्यार्थियों के लिए समान रूप से उपलब्ध होनी चाहिए। मार्गदर्शन कार्यक्रमों का प्रभावी क्रियान्वयन विद्यार्थियों को उपयुक्त शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्णय लेने, भावनात्मक संतुलन विकसित करने, सामाजिक समायोजन सुधारने तथा भविष्य की चुनौतियों के लिए तैयार करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

शैक्षिक निहितार्थ

- चूँकि विद्यार्थियों की मार्गदर्शन आवश्यकताएँ लिंग एवं संकाय से स्वतंत्र रूप से समान पाई गई हैं, अतः सभी विद्यार्थियों के लिए सामान्य मार्गदर्शन कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए।
- विद्यार्थियों की शैक्षिक, सामाजिक एवं भावनात्मक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए समूह मार्गदर्शन एवं परामर्श सत्रों का प्रभावी उपयोग किया जा सकता है।
- विद्यालयों में विद्यार्थियों को तनाव, चिंता एवं भावनात्मक समायोजन में सहायता प्रदान करने हेतु नियमित मनोवैज्ञानिक सहयोग उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

- अध्ययन आदतों, परीक्षा तैयारी एवं शैक्षिक योजना से संबंधित शैक्षिक मार्गदर्शन सेवाओं को और अधिक सुदृढ़ किया जाना चाहिए।
- विद्यार्थियों को भविष्य के लिए तैयार करने हेतु व्यावसायिक मार्गदर्शन एवं कैरियर जागरूकता कार्यक्रमों की शुरुआत प्रारंभिक स्तर से ही की जानी चाहिए।
- आवासीय विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों को घर से दूर समायोजन में सहायता देने के लिए विशेष मार्गदर्शन समर्थन की आवश्यकता होती है।
- शिक्षकों को विद्यार्थियों की समस्याओं की पहचान एवं समाधान में सक्षम बनाने हेतु उन्हें मार्गदर्शन सहयोगी (Guidance Facilitator) के रूप में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. *Aggarwal, J. C. (1993). Educational and vocational guidance and counselling. New Delhi, India: Doaba House.*
2. *Chauhan, S. S. (1982). Educational guidance and counselling. New Delhi, India: Vikas Publishing House.*
3. *Crow, L. D., & Crow, A. (1962). An introduction to guidance: Basic principles and practices. New York, NY: American Book Company.*
4. *Grewal, J. S. (1971). Manual of guidance needs inventory. Agra, India: National Psychological Corporation.*
5. *Gupta, R. (1985). A study of effectiveness of guidance programmes in urban and rural schools. Indian Journal of Educational Research, 20(3), 45–52.*
6. *Shah, B. M. (1969). A study of guidance needs of graduate students in relation to family background. Journal of Educational Psychology, 6(2), 112–118.*
7. *Singha, N. (2011). Guidance needs of secondary school students in relation to gender, stream and locality. Indian Journal of Educational Studies, 48(1), 67–75.*
8. *Thapar, R., & Kumar, S. (2015). Study habits, guidance needs and academic achievement of secondary school students. International Journal of Educational Research, 4(2), 89–95.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

उत्तराखंड की थारू जनजाति: एक समाजशास्त्रीय परिचय

राजू
पीएच.डी.शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश

दुनिया की अधिकांश जनजातियां वनों पर निर्भर और आखेटक संग्रहक रही हैं। कृषि पर निर्भर न होने के कारण उनके जीवन को स्थायित्व नहीं मिला। लेकिन थारू जनजाति कृषि पर आधारित होने के कारण इनके जीवन को स्थायित्व मिला है। इसीलिए थारुओं की आबादी फलती-फूलती रही है। वे आज उत्तराखण्ड के तराई से लेकर उत्तर–प्रदेश के पीलीभीत तक फैले हुए हैं। उनकी विडम्बना यह है कि तराई की जो उपजाऊ जमीन उन्हें धरती पुत्र बनाती थी, वह जमीन खिसक कर बाहर से आकर बसे लोगों के पास जा रही है। मानव विज्ञानी उन्हें मंगोलयन तथा कोई उन्हें किरात वंशीय मानता है। जबकि थारू स्वयं को राजस्थान और राणा प्रताप के वंशज मानते हैं। थारू उत्तराखण्ड में निवास करने वाली पांच जनजातियों में से एक है। कृषि आधारित थारुओं की वंशानुगत उत्तराखण्ड के तराई से लेकर बिहार तक तथा उत्तर में नेपाल तक फैली हुई है। उत्तराखण्ड में इनकी आबादी मुख्यत: नैनीताल जिले की सितारगंज तहसील तथा ऊधमसिंहनगर की खटीमा तहसील में ही केन्द्रित है। सन् 1951 में सर्वप्रथम 214 जनजातियों को अनुसूचित जनजातियों का दर्जा दिया गया तो थारू उस सूची में नहीं आ सके। इसके बाद 1967 में (द कन्स्टीट्यूशन आर्डर 1967 : 78 के तहत) उत्तर–प्रदेश के भोटिया, बोक्सा, जौनसारी और राजी के साथ ही थारू को भी अनुसूचित जनजाति में शामिल किया । थारू संस्कृति प्रकृति के अनुरूप ढली हुई है। उनके आवास, भोजन, कपड़ा, कला, धर्म, अर्थव्यवस्था और जीवन के कई अन्य भाग प्रकृति पर आधारित है और पारिस्थितिकी संतुलन के अनुकूल हैं। उपलब्ध आकडे के अनुसार 20वीं सदी के अंत तक नेपाल के थारू जाति के लोगों की संख्या लगभग 7 लाख, 20 हजार और भारत में लगभग 10 हजार थी। प्रारम्भ में थारू तराई में ही रहते थे तथा वहीं से इसका प्रचार हुआ। इसलिए इस क्षेत्र को **"थारूआट"** भी कहते थे। कुछ सिद्धांतों ने इन्हें **"थड़ुवा"** तथा इनके निवास स्थान को **"थड़ुवाट"** भी कहा है। इन दोनों तहसीलों में थारूओं की जनसंख्या 1981 की जनगणना के

अनुसार 53,406 थी जो 1991 में बढ़कर 66,842 हो गई। उत्तर प्रदेश के विभाजन से पूर्व उत्तराखण्ड-सहित प्रदेश में थारूओं की जनसंख्या1981 की जनगणना के अनुसार 88,854 तथा 1991 की जनगणना के अनुसार 1,11,207 थी। स्पष्ट है कि विभाजन के बाद थारूओं की आबादी का बड़ा भाग उत्तराखण्ड मे आ गया। नैनीताल जिले में ही गदरपुर तथा पौड़ी जिले के लालढांग क्षेत्र में भी थारूओं की बस्तियां हैं। खटीमा तथा सितारगंज विकास खण्डों में कुल गांवों की संख्या क्रमशः 120 तथा 117 है जिनमें थारूओं के गांव 74 और 64 हैं। खटीमा में इनकी आबादी 1991 की जनगणना के अनुसार 40,645 तथा सितारगंज में 26,188 थी। उस समय दोनों विकास खण्डों में थारूओं के 13,368 परिवार रहते थे।

मुख्य शब्द: *थारू, जनजातीयां, मंगोलियन, किरात वंशीय, उत्तराखण्ड, ऊधम सिंह नगर , सितारगंज , खटीमा, थारूआट, नैनीताल, हिमालियन , मृत्युभूमि, एतिहासिक , आदिवासी*

प्रस्तावना

थारू शब्द की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में मतैक्यता नहीं है। जनगणना रिपोर्ट (1867 : 68) में थारू शब्द की उत्पत्ति "तरुवा" शब्द से मानी गयी है, जिसका अर्थ भीगना होता है। तराई क्षेत्र में होने वाली अतिवृष्टि तथा दलदली जमीन से इस शब्द का ताल्लुक माना जा सकता है। नेसफील्ड (1885 :115) ने थारू शब्द की उत्पत्ति थार शब्द में मानी है। उस समय थार शब्द का अर्थ स्थानीय बोली में "जंगलवासी" से लगाया जाता था। क्रुक ने थारू शब्द की उत्पत्ति दारू से मानी है, क्योंकि यह जनजातीय समूह शराब का बहुत आदी होता था। नावेल्स ने गोस्पेल इन गौण्डा में इन्हें थरुवा कहा है, जिसका मतलब पैदल चलने वाला होता है। यही नहीं नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज (1881 : 354) में इसके लिये थथराना शब्द का प्रयोग किया गया है। इस बारे में कहा जाता है कि जब राजपूत और मुगलों में युद्ध हुए तो राजपूत राजा मारे गये और उनकी रानियां अपने स्वाभिमान और सतीत्व की रक्षा के लिये अपने सुरक्षाकर्मियों के साथ भाग कर तराई के जंगलों में आ गयीं। इन्हीं रानियों और सामन्तों की पत्नियों ने इन सुरक्षाकर्मियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लिये। एक मत यह भी है कि तराई का राजा जब बाहरी आक्रमणकारियों से पराजित हो कर मारा गया तो उनकी रानियां आत्मरक्षा के लिये अपने साईसों के साथ जंगलों में पलायन कर गयीं। बाद में उन्होंने उन्हीं कर्मचारियों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लिये। अवध गजेटियर के अनुसार थारू का शाब्दिक अर्थ ठहरे हैं, अर्थात् जो लोग तराई के वनों में आकर ठहर गये। नोल्स के अनुसार- थारू लोगों में अपहरण विवाह की प्रथा है। पहाड़ी भाषा में थरुवा का अर्थ पैडलर है, अतः इन्हें थारू कहा जाने लगा। कुल मिला कर थारूओं के मूल के बारे में मानवशास्त्रियों में मतैक्यता तो नहीं है, फिर भी उनकी राजपूत या क्षत्रिय उत्पत्ति की धारणा में अधिक बल नजर आता है। अधिकांश मानव विज्ञानियों ने थारूओं को मंगोलियन नस्ल का तथा ऐतिहासिक

किरातों का वंशज माना है। मानव विज्ञान सर्वेक्षण विभाग के मानव विज्ञानियों ने मजूमदार (1961) तथा सी० एफ० सिंह (1960 : 17.20) आदि विद्वानों के शोध कार्यों का हवाला देते हुए माना है कि लद्दाख के भोटा, चम्बा के लाहुली, स्पीति के सित्तियाल, कुल्लू के मनाली, किन्नौर के किन्नर, नेलंग के जाड़, नीति माणा के मारछा-तोलछा, मिलम के जोहारी, अस्कोट (पिथौरागढ़) के राजी, पश्चिमी नेपाल के मगर तथा गुरुंग, केन्द्रीय नेपाल के तमांग, लिम्बू-याखा एंव नेपाल घाटी के नेवाड़, पूर्वी नेपाल के राजी, सिक्किम के लेप्चा, असम के नागा एंव अन्य मोन्पा जनजातियां एंव वर्मा, कम्बोडिया आदि के निवासी माने खामेर या किरात परिवार के सदस्य हैं। रिजले ने थारू जनजाति को एक मिश्रित प्रजातीय समूह बताया है और शारीरिक विशेषताओं के आधार पर मंगोल प्रजाति के निकट माना है।

शारीरिक गठन:

थारूओं को नावेल्स ने द्रविड़ प्रजाति के अंतर्गत माना है और कहा है कि दक्षिण की ओर से तराई में आकर ये लोग बस गये। ओल्डहम की मान्यता है कि यह भारतीय जाति से ही सम्बन्धित रहे हैं। नेस्फील्ड के मतानुसार थारू अन्य भारतीय लोगों से मिलते-जुलते हैं, भले ही उनमें अंतर्विवाह के फलस्वरूप मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं। मजूमदार का मत है कि इनकी शारीरिक रचना मंगोलॉयड प्रजाति से मिलती-जुलती है, जैसे- तिरछे नेत्र, गाल की हड्डियाँ उभरी हुई, रंग भूरा-पीला, शरीर और चेहरे पर बहुत कम और सीधे-बाल, मध्यम और सीधे आकार की नाक आदि। जबकि अन्य शारीरिक लक्षणों में ये नेपालियों से मिलते-जुलते हैं, क्योंकि कई शताब्दियों से इनके वैवाहिक सम्बन्ध नेपाल के दक्षिणी क्षेत्र मे बसे वहां के थारूओं से रहे हैं। थारू स्त्रियों का रंग अधिक साफ होता है। इनका चेहरा कुछ लम्बाकार अथवा गोल, स्तन गोल, उठे हुए एंव नुकीले, पिंडलियां अधिक विकसित और होंठ पतले होते हैं, किन्तु सिर कुछ लम्बा होता है और आँखें काले रंग की होती हैं। वास्तविकता यह है कि थारूओं में मंगोलॉयड और भारतीय जातियों दोनों के ही मिश्रित शारीरिक लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। सांस्कृतिक सम्पर्कों के फलस्वरूप थारू जाति के शारीरिक लक्षणों में पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं। यद्यपि थारूओं का औसत कद आज भी छोटा ही होता है। जबकि कुछ विद्वान इन्हें भारत-नेपाल के आदिम निवासी सिद्ध करते हैं, क्योंकि इनकी बोली हिन्दी और नेपाली से प्रभावित है। लेकिन इनकी भाषा पर कुछ विद्वान राजस्थानी भाषा का भी व्यापक प्रभाव देखते हैं। थारूओं का मानना है कि उसी समय मुगलों से त्रस्त राजपूताना राज्यों के 12 राज परिवार हिमालय के तराई क्षेत्र में आकर बस गए और वही आयुद्धजीवी राजपूत आज के थारूओं के आदि पुरूष बने। थारू जनजाति की महिलाओं का पहनावा, रहन-सहन और उनकी वेश-भूषा राजपूत रानियों के समान होती है। थारू स्त्रियों रानियों के समान ही गहने पहनती है। थारू पुरूषों की भी वेश-भूषा राजपूत सामन्तों के समान ही होती है।

आजीविका:

आर्थिक दृष्टि से थारू एक आत्मनिर्भर जनजाति है, जो अपनी आवश्यकताओं से सम्बन्धित सभी वस्तुओं का स्वंय ही उत्पादन करते हैं। थारूओं की मुख्य आजीविका खेती ही है तथा जमीन से जुड़ने के कारण यह स्थिर जनजातियों में से एक है। यह लगभग सभी तरह के प्रचलित खाद्यान्नों की फसलें उगाते हैं। सिंचाई सुविधाओं की अपर्याप्तता के बावजूद इनकी फसलें अच्छी होती है। खेती के साथ ही वह अपने भोजन के लिए मत्स्य तथा वन्य जीवों का आखेट भी करते हैं। ये लोग स्वंय ही बढ़ई भी हैं तो सुनार भी। वे स्वंय ही लुहार भी हैं तो कुम्हार भी। वे अपने रहने के लिये मकान स्वंय बनाते हैं। कृषि उपकरण भी वे स्वयं ही बनाते हैं। उन्हें मवेशियों, मुर्ग्री पालन में विशेषज्ञता हासिल है। इसके अलावा कारपेण्ट्री, भवन चिनाई, बुनकर चटाई बनाना, बेंत की चारपाई बनाना तथा टोकरी बुनने के हस्तशिल्प ने उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर तो बनाया है, परन्तु इस हस्तशिल्प को अभी तक व्यावसायिक रूप नहीं दिया जा सका। सामाजिक परम्पराओं के चलते वे इन वस्तुओं को केवल अपनी जरूरत की पूर्ति के लिये बनाते हैं। अपनी कला को बेचना वे आज भी सामाजिक मान्यताओं का उल्लंघन मानते हैं। थारू महिलाएं टोकरी, चटाई, दरी और हाथ के पंखे बनाने में सिद्धहस्त होती है।

सामाजिक पद्धति:

थारूओं में पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय और पितृस्थानीय परंपरा पाई जाती है। लेकिन समान में महिलाओं का महत्व और भूमिका पुरूषों से कम नहीं होती। इस समुदाय की महिलाएं अधिक सम्मानित एंव विशेषाधिकार प्राप्त होती है। वे सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में निर्णायक भूमिका का निर्वाह करती हैं। ये महिलाएं स्वंय को चित्तौड़ की रानी पद्मावती की वंशत मानती हैं। पद्मावती के अतीत सौन्दर्य के कारण ही अल्लाउद्दीन खिलजी की नीयत डोली थी तथा उससे युद्ध में राजा रतनसिंह राणा एंव सेनापति के मारे जाने के बाद पद्मावती सहित कई क्षत्रणियों ने जौहर किया था। चूंकि वे स्वंय को हिन्दू ही मानते हैं, इसलिए उनके बाकी रीतिदृरिवाज मुख्यधारा के हिन्दुओं से मिलतेदृजुलते हैं। परिवार में बड़े बूढ़ों के प्रति श्रद्धाभाव, आज्ञाकारिता और उनकी भावनाओं के अनुरूप कार्य करने की परम्परागत बाध्यता के कारण ये कमाऊ व्यक्ति अपनी क्षमतानुसार उत्पादक और उपर्जन सम्बन्धी कार्य करते हैं। ये एकाकी परिवार बसाना सामाजिक परम्पराओं और नैतिकता के खिलाफ मानते हैं। हालांकि बाहरी हवा लगने के कारण थारूओं की अपनी समृद्ध संस्कृति को भी खतरा उत्पन्न हो गया है और वे पुराने रीतिदृरिवाजों को कमतर मानकर उन्हें तेजी से छोड़ रहे हैं। तथाकथित आधुनिकता धुन की तरह उनकी सांस्कृतिक पहचान को मिटाने का काम कर रही है। सबसे बड़ा खतरा आधुनिकता की हवा से संयुक्त परिवारों की सदस्य संख्या कमी 100 को पार कर जाती थी। नेपाल में थारूओं के संयुक्त परिवारों में 500 तक सदस्य गिने गए हैं। इतने वह खून के रिश्तों की एकता का प्रतीक था। इतने बड़े परिवारों के हितों तथा उनकी जमीन पर अतिक्रमण की संभावना कम थी। यह एकता परिवार और गांव से लेकर राज्यों की

सीमाओं से बाहर तक कायम रहती है। टर्नर (1931) के मत से थारू समाज दो अर्द्धांशों मे बंटा था, जिसमें से प्रत्येक के छह गोत्र होते थे। दोनों अर्द्धांशों में पहले तो ऊँचे अर्धांशों में नीचे अर्धांश की कन्या का विवाह संभव था परन्तु धीरेदृधीरे दोनों अर्द्धांश अंतर्विवाही हो गए। ''काज'' और ''डोला'' अर्थात् वधूमूल्य और कन्या अपहरण पद्धति से विवाह के स्थान पर अब थारूओं में भी सांस्कृतिक विवाह होने लगे हैं। विधवा द्वारा देवर से या अन्य अविवाहित पुरूष से विवाह इनके समाज में मान्य है। अपने गोत्र में भी यह विवाह कर लेते हैं। थारू एक अन्तर्विवाही समुदाय है जो कि सामान्यतरू एक विवाही नियमों का पालन करता है। हालांकि अब शेष समाज की तरह थारूओं में भी विवाह के तरीके प्रचलित होने लगे हैं, लेकिन कभी वहां विवाह की प्रथा अलग थी। अब भी दूरदराज के थारू गांवों में अपने ही ढंग से विवाह होते हैं। इनमें वर पक्ष की ओर से किसी मध्यस्त (मस्पतियां) द्वारा विवाह की बातचीत चलती है। पहले इनमें दोनों पक्षों में लड़कियों के अदलादृबदली की प्रथा थी, क्योंकि वर पक्ष को दुल्हन के पिता के ''टेक'' के रूप में दुल्हन मूल्य अदा करना पड़ता था। अब इनमें ''तीन टिकटी'' प्रथा जोर पकड़ रही है। इस व्यवस्था के तहत तीसरे परिवार से दुल्हन उपलēध कराई जाती है। थारूओं में बिरादरी से बाहर विवाह संबंध जोड़ना सामाजिक अपराध माना जाता है। परन्तु नजदीकी खून के रिश्तों जैसे चचेरे, ममेरे और फुफेरे भाई बहनों में विवाह संबंध वर्जित है। करीबी नातेदारों में यौन संबंध जोड़ना अपराध अपराध माना जाता है। एक थारू पुरूष के सगे छोटे भाई की पत्नी (अनुज वधू) तथा पति के बड़े भाई (जेठ) के बीच मजाक वर्जित है तथा दूरी रखी जाती है।

मृत्यु सस्कार

थारूओं का विश्वास है कि मृम्यु के उपरांत आत्मा जहाँ से आयी थी, वहीं चली जाती है। इन लोगों के अनुसार मृत्यु दो प्रकार की मानी गयी हैं। इनमे पहली प्राकृतिक, जो प्रत्येक व्यक्ति को भुगतनी पड़ती है और अप्राकृतिक, जो दुष्ट आत्माओ, देवी देवताओं के शाप का प्रकोप और बीमारियों के-कारण होती है। मृत्यु होने पर परिवार के सदस्य शव को स्नान कराकर उस पर हल्दी का लेप कर उसे नये कपड़े पहना देते हैं। फिर श्मशान मे ले जाकर लाश को आधा जला देते हैं, जबकि पहले इसे गाढ़ देते थे। अंत में घर की शुद्धि कर समाज को भोज दिया जाता है। जब वे मुर्दे को दफना कर लौटते थे तो चैराहे पर एक छोटी सी पुलिया मृतक की आत्मा को संकटों से पार लगाने के लिए बनाते थे (नदीम हसनेन - ''जनजातीय भारत'')। थारूओं मे अधिकांश खुशी के मौकों पर सामूहिक भोज और शराब का प्रचलन है।

भोजन

तराई क्षेत्र के थारूओ का मुख्य भोजन चावल है, क्योंकि यही यहाँ अधिक पैदा किया जाता है। ये लोग चावल को भूनकर या उबालकर खाते हैं। मक्का की रोटी, मूली, गाजर आदि की सब्जी भी खायी जाती है। यहां मछली, दूध, दही तथा दाल भी खायी जाती है। शुष्क ऋतु मे ज्वार, चना, मटर आदि भी खाये जाते हैं। ये लोग आलू तथा चावल के बने जैंड को बड़ी रूचि से खाते हैं। हिरन और एण्टीलोप तथा चूहे और कछुए का मांस भी इनके द्वारा खाया जाता रहा है। बन्दर, मगर, सियार, साँप और छिपकली का माँस खाना इनके लिए वर्जित है। ये दिन मे तीन बार भोजन करते हैं, जिसे प्रातःकाल में कलेवा, दोपहर में मिंगी और सायंकाल बेरी कहते हैं। चावल की शराब इनका विशेष पेय है और ये खूब शराब पीते भी हैं।

थारूओं का त्यौहार

थारू अन्य हिन्दुओं की तरह होली, दीपावली, दशहरा, गंगा स्नान आदि त्यौहारों को बड़े धूमधाम से मनाते हैं। थारूओं में होली एक सांस्कृतिक महोत्सव है, जिसे वे पूरे एक माह आठ दिन तक मनाते हैं। होलिका दहन से पहले जिन्दी होली होती है और फिर बाद में मरी होली। शिवरात्रि से शुरू होने वाली होली, होलिका दहन तक जिंदी होली के रूप में मनाई जाती है। दहन के ठीक आठ दिन बाद तक मरी होली के रूप मे मनाई जाती है। जिंदी होली में दिन मे गाँव के पधान के घर होली गायी जाती है। फिर रात को एकएक- कर, अपने कुर्मा टब्बर यानी-बिरादरी और अन्य समुदाय तथा उप समुदायों के यहाँ होली गायन होता है। समाज के लोग पधान के घर से उŸार दिशा से दक्षिण की ओर प्रत्येक घर मे जाकर होली खेलते हैं। जिंदी होली में खूब रंग, गुलाल उड़ाया जाता है। गीलेसूखे रंग खूब- चलते हैं। लेकिन मरी होली में रंग खेलना अच्छा नहीं माना जाता। महिला पुरूषों में बराबरी से मनाए जाने वाले- इस त्यौहार की शुरूआत गणपति अराधना, शिव पार्वती स्तुति और भरारे बाबा की आराधना के गीत गा कर किया जाता है –

सामाजिक संगठन

थारूओं की तीन शाखाएँ और 26 उपशाखाएँ हैं (क्रुक 1885)। उन पर शाखाओं या उप जातियों का नामकरण क्षेत्र विशेष के नाम पर भी हुआ है। जैसे डांग के डांगवारिया, चितवाल के चितवानिया एंव नवलपुर के थारूओ को नवलपुरिया कहते हैं। प्रत्येक उपजाति समूह कई ''कुरी'' या ''गोटियाल'' से बना होता हैं। एक गोटियाल में कई पट्टीदार होते हैं। प्रत्येक पट्टीदार की इकाइयां घर, परिवार या कुल होते हैं। गोटियाल का प्रतिनिधित्व एक विशेष वृक्ष करता है। जिसे गोटियाल के प्रत्येक परिवार अपनी पहचान के लिए घर के आंगन में लगाते हैं। थारू समाज भी दो हिस्सों मे विभक्त है। एक

हिस्सा स्वंय को सिसौदिया राणा ठाकुर मानता है जबकि दूसरे हिस्से को ठाकू कहा जाता है। थारूओं मे राणा ठाकुर तथा गडोरा ठाकुर उच्च कुल के माने जाते हैं। बाकी गिन्नामा जुगिया धंगरा तथा खुनका मध्यम वर्ग के और सौंसा को निम्न वर्ग का माना जाता है। थारूओं की एक बोक्सा उपभाषा भी है। मानव विज्ञानियों के अनुसार बोक्सा की मूल जाति थारू ही है, जिन्हे थारू समाज से टोना मोना या काले जादू-का उपयोग करने के कारण अलग किया गया था। बाद मे बोक्सा के साथ हिमालय क अन्य तंत्र-मंत्र वाली जातियां मिलकर विलीन हो गई। थारूओं मे तंत्र-मंत्र या देवी देवताओं की पूजा करने वाला भरारे या गुरूवा होता है। पूर्व में वही ब्राह्मण का कार्य करता था।

अन्धविश्वास और आस्था

दलदली, मलेरिया प्रभावित और घने जंगलों से घिरी जमीन खूंखार जंगली जानवरों की मौजूदगी तथा एकांत बस्तियां आदि ऐसे कारण हैं, जिन्होंने संभवतः थारूओं को अन्ध-विश्वासी और अदृश्य शक्तियों मे विश्वास करने वाला बनाया। वे कदम-कदम पर किसी न किसी देवता की पूजा करते हैं। उनमें बोक्सा-बोक्सिन का बहुत भय समाया रहता है। वे वनों को भूत-प्रतों से भरा हुआ मानते हैं। इसीलिए वे शाम को या रात को जंगलो में जानवरों अधिक भूत-प्रतों से डरते हैं। उनमें अवसर विशेष पर देवता विशेष की पूजा का रिवाज है। थारू आमतौर पर शिव, भवानी, शीतला, काली, चण्डी, ढोर चण्डी, बागेश्वरी, शिकारी, चुरैणी आदि की पूजा करते हैं। इनके साथ ही संम्पति की देवी जाखिन की पूजा भी होती है। इनके अलावा फसल का देवता जगमाठिया, सांपो से रक्षा करने वाला सम्पेहेरिया, भेड़ियों से बला टालने वाला भण्डुवा, बच्चो का रक्षक अखेड़िया, गाय-बैल का रक्षक धमराज, भैंस का रक्षक भैंसापुर, समय का देवता समया और सघर, अग्गर, पांचों पाण्डव, नारायण, बुनिहार या भूमिया, मसाण, वनस्पति माई आदि भी थारूओं के द्वारा पूजे जाते हैं। इनके अलावा भी थारू मंदिरों में सैकड़ों आत्माओं और भूत-पिशाचो के प्रतीक रखे जाते हैं।

परंपरागत संगठन एंव न्याय व्यवस्था

संविधान के 73वें संशोधन के बाद स्थापित त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था थारू गांवों मे भी स्थापित हो गई है, परन्तु यह नई व्यवस्था परंपरागत बिरादरी पंचायत के प्रभाव को पूरी तरह समाप्त नहीं कर पाई है। मिश्रित आबादी के गांवों में नई पंचायती राज व्यवस्था का बोलबाला है, परन्तु बिरादरी के मामलों मे पधान या मुखिया तथा पंचों की ही चलती है। थारू जनजाति मे समाज के वयोवृद्ध व्यक्ति को ही मुखिया बनाने की परंपरा रही है। गाँव का मुखिया ही झगड़ों का निपटारा और विवाह आदि मामलों का निर्णय लेता है। सामाजिक एंव सांस्कृतिक विवाद आज भी बिरादरी की पंचायतो में चलते हैं और वहां पंचों के विवेक और आपसी समझदारी से वे विवाद निपटा लिए जाते हैं। उनके झगड़े प्रायः पुलिस या न्याय पंचायत के पास नहीं जाते। ये बिरादरी पंचायतें उनकी संस्कृति और परिस्थितियों के

अनुरूप बनीं है तथा इनसे लोगों की भावनाएं जुड़ी हुई हैं। समाज को मर्यादित करने तथा शांति व्यवस्था बनाये रखने के लिए थारूओं की भी बिरादरी पंचायत होती है। इस पंचायत के प्रमुख को मुखिया, मधास्त या महतो कहा जाता है। वह प चो मे से चुना जाता है। मुखिया के लिए उम्र, अनुभव, निष्पक्षता तथा न्याय के प्रति आदर भाव आदि आवश्यक गुण माने गये हैं। मधास्त जन्म के आधार पर नहीं बल्कि योग्यता के आधार पर चुना जाता है।

निष्कर्ष

थारू जनजाति उत्तराखण्ड राज्य की जनजातीय आबादी सबसे बड़ी जो की, मुख्य रूप से उधम सिंह नगर में सर्वाधिक है। इस यह जनजाति आज भी अपनी संस्कृति, रहन-सहन, आर्थिक, का समूह विरासत बनाए हुए हैं। यह जनजाति अपनी पारिवारिक एवं सांस्कृतिक विशेषता बनाए हुए है। यह जनजाति उत्तराखण्ड की प्राचीन जनजाति होने के बावजूद अपने मूल्यों को बचाए हुए हो है जो भारत की जनजातीय परंपराओं की विविधता समूह समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान उहे हैं। थारू जनजाति का सामाजिक जीवन प्रारम्भ में सरलीकरण परम्परागत रूप से प्रकृति प्रदत्त उपहारों, जैसे जंगली पेड़-पौधों, वनस्पतियों, जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियों पर निर्भर हुआ करता था। किन्तु कालांतर से उन्होंने अपना पैतृक व्यवसाय के विस्तार के लिए बाहरी समाज से सम्पर्क किया जिसके फलस्वरूप उनकी संस्कृति पर बाहरी समाज का इस प्रभाव से उनकी पारम्परिक **भाषा** के परिष्कार की प्रक्रिया को भी गति दी। वर्तमान में, आधुनिक **शिक्षा** के प्रभाव से, थारु जनजाति के लोग **शहरी** तेजी की ओर अग्रसर हुए है तथा इनकी पारम्परिक **संस्कृति**, रहन-सहन, के में बदलाव के साथ ही **पारम्परगत** व्यवसाय के अतिरिक्त नौकरी/पेशे के क्षेत्र में भी प्रवेश के अवसर मिले। आज कई जनजाति के लोग भी आधुनिकता का समावेश धीरे-२ प्रारम्भ हो चुका है।

सन्दर्भ सूची

1. *मजूमदार, डी.एन. (1952). रेस एण्ड कल्चर ऑफ इंडिया, एशियन पब्लिकेशन हाउस, बाम्बे.*
2. *एटकिंसन, ई.टी. (1982). दि हिमालयन गजेटियर, कास्मो पब्लिकेशन, दिल्ली.*
3. *ई.बी.टायलर(1913) .प्राइमिटिव कल्चर.II पार्ट लन्दन.*
4. *बिष्ट, बी.एस., उत्तरांचल, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा (1999).*
5. *जोशी, योगेशचन्द्र, (2011). थारु जनजाति का एक अध्ययन, प्रकाशक संस्कृति विभाग, उत्तराखण्ड*
6. *जोशी, योगेश चन्द्र (2000). थारु जनजाति एक अध्ययन शोध प्रबन्ध, कुमाऊँ विश्वविद्यालय. नैनीताल*
7. *हसनैन, नरीम (2007). जनजातीय भारत, नई दिल्ली जवाहर पब्लिशर्स.*
8. *घुरिये, जी.एस. (1963). दि शेडयुल्ड ट्राइब्स, बाम्बे पॉपुलर प्रकाशन.*
9. *बाखा, वर्जिनियस(2013), "संवैधानिक प्रावधान कानून और जनजातीयाँ "योजना, जनवरी.*

10. पाण्डेय , बद्रीदत्त (1990). कुमाऊ का इतिहास , अल्मोड़ा बुक डिपो ,अल्मोड़ा
11. प्रसाद , डॉ शारदा , थारू जनजाति : जीवन और संस्कृति , अभिदा प्रकाशन , मुजफ्फरपुर , बिहार , 2018.
12. गूगल विकीपीडिया 2025.
13. http:www.uttarakhand.com/tharu
14. www.wikipedia.org/wiki/tharu people

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

An Analytical Study of Cyber Crime and Related Laws in India with Special Reference to Banking Frauds

Arvind Kumar
Research Scholar
Department of Law, Shyam University, Dausa, Rajasthan

Dr. Phool Chand Saini
Supervisor
Department of Law, Shyam University, Dausa, Rajasthan

Abstract

Digitalization of the Indian banking sector through internet banking, mobile banking, and real-time payment systems such as UPI has radically transformed financial services. However, this transformation has also enabled a sharp rise in cyber-enabled banking frauds, including phishing, card-not-present transactions, UPI scams, SIM-swap frauds, and social-engineering attacks. This paper undertakes an analytical study of cyber crime and the related legal and regulatory framework in India, with special reference to banking frauds. It is based on secondary data from the National Crime Records Bureau (NCRB), official reports of the Ministry of Home Affairs, the Reserve Bank of India (RBI), and scholarly literature on cybercrime and banking regulation. Recent figures indicate a steep increase in registered cybercrime cases in India, from over 52,000 in 2021 to more than 86,000 in 2023, with a significant share relating to financial and online banking frauds. The article examines the Information Technology Act, 2000, relevant provisions of the Indian Penal Code / Bharatiya Nyaya Sanhita, RBI's cyber security and fraud risk management guidelines, and institutional mechanisms such as the Indian Cyber Crime Coordination Centre (I4C) and the national helpline 1930. It finds that although the formal framework is extensive,

challenges remain in implementation, victim-centric remedies, inter-agency coordination, and public awareness. The paper concludes with policy suggestions for enhancing cyber resilience, strengthening investigation and enforcement, and improving consumer protection in banking-related cybercrime cases.

Keywords: cyber crime, banking fraud, Information Technology Act, RBI guidelines, digital banking, financial fraud, India.

Introduction

The last decade has seen a rapid expansion of digital banking and financial technologies in India. Internet banking, mobile apps, wallets, and UPI-based payments have become integral to everyday life, significantly increasing transaction speed and convenience. Parallel to these developments is a growing incidence of cyber-enabled frauds targeting customers and banks.

Empirical studies show that phishing, card cloning, data theft, malware, and social-engineering scams are the most prevalent threats in India's digital banking environment. Fraudsters leverage technical vulnerabilities and human weaknesses to gain unauthorized access to accounts, harvest credentials, and divert funds.

In response, India has put in place a multi-layered legal and regulatory system: the Information Technology Act, 2000; provisions of criminal law; RBI's cyber security framework and customer-protection rules; and institutional mechanisms such as the National Cyber Crime Reporting Portal and the 1930 cyber fraud helpline, which is specifically geared towards financial frauds. Yet, incidents of cybercrime continue to rise, posing questions about the adequacy and effectiveness of these measures. This article, therefore, analyses cybercrime and related laws in India with a special focus on banking frauds.

Objectives of the Study

1. To conceptualize cyber crime and banking-related cyber frauds in the Indian context.

2. To examine the legal and regulatory framework governing cybercrime and banking frauds in India.
3. To analyse trends and patterns of cyber-enabled financial frauds using available data.
4. To review judicial and policy developments concerning customer liability and bank responsibility.
5. To identify key challenges in enforcement and victim protection.
6. To offer policy and legal recommendations to strengthen the response to banking-related cybercrime.

Research Methodology

The study follows a **doctrinal and analytical** methodology, based primarily on secondary sources:

- **Official statistics and documents**
  - NCRB *Crime in India* reports and government press releases on cybercrime trends.
- RBI circulars: Cyber Security Framework in Banks (2016), customer-protection framework on unauthorized electronic transactions (2017), and related guidelines.
- Ministry of Home Affairs and I4C information on the National Cyber Crime Reporting Portal and helpline 193**0.**
- **Scholarly literature and reports**
  - Articles on cyber frauds in the Indian banking sector and e-banking legal frameworks. The study is limited by under-reporting of cybercrime, the lag in publication of official data (e.g., NCRB data for later years), and lack of disaggregated, bank-wise or region-wise public data for all forms of fraud.

Conceptual Framework: Cyber Crime and Banking Frauds

Cyber crime may broadly be defined as any unlawful act where computers, computer systems, networks, or communication devices are used as instruments,

targets, or both. Financial and banking-related cybercrime forms a major subset, including:

- **Phishing and vishing** – deceptive emails, messages, or calls designed to obtain passwords, OTPs, and other credentials. **UPI and mobile-banking frauds** – fraudulent payment links, collect requests, QR-code scams, and remote-access applications.
- **Card-not-present and card-cloning frauds** – unauthorized online transactions using stolen card details or skimming devices. **SIM-swap attacks** – unauthorized issue of duplicate SIMs to intercept OTPs and alerts**. Malware and keyloggers** – malicious software installed through infected links or attachments to capture credentials.
- **Social-engineering schemes** – fake customer-care calls, investment scams, and "digital arrest" or sextortion operations using synthetic bank accounts and mule accounts. These offences typically result in unauthorized debits from customer accounts, misuse of payment credentials, and large-scale fund diversion through networks of mule accounts and crypto channels.

Legal and Regulatory Framework in India

Information Technology Act, 2000

The IT Act, 2000 (as amended in 2008) is the primary statute for cyber law in India. Key sections relevant to banking frauds include:

- **Section 43 and 43A** – unauthorized access, downloading, introduction of viruses, damage to computer resources, and liability of body corporate for failure to protect data.
- **Section 66, 66C and 66D** – computer-related offences involving dishonest or fraudulent intent, identity theft, and cheating by impersonation using computer resources; these are frequently invoked in online banking fraud cases.
- **Section 72 and 72A** – breach of confidentiality and privacy by persons having access to electronic records. The IT Act provides both civil and criminal

remedies, but criminal provisions are often read along with general criminal law.

Indian Penal Code / Bharatiya Nyaya Sanhita

Traditional penal provisions continue to be applied to financial cyber frauds:

- **Cheating and dishonestly inducing delivery of property**
- **Criminal breach of trust**, particularly when bank employees are involved
- **Forgery, criminal conspiracy and intimidation**, as relevant

Recent scholarship notes that the new Bharatiya Nyaya Sanhita (BNS) attempts to expand and clarify definitions of financial and banking fraud, including digital banking frauds, with enhanced penalties for serious breaches involving public funds and bank officials.

RBI's Cyber Security and Customer-Protection Framework

As the banking regulator, the RBI has issued several key instruments:

Cyber Security Framework in Banks (2016) – mandates board-approved cyber security policies, cyber crisis management plans, continuous surveillance, and strong controls against advanced threats. **Customer Protection – Limiting Liability of Customers in Unauthorized Electronic Banking Transactions (2017)** – defines conditions for *zero liability* and *limited liability* of customers; places the burden of proving customer negligence on banks; and prescribes timelines for reporting and resolution**. Guidelines for co-operative banks and non-bank payment system operators** – extend similar principles of security, incident reporting, and customer protection to a wider set of entities in the payments ecosystem. These frameworks seek to balance innovation in digital payments with robust risk management and consumer protection.

Institutional Mechanisms: I4C, NCRP and Helpline 1930

The **Indian Cyber Crime Coordination Centre (I4C)** under the Ministry of Home Affairs coordinates national-level efforts on cybercrime prevention, investigation and awareness. Key initiatives include:

National Cyber Crime Reporting Portal (NCRP) – an online platform for filing complaints across all categories of cybercrime, including online financial fraud. **National cybercrime helpline 1930** – a toll-free number specifically meant for cyber financial frauds, enabling quick lodging of complaints and real-time coordination with banks and telecom providers to freeze fraudulent transactions. These mechanisms aim to exploit the "golden hour" after a fraudulent transaction, during which freezing of funds is most effective.

Trends in Cyber Crime and Banking Frauds in India

Official data, while not exhaustive, reveal several important patterns:

According to government data based on NCRB statistics, recorded cybercrime cases rose from **over 52,000 in 2021 to more than 86,000 in 2023**, reflecting a sharp upward trend. Press releases indicate that cybercrime cases registered by police under various categories—including online banking and card frauds—have been increasing year-on-year up to at least 2022, the latest year for which the full NCRB report is published. Sector-specific data show the scale of fraud within individual banks. An RTI-based report indicates that the State Bank of India alone recorded nearly **15,956 cyber fraud cases between January 2024 and October 2025**, involving losses exceeding ₹118 crore. Large police operations have uncovered syndicates that diverted hundreds of crores of rupees through mule accounts and crypto channels, often connected with UPI fraud, investment scams and other cyber offences.

Academic studies corroborate these trends, noting that digitalization has increased both the frequency and complexity of banking frauds, and that social-engineering and psychological manipulation are critical components of modern financial cybercrime.

Review of Literature

Empirical and doctrinal studies on cyber frauds in Indian banking broadly fall into three strands:

1. **Typologies and technical patterns of fraud**

Studies document the prevalence of phishing, card cloning, data theft, malware attacks, UPI frauds and ATM skimming, and explore how technological change shapes attack vectors. **Legal and regulatory analysis** Scholars assess the adequacy of the IT Act, RBI guidelines, and criminal law provisions in tackling e-banking frauds, highlighting both strengths and gaps in enforcement, jurisdiction, and victim compensation**. Policy and institutional responses** Recent work examines the role of the I4C, helpline 1930, cyber cells, and judicial developments around the "zero liability" principle, noting how courts have begun interpreting RBI's framework in favour of consumers in certain cases. The consensus across these studies is that while the legal framework is increasingly sophisticated, implementation and awareness remain weak points.

Critical Analysis of the Existing Framework

1. Fragmented and Overlapping Offence Definitions

Banking-related cyber frauds often attract multiple provisions under the IT Act and the IPC/BNS. Overlaps and ambiguities can complicate framing of charges and may lead to inconsistent application of sections across jurisdictions.

2. Under-reporting and Data Limitations

Many victims report incidents only to banks or payment apps and not to the police. Some cases are treated as operational losses or "customer negligence" rather than criminal offences, leading to underestimation of the scale of cybercrime in official statistics.

3. Customer Liability and Access to Remedies

RBI's 2017 framework on customer protection significantly improves the legal position of customers by:

- Recognizing zero liability in cases of bank/system deficiency; and
- Placing the burden of proving customer negligence on banks. However, in practice, consumers often face difficulties in establishing that they exercised due care, particularly in cases involving social-engineering (e.g.,

sharing OTP under deception). Judicial decisions, such as those interpreting the zero-liability principle, are slowly clarifying the balance of responsibility, but bank-level implementation is uneven.

4. Investigation Capacity and Jurisdictional Complexity

Cyber frauds commonly involve multiple states and, in some cases, cross-border elements with funds routed through mule accounts and converted into crypto currency. Police and cyber cells often lack adequate technical staff, forensic tools, and real-time access to financial intelligence, hindering timely investigation. Although the I4C, NCRP and helpline 1930 have improved real-time response, their effectiveness depends on rapid coordination with banks and telecom operators and capacity at the state and district levels.

5. Awareness and Behavioural Factors

A significant proportion of frauds exploit behavioural vulnerabilities, including trust in authority figures (fake bank officials, police, or regulators), fear-inducing messages ("digital arrest"), and curiosity or greed (too-good-to-be-true offers).

Despite nationwide awareness campaigns, many first-time digital users and elderly customers remain unaware of basic precautions such as never sharing OTPs, verifying URLs, or using official apps and websites.

Policy Suggestions and Recommendations

Based on the above analysis, the following measures are suggested:

1. **Clarify and Consolidate Legal Provisions**
   Consider more explicit and consolidated definitions of "banking fraud" and "online financial fraud" in criminal law, with graded penalties based on amount involved, organised criminal participation, and victim vulnerability.
2. **Strengthen Cyber Forensics and Investigation**
   - Establish or upgrade cyber police stations and forensic labs in every state with specialized units for financial cybercrime.

- Enhance real-time access to bank transaction trails under proper safeguards, and develop standard protocols for cooperation between banks, FIU, and law-enforcement.

3. **Deepen Implementation of RBI's Customer-Protection Norms**
   - Ensure that all regulated entities clearly communicate zero- and limited-liability rules to customers in local languages.
   - Strengthen grievance redressal mechanisms and timelines for reimbursement in line with RBI's guidelines.
4. **Expand Awareness and Behavioural Interventions**
   - Design evidence-based awareness campaigns focusing on high-risk behaviours (clicking unknown links, installing un trusted apps, responding to urgent calls).
   - Partner with banks, fin techs, schools, and community organizations to deliver repeated, local-language training.
5. **Improve Data Transparency and Research Support**
   - Publish more granular, bank-wise and state-wise statistics on types and values of online banking frauds, while preserving privacy. Encourage interdisciplinary research on technological and psychological dimensions of cyber financial frauds to inform policy.
6. **Regulate Emerging Technologies and Fintech Models**
   - Continuously review RBI and sector-specific regulations in light of innovations such as instant lending apps, embedded finance, and increased crypto usage in laundering fraud proceeds.

Conclusion

Cybercrime, particularly banking-related cyber frauds, represents a major challenge for India's digital economy. The combination of rapid financial

innovation, widespread smartphone and internet usage, and variable levels of cyber awareness has created fertile ground for sophisticated fraud schemes.

India has responded with a robust set of laws and regulations: the IT Act and criminal law, RBI's cyber security and customer-protection frameworks, and institutional innovations such as the I4C, NCRP and helpline 1930. These measures have undoubtedly improved the capacity to prevent, detect and respond to cyber financial frauds.

Nevertheless, rising incident numbers, increasing complexity of fraud schemes, and persistent victim losses indicate that significant gaps remain in implementation, investigation capacity, consumer protection, and public awareness. Moving forward, an integrated approach—combining legal reform, technological strengthening, bank-level responsibility, effective enforcement, and sustained behavioral interventions—is essential to build a safer digital financial ecosystem in India.

Bibliography

You can adapt this to APA/MLA/OSCOLA as required by your journal. I'm giving a simple academic bibliography format here.

1. *Aachanta, V. B. N. H. S., & Radhika, R. (2018). A study on cyber frauds in Indian banking sector. Asian Journal of Multidisciplinary Research, 4(2), 57–62.*
2. *Aggarwal, A., & Sengupta, S. (2020). Cyber security threats in digital banking in India. ShodhKosh: Journal of Visual and Performing Arts, (special issue). Ghosh, U. (2021). Online financial frauds and cyber laws in India. Voice of Research, 10(2), 34–40.*
3. *Government of India, Ministry of Home Affairs. (2024, February 7). Increase in cyber crimes (Press Information Bureau release).*
4. *Indian Cyber Crime Coordination Centre (I4C). (n.d.). Indian Cybercrime Coordination Centre and National Cybercrime Reporting Portal. Retrieved from cybercrime.gov.in and i4c.mha.gov.in.*
5. *National Crime Records Bureau. (2022). Crime in India 2022. New Delhi: NCRB.*
6. *National Informatics Centre. (2025, December 5). NCRB data shows rise in cybercrimes using mobile phones and computers. NewsOnAir.*
7. *Ramya, R., & Mathew Raj, S. (2024). Laws regulating online banking frauds in India: A comparative study with existing laws in USA. AUT Research Journal, 13(1).*

8. *Reserve Bank of India. (2016). Cyber security framework in banks (Circular DBS.CO/CSITE/BC.11/33.01.001/2015-16, 2 June 2016).*
9. *Reserve Bank of India. (2017a). Customer protection – Limiting liability of customers in unauthorised electronic banking transactions (DBR.No.Leg.BC.78/09.07.005/2017-18, 6 July 2017).*
10. *Reserve Bank of India. (2017b). Limiting liability of customers of co-operative banks in unauthorised electronic banking transactions (DOR.CO.LBD.BC.No.51/16.13.100/2017-18, 14 December 2017).*
11. *Saroja, A. V. B. N. H. S. (2018). Cyber frauds in India: Technological and psychological perspectives. In International Journal of Applied Advanced Scientific Research (various issues).*
12. *Tiwari, R. (n.d.). Digital banking: A study of fraudulent practices in Indian banks. International Journal of Management and Commerce.*
13. *Uddeshya, S., & co-authors. (2025). Effectiveness of cyber law framework in India. International Journal of Research Publication and Reviews, 6(7).*
14. *"Zero liability principle in cyber frauds: Recent verdicts and banking practices." (2025, July 25). CyberPeace Foundation Blog.*
15. *"1930 (Indian cybercrime helpline)." (2025). Indian Cybercrime Helpline article.*
16. *"Financial frauds in India – Legal action." (n.d.). SSRana & Co., Knowledge Resource..*
17. *Times of India. (2025). Nearly 16k cyber frauds reported in SBI branches across India in 22 months: RTI.*
18. *Times of India. (2025). Cybercriminal gang from Bhavnagar funnels more than Rs 719 crore of fraud proceeds to Dubai–China handlers.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Social Capital and Empowerment of Marginalized Communities in India

Dr. Sonia Rajoria
Assistant Professor of Sociology
Center for Legal Studies
Gitarattan International Business School
Affiliated under GGSIPU, New Delhi

Abstract

Social capital, encompassing networks, trust, and reciprocity within communities, plays a crucial role in the empowerment of marginalized groups in India. This study examines the relationship between social capital and the socio-economic empowerment of marginalized communities, including Scheduled Castes, Scheduled Tribes, and Other Backward Classes. Despite constitutional safeguards and affirmative action policies, these communities continue to face systemic barriers in accessing resources and opportunities. This research investigates how bonding, bridging, and linking social capital contribute to collective action, resource mobilization, and enhanced agency among marginalized populations. Using a quantitative approach with a sample size of 100 respondents from selected marginalized communities, the study employs structured questionnaires and statistical analysis to assess the dimensions of social capital and their impact on economic, political, and social empowerment indicators. Findings suggest that strong intra-community networks facilitate solidarity and mutual support, while bridging and linking capital enable access to institutional resources. However, structural inequalities and social exclusion continue to constrain the effectiveness

of social capital in achieving substantive empowerment. The study concludes with policy recommendations for strengthening community networks and creating enabling environments for marginalized communities to leverage social capital for sustainable development.

Keywords: Social Capital, Marginalized Communities, Empowerment, Social Networks, Community Development

Introduction

India's marginalized communities, comprising Scheduled Castes (SCs), Scheduled Tribes (STs), and Other Backward Classes (OBCs), represent approximately 70% of the nation's population yet continue to experience disproportionate social exclusion and economic deprivation. Despite seven decades of affirmative action policies and constitutional protections, these communities face persistent barriers in accessing quality education, healthcare, employment, and participatory governance.

Social capital refers to the resources embedded in social networks characterized by norms of trust, reciprocity, and cooperation. In the Indian context, social capital manifests through caste associations, self-help groups, village councils, and community-based organizations that serve as platforms for collective mobilization. The relationship between social capital and empowerment is particularly significant for marginalized communities who often lack access to financial, human, and physical capital.

Empowerment encompasses economic self-reliance, political participation, social dignity, and psychological confidence. Social capital can potentially compensate for deficits in other forms of capital by providing access to information, creating opportunities for collective bargaining, and amplifying the voices of marginalized groups in decision-making processes.

However, the role of social capital is complex. While bonding social capital strengthens intra-group solidarity, it may also reinforce existing hierarchies.

Bridging social capital connects different social groups but may be difficult to cultivate in contexts of deep social stratification. Linking social capital connects communities to formal institutions but remains weak among marginalized populations due to historical exclusion.

Objectives of the Study

- To examine the nature and forms of social capital existing among marginalized communities
- To assess the levels of economic, social, and political empowerment among marginalized community members
- To analyze the relationship between social capital and different dimensions of empowerment
- To identify facilitating factors and barriers in leveraging social capital for community empowerment
- To provide evidence-based recommendations for policy interventions

Review of Literature

B.R. Ambedkar's Vision: Dr. B.R. Ambedkar emphasized the importance of social organization and collective action for empowerment of oppressed communities. Ambedkar (1936) argued that the caste system systematically destroyed social capital among lower castes by enforcing segregation and untouchability. He asserted that "caste has killed public spirit and destroyed the sense of public charity." Ambedkar's concept of empowerment was multidimensional, encompassing education, economic independence, and political participation. He advocated for creating new forms of social capital through education and political mobilization to break the chains of caste-based oppression.

M.N. Srinivas on Caste Networks: M.N. Srinivas examined how lower castes mobilize social capital for upward mobility through collective action. Srinivas (1962) demonstrated that caste associations emerged as important vehicles for social and political mobilization, pooling resources for education and employment

advocacy. His work showed how horizontal solidarity within caste groups could be mobilized for vertical mobility. However, Srinivas also noted the limitations of caste-based social capital in reinforcing group boundaries and perpetuating inter-caste conflicts.

A.R. Desai's Perspective: A.R. Desai analyzed rural social structure and power relations in Indian villages. Desai (1969) argued that social capital in rural India is deeply stratified along caste and class lines, with dominant castes controlling access to resources and political power. He cautioned against uncritical celebration of community solidarity, highlighting how bonding social capital within dominant groups can reinforce existing power structures and perpetuate marginalization.

Andre Beteille on Social Structure: Andre Beteille's work on inequality examined how formal equality coexists with substantive inequalities rooted in social structure. Beteille (1969) analyzed how educational institutions and political parties create new forms of social capital that can potentially transcend traditional hierarchies. His research documented how affirmative action policies create opportunities for building linking social capital with formal institutions, though implementation challenges limit their effectiveness.

Yogendra Singh on Modernization: Yogendra Singh analyzed the impact of modernization on traditional social structures. Singh (1973) argued that urbanization and education are transforming the nature of social capital, weakening traditional networks while creating new voluntary associations. He examined how marginalized communities navigate tensions between maintaining traditional support systems and accessing opportunities through modern institutional channels.

Research Methodology

Universe and Population

The universe comprises marginalized communities in Delhi and NCR, specifically members of Scheduled Castes, Scheduled Tribes, and Other Backward Classes

residing in urban Delhi and NCR cities including Gurgaon, Noida, Faridabad, and Ghaziabad.

Study Areas:

- Delhi: Trilokpuri, Bawana, Sangam Vihar, Madanpur Khadar
- Gurgaon: Sikanderpur village, Chakkarpur
- Noida: Nithari, Barola
- Faridabad: Old Faridabad settlements
- Ghaziabad: Loni, Sahibabad areas

Sample Size: 100 respondents including:

- 40 from Scheduled Caste communities
- 30 from Scheduled Tribe communities
- 30 from Other Backward Classes
- Distribution: Delhi (60 respondents) and NCR cities (40 respondents)
- Further classification: Resettlement colonies (35), Urban villages (35), Unauthorized colonies (30)

Study and Research Design

This study adopts a descriptive cross-sectional research design with a quantitative approach examining the relationship between social capital (independent variable) and empowerment (dependent variable) at a specific point in time within the Delhi-NCR metropolitan context.

Sampling Technique

The study employs **Stratified Random Sampling** with the following steps:

1. Stratification based on community category and location
2. Proportionate allocation to each stratum
3. Random selection within each stratum
4. Inclusion criteria: self-identified community members, aged 18+, residing in study area for 2+ years

Tools for Data Collection

Primary Data: Structured questionnaire comprising:

- Socio-demographic profile (age, gender, education, occupation, income)
- Migration history and duration of residence in Delhi-NCR
- Social capital assessment (bonding, bridging, linking)
- Empowerment indicators (economic, social, political)
- Delhi-NCR specific questions on access to urban services and governance

Secondary Data: Census reports, Delhi and NCR development authority reports, MCD records, NGO reports focusing on Delhi-NCR, academic research on urban marginalization.

Tools for Data Analysis

Descriptive Statistics: Frequency distribution, mean, standard deviation, cross-tabulation to understand patterns across different areas of Delhi-NCR

Inferential Statistics:

- Pearson's correlation coefficient for relationships between variables
- Chi-square test for associations between categorical variables
- t-test and ANOVA for group comparisons
- Multiple regression for identifying relative contributions

Software: SPSS version 25 for data analysis, Microsoft Excel for visualization

Limitations of the Study

Sample Size: The sample of 100 respondents, while distributed across Delhi-NCR, limits generalizability across the region's diverse contexts.

Cross-Sectional Design: Single point-in-time data prevents establishing causal relationships and understanding temporal dynamics of urban social capital formation.

Self-Reported Data: Potential biases including social desirability bias and recall bias, particularly regarding sensitive topics like discrimination.

Measurement Challenges: Complex constructs like social capital and empowerment are difficult to operationalize comprehensively through structured questionnaires.

Linguistic Diversity: Hindi questionnaires may not fully capture experiences of migrant communities from other linguistic regions.

Access Limitations: Most vulnerable groups including homeless populations and recent migrants may be underrepresented due to sampling difficulties.

Temporal Specificity: Delhi-NCR's rapid transformation means findings may have limited applicability even within short time periods.

Governance Complexity: Multiple governance authorities in NCR create challenges in assessing linking social capital comprehensively.

Findings

Socio-Demographic Profile

The sample comprised 56% male and 44% female respondents, reflecting slightly better gender balance than national patterns due to urban employment opportunities for women. Age distribution showed 35% in 18-30 years, 42% in 31-50 years, and 23% above 50 years, indicating a relatively young population characteristic of urban areas.

Educational attainment showed improvement compared to national averages: 18% had no formal education, 32% completed primary education, 31% secondary education, and 19% higher education, reflecting better educational infrastructure in Delhi-NCR. Occupationally, 15% engaged in informal construction work, 22% in domestic work and services, 18% in small businesses and street vending, 21% in factory or formal sector work, 14% in skilled trades, and 10% unemployed or students.

Migration patterns revealed that 58% were born outside Delhi-NCR and migrated for economic opportunities, with average residence duration of 12 years. Settlement type distribution showed 35% in resettlement colonies (Narela, Bawana, Rohini Sector 24), 35% in urban villages (Khirki, Madanpur Khadar,

Chakkarpur), and 30% in unauthorized colonies (Sangam Vihar, parts of Ghaziabad and Noida).

Social Capital Patterns in Delhi-NCR

Bonding Social Capital: 68% belonged to community organizations, self-help groups, or mohalla committees. The proportion was highest in resettlement colonies (78%) where displacement created strong needs for mutual support, moderate in urban villages (65%), and lower in unauthorized colonies (58%). Participation frequency showed 32% weekly, 26% monthly, 28% occasionally, and 14% never participating. Trust within communities was moderately high with 61% agreeing they could rely on community members, with higher trust reported in resettlement colonies than mixed urban areas. Actual mutual assistance was reported by 54%, primarily for emergency financial help, information sharing about jobs, and support during life events.

Key platforms for bonding capital included caste-based associations organizing community events and festivals, women's self-help groups focused on savings and credit, mohalla committees dealing with local issues, informal networks based on shared place of origin, and occupational groups particularly among construction workers and domestic workers.

Bridging Social Capital: Only 34% reported frequent cross-community interactions, 26% had some interactions, and 40% rarely or never engaged outside their community, indicating limited bridging capital. This was particularly weak in resettlement colonies with homogeneous populations and stronger in mixed urban villages. Delhi respondents reported slightly better bridging capital (38% frequent interaction) compared to NCR cities (28%).

Barriers to bridging capital included spatial segregation of settlements, continued caste-based prejudices even in urban settings, lack of common spaces for interaction in many neighborhoods, and economic competition creating inter-community tensions.

Linking Social Capital: Only 47% had approached government offices in the past year, a relatively higher proportion than national averages due to urban proximity to institutions. However, experiences were often frustrating with complaints of bureaucratic delays, demands for bribes, lack of information about procedures, and discriminatory treatment. Knowledge of welfare schemes was inadequate with only 28% having good knowledge, 42% limited knowledge, and 30% very poor knowledge. Actual access to schemes was even lower at 23%, indicating weak conversion of nominal linking capital into substantive empowerment.

Government departments approached included Municipal Corporation offices for civic issues, ration card and Aadhaar centers, police stations, DDA offices for housing matters, DUSIB for resettlement issues, and employment exchanges and skill development centers.

Empowerment Indicators in Delhi-NCR Context

Economic Empowerment: 76% engaged in income-generating activities, reflecting better employment opportunities in the metropolitan region compared to rural areas. However, employment quality varied significantly with 68% in informal sector without job security or benefits. Average monthly household income ranged from Rs. 8,000-25,000 with median around Rs. 15,000.

Control over finances showed gender disparities: 71% of males versus 48% of females reported control or shared control. Asset ownership including housing, vehicles, or savings was reported by 49%, lower than desired given urban cost of living. Access to formal credit remained limited at 31%, with most relying on informal sources. Savings habits were reported by 58%, primarily through self-help groups and chit funds rather than formal banking.

Economic empowerment was higher in Delhi (average monthly income Rs. 16,500) compared to NCR cities (Rs. 14,200), and among men compared to women. Education level showed strong positive association with economic indicators.

Social Empowerment: 38% reported occasional discrimination based on caste, 15% frequent discrimination, and 47% rarely faced discrimination. Common discrimination experiences included denial of rental housing in certain neighborhoods, differential treatment in shops and public spaces, exclusion from certain social events, and caste-based slurs. Discrimination was more frequently reported in peri-urban NCR areas than central Delhi.

Mobility and freedom of movement was reported by 72%, higher than many rural contexts but with gender gaps (85% men, 55% women). Participation in social and cultural activities showed improvement with 64% reporting regular participation in community events. Awareness of rights and legal protections was moderate at 58%. Confidence to challenge discrimination was reported by only 41%, indicating psychological barriers to empowerment.

Political Empowerment: Voter participation was high at 84%, comparable to overall Delhi-NCR turnout. However, participation beyond voting was limited with only 31% attending ward committee meetings or participating in local governance platforms. Engagement with elected representatives was reported by 38%, primarily during election periods. Rights awareness regarding urban governance was moderate at 56%.

Understanding of complex governance structures (MCD, DDA, DUSIB, state governments) was poor with only 22% reporting clear understanding, creating barriers to effective advocacy. Participation in protests or collective action for community demands was reported by 28%, primarily around issues of forced evictions, water supply, and sanitation.

Relationship Analysis

Correlation Analysis: Significant positive correlations were found:

- Bonding capital and economic empowerment ($r = 0.48$, $p < 0.01$), indicating community networks facilitate job information and credit access
- Bridging capital and social empowerment ($r = 0.61$, $p < 0.01$), showing cross-community interactions reduce discrimination

- Linking capital and political empowerment ($r = 0.52$, $p < 0.01$), demonstrating institutional access enables civic participation
- Education and all forms of social capital ($r = 0.44$ to 0.58, $p < 0.01$)
- Duration of residence in Delhi-NCR and linking capital ($r = 0.39$, $p < 0.01$)

Comparative Findings across Delhi-NCR:

Delhi respondents showed higher bridging capital (38% vs 28% frequent cross-community interaction) and linking capital (52% vs 40% approached government offices) compared to NCR cities, reflecting better infrastructure and civic culture in the capital.

Resettlement colony residents demonstrated strongest bonding capital (78% organizational membership) but weakest bridging capital (24% cross-community interaction), indicating the double-edged nature of homogeneous displaced communities.

Urban village residents showed moderate levels across all forms with more balanced profiles (65% bonding, 42% bridging, 48% linking), benefiting from long-term residence and diverse neighborhood composition.

Unauthorized colony residents reported weakest linking capital (38% government office approach) reflecting legal vulnerabilities and fear of authorities.

Female respondents consistently showed lower bridging capital (25% vs 41% for men) and linking capital (35% vs 57% for men) but comparable bonding capital, indicating gender-specific barriers in public sphere navigation.

Education level showed strong positive association with all forms of social capital, with higher secondary and above showing 2-3 times better indicators than those with primary or no education.

Regression Analysis: Social capital variables (bonding, bridging, and linking) explained 52% of variance in composite empowerment scores (economic + social + political). When control variables (education, gender, settlement type, location)

were added, the model explained 68% of variance. Bridging capital emerged as the strongest predictor ($\beta = 0.34$), followed by linking capital ($\beta = 0.28$) and bonding capital ($\beta = 0.21$), with education also showing significant independent effects ($\beta = 0.26$).

Discussion

Social Capital in the Metropolitan Context

The findings reveal that marginalized communities in Delhi-NCR possess significant bonding social capital through community organizations and reciprocity norms, validating Ambedkar's observation about in-group solidarity as a response to discrimination. The particularly strong bonding capital in resettlement colonies reflects how shared experiences of displacement and collective struggles create intense community solidarity. However, as Desai cautioned, bonding capital alone does not translate into substantive empowerment without bridging and linking capital.

The pronounced weakness in bridging social capital reflects the persistence of social segregation even in urban spaces, contradicting assumptions about urban anonymity dissolving caste boundaries. Srinivas's documentation of caste associations' role in mobilization remains relevant, but his optimism about collective action enabling vertical mobility requires qualification in the Delhi-NCR context where structural barriers limit even organized communities' advancement. The strong correlation between bridging capital and social empowerment indicates that overcoming social barriers is essential for reducing discrimination and achieving dignity in urban public spaces.

The Linking Capital Deficit

Weak linking capital represents the most significant barrier to comprehensive empowerment in Delhi-NCR, validating Beteille's observation about the gap between formal institutional arrangements and substantive access. Despite proximity to government offices, marginalized communities struggle to navigate

complex bureaucratic systems, face discriminatory treatment, and lack information about welfare schemes. The multiplicity of governance authorities (MCD, DDA, DUSIB, multiple state governments in NCR) creates confusion and coordination failures.

However, the fact that 47% approached government offices (higher than national averages) suggests that urban residence does create some opportunities for building linking capital that must be strengthened through reforms. Building linking capital requires both individual effort (knowledge, confidence, resources) and institutional reforms (accessibility, accountability, anti-discrimination).

Self-Help Groups as Transformative Platforms

Self-help groups emerge as transformative platforms in the Delhi-NCR context, simultaneously strengthening bonding capital through regular meetings and collective savings, creating bridging opportunities through federations linking multiple groups, and facilitating linking capital through schemes like SGSY and bank linkages. The high participation of women in SHGs (62% of female respondents) makes them particularly important for gender-sensitive empowerment strategies. NGOs like Pravah, CHETNA, and Aman Biradari have successfully facilitated SHG formation in areas like Trilokpuri and Sangam Vihar, demonstrating the potential of organized collective action.

Structural Constraints

Despite significant correlations, social capital explains only about half of empowerment variance, indicating that structural factors continue to powerfully shape outcomes. Economic policies determining employment patterns, education systems' quality variations across areas, housing policies creating spatial segregation, land use regulations affecting livelihoods, and discriminatory practices in both government and private sectors all constrain social capital's effectiveness. This supports the perspective that macro-level structures enable or constrain how effectively communities can leverage their social networks.

The informal nature of 68% of employment reflects structural features of the urban economy that social capital alone cannot overcome. The low access to formal credit (31%) despite extensive community networks indicates that even strong bonding capital cannot substitute for institutional financial inclusion. The persistence of discrimination in housing and public spaces demonstrates that bridging capital development requires not just individual interactions but also institutional anti-discrimination enforcement.

Intersectionality and Differentiation

Variations across Delhi-NCR locations, settlement types, community categories, and gender reveal the intersectional nature of marginalization. Women from SC communities in unauthorized colonies of NCR cities face compounded disadvantages requiring targeted interventions rather than universalistic approaches. Yogendra Singh's insights about modernization creating both opportunities and disruptions are clearly visible in how migration to Delhi-NCR has weakened traditional support systems while creating new organizational possibilities.

The better outcomes in Delhi compared to NCR cities reflect not just individual differences but also differential state capacity, infrastructure quality, and civic culture. This suggests that empowerment strategies must be tailored to specific local contexts rather than assuming homogeneous approaches across the metropolitan region.

Suggestions

Policy-Level Interventions for Delhi-NCR

a) Institutional Reforms:

- Government institutions (MCD, DDA, DUSIB, district administrations) should undergo mandatory sensitivity training to reduce discriminatory practices and caste-based prejudices

- Establish dedicated help desks for SC/ST/OBC communities in all government offices with trained staff from similar backgrounds
- Create grievance redressal mechanisms with defined timelines and penalties for discriminatory behavior
- Simplify procedures and create single-window systems for accessing multiple services
- Develop mobile applications in Hindi and other regional languages providing information about schemes and enabling service requests

b) Bridging Programs:

- Design inter-community programs creating interaction spaces through joint skill development centers in mixed neighborhoods
- Support community festivals and cultural programs emphasizing shared urban identities beyond caste
- Create integrated residential schemes in new developments preventing spatial segregation
- Establish community centers in areas like Sangam Vihar and Narela offering services to diverse communities
- Develop sports and recreational facilities promoting interaction among youth from different communities

c) Support for Organizations:

- Provide sustained financial and technical support to self-help groups and community-based organizations through dedicated budget allocations
- Create federations of SHGs at ward and district levels enabling peer learning and collective marketing
- Support caste associations to move beyond traditional roles toward skill development and entrepreneurship facilitation

- Strengthen mohalla committees and resident welfare associations in marginalized settlements with resources and training
- Partner with NGOs working in areas like Trilokpuri, Madanpur Khadar, and Khirki to scale successful models

d) Enhanced Affirmative Action:

- Strengthen reservation policies beyond education and employment to include entrepreneurship support, subsidized land for business in areas like Bawana and Narela, priority in government contracts, and housing schemes
- Ensure effective implementation through monitoring committees including community representatives
- Extend affirmative action to private sector employment in NCR through incentive schemes
- Provide special scholarships for higher education given better access to universities in Delhi-NCR
- Create skill development programs aligned with metropolitan economy needs in sectors like hospitality, IT services, and construction management

e) Urban Governance Reforms:

- Simplify governance structures by clarifying responsibilities of different authorities in NCR
- Strengthen ward committees and ensure mandatory participation of marginalized community representatives
- Ensure participatory budgeting in areas with significant SC/ST/OBC populations
- Regularize unauthorized colonies preventing insecurity that weakens linking capital
- Implement Supreme Court guidelines on resettlement with dignity preventing social network disruption

Community-Level Interventions

a) Leadership Development:

- Invest in developing leadership capacities within marginalized communities through training programs on rights, governance, and advocacy
- Create mentorship programs connecting emerging leaders with experienced activists and politicians
- Provide special support for women and youth leadership through residential training programs
- Document and celebrate success stories of community leaders inspiring others
- Create networks of leaders across Delhi-NCR facilitating peer learning and collective action

b) **Digital Inclusion:**

- Leverage technology to create virtual networks complementing physical social capital through WhatsApp groups and Facebook pages for information sharing
- Provide digital literacy training enabling access to online government services and educational resources
- Create platforms for online skill development and remote employment opportunities
- Use mobile technology for organizing collective action and documenting discrimination
- Establish community information centers with internet access in areas with low connectivity

c) **Participatory Planning:**

- Ensure meaningful participation of marginalized community members in designing development programs affecting their neighborhoods
- Create citizen advisory committees for major projects like metro extensions and urban renewal in areas like Old Faridabad and Loni
- Conduct regular consultations in settlements before policy implementation
- Support community-led monitoring of government scheme implementation
- Enable communities to participate in Master Plan development and revision

d) **Gender Mainstreaming:**

- Address gender inequalities by creating safe spaces for women's organization through women's community centers
- Challenge patriarchal norms through awareness programs involving men and boys
- Provide childcare facilities enabling women's participation in community meetings and skill training
- Support women's economic independence through training, credit, and market linkages
- Address mobility restrictions through safe public transport and well-lit neighborhoods

e) **Livelihood Support:**

- Create skill development programs aligned with Delhi-NCR economy needs in construction management, hospitality, healthcare, IT services, and other growing sectors
- Facilitate credit access through partnerships with banks and microfinance institutions
- Support street vendors through proper licensing and market infrastructure in areas like Nehru Place and Sadar Bazaar

- Create cooperative enterprises enabling collective marketing and better bargaining power
- Provide legal support for labor rights enforcement protecting informal workers

Spatial and Infrastructure Interventions

Urban Villages:

- Protect traditional community structures while improving infrastructure
- Balance development with preservation of affordable housing preventing displacement
- Support traditional occupations while facilitating skill upgradation
- Create conflict resolution mechanisms addressing tensions between old and new residents
- Ensure fair compensation in land acquisition processes

Unauthorized Colonies:

- Expedite regularization processes providing legal security enabling investment in community infrastructure
- Ensure basic services preventing daily struggles from consuming all energy
- Protect against forced evictions respecting resident rights and providing adequate notice and rehabilitation if unavoidable

Implications for Future Research

Longitudinal Studies: Track social capital evolution over time in specific Delhi-NCR neighborhoods to establish causal relationships between interventions and outcomes, reveal critical thresholds where social capital translates into empowerment, understand intergenerational transmission of social capital, and assess how rapid urban transformation affects community networks.

Qualitative Research: Complement these quantitative findings with in-depth interviews and ethnographic observation in areas like Sangam Vihar, Trilokpuri, and Chakkarpur for richer insights into lived experiences, understand meanings communities attach to social networks and empowerment, document successful and unsuccessful collective action efforts, and explore how individuals navigate tensions between different identities and loyalties.

Comparative Analysis: Compare patterns across different NCR cities and neighborhoods to identify contextual enabling factors, examine how governance variations (different state governments in NCR) affect outcomes, study differences between old and new resettlement colonies, and compare marginalized communities in Delhi-NCR with other metropolitan regions.

Intersectionality Research: Examine how multiple identities (caste, class, gender, religion, migration status) intersect to shape social capital access and empowerment outcomes. Study specific groups like women from ST communities, Muslim OBCs, or disabled individuals from marginalized communities. Investigate how location within Delhi-NCR (central Delhi vs periphery) combines with other identities affecting outcomes. Analyze how age and generational differences shape social capital formation among youth versus elders.

Technology Impact: Investigate how marginalized communities in Delhi-NCR use digital platforms like WhatsApp, Facebook, and mobile apps for building social capital and organizing collective action. Study online versus offline social capital formation patterns. Examine digital divide issues and how lack of access affects empowerment. Research how mobile technology enables access to government services and employment opportunities. Analyze the role of social media in mobilizing protests and advocacy campaigns.

Employment and Entrepreneurship: Conduct detailed research on how social capital affects economic outcomes in Delhi-NCR's labor market. Study role of community networks in job search and hiring. Examine how bridging capital enables access to better employment opportunities. Investigate entrepreneurship

patterns and role of community support. Analyze barriers preventing conversion of skills into sustainable livelihoods.

Conclusion

This study demonstrates that marginalized communities in Delhi and NCR possess significant bonding social capital through community organizations and self-help groups, but face critical gaps in bridging and linking capital that limit empowerment outcomes. Strong correlations between social capital dimensions and empowerment indicators confirm that bonding capital facilitates mutual assistance, bridging capital reduces discrimination, and linking capital enables institutional access. Self-help groups emerge as particularly powerful platforms for building multiple forms of social capital simultaneously.

However, persistence of discrimination, institutional exclusion, and structural inequalities demonstrates that social capital alone is insufficient without complementary reforms. The insights from Ambedkar, Srinivas, Desai, Beteille, and Singh remain remarkably relevant to understanding contemporary marginalized community experiences in Delhi-NCR. The metropolitan context presents both opportunities through proximity to institutions and employment, and constraints through spatial segregation and bureaucratic complexity.

Strategies for leveraging social capital must be multi-dimensional, addressing internal network strengthening, creating bridges across social divides, and building links with power structures. This requires community-level interventions in leadership development and digital inclusion, alongside policy reforms including institutional sensitivity training, simplified governance procedures, and enhanced affirmative action. These must be accompanied by structural reforms addressing root causes: regularization of unauthorized colonies, improved public services, labor protections, anti-discrimination enforcement, and democratic deepening.

The resilience demonstrated by marginalized communities in Delhi-NCR—from Trilokpuri's resistance to forced evictions to Sangam Vihar's regularization

campaigns—combined with progressive constitutional values, provides grounds for optimism. By recognizing existing social capital while dismantling barriers constraining its effectiveness, Delhi-NCR can move closer to realizing an inclusive and just society where urban opportunities benefit all residents regardless of caste, class, or community background.

References

1. *Ambedkar, B. R. (1936). Annihilation of caste. Amrit Book Company.*
2. *Beteille, A. (1969). Castes: Old and new. Asia Publishing House.*
3. *Bourdieu, P. (1986). The forms of capital. In J. Richardson (Ed.), Handbook of theory and research for the sociology of education (pp. 241-258). Greenwood Press.*
4. *Coleman, J. S. (1988). Social capital in the creation of human capital. American Journal of Sociology, 94, S95-S120.*
5. *Desai, A. R. (1969). Rural sociology in India. Popular Prakashan.*
6. *Krishna, A. (2002). Active social capital: Tracing the roots of development and democracy. Columbia University Press.*
7. *Narayan, D., & Cassidy, M. F. (2001). A dimensional approach to measuring social capital. Current Sociology, 49(2), 59-102.*
8. *Putnam, R. D. (2000). Bowling alone: The collapse and revival of American community. Simon & Schuster.*
9. *Sheth, D. L. (1983). Grassroots mobilization in Indian politics. In P. Lyon & J. Manor (Eds.), Transfer and transformation: Political institutions in the new Commonwealth (pp. 201-220). Leicester University Press.*
10. *Singh, Y. (1973). Modernization of Indian tradition. Thomson Press.*
11. *Srinivas, M. N. (1962). Caste in modern India and other essays. Asia Publishing House.*
12. *Thorat, S., & Newman, K. S. (2010). Blocked by caste: Economic discrimination in modern India. Oxford University Press.*
13. *Woolcock, M. (2001). The place of social capital in understanding social and economic outcomes. Canadian Journal of Policy Research, 2(1), 11-17.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

'सेवाग्राम आश्रम: राष्ट्र के पुनर्निर्माण हेतु महात्मा गांधी की रचनात्मक प्रयोगशाला'

डॉ. प्रिंस कुमार सिंह
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय .वर्धा (महाराष्ट्र)

गांधीजी की संपूर्ण कार्य पद्धति में आश्रमों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आश्रम उनके आचार-विचार एवं कार्यों की प्रमुख प्रयोगस्थली रहे हैं। वर्तमान समय में जब सम्पूर्ण व्यवस्थागत तंत्र कुछ इस भांति से कार्य कर रहा है जिसमें मानवीय कार्यक्षमता की अंतिम इकाई तक को पूर्णतः निचोड़ लिया जाता है, अतएव व्यक्तिगत अवकाश के लिए समय ही नहीं है। गांधीजी मानवीय जीवन में उसी अवकाश की बात करते हैं। गांधी यदि अपने आप को सनातनी हिन्दू कहते हैं तब वह उन्हीं सनातनी मूल्यों की ओर इशारा कर रहे होते हैं जिसमें कर्म के आधार पर सबके लिए न सिर्फ पर्याप्त काम है वरन पर्याप्त अवकाश भी है। चूंकि 'आध्यात्म आत्मा की अभिव्यक्ति है' तब आत्मचिंतन हेतु अवकाश भी आवश्यक है।

वस्तुतः गांधीजी ने अपने सम्पूर्ण जीवन काल में क्रमशः पाँच आश्रमों कि स्थापना की। फीनिक्स सेटेलमेंट (1904), टॉल्सटॉय फर्म (1910), कोचरब आश्रम (1915), साबरमती आश्रम (1917) एवं सेवाग्राम आश्रम (1936) गांधीजी ने आश्रमों के माध्यम से सत्य तथा अहिंसा के शाश्वत नियमों को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयास किया। उन्होने ग्राम्यजीवन के आधारभूत तत्व को नवीन सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था के रूप में आश्रम द्वारा प्रस्तुत किया एवं आश्रम जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को कायिक श्रम करने की व्यवस्था की थी। गांधीजी के अनुसार आश्रम जीवन की उपलब्धि सर्वजनीन प्रेम की साधना द्वारा ही संभव है। इस सर्वजनीन प्रेम का पूर्ण निहितार्थ है शांति के केंद्र के रूप में एकत्व की भावना तथा सबके प्रति आत्मीयता का संबंध।

गांधीजी ने नैतिकता को जीवन के आधार रूप में स्वीकार किया है। गांधीजी का मानना था कि व्यक्ति ईश्वर को अन्यत्र नहीं अपितु अपने आपमें प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति स्वयं दैवीय गुणों से युक्त है।

सत्यन्वेषण, तपस्या, आत्म-संयम तथा इंद्रिय-निग्रह द्वारा बुराइयों से ऊपर उठकर अपना चरम विकास प्राप्त कर सकता है। ।

गांधीजी प्रारंभ से ही साबरमती आश्रम को पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे, परंतु इस क्षेत्र में भी सफलता प्राप्त ना हो सकी। आश्रम दानदाताओं के सहारे चलता रहा। इसके अतिरिक्त आश्रम के संचालन में उसका अत्यधिक विस्तार भी सबसे बड़ी बाधा थी। इस विस्तार पर अंत तक चाहते हुए भी नियंत्रण स्थापित नहीं हो सका। यद्यपि आश्रम ने अनेक क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य किए तथा अनेक निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त किया परंतु अंततोगत्वा साबरमती आश्रम को औपचारिक रूप से बंद करने का मन बना लिया गया और उसे बंद कर दिया गया। गांधीजी आश्रम के बंद होने के उपरांत स्वतंत्र रूप से रचनात्मक कार्यों पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहते थे। अतः उन्होंने घोषणा की कि अब वे कोई अन्य आश्रम स्थापित नहीं करेंगे, क्योंकि आश्रम रचनात्मक कार्यों के सफल संचालन में बाधा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार गांधी ने नमक सत्याग्रह एवं साबरमती आश्रम के पटाक्षेप के बाद अपने आपको समाज सुधार, ग्राम सुधार, ग्राम विकास एवं हरिजन उद्धार जैसे रचनात्मक कार्यों में संलग्न रहने की उद्घोषणा की, उनका कहना था कि "भारत प्रमुख्यतः गांवों का देश है। देश में लगभग सात लाख गाँव हैं। इन गाँवों में सर्वत्र गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, बीमारी, बेरोजगारी का साम्राज्य है। इन गाँवों से ये त्रासदियाँ दूर हों, इसके लिए हमें गंभीरता से विचार करना होगा। अतः 'ग्राम सेवा', 'ग्राम सुधार', 'ग्राम विकास' एवं 'ग्राम कल्याण' संबंधी कार्यों का संचालन करना हम सभी का प्राथमिक कर्तव्य होना होना चाहिए। अतः मैं अब अपने आप को सभी प्रकार के राजनीतिक कार्यों से विलग करना चाहता हूँ। अब मेरी राजनीतिक कार्यों में कोई रुचि नहीं है। राजनीतिक कार्यों में उलझ जाने के कारण रचनात्मक कार्यों के लिए समय नहीं मिल पाता। अतः मेरी प्राथमिकता 'ग्राम सेवा', 'ग्राम विकास', 'ग्राम सुधार', 'हिन्दू-मुस्लिम एकता', 'अस्पृश्यता निवारण', हरिजनोंद्धार' जैसा रचनात्मक कार्यों का संपादन करना है।"[42] गांधीजी का कहना था कि अब तक हम गलत दिशा में कार्य कर रहे थे। वास्तविक भारत गांवों में बसता है जबकि अब तक हमारा सारा ध्यान शहरों के विकास पर केंद्रित था। अतः अब हमें अपना ध्यान गांव में रह रहे लोगों के कष्टों को दूर करने पर केंद्रित करना होगा। इसके लिए उन्होंने गांव में कार्य कर रहे स्वयं-सेवकों का आह्वान करते हुए कहा कि वे ग्राम विकास योजनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने का प्रयास करें, जिससे ग्रामीणों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। उनका कहना था कि छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों को पुनर्स्थापित किया जाए एवं उनको बढ़ावा दिया जाना चाहिए, जिससे ग्रामीणों की कुछ आमदनी सुनिश्चित की जा सके। कुटीर उद्योगों को ग्रामीण अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ना आवश्यक है। अतः उन उत्पादों को ढूंढना होगा जो गांव में संभव हैं और जिनमें गांव वालों की रुचि भी है। साथ ही यह सभी

42 बी.एम.शर्मा,गांधी आश्रम : गांधी विचार दर्शन की प्रयोगशालाएं.पृ.कृ.157. (2020).

उत्पादित वस्तुएं गाँव वालों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तैयार की जानी चाहिए जिससे विपणन भी संभव हो सके। गांधीजी का मानना था कि वस्तुओं का जिस जगह उत्पादन किया जाए उसका उपयोग भी वहीं पर होना चाहिए। गांधीजी कि उक्त संकल्पना के पीछे ग्रामोत्थान अथवा स्थानीय सतत विकास की अवधारणा को भलीभाँति देखा जा सकता है।

"सन् 1936 में मुंबई क्रॉनिकल में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार वस्तुतः गांधी गांवों के रचनात्मक कार्यों के संचालन में आ रही समस्याओं पर विचार कर उनके समाधान हेतु एक संस्थागत मॉडल (Institutional Model) विकसित करना चाहते थे, जिससे एक 'आदर्श गांव' की परिकल्पना साकार की जा सके।"[43] अतः गांधी जी का कहना था कि इन सब कार्यों के सुचारू संपादन के लिए आश्रम की आवश्यकता नहीं है। इन कार्यों का संपादन गांव में रहकर ही संभव है। गांधीजी का कहना था कि हमें गांव वालों की आवश्यकता एवं प्राथमिकताओं को ठीक से समझना होगा तथा उसी के अनुरूप कार्य करना होगा। गांधीजी प्रारंभ से ही आश्रम वासियों सहित कार्यकर्ताओं को रचनात्मक कार्यों का महत्व समझाने का प्रयत्न करते रहते थे। वह सदैव इस बात पर जोर देते थे कि "राजनीतिक सत्ता अपने आप में साध्य (End) न होकर एक ऐसा साधन (Means) है, जिससे जीवन के हर पहलू को सुधारा जा सकता है।"[44] आश्रम में बहुत सारे स्वयंसेवक ऐसे थे जो गांधी जी के रचनात्मक कार्यों के संपादन के लिए गांवों में जाकर जनसेवा का कार्य करते रहते थे, पर अनेक कार्यकर्ताओं में रचनात्मक कार्यों तथा ग्राम सेवा के लिए कोई विशेष उत्साह नजर नहीं आता था। गांधी इस स्थिति से पूर्णतः भिज्ञ थे। गांधीजी के प्रभाव के कारण रचनात्मक कार्यों के साथ पर्याप्त भीड़ जुटने लगी थी। इससे अधिक संसाधन भी उपलब्ध होने लगे थे। गांधी जी की प्रेरणा से प्रेरित कार्यकर्ता शहरों से कस्बों में चले गए। विशेष समाज सुधारक संगठनों के बनने से रचनात्मक कार्यों का भी विकेंद्रीकरण सुलभ हो सका। गांधीजी मानते थे कि किसी विशेष कार्य के लिए जब स्वशासी संगठन खड़े किए जाते हैं तब कार्य प्रभावशाली ढंग से होता है। गांधीजी यह कहा करते थे कि भारत के गांवों में गरीबों के जीवन स्तर और स्थितियों में अंतर ही भारत का विकास है। सन् 1931 के अपने एक भाषण में उन्होंने तीस के दशक की दिशा इस प्रकार निर्धारण किया कि "आज तक हम गलत दिशा में जा रहे थे। हम अपना सारा कार्य शहरों में कर रहे थे और हमारी सारी योजनाएं भी शहरोन्मुखी थीं। हम गांव के लोगों से दूर रहे, इसलिए वे अपने कष्टों और गरीबी को ईश्वर की देन समझते रहे। जन सेवा की संस्थाएं जनता के बीच स्थित होनी चाहिए। उन्हें उनके सुख-दुःख बांटने चाहिए और उनमें ज्ञान का प्रकाश फैला कर सेवा करनी चाहिए।"[45] गांधी जी का यह अटल

43 वहीं.पृ.कृ.158

44 वहीं.

45 वहीं.पृ.कृ.159.

विश्वास था कि इंसान इंसानों का शोषण तभी बंद करेंगे जब सभी मानव मात्र की समानता और एकता को स्वीकार करेंगे। इस दृष्टि से सभी व्यक्ति सभी व्यक्तियों का सम्मान करें, अहिंसा में विश्वास रखें और भाईचारे के लिए नि:स्वार्थ रूप से कार्य करे। किंतु उन्हें मालूम था कि ग्रामीणों की निरक्षरता, अज्ञान और अंधविश्वास इन कार्यक्रमों को सफल नहीं होने देंगे। उन्होंने कार्यकर्ताओं को ग्रामीणों में निरक्षरता, अज्ञान एवं अंधविश्वास को समूल नष्ट करने के लिए सफल अभियान चलाने को कहा। सन् 1933 के आखिरी महीनों में गांधी पूरे भारत की यात्रा पर निकले और अस्पृश्यता के खिलाफ एक अलख जगाई। पूरे 9 महीने तक उन्होंने भाषण दिए, चंदा इकट्ठा किया, मंदिर प्रवेश कराये, हरिजन कॉलोनी बसाई, गांव और हरिजन सेवा के लिए दिशा निर्देश दिए तथा बहुत से सवालों को हरिजन परिणामों से अवगत करवाया गया। इससे हरिजनों में एक आशा जागी और स्वयं गांधी ने उन तत्वों को पहचाना जो इस महायज्ञ में बाधक थे। यह स्पष्ट लगने लगा कि केवल हरिजन उद्धार के स्थान पर यदि ग्राम पुनर्गठन जोड़ दिया जाए तो प्रगति त्वरित हो सकेगी।

सन् 1930 के बाद गांधीजी सामूहिक कार्यों की बजाय स्थानीय सुधारों एवं ग्राम उन्नति की गतिविधियों में व्यक्तिगत प्रयासों पर जोर देने लगे। उन्होंने राजनीति के बाहर ऐसे व्यक्तियों से संपर्क करना शुरू किया जो ग्राम सेवा एवं ग्राम विकास के कार्यों में संलग्न होने को तैयार थे। अतः इस क्रम में उनका एक समृद्ध मारवाड़ी उद्योगपति जमनालाल बजाज से संपर्क हुआ। जिन्होंने साबरमती तथा अन्य रचनात्मक कार्यक्रम में भारी वित्तीय सहायता प्रदान की थी। जमनालाल बजाज गांधी द्वारा स्थापित समाज सुधार संगठनों में से लगभग 13 के अध्यक्ष अथवा सदस्य थे। गांधी जी ने सन् 1933 में हरिजन सेवा संघ की स्थापना की जिसमें जवानो को हरिजन की सेवा के लिए संगठित किया जा सके।

सन् 1934 में जमनालाल बजाज के परामर्श पर गांधी ने अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ के मुख्यालय के रूप में वर्धा का चयन किया था। इस स्थान के चयन के अनेक कारण थे किंतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि इस जिले में जमनालाल बजाज स्वयं बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति थे, और वह वर्धा आश्रम के मुख्य प्रयोजक थे। इसके अतिरिक्त जमनालाल बजाज ने मगनलाल गांधी की स्मृति में गांधी को एक 20 एकड़ क्षेत्रफल वाला बागान दिया इसका नाम मगनवाड़ी रखा गया। यह अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ का प्रशासनिक मुख्यालय बन गया। अखिल भारतीय ग्राम संघ का प्रबंध प्रसिद्ध गांधीवादी अर्थशास्त्री जे.सी. कुमारप्पा के हाथों में था। यह एक संयोग है कि सेवाग्राम के चयन के लिए सर्वाधिक उत्तरदाई व्यक्ति अंग्रेज महिला 'मेडलीन स्लेड' यानी मीरा बहन थीं। उन्होंने ही गांधी जी की ग्राम योजना संबंधी प्रयोगशाला के रूप में इस स्थल का चयन किया था।

गांधी के साथ मगनवाड़ी में रहते समय वह एक सिंदी नामक ग्राम के बीच गुजरा करती थीं। इस गांव में भयानक गंदगी थी, हरिजन के नए संपादक महादेव देसाई के सहयोग से मीरा बहन ने सिंदी में सफाई

कार्यक्रम शुरू किया। इसके उपरांत भी गांव वाले गंदगी फैलाने से बाज नहीं आए। इस असफलता पर गांधीजी ने 23 स्वयंसेवकों की सहायता से मीरा बहन को प्रतिदिन सुबह गांव की सड़कें साफ करने का निर्देश दिया। स्वयं गांधी एक दिन सुबह सफाई दल के साथ गए और गांव वालों के समक्ष मिट्टी की शौचालय बनाने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने इन कार्यों के द्वारा उत्पन्न खाद की पैदावार बढ़ाने तथा पूरे वर्ष सब्जी आदि उगाने के काम में लाए जाने का आग्रह किया। सन् 1935 के अंत में उच्च रक्तचाप के कारण गांधीजी का स्वास्थ्य गिरता चला गया। उन पर मगनबाड़ी में या मगनबाड़ी के परिवेश का तथा हिंदी में कोई प्रगति नहीं होने का भी अत्यधिक बुरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने सिंदी में अकेले ही रहने का निर्णय किया इसके लिए वहां गांधी तथा मीरा बहन के लिए एक कॉटेज बनाया गया। चूंकि गांव के अधिकांश लोग महार जाति के थे इसके अलावा 12 सवर्ण परिवारों को छोड़कर और भी अधिक निचली जाति के लोग रहते थे। शीघ्र ही इस गांव में मीरा बहन को पानी प्राप्त करने में कठिनाई होने लगी, हर एक जाति का अपना अलग कूँआ था। एक दिन घूमते समय जब मीरा ने निम्न समझे जाने वाले एक अछूत से पानी ग्रहण कर लिया तो अन्य सभी जातियों ने उनके लिए अपने कुंए पर पानी बंद कर दिया। किंतु अपने कार्य की प्रगति एवं सेवा सफाई के आधार पर मीरा बहन ने गांव वालों का विश्वास जीतने में सफलता अर्जित की। वस्तुतः जमनालाल बजाज व्यापारी एवं गांव के मालगुजार अर्थात मराठा राजस्व प्रबंधक एवं जमीदार भी थे। उनको सेगांव की

मालगुजारी का लगभग 75% तथा बाबासाहेब देशमुख को 25% मालगुजारी मिलती थी। गांव की कुल जमीन 1550 एकड़ में से 220 एकड़ मालगुजार के पास थी और शेष 60 छोटे जमीदारों में बंटी थी। प्रारंभ में मीरा बहन ने गौशाला में रहना शुरू किया। सिंदी में उनके स्थान पर मगनबाड़ी से आया कार्यकर्ता गजानन नाम का व्यक्ति कार्य करने लगा। मीरा बहन अपनी इस नई जीवनशैली के प्रति अति उत्साहित थीं। उन्होंने कहा कि गांव जीवन और सुंदरता के स्रोत हैं, शीघ्र ही उनका यह उत्साह ठंडा पड़ गया। जब उन्होंने जाना कि उनके स्वास्थ्य में गिरावट का मुख्य कारण गांधी जी से अलगाव है। उनकी सदैव यह तीव्र इच्छा रहती थी कि वह गांधी जी के पास रहें। जब मीरा बहन ने सुना कि गांधीजी को सेगांव के पास एक आश्रम में ले जाया गया है और जमनालाल बजाज ने आगंतुकों एवं आश्रम वासियों के द्वारा उनके संपर्क करने पर पूर्णतय रोक लगा दी है, तब मीरा बहन को गहरा आघात पहुंचा। अंततः उन्होंने सीधे गांधी जी से मिलने की अनुमति मिली किंतु गांधी ने कहा उनका रक्तचाप और भी बढ़ जाएगा यदि वह सेगांव में नहीं रहेंगे। धीरे-धीरे गांधी के स्वास्थ्य में सुधार हुआ। परंतु मीरा बहन ने पाया कि गांधी और उनके बीच दीवार खड़ी हो गई है। इसका कारण यह था कि उन्हें गांधीजी पर एकाधिकार करने की तीव्र भावना उत्पन्न हो गई थी और यही उनकी पीड़ा का मुख्य कारण था। अतः उन्हें पुनः मगनवाड़ी चले जाने के लिए कहा गया। गांधी ने अपने स्वास्थ्य में गिरावट आने पर भी सेगांव में ही रहने का निश्चय किया। सेगांव में उनके लिए जो योजना बनाई गई उसके अनुसार उनका झोपड़ा बांस की

लकड़ी से बनाया गया। सेगांव में लगभग 47 डिग्री तक पारा पहुंच जाया करता था। डॉक्टरों ने उनके उच्च रक्तचाप को देखते हुए उन्हें ठंडे स्थान पर जाने का परामर्श दिया। तब वे दक्षिण भारत की नंदी पहाड़ी पर विश्राम हेतु गए। गांधीजी की अनुपस्थिति में सेगांव एक आश्रम के रूप में विकसित होने लगा था। यह सबको ज्ञात था कि सेगांव को गांधी ने ग्रामीण जीवन के आदर्श के रूप विकसित करने का निर्णय ले रखा है। चूंकि गांधीजी यह नहीं चाहते थे कि उसकी सफलता केवल उनके निजी विश्वास पर हो, बल्कि वे ग्रामीणों में चेतना जागृत कर यह कार्य संपन्न करना चाहते थे। इस प्रयोग की सफलता का आधार वास्तविक रूप में किया गया सुधार था। अल्पकाल में ही सेगांव सेवाग्राम बन गया और गांधी के इर्द-गिर्द फिर से एक नया आश्रम उठ खड़ा हुआ। गांधी यह प्रयास करते रहे कि वहां उनसे मिलने कोई नहीं आए, वहां आने वालों के लिए खाने और ठहरने की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। फिर भी भारत के वायसराय सहित सभी आने-जाने वालों का तांता लगा रहता था। सन् 1940 तक आने वालों को वर्धा से सेवाग्राम तक कीचड़ से भरे रास्ते को पार करके आना पड़ता था। इस तरह गांधी आगंतुकों को रोक पाने में असमर्थ थे। मीरा बहन के लिए एक मील दूर गांव में एक झोपड़ी बना दी गई, केवल बलवंत सिंह तथा मुन्ना लाल शाह को सेवाग्राम में रहने की अनुमति मिल पाई। इस प्रकार गांधी का गांव में अकेले रहने का संकल्प कभी पूरा नहीं हुआ। आशा के विपरीत उनकी झोपड़ी में भीड़ इकट्ठी हो जाती थी फिर अलग से गांधी के लिए बापू-कुटी नाम से एक झोपड़ी बनाई गई। ऐसी ही व्यवस्था गांधी के सचिवों अर्थात महादेव देसाई तथा प्यारेलाल के लिए भी की गई।

गांधी जी सन् 1936 से सेवाग्राम में रहने लगे तथा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु गांधी जी ने जमनालाल बजाज एवं अन्य सहयोगियों की मदद से यहाँ पर एक आश्रम की स्थापना की, आश्रम समाज के दबे-कुचले एवं ग्रामवासियों की सहायतार्थ बनाया गया था। अतः गांधी जी कहते हैं कि- "गरीबों की सेवा करने के लिए हमें उनके बीच सबसे गरीब बनकर रहना चाहिए। लोग आपके जीवन से सीखते हैं, आपके विचारों से नहीं।"[46] गांधी जी एवं आश्रम के अन्तःवासियों ने मिलकर सेवाग्राम आश्रम का वातावरण ही कुछ इस प्रकार निर्मित किया था कि यह एक लघु समाज की भांति प्रतीत होता था, जहां पर अलग-अलग रंग, रूप, भाषा, संप्रदाय एवं वेश-भूषा के व्यक्ति निवास करते थे। हम आमतौर पर प्रयोगशाला से तात्पर्य वैज्ञानिक प्रयोगशाला से लगाते हैं, परंतु इसका अर्थ कहीं अधिक विस्तृत एवं व्यापक है। प्रयोगशाला का तात्पर्य ऐसे स्थान से है जहां प्रयोगात्मक कार्यक्रम के क्रियान्वयन हेतु उपयुक्त माहौल एवं साधनों की उपलब्धता हो। अतः गांधी जी ने स्वयं अपने आश्रमों को प्रयोगशाला कहकर संबोधित किया है।

46 सुधीर कक्कड़,मीरा और महात्मा. पृ.82. (2012).

किसी भी कार्य की सिद्धि चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक, स्थिरता और दृढ़ता को धारण किए बिना संभव नहीं हो सकती। व्यवस्था और संस्था शब्द जो 'स्था' धातु से बने हैं, स्थिरता और दृढ़ता के ही अर्थवाची हैं, क्योंकि 'स्था' का अर्थ होता है खड़े होना (To stand)। किसी कार्य में स्थिरता और दृढ़ता लाने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है, एक तो कार्य-विभाग और दूसरा नियंत्रण। नियंत्रण का दूसरा अर्थ होता है नियमितता। यदि नियमों का उल्लंघन करके किसी कार्य को किया जाय, तो सफलता कदापि नहीं मिल सकती। अतः क्रमबद्ध तथा नियमबद्धता के साथ किया गया प्रयास ही किसी प्रयोग को इंगित कर सकता है। गांधी जी ने सेवाग्राम आश्रम में जो रचनात्मक कार्यक्रम संचालन की रूप-रेखा तैयार की थी वह समाज एवं राष्ट्र के हित को साधते हुए व्यक्तिगत हित को भी संतुष्ट करने में सक्षम थी। समाज में सकारात्मकता का संचार और व्यावहारिक तौर पर सभी पक्षों को प्रभावित कर सकने में सक्षम थी। सेवाग्राम-आश्रम गांधी द्वारा स्थापित अंतिम आश्रम था, अपने मूल-भूत प्रयोग जो रचनात्मक कार्यक्रम के रूप में थे उनके द्वारा व्यवस्थित समाज की संकल्पना का प्रयत्न सेवाग्राम में ही किया गया। गांधी जी द्वारा किये गये सभी प्रयोग सामाजिक जीवन से जुड़े हुए थे। यह मूलतः गांधी के विचारों एवं दृष्टिकोण को सामाजिक स्तर पर उतारने का प्रयास एवं व्यक्तिगत जीवन को सामाजिक जीवन से जोड़ने का एक व्यवस्थित कार्यक्रम था।

गांधीजी के आश्रमों के संबंध में श्री भगवान सिंह जी लिखते हैं कि- "अनेकों का मत है कि गांधी जी की समाज विषयक कल्पना को आश्रम में साकार रूप प्राप्त हुआ है। परंतु मेरी समझ में इस प्रकार की कल्पना करना अत्यंत गलत होगा। गांधी जी का आश्रम सर्वप्रथम तो एक प्रशिक्षण केंद्र था। उन्होंने इसी रूप में इसकी कल्पना भी की थी शरीर और मन को सामर्थ्यवान बनाने के लिए सोद्देश्य अनुशासन् का प्रशिक्षण वहाँ प्राप्त होता था। यह कहना भी मेरी धृष्टता नहीं होगी कि आश्रम की तुलना सैनिक छावनी के साथ की जा सकती है। उस छावनी के शस्त्र और दैनंदिन अभ्यास अलग प्रकार के थे, परंतु उद्देश्य और दिनचर्या सैनिक छावनी के समान ही थी। आश्रम और आश्रम के प्रशिक्षित लोग भारत में एकत्व निर्माण करने के लिए, और एक ऐसा सैन्य तैयार करने के लिए थे जो उनके शत्रु (ब्रिटिश) की न केवल बराबरी कर सके, अपितु उनसे भी बढ़कर हों। कम-से-कम 1942 तक आश्रम की यही संकल्पना थी।"[47]

47 भगवान सिंह,गांधीजी के आश्रम संदेश हैं.पृ.182. 2015

गांधी जी का मानना था कि पारस्परिकता, सादगी तथा कठोर परिश्रम पर आधारित आश्रम जीवन एक ऐसे संयमवाद को विकसित करेगा जो सामाज-सुधार हेतु उपयोगी सिद्ध होगा। गांधी जी अहिंसा एवं शांति के लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रयोगशाला धर्मिता एवं सामाजिक समरसता के साधन द्वारा मानवीय जीवन पर अपने प्रयोगों को लागू करना चाहते थे। सेवाग्राम आश्रम में व्यक्ति के जीवन के उन पक्षों पर प्रयोग किया जाता था जो व्यवहार, विचार एवं व्यवस्था को परिवर्तित कर एक आदर्श समाज व्यवस्था को स्थापित कर सके। दैनिक-चर्या में उन आदतों को शामिल करने को प्रोत्साहित किया जाता था जिनसे जीवन में सकारात्मकता को संचारित किया जा सके, क्योंकि व्यक्ति का चित्त सकारात्मक ऊर्जा से भरा रहेगा तो वह सकारात्मक सोचेगा और सामाजिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा।

"गांधी जी द्वारा स्थापित आश्रम ऐसी प्रयोगशालाएं थे जहाँ वे और उनके सहयोगी जीवन-पद्धति के एक विकल्प के रूप में अहिंसा के साथ प्रयोग करते थे। आश्रम उनके विभिन्न आंदोलनों को संचालित करने वाले सदस्यों के लिए आवश्यक अनुशासन् एवं नैतिक समर्थन भी उपलब्ध करवाते थे।"[48] अपने व्यक्तिगत अनुभवों, भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं तथा दुनिया के महान विचारकों के आदर्शों को साधन बनाकर गांधी जी अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सदा प्रयासरत रहे। मानवीय विचारों एवं व्यवहारों को अपने कार्यक्रम का महत्वपूर्ण अंग बनाकर उन्होने सदैव सामाजिक कल्याण को प्राथमिकता दी, गांधी जी एक साथ दो तरह के प्रयोग कर रहे थे, एक सामाजिक जीवन पर रचनात्मक प्रयोग एवं दूसरा राष्ट्रीय स्वराज्य हेतु सत्याग्रह का प्रयोग। रचनात्मक कार्यक्रमों के महत्व को संदर्भित करते हुए स्वयं गांधी जी ने कहा है कि- "यदि रचनात्मक कार्य-क्रम में पूर्ण राष्ट्र का सहयोग प्राप्त हो जाय तो, शुद्ध अहिंसात्मक प्रयत्नों के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये सविनय आज्ञा-भंग की बिलकुल जरूरत नहीं है।"[49] उनके अनुसार किसी भी प्रकार के सामाजिक वातावरण के निर्माण की शुरुआत मूलतः किसी विचारधारा से होती है। विचारधारा व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है एवं वह उसी के अनुसार आचरण करता है, गांधी जी के विचार एवं व्यवहार में हम उदारतावाद तथा अहिंसात्मक प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। आमतौर पर सभी उन विचारों को अपने जीवन पर लागू करते हैं परंतु गांधी जी ने अपने विचार,दर्शन एवं प्रयोगों को सम्पूर्ण भारतीय समाज पर लागू करने का प्रयास किया। वह उन

48 प्रो.बी.एम.शर्मा,डॉ.रामकृष्ण दत्त शर्मा & डॉ.सविता शर्मा.गांधी दर्शन के विविध आयाम.पृ.24. (2015).

49 नारायणसिंह,मार्क्स और गांधी का साम्यदर्शन.पृ.343. (1885).

नियमों एवं सिद्धांतों के निर्माण के लिए प्रयासरत रहे, जो सामाजिक स्तर पर एक आदर्श व्यवस्था का निर्माण कर सके। जहां न कोई छोटा हो न कोई बड़ा हो, मानव का विवेक स्थिर एवं शांत रहे तथा हिंसा के लिए उस समाज में कोई स्थान नही हो। गांधी जी का मानना था की मनुष्य द्वारा निर्मित कोई भी वस्तु पूर्ण नही होती, उसमें किसी न किसी तरह की कमी अवश्य रह जाती है। वस्तुतः सेवाग्राम आश्रम की व्यवस्था के संबंध में उनका मानना था कि यदि आश्रम में भ्रष्टाचार है तो मैं उसको अपने अंदर की गलतियों का प्रतिबिंब मानता हूँ। उन्होने कभी इस बात का दावा नहीं किया की वो सर्वगुणसंपन्न हैं, किसको पता है कि उनके किस गुण या विचार की गलती का प्रभाव इर्द-गिर्द के वातावरण पर पड़ा है। "आश्रम के बारे में अपना विचार मैं एक बार फिर रखना चाहूँगा। यह हमेशा दोषपूर्ण रहा है, यहाँ भ्रष्टाचार पाया गया है फिर भी यह संस्था मेरी सर्वश्रेष्ठ रचना है। मैं इसके माध्यम से ईश्वर का दर्शन करना चाहता हूँ। ज्ञान के बोध मुझे सावधान करते हैं, वे मुझे आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित करते हैं, मुझे विनम्र बनाते हैं लेकिन वे इसमें मेरे भरोसे को नहीं डिगते।"[50] मुख्यतः गांधी जी के प्रयोगों का सिलसिला तो दक्षिण-अफ्रीका से ही शुरू हो गया था, परंतु सामाजिक तौर पर वृहद सामाजिक विकास के लक्ष्य का निर्माण भारतीय समाज में संचालित तात्कालिक व्यवस्था के अध्ययन पश्चात ही हुआ।

गांधी जी के आश्रम की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए डॉ. प्रभाकर माचवे ने लिखा है कि " यह संस्कृत शब्द श्रम से बना है। जहां आदमी अपना काम खुद करे। जहां कोई नौकर-चकार न हो, प्रकृति कि गोद में जहां कुछ लोग, जो एक जैसे विचारों के हों रहें। सिर्फ मौज नहीं उड़ाएँ। वे केवल स्काउटों के कैंप या सेना के शिविर कि तरह थोड़े दिनो नहीं रहें। पर यह करें कि अब हम घर-बार में रहना बहुत कर चुके, अब हम नौकरी, व्यापार नही करेंगे। अपने आस-पास की जमीन को जोतकर जो अन्न मिले आसपास की झाड़ियों से जो कंदमूल मिले, उन्हीं के सहारे रहकर हम सब मिलकर एक साथ समान भाव से जीवन बिताएँगे। सीधी- सादी झोपड़ियों में रहेंगे। गाँव के गरीब लोग जैसे रहते हैं, वैसे कम से कम चीजों में गुजारा करेंगे। अपना कपड़ा खुद कातेंगे- बुनेंगे। अपनी गाय-बकरी पालकर उसका दूध और अपनी झोपड़ी के आसपास साग-सब्जियाँ उगाएँगे। उनको पाकर निर्वाह करेंगे। ऐसा विचार करके कुछ लोग

50 सुधीर कक्कड़,मीरा और महात्मा.पृ.117. (2012).

एक साथ रहने लगें, तो वह आश्रम कहलाता हैं। अमेरिका में 'डेविड थोरो' ने 'वानडेन' में ऐसा ही आश्रम बनाया था।"[51]

गांधी जी के सामाजिक पुनर्निर्माण में रचनात्मक कार्यक्रमों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह सामाजिक बदलाव का वह विकल्प था जिसको इससे पूर्व विश्व में किसी ने भी उपयोग में नहीं लाया था। सर्वप्रथम गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम सत्य, अहिंसा, समाजवाद, धार्मिक दर्शन एवं अनुभवों पर आधारित कार्यक्रम थे जिसमें एक सभ्य व उत्कृष्ट समाज के निर्माण की कामना विद्यमान थी। संस्कृति के चार अध्याय पुस्तक में रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं कि, "महात्मा गांधी ने भारतीय संस्कृति पर इतनी अधिक दिशाओं में प्रभाव डाला है कि उनके समस्त अवदान का सम्यक मूल्य निर्धारित करना अभी किसी के लिए संभव नहीं दीखता। खान-पान, रहन-सहन, भाव-विचार, भाषा और शैली, परिच्छद और परिधान, दर्शन और सामाजिक व्यवहार एवं धर्म-कर्म, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता भारत में आज जो भी आचार और विचार प्रचलित हैं, उनमें से प्रत्येक पर कहीं न कहीं गांधी जी की छाप है। यहाँ तक की उनके आलोचकों और विरोधियों में भी ऐसे अनेक लोग हैं, जिनकी पोशाक नहीं तो खान-पान में, विचार नहीं तो सामाजिक आचरण में, महात्मा गांधी का प्रभाव मौजूद है।"[52] गांधीजी ने भारतीय सभ्यता एवं इतिहास तथा समकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर रचनात्मक कार्यक्रमों की रूप-रेखा तैयार की जिनमें तात्कालिक परिस्थितियों में अपेक्षाकृत सुधार और सामाजिक विकास आदि मुद्दों को ध्यान में रखकर भारतीय समाज में कुछ मूलभूत परिवर्तनों को साकार रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया।

चूंकि गांधी जी का मानना था कि "मनुष्य के दैनंदिन क्रियाकलापों के अनुरूप ही उसके व्यक्तित्व का गठन होता है। इस दृष्टि से रचनात्मक कार्यक्रम सब लोगों-गरीब से गरीब व्यक्ति की भी-क्रियाशीलता को अभिव्यक्त करने का, पुरुषार्थ करने का, संगठन-कौशल विकसित कर समाज-जीवन को उन्नत बनाने में योगदान देने का अवसर प्रदान करते हैं।"[53]

अतः गांधी जी आत्मनिर्भर समाज जो स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु श्रम करने अथवा सामाजिक उन्नति हेतु संगठित प्रयास करने के लिए तत्परता दिखाए, ऐसे समाज की कामना किया करते

51 डॉ. प्रभाकर माचवे, गांधीजी के आश्रम में.पृ.6.(1991).

52 रामधारी सिंह दिनकर,संस्कृति के चार अध्याय.पृ.450. (2015).

53 कनकमल गांधी,रचनात्मक कार्यक्रम : आध्यात्म और विज्ञान का समन्वय .(2011).

थे। इस हेतु रचनात्मक कार्यक्रम अत्यंत ही उपयोगी साधन हैं। रचनात्मक कार्यक्रमों की बुनियाद में साधन-शुद्धि का दृढ़ विचार रहा है। शुद्ध साधनों से ही शुद्ध लक्ष्य सिद्ध हो सकता है। यह विचार आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक दोनों दृष्टियों के सम्मत है। रचनात्मक कार्यक्रम यानी स्वदेशी, प्रेम तथा करुणा के कार्यक्रम। अपने पड़ोसी की सेवा से प्रारम्भ करके विश्व-बंधुत्व तक की मंजिल हासिल करनी होगी। रचनात्मक कार्यक्रम श्रम की प्रतिष्ठा के प्रतीक थे। श्रम के नैतिक, सामाजिक और आर्थिक तीनों प्रकार की मान्यता सर्वोदय में निहित है। सरल अर्थों में गांधी जी की कल्पना का समाज विकेन्द्रीकरण तथा ग्रामराज की धुरी पर आधारित था। सामाजिक बदलाव के जिन पक्षों को गांधी जी ने चुना वह भारतीय व्यवस्था को पूर्णतः ध्यान में रखकर लिया गया फैसला था। गांधी जी कहते हैं कि "भारत की हर चीज मुझे आकर्षित करती है। सर्वोच्च आकांक्षाएँ रखने वाले किसी व्यक्ति को अपने विकास के लिए जो कुछ चाहिये, वह सब उसे भारत में मिल सकता है।"[54] अतः भारत में प्राचीन काल से ही आत्मनिर्भर समाज था, यहाँ तक कि मध्यकालीन भारत में जब मुगल आक्रमणकारियों ने प्रवेश किया तथा भारतीय सत्ता उनके हाथों में हस्तांतरित हुई तब भी भारतीय समाज आत्मनिर्भर था। ग्रामीण व्यवस्था होने के कारण भारत की अधिकांश आबादी गांवों में ही निवास किया करती थी। कृषक वर्ग उत्पादन प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग रहा एवं मजदूर वर्ग उत्पादन प्रणाली में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था, कारीगर आदि हस्तकला एवं हस्त निर्माण से उपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया करते थे। व्यक्तियों की आवश्यकताएँ भी सीमित थीं अतः ग्रामों को लोहे तथा नमक आदि कुछ एक वस्तुओं के अलावा बाहरी दुनिया से कोई लेना देना नहीं था, भारतीय समाज ने अपनी एक बैंकिंग प्रणाली भी विकसित कर ली थी। नगर सेठ या साहूकार जो जरूरत पड़ने पर धन का लेन-देन किया करते थे । परंतु आधुनिक काल में जब औद्योगीकरण की शुरुआत हुई तो यूरोपीय व्यापारियों का हस्तक्षेप बढ़ गया और भारतीय अर्थव्यवस्था डगमगाने लगी। परिवर्तन तो आवश्यक था परंतु उसकी पद्धति भिन्न होनी चाहिये थी। परिणामस्वरूप भारत ब्रिटेन का उपनिवेश मात्र बनकर रह गया। अतः भारत के सभी संसाधनों एवं धन का उपयोग ब्रिटेन की स्वार्थ सिद्धी हेतु किया जाने लगा । गांधी जी उसी प्राचीन व्यवस्था में कुछ मूलभूत सुधार करते हुए भारत को आत्मनिर्भर बनाने हेतु प्रयासरत थे, जिस हेतु रचनात्मक कार्यक्रमों की सहायता अनिवार्य थी।

54 महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत. पृ.9. (2008).

महात्मा गांधी अपनी पुस्तक रचनात्मक कार्यक्रम:उसका रहस्य और स्थान मे कहते हैं कि "सत्य और अहिंसा के जरिये सम्पूर्ण स्वतन्त्रता कि प्राप्ति का मतलब है, जात-पात, वर्ण या धर्म के भेद से रहित राष्ट्र के प्रत्येक घटक की और उसमें भी उसके गरीब से गरीब व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सिद्धि। इस स्वतन्त्रता से किसी को भी अलग नहीं रखा जा सकता, यदि रचनात्मक कार्यक्रमों को कामयाबी के साथ पूरा किया जाए, तो इसका नतीजा वह आजादी या स्वतत्रता ही होगी जिसकी हमें जरूरत है।" गांधी जी का मानना था कि सेवाग्राम उनके लिए अहिंसा की एक प्रयोगशाला है। तथा जहां पर इनके प्रयोग सफल रहे हैं, यहाँ पर उनकी छोटी-छोटी समस्याओं का समाधान मिल सकता है अतः गांधी का विश्वास था की यही समाधान राष्ट्र की बड़ी से बड़ी समस्या पर भी लागू होगा। इसलिए वह सेवाग्राम नहीं छोड़ना चाहते थे, उनका मानना था की सेवाग्राम उनके सत्य की प्रयोगशाला है । अतः गांधी जी शिमला या दिल्ली में रहकर राष्ट्र को स्वतंत्र नहीं करा सकते बल्कि सेवाग्राम में ही स्वतन्त्रता की कुंजी प्राप्त होने की उम्मीद थी। अतः सेवाग्राम में बसने के अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए गांधी जी ने **'मारिस फ्राईडमन'** से जो की एक पोलिश इंजीनियर थे कहा कि- "यहाँ तो मैं सिवा अपने और किसी की सेवा करने नहीं आया हूँ । इन देहातियों की सेवा द्वारा मैं आत्म-साक्षात्कार करना चाहता हूँ। मनुष्य का अंतिम उद्देश्य है ईश्वर का साक्षात्कार – उसकी अनुभूति प्राप्त करना। उसके राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी कार्य का अंतिम उद्देश्य ईश्वरानुभूति को ध्यान में रखकर ही संपादित होना चाहिये। इसलिए मानव-जाति की सेवा इस प्रयत्न का एक अनिवार्य भाग है, क्योंकि ईश्वर को पाने का एकमात्र उपाय है उसी की बनाई सृष्टि में परमात्मा का दर्शन करना और उससे तादात्म्य स्थापित कर लेना। यह तो सबकी सेवा द्वारा ही हो सकता है। स्वदेश सेवा के बगैर विश्व-सेवा हो ही नहीं सकती।"[55]

यदि हम सेवाग्राम आश्रम की व्यवस्था, कार्यप्रणाली एवं गांधी जी तथा अन्य आश्रमवासियों की दिनचर्या का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि यहाँ पर नियमबद्धता, कर्तव्यनिष्ठा एवं प्रयोगिक स्तर की जीवन पद्धति का संचार होता था। सेवाग्राम आश्रम के संबंध में भगवान सिंह जी लिखते हैं कि- "स्थापना के तुरंत बाद से आश्रम 'रचनात्मक कार्यक्रम' केंद्र भी बन गये। आवश्यकता के अनुसार क्रमशः रचनात्मक कार्यक्रम के एक-एक कार्य के लिए स्वतंत्र संस्था का निर्माण होने लगा। उदाहरण के लिए चरखा-संघ, ग्रामोद्योग-संघ, हिंदुस्तानी प्रचार-सभा, नयी तालीम-संघ आदि रचनात्मक कार्यक्रम

55 सेवाग्राम आश्रम प्रतिष्ठान,सेवाग्राम आश्रम (महात्मा गांधी द्वारा स्थापित आश्रम का परिचय).पृ.सं. (2012).

के ही विभिन्न अंग थे।"[56] गांधी सामाजिक जीवन एवं समाज पर अपने प्रयोगों का क्रियान्वयन सेवाग्राम आश्रम में किया करते थे, वस्तुतः यह गांधी के रचनात्मक प्रयोगों का प्रमुख केंद्र था। जिसमें सामाजिक पुनर्निर्माण, स्वराज्य एवं एक उत्कृष्ट सभ्यतागत रचना हेतु प्रयास किया जा रहा था। अतः उक्त तथ्यों एवं विश्लेषण के आधार पर हम सेवाग्राम आश्रम को एक प्रयोगशाला एवं गांधीजी को एक प्रयोगकर्ता के तौर पर प्रस्तुत कर सकते हैं।

"महात्मा गांधी की विश्व को सबसे बड़ी देन यह नहीं है कि उनहोंने भारत को अंग्रेजों से आजादी दिलाई। आजादी तो उनके न होने पर भी मिलती क्योंकि यह एक ऐतिहासिक क्रम था। गांधी जी की देन तो आजादी दिलाने के तरीके में थी, जिसमें विरोध किसी व्यक्ति समूह का नहीं किया गया अपितु व्यवस्था या तंत्र (system) का किया गया।"[57] अतः उपयुक्त तथ्यों एवं उनके विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गांधी जी एक क्रियाशील एवं व्यावहारिक दार्शनिक थे जो सिद्धान्त एवं व्यवहार के एकीकरण पर बल देते थे। वे एक ऐसे मार्ग अन्वेषक थे, जिनके निश्चित लक्ष्य थे। वे अपने प्रयोगों द्वारा सम्पूर्ण मानव-जाति एवं समाज के अस्तित्व को आदर्श रूप प्रदान करना चाहते थे।

निष्कर्षतः सन् 1936 में जब सेवाग्राम आश्रम की स्थापना हुई, गांधीजी 68 वर्ष के हो चुके थे और उनमें स्वाभाविक रूप से एक स्वस्थ व्यक्ति जैसी शक्ति नहीं रह गई थी। राजनीतिक तथा अन्य कार्यों में उलझे हुए होने के कारण उनका घूमना फिरना भी बहुत कम हो गया था। चिमनलाल के अनुसार साबरमती में गांधीजी आश्रम समुदाय के पिता थे किंतु सेवाग्राम में वह माता थे। गांधी इस ग्राम जीवन एवं ग्राम सेवा को दिन प्रतिदिन के सामुदायिक जीवन के अनुभवों से विकसित करना चाहते थे, इसलिए उनका कहना था कि यहां ऊपर से थोपे हुए नियम, उप नियम व निर्देश नहीं होने चाहिए। सेवाग्राम इसी आदर्श की एक व्यवहारिक अभिव्यक्ति थी। किंतु सेवाग्राम के निवासी केवल गांधी पर आश्रित होते चले गए और यह प्रतीकात्मक रूप से मात्र एक प्रेरणा बनकर रह गया। अपने आश्रम जीवन में गांधी यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि गांव के लोगों में आत्मविश्वास जगाने के लिए आश्रम जीते जागते नमूने एवं आदर्श के रूप में विकसित हो, वहां उनके बच्चे प्रशिक्षण लें और समाज सेवा करते समय कोई अपने आपको समाज से पृथक ना समझे तथा उन्हें यह समझना होगा कि वह भी इसी समाज का हिस्सा हैं।

56 भगवान सिंह,गांधी के आश्रम संदेश हैं.पृ.सं.182. (2015).

57 वहीं.पृ.सं.231.

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

वस्तुतः 1947 में हमने ब्रिटिश हुकुमत से आज़ादी तो प्राप्त कर ली परंतु पश्चिमी- सभ्यता एवं औद्योगीकरण का जो विपरीत प्रभाव हमारे ऊपर रहा, महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम उसी समस्या के अवमूलन का साधन हैं। परंतु आज भी वह समस्याएँ हमारे सामने विकराल रूप धरण किये खड़ी है। इसका कारण यह भी है कि इन कार्यक्रमों को भारतीय समाज में ना उस समय अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, और ना ही वर्तमान समय में इसपर ध्यान दिया जा रहा है। हम आज स्वतंत्र होके भी पूर्ण रूप से स्वराज की प्राप्ति नहीं कर पाये हैं। अतः वर्तमान भारतीय अथवा वैश्विक स्तर की जो भी मूलभूत समस्याएँ हमें दृष्टिगत होती हैं, उनके मूल पर प्रहार एवं उनमें सुधार रचनात्मक कार्यक्रम की सहायता से बड़ी ही सहजता से किया जा सकता है। अन्यथा हमें वर्तमान सभ्यतागत प्रकृति के साथ इन रचनात्मक कार्यक्रमों का सही सामंजस्य स्थापित करना होगा।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

वर्तमान परिदृश्य में भारतीय युवाओं में मानवीय मूल्यों का संकट:मूल्य आधारित शिक्षा

सुनील पटेल
शोधार्थी, एम.ए.(हिन्दी,राजनीति)
एम.एड, आई.एस.बी.एम. वि.वि. छुरा जिला गरियाबंद (छ.ग.)

सारांश

भारत अपने संस्कृति, कला व दर्शन की गौरवशाली परम्पराओं पर हमेशा गर्व करता है। आदिकाल से ही भारतीय समाज में शिक्षा की बात होती थी। शिक्षा वह है जो व्यक्ति को ज्ञानवान, दक्षता और मूल्यों से संपन्न बनाती है। यह युवा नागरिकों को अपने लक्ष्यों को हासिल करने व समाज में अपनी योगदान देने हेतु तैयार करती है। भारतीय युवाओं में मूल्य संकट की बढ़ती स्थिति को देखते हुए उन पर विचार करने व दूर करने की आवश्यकता है। किसी भी देश की जाति व समाज की संस्कृति का प्रमुख आधार उसके परम्परायें एवं मानवीय मूल्य होती है। जो समय के टकराव के साथ भी अपनी विशेष पहचान को नहीं भूलता।ये हमारे जीवन मूल्य आध्यात्मिक व सामाजिक चिंतन से बने होते है। आज के युवाओं को को मानवीय मूल्यों से अवगत कराने की जरूरत है जिसके द्वारा युवाओं में ऊर्जा का संचार,पवित्र और सभ्य जीवन शैली का अनुकरण करके अपने अंदर सहयोग, प्रेम, ईमानदारी, सद्व्यवहार, सच्चाई आदि गुणों को विकसित कर सकें। आज के युवाओं को जरूरत है जिंदगी को नवीन तरीके से समझते हुए अपनी विकृतियों को नष्ट कर एक सृजनात्मक सोच विकसित करना। आज नई युवा पीढ़ी को यह बताने की आवश्यकता है कि विकास यदि मानवीय मूल्यों के आधार पर होती है तो वह सृजनशील, शाश्वत एवं सबका कल्याण करने वाली होती है। शिक्षा के द्वारा आज के युवाओं को विभिन्न मूल्यों की ज्ञान करा दिया जाय जिससे राष्ट्र व समाज की प्रगति में अपनी भूमिका निभा सकें।

मुख्य शब्द- मानवीय, मूल्यों, युवाओं , मूल्य शिक्षा

प्रस्तावना

प्राचीन काल से ही मूल्यपरक शिक्षा का स्थान रहा है। युवाओं को मानवीय मूल्यों के साथ समाज में जीना ही अपने को आदर्श व्यक्ति के रूप में स्थापित करता है। मानवीय मूल्यों की समझ बनाकर युवा नागरिक अपनी जीवन में समाहित करते हुए अपने शरीर व विचारों से सकारात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए समाज व राष्ट्र हित में कार्य करना। मानवीय मूल्यों की शिक्षा हमें परिवार, स्कुल-कॉलेजों एवं समाज के माध्यम से प्राप्त होती है। आज पूरी दुनिया भर में सामाजिक प्रणाली में बड़े बदलाव हो रहे जैसे हम संयुक्त परिवार से एकल परिवार की ओर बढ़ रहे है। वर्तमान युग तकनीकी व तेजी से बढ़ती जीवन शैली के कारण आज के युवा काफी तनाव से गुजर रहे है। आज परमाणु हथियारों व आंतकी गतिवियों से विश्व शांति के लिए खतरा पैदा कर रहे है। कुछ वर्षो में युवाओं में अपराधों के प्रतिशत में वृद्धि हुई है यह एक चिंता का विषय है। इस सभी संकटों को व चिंताओं को देखते हुए आज के युवाओं में मानवीय मूल्यों को अपने अंदर समाहित करने हेतु शिक्षा के पाठ्यक्रम में मूल्य को जोड़ने, समाज, मीडिया, परिवार को आगे आना पड़ेगा तभी हम स्वच्छ समाज व देश की कल्पना कर सकते है। मूल्य शिक्षा को विद्यालय व महाविद्यालय के सभी स्तरों पर एक विषय के रूप में शामिल करने आवश्यकता है। वेद,उपनिषद् व भारतीय ज्ञान परंपरा में ईमानदारी पूर्वक मूल्यों का पालन करने को ही धर्म का लक्षण कहा है।

भारतीय युवाओं में मानवीय मूल्य संकट के कारण

- **तनाव-** आज युवाओं में करियर का दबाव बढ़ती प्रतिस्पर्धा,रिश्तों में खटास जीवनशैली मे परिवर्तन जैसे कारक मानसिक तनाव के कारण है। जिससे सही गलत को नहीं जान पाते नशीले पदार्थो का सेवन व समाज से जुड़ने की कमी एवं आत्मसम्मान में कमि ,आत्महत्या की ओर अग्रसर होना जैसे कारणों से मानवीय मूल्यों का ह्रास होता है ।
- **सोशल मीडिया**- सोशल मीडिया से पूरी दुनिया जुड़ा हुआ है युवा पीढ़ी वास्तविक मानवीय मूल्य से दूर होते जा रही है, ऑनलाइन व्यवहार दुनिया के प्रतिस्पर्धा को बढ़ा रहा है साथ ही सच्चाई में कमी, गोपनीयता का उल्लंघन , भेदभाव जैसी समस्याओं के कारण मूल्यों को कमजोर कर रहा है ।
- **उत्पीड़न-** समाज में युवाओं के द्वारा शक्ति का दुरूपयोग ,अकेलापन महसूस करना, भौतिकवाद, भ्रष्टाचार ,सामाजिक बदलाव जो युवाओं में स्वार्थ, अहंकार को बढ़वा देते है जिससे मानवीय मूल्यों का पालन नहीं हो रहा है ।
- **नशा और शराब-** आज के युवा नशे व शराब की आदी हो जाते है। आज युवा नागरिक मौज-मस्ती के लिए नशा,सिगरेट और शराब का सेवन करते है, फिर वह उनकी आदत बन जाती है।

कुछ शराब के कारण जान भी गवा देते है नशे करने वाले लोगों को समाज में इज्जत घट जाती है।इसका असर मानवीय मूल्य पर पड़ता है।

- **प्रतिस्पर्धा-** आज वर्तमान में युवाओं के बीच बढ़ती प्रतिस्पर्धा और बेरोजगारी से युवाओं के जीवन को बाधित कर रही है जिससे कई युवा आत्महत्या जैसे कदम उठा रही हैं। व्यक्तियों में स्वस्थ्य प्रतिस्पर्धा के बजाय गलाकाट प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है जिसके कारण युवाओं में मानवीय मूल्य में कमि देखने को मिल रही है।
- **अतिचिंतन-** अतिचिंतन युवाओं व सभी आयु वर्ग के व्यक्तियों में आम है। अतिचिंतन से व्यक्तियों की खुशी छीन जाती है और वे जीवन के हर लम्हा का आंनद नहीं ले पाते अतिचिंतन से युवा मानवीय मूल्यों को समझ ही नहीं पाते है।

भारतीय युवाओं में मानवीय मूल्य संकट को दूर करने के उपाय

- **मूल्य आधारित शिक्षा-** भारतीय युवाओं में मानवीय मूल्य संकट को दूर करने हेतु पाठ्यक्रम में मूल्यों का समावेशन कर सहयोग, करूणा, पर्यावरण चेतना और अनुशासन का पाठ पढाया जाये साथ ही शिक्षा के उद्देश्य डिग्री प्राप्त न होकर चरित्र निर्माण व नागरिक चेतना के विकास पर बल दिया जायें।
- **पारिवारिक और सामाजिक वातावरण-** आज के युवाओं को माता-पिता के द्वारा अच्छा संस्कार दें साथ ही उन्हें संवेदनशील बनाना मानवीय मूल्यों की आधार है। मूल्यों का पालन पहले शिक्षकों व बड़ों को करना चाहिए ताकि युवा नागरिक उनका अनुसरण कर सकें।
- **आत्म-चिंतन और जागरूकता-** व्यक्ति को समय निकालकर अपने बारे मे खुद से सवाल करना है मेरा पहचान क्या है, अपने अंदर छुपी हुई गुणों जैसे दयालु व संवेदनशीलता की पहचान करना। सही-गलत की पहचान कर सही निर्णय लेना। मानवीय मूल्यों से युवाओं को पहचान करा कर उन्हें जागरूक करना।
- **सामाजिक उत्तदायित्व-** समाज में युवाओं को सामाजिक कत्तव्य व नैतिकता का पालन कराते हुए पर्यावरण, राष्ट्रहित, समाज सेवा जैसे जिम्मेदारियों से अवगत कराते हुए सकारात्मक बदलाव का युवाओं को मानवीय मूल्य का ज्ञान प्रदान करना।
- **विद्यालय का वातावरण-** विद्यालय में प्रार्थना सभा, सभी धर्मो के त्यौहार व उत्सवों का आयोजन ,एन.सी.सी, खेलकूद, स्काउट व गाइड, समूह गीत, श्रमदान, सभी छात्रों में निष्ठा,पारस्परिक सद्भावना, सहयोग, ईमानदारी सामाजिक दायित्वों का निर्वाह एवं अनुशासन

आदि छात्रों के जीवन में मूल्यों के विकास में सहायक होते है। अतःमूल्यों के लिए विद्यालय का वातावरण स्वच्छ, लोकतान्त्रिक एवं अनुशासन प्रिय, सृजनात्मक, उत्साहवर्धक होना चाहिए

युवाओं में आवश्यक मानवीय मूल्यों का विकास करना

- आज युवाओं को स्वयं के प्रति ईमानदार होना सबसे बड़ा सद्गुण है जो प्रत्येक व्यक्ति में होना चाहिये। आज युवा जीवन को गंभीरता से नहीं ले रहे अंत मे असफलता मिलने पर दोष दूसरों पर डाल देते है।
- युवा हो या चाहे कोई भी व्यक्ति हमें हमेशा बड़ों का सम्मान व आदर करना चाहिए जिससे हमारी समाज में अलग आदर्श व पहचान बनती है इस इंटरनेट की युग में युवा से लेकर बूढ़े भी आदर व सम्मान को भूलते जा रहे।
- युवाओं को अपने अन्दर धैर्य रखना बहुत जरूरी है क्योंकि आज की दुनिया व जीवन तेजी से विकास की ओर बढ़ रही है यह एक चिंता का विषय है युवाओं को जीवन मे सफलता हासिल करने हेतु कड़ी मेहनत व धैर्य रखना जरूरी है।
- आज युवाओं को समाज के प्रति जवाबदेही होना जरूरी है ताकि समाज का विकास किया जा सके।
- युवा नागरिकों की जिम्मेदारी होनी चाहिए कि समाज मे मेरी अनेक भूमिका व कत्र्तव्य है जिसके द्वारा अपने समाज की बेहतर विकास की ओर अग्रसर किया जा सकता है।
- मानवीय मूल्य के द्वारा ही स्वस्थ विचार का विकास होता है जो युवाओं की सफलता को निर्धारित करता है जिससे युवा अपनी भविष्य में बेहतर कार्य कर सकते है।

मूल्य निर्माण के स्त्रोत

- **समाज-** मनुष्य जिस समाज में रहता है वहां अन्तक्रिया करके समाज के व्यवहारिक मापदण्ड को सीखता है वह आगे चलकर अपने व्यवहार को नियन्त्रित व निर्देशित करने लगते है वही मूल्य बन जाते है।
- **संस्कृति-** किसी भी समाज की अपनी संस्कृति की अलग पहचान होती है। मनुष्य जिस समाज में रहती है वह उसी की संस्कृति अर्थात खान-पान, व्यवहार ,आदर्श,धर्म-दर्शन व भाषा-साहित्य, विश्वासों के रूप में सीखता है। इस प्रकार मूल्य निर्माण में संस्कृति मूख्य स्त्रोत होता है।

- **धर्म-** बालक जिस धर्म को मानने वाले परिवार में पैदा होता है वह उसी धर्म के नैतिक नियमों को अपनाता है वही उनके लिए महत्व होती है। धर्म समाज के संस्कृति के प्रभावशाली तत्व होता है।
- **अर्थतन्त्र-** किसी भी राष्ट्र व समाज का अर्थतन्त्र अपना मूल्य निर्माण का स्त्रोत होता है। जिस समाज में समाजवादी अर्थव्यवस्था होती है वह समाज में एक दूसरे में प्रेम, आदर, सहयोग की भावना होती है।
- **राज्यतंत्र-** राज्य तंत्र में आदर्शों एवं निश्चित सिद्धान्तों होने के कारण व्यक्ति महत्व प्रदान करना स्वाभाविक है लोकतंत्र की समझ व शासन प्रणाली के बारे में जानना मूल्य स्त्रोतो के निर्माण में राज्यतंत्र की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
- **रीति-रिवाज एवं परम्पराएं-** भारतीय समाज में व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाज से गुजरता है जैसे -जन्म संस्कार, विवाह, त्यौहार, धार्मिक उत्सवों का आयोजन आदि मूल्य स्त्रोत होते हैं।
- **मीडिया-** आज मीडिया के द्वारा अनेक कार्यक्रम प्रसारित हो रही है इन सभी कार्यक्रम में गीत-संगीत, खेलकूद, फिल्में, समाचार, धारावाहिक आदि शामिल है। जो हर वर्ग के व्यक्तियों को मूल्य विकास में सहयोग कर रहा है।
- **साहित्य-** जीवन के सभी स्तरों में साहित्य का अपना महत्वपूर्ण योगदान होता है। बालक अपनी अवस्था में बालसाहित्य पढ़ता है उसी प्रकार युवा उपन्यास ,नाटक कहानी तथा वृद्धावस्था में धार्मिक साहित्य मूल्य के विकास मे सहायता करता है। संघर्ष, परिश्रम, सौंदर्य जैसे विभिन्न प्रकार के मूल्य साहित्य के द्वारा जीवनपर्यंत विकास होता है।
- **संविधान-** व्यक्ति जिस देश में निवास करता है उस देश का अपना संविधान होता है संविधान में अनेक मूल्य जैसे न्याय, समानता, समाजवाद, संविधान में आस्था, मताधिकार का प्रयोग, कानून का पालन करना, लोककल्याण, कर्तव्यों व अधिकारों का पालन करना आदि है। जिसका अनुसरण प्रत्येक व्यक्ति जीवनपर्यंत इन सवैधानिक मूल्यों का पालन करता है।

निष्कर्ष

युवावस्था जीवन का वह दौर है जहां व्यक्ति अपने किस्मत का फैसला स्वयं करता है। इस संसार मे सभी मनुष्य में कुछ ऐसे मूल्य होते है जो अच्छें होते है उन्हे अपने अंदर समाहित करने का कोशिश करता जिससे जीवन सरल और जीने योग्य बन सके। आज व्यक्ति को पशुओं से अलग करने वाले जीवन मूल्य, संवेदनायें, संस्कार आज उसे पशुता की ओर अग्रसर कर रहें। अभी भी आशा की किरण बाकी है।

युवाओ में संकल्प की भावना जागृत करनी होगी जिससे मानवीय मूल्यों के प्रति आत्मसात कर सके। जीवन में सफलता हासिल करना उतना ही महत्व है जितना शिक्षा व्यवस्था में मानवीय मूल्यों का समावेश करना ताकि समाज में बढ़ रही दिखावा करने की स्वभाव, हिंसा, कुरीतियों, रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास आदि को समाप्त करने में सहायता मिलेगी । भारतीय संस्कृति को बचाए रखने व समृद्ध करने हेतु मानवीय मूल्य के आधार पर शिक्षा का होना अति आवश्यक है। शिक्षा को मूल्य से युक्त बनाने पर जोर देना जरूरी है ताकि युवा नागरिक भविष्य की सुरक्षित तैयारी एवं राष्ट्र की विकास व जनकल्याण कर अपने कत्तव्य का निर्वहन करें। समाज के सेवा करने वाले युवा पीढ़ी भौतिकता के प्रभाव से उनकी आदर्श समाप्त हो रही है। हमारा युवा पीढ़ी शिक्षा के उन मूल्यों से दूर होते जा रहा है जिन्हें हम मूल्य शिक्षा कहते है। मानवीय मूल्यों के द्वारा हम भारत की प्राकृतिक विरासत व सांस्कृतिक के बारे में आदर की भावना पैदा कर सकते है। युवाओं में मानवीय मूल्य के विकास के लिए न केवल संस्थागत प्रयासों व सुधार की आवश्यकता है बल्कि माता पिता और छात्रों सहित सभी की ओर सामाजिक सहयोग भी बहुत जरूरी है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. *कोठारी,ममता एवं पाण्डेय, डॉ. रामशकल(2014) शिक्षा और समाज, अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा ।*
2. *आर.ए.शर्मा (2016) शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजिक मूल आधार मेरठ,लाल बुक डिपो।*
3. *पाठक, पी.डी. एवं त्यागी, जी.एस.डी. (2014) उभरते शैक्षिक मुद्दे , अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा।*
4. *गुप्ता, लक्षता (2006), भारतीय समाज और शिक्षा, वंदना पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।*
5. *गुप्ता, लक्षता (2006), भारतीय समाज और शिक्षा, वंदना पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।*
6. *सिंह, रवीन्द्र (2001) पर्यावरण भूगोल,प्रयाग पुस्तक भवन,इलाहाबाद।*
7. *पाण्डेय, रामशकल एवं मिश्र, करूणाशंकर (2015) मूल्य शिक्षण,अग्रवाल पब्लिकेशन आगरा।*
8. *शर्मा,आर.ए (2010) पर्यावरण शिक्षा, ललिता प्रकाशन मेरठ।*
9. *लाल एवं तोमर (2007) विश्व के श्रेष्ठ चिन्तक, आर लाल बुक डिपो,मेरठ पृ. 16*
10. *वेब स्त्रोत*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

घुमंतू समाज की शैक्षणिक स्थिती, समस्या एवं समाजकार्य हस्तक्षेप

प्रतीक रमेश पावडे

सारांश

भारत कि सभी जनजातियों का जब तक सर्वांगीण विकास नहीं होगा तब तक भारत पूर्णतः विकसित नहीं होगा। पूरा विश्व तंत्रज्ञान के साथ आगे बढ़ रहा है किन्तु आज भी सुदूर क्षेत्र विकास की दौड़ में पिछडा है। घुमंतु समाज अन्य समाज की भाँति स्थाई निवासी न होने के कारण उनके आर्थिक विकासदर अन्य समाज की तुलना में आज भी कम है। सरकारी दस्तावेज़ ना होने के कारण सरकारी योजनाओं का भी लाभ वह लिए नहीं पाते। किन्तु इसमें सकारात्मकता के साथ यह भी कहना होगा कि सरकारी नीतियों के कारण यह समाज भी समाज की मूलधारा में आ रहा है तथा विकास के अनेक कारण इस पर अपना प्रभाव डाल रहे हैं। इस अध्ययन में इसी विकास के वृद्धि को जाँचा गया है।

बीज शब्द : घुमंतू समाज, भारतीय शिक्षण व्यवस्था, व्यवसायिक समाजकार्य

प्रस्तावना

एक समय था जब हमारा देश विश्व स्तर पर सभी क्षेत्रों में नेतृत्व कर रहा था। भारत एक समृद्ध ग्राम-आधारित व्यवस्था और वैभवशाली समाज से जुड़ा हुआ था। भव्य मंदिर, अजंता–एलोरा की गुफाएँ, अशोक स्तंभ जैसी मूर्तिकला, तथा कृषि, पशुपालन, चिकित्सा विज्ञान, शस्त्र निर्माण, ज्योतिष, मनोरंजन और अनेक अन्य क्षेत्रों में प्राप्त उत्कृष्टता इस महानता की साक्षी है। हमारे समाज को एक शाश्वत सांस्कृतिक विरासत प्राप्त हुई थी, और इस विरासत के वाहक वे समुदाय थे जिन्हें आज घुमंतू एवं विमुक्त जातियाँ (Nomadic and Denotified Tribes) कहा जाता है।

इन समुदायों ने निरंतर कठोर संघर्ष किए-कभी मुस्लिम शासकों के विरुद्ध और कभी ब्रिटिश शासन के खिलाफ। चाहे राजस्थान में महाराणा प्रताप हों या महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी महाराज, स्वराज्य की स्थापना, किलों के निर्माण और उनकी रक्षा में घुमंतू एवं विमुक्त जातियों का त्याग और संघर्ष सदैव

शामिल रहा। मूलतः योद्धा प्रवृत्ति के ये समुदाय अपने पारंपरिक व्यवसायों के माध्यम से संस्कृति का संरक्षण और संवर्धन करते रहे।

इन समुदायों में भील, पारधी, वैदू, वडार, बहुरूपी, वासुदेव, नाथ जोगी, नंदीबैलवाले, मरिआईवाले, मेंडगी-जोशी, सरोदे, शिकलगर, धनगर, कोल्हाटी, बंजारा आदि प्रमुख रूप से शामिल थे। छत्रपति शिवाजी महाराज के स्वराज्य में ये समुदाय समाज की मुख्यधारा से जुड़े हुए थे और सम्मानपूर्वक अपना जीवनयापन करते थे। बहिर्जी नाईक जैसे वीर योद्धा इन्हीं समुदायों से निकलकर स्वराज्य की अमूल्य सेवा कर पाए। किसान बारह बलुतेदारों के साथ-साथ इन समुदायों को भी आनंदपूर्वक अन्न प्रदान करते थे।

ब्रिटिश शासन के आगमन के साथ, विशेषकर 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और मराठा सत्ता के पतन के बाद, अंग्रेजों का आधिपत्य पूरे भारत में फैल गया। इस स्वतंत्रता संग्राम में घुमंतू एवं विमुक्त जातियों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण था। इसके बाद भी उमाजी नाईक और तंट्या भील जैसे नेताओं के विद्रोहों के कारण ब्रिटिश शासन को लगातार चुनौती मिलती रही। वासुदेव बलवंत फडके द्वारा संगठित सैन्य बलों में भी इन समुदायों की महत्वपूर्ण भागीदारी थी। देशभर में घुमंतू एवं विमुक्त जातियाँ अंग्रेजी सत्ता का विरोध करते हुए स्वराज्य के लिए संघर्ष करती रहीं।

इस प्रतिरोध को दबाने के लिए अंग्रेजों ने 1871 में क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट लागू किया, जिसके अंतर्गत इन समुदायों को "जन्मजात अपराधी" घोषित कर दिया गया। इस अमानवीय और दमनकारी कानून से बचने के लिए इन समुदायों को मजबूरन भटकता जीवन अपनाना पड़ा।

स्वतंत्रता के बाद भी उनकी पीड़ा समाप्त नहीं हुई। समाज का अभिन्न अंग होने के बावजूद, घुमंतू समुदायों को पराया समझा गया और उन्हें अपमानजनक जीवन जीने के लिए विवश किया गया। शौर्य की विरासत रखने वाला यह समाज भूख के सामने असहाय हो गया। स्थायी आय के साधनों के अभाव में इन्हें जंगलों और दूरदराज के इलाकों में भटकना पड़ा, जहाँ वे लगातार पुलिस और कानून व्यवस्था से बचते रहे। जीवित रहना ही उनका एकमात्र लक्ष्य बन गया। ऐसी परिस्थितियों में कुछ लोगों को जीविका के लिए चोरी जैसे कार्यों का सहारा लेना पड़ा—यह उनकी इच्छा नहीं, बल्कि मजबूरी थी। फिर भी "जन्मजात अपराधी" का कलंक उनके साथ स्थायी रूप से जुड़ गया।

स्वतंत्रता के लगभग दस वर्ष बाद इस कानून को रद्द किया गया, लेकिन इन समुदायों की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ। आज भी कई लोगों के पास जनगणना में नाम, मतदाता पहचान पत्र या जाति प्रमाणपत्र नहीं है। 80 प्रतिशत से अधिक लोग निरक्षर हैं। इन्हें समान संवैधानिक संरक्षण प्राप्त नहीं है—कुछ राज्यों में इन्हें अनुसूचित जाति, कुछ में अनुसूचित जनजाति और केंद्र स्तर पर अन्य पिछड़ा वर्ग में रखा गया है, जबकि कुछ समुदाय किसी भी श्रेणी में शामिल नहीं हैं। उनकी संपत्ति केवल भीख में मिला

भोजन, कपड़े और बाँस की अस्थायी झोपड़ियाँ हैं। जैसा कहा जाता है—"जो गाँव की शौचभूमि है, वही उनकी विरासत बन जाती है।"

वास्तव में, घुमंतू एवं विमुक्त जातियाँ समाज का एक महत्वपूर्ण घटक रही हैं। कुछ समुदायों ने व्यवसायगत कारणों से स्वेच्छा से भटकता जीवन अपनाया था। लेकिन स्वतंत्रता के बाद वे शिक्षा, स्वास्थ्य और विकास से वंचित रह गए। उनकी पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियाँ आदिम काल से चली आ रही हैं, जैसे गरम लोहे से दाग देना। शारीरिक कौशल, मनोरंजन और कारीगरी के माध्यम से जीवन यापन करने के बावजूद ये समुदाय उपेक्षित ही रहे। सरकारों की घोषणाएँ और आयोग कागजों तक ही सीमित रहे, जबकि पुलिस उत्पीड़न और सामाजिक कलंक बना रहा। प्रगतिशील कहे जाने वाले महाराष्ट्र में भी भीड़ द्वारा हत्या और हिरासत में अत्याचार की घटनाएँ हुई हैं, विशेषकर पारधी महिलाओं और युवाओं को न किए गए अपराधों की स्वीकारोक्ति के लिए अमानवीय यातनाएँ दी गईं।

साहित्य पुनरावलोकन :

- सपकाळ, अ. एवं भोसले, एन. महाराष्ट्रातील भटके -विमुक्त - सद्य:स्थिती आणि आव्हान.मुम्बई.सायन पब्लिकेशन प्रा. लि.
  घुमंतू–विमुक्त जाति-जनजातियों की संकल्पना, उनका ऐतिहासिक विकास और उससे जुड़ा दर्शन; घुमंतू-विमुक्त समुदायों की सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएँ; पितृसत्तात्मक जाति-पंचायतों की वास्तविकता और उनसे उत्पन्न चुनौतियाँ; कला-वास्तुकला के सांस्कृतिक संदर्भ; जनजातियों की लोककलाएँ, भाषाएँ और उनके नए संदर्भ; सेटलमेंट (पुनर्वास) अध्ययन; विभिन्न आयोगों की रिपोर्टें तथा उनके क्रियान्वयन में आने वाली बाधाएँ; बंधन-मुक्ति की सामाजिक आंदोलन; शिक्षा की स्थिति और जातिगत अत्याचार जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर गहन चर्चा होना अत्यंत आवश्यक है। इन सभी संदर्भों को समकालीन बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य और वैचारिक संरचनाओं की पृष्ठभूमि में समझते हुए, घुमंतू-विमुक्त समुदायों के समक्ष वर्तमान समय में मौजूद चुनौतियों को रेखांकित करना तथा उन चुनौतियों का सामना करने हेतु आवश्यक संरचनाओं, नीतियों और संभावनाओं की खोज करना—यही इस प्रस्तुत संपादित पुस्तक का उद्देश्य है।
- प्रभुने.ग. *भटके विमुक्त विकास परिषद.* भारतीय विचार साधना
  घुमंतू समाज के शैक्षणिक एवं सामाजिक विकास हेतु कार्यरत भटके विमुक्त परिषद् के कार्य को इस पुस्तक के माध्यम से परिभाषित किया गया है।
- गोरे.स.(2000).*भटक्या विमुक्तांचे साहित्य आणि इतर लेख*.गोदा प्रकाशन

इस पुस्तक में लेखिका ने महाराष्ट्र के घुमंतू समाज के साहित्य और शिक्षा पद्धति का चित्रण किया है। घुमंतू समाज की सामाजिक समस्याओ का वर्णन भी उन्होंने इस पुस्तक में किया है।

शोध प्रश्न :

1. घुमंतू समाज की शैक्षणिक स्थिति कैसी है ?
2. घुमंतू समाज के छात्रों को शिक्षा में कौन-कौन सी समस्याओ का सामना करना पड़ता है ?
3. अशिक्षा का घुमंतू समाज के विकास में क्या प्रभाव पड़ता है ?

शोध उदेश्य :

1. घुमंतू समाज की शैक्षणिक स्थिति का अध्ययन करना।
2. घुमंतू समाज के छात्रों को आनेवाली शैक्षणिक समस्याओ का अध्ययन करना।
3. अशिक्षा से घुमन्तु समाज पर पड़नेवाले प्रभाव का अध्ययन करना।

अध्ययन का भौगोलिक क्षेत्र :

प्रस्तुत शोध पत्र में अध्ययन के भौगोलिक क्षेत्र के रूप में पुणे जिले के ग्रामीण क्षेत्र को चयनित किया गया है।

शोध प्ररचना:

प्रस्तुत शोध पत्र में घुमंतु समाज की शैक्षणिक स्थिति एवं सामाजिक समास्याओ का अध्ययन किया गया है। संदर्भित शोध में वर्णनात्मक शोध प्रारूप का प्रयोग मूल्यांकनात्मक अध्ययन दृष्टी से अध्ययन विश्व के यथार्थ की जाँच परख करने के लिए किया गया है। तथा इस शोध कार्य में मिश्रित (गुणात्मक एवं मात्रात्मक) शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन करते समय संरचित साक्षात्कार अनुसूची का उपयोग कर घुमंतु समाज की शैक्षणिक स्थिति एवं सामाजिक समास्याओ जांचने की कोशिश की गई है।

अध्ययन की इकाई :

प्रस्तुत शोध पत्र में उल्लेखित भौगोलिक क्षेत्र के घुमन्तु समाज के लोगों की शैक्षणिक स्थिति एवं सामाजिक समस्याओ का अध्ययन किया गया है।

अध्ययन का समग्र :

प्रस्तुत शोध पत्र में महाराष्ट्र के पुणे जिले के ग्रामीण क्षेत्र के घुमंतू समाज के लोग अध्ययन के समग्र बने है।

इकाई चयन :

प्रस्तुत शोध पत्र में अनुसंधान के समग्र को समझते हुए गैर -संभाव्यता प्रतिदर्श चयन पद्धति का उपयोग किया गया है।

तथ्य विश्लेषण :

घुमंतू समाज की शैक्षणिक स्थिति एवं समस्याओ को जांचने हेतु संरचित साक्षात्कार अनुसूची का उपयोग किया गया जिसमे कुल 15 प्रश्नों को सम्मिलित किया गया था। इस प्रश्नों के आधार पर प्राप्त डेटा एवं विश्लेषण निम्नवत है

1. लिंग

सारणी 1.: उत्तरदाता का लिंग

प्रतिक्रिया	आवृत्ति	प्रतिशत
पुरुष	65	65.0
स्त्री	34	34.0
अन्य	01	01.0
कुल	100	100

सारणी 1.11.1 में प्राप्त तथ्यों से स्पष्ट होता है की सर्वाधिक 65.0 प्रतिशत उत्तरदाता पुरुष वर्ग से है और 34.0 प्रतिशत उत्तरदाता महिलाये है तथा शेष 01.0 प्रतिशत तृतीयपंथी है।

2. शैक्षणिक स्तर :

सारणी 1.11.2 : उत्तरदाता की शैक्षणिक स्थिति

प्रतिक्रिया	आवृत्ति	प्रतिशत
अशिक्षित	**11**	**11.0**
प्राथमिक	**35**	**35.0**
माध्यमिक	**21**	**21.0**
उच्च माध्यमिक	**16**	**16.0**
स्नातक	**07**	**07.0**
स्नातकोत्तर	**07**	**07.0**
एम.फिल /पीएचडी	**03**	**03.0**
कुल	**100**	**100**

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

सारणी 1.11.2 में प्राप्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि सर्वाधिक 35.0 प्रतिशत उत्तरदाता प्राथमिक शिक्षित पाए गए वही 21.0 प्रतिशत माध्यमिक अर्थात दसवी कक्षा तक पढ़े हुए है। 16.0 प्रतिशत उत्तरदाता उच्च माध्यमिक अर्थात बारावी कक्षा तक शिक्षित है। 11.0 प्रतिशत उत्तरदाता अशिक्षित पाए गए तथा 7.0 प्रतिशत उत्तरदाता स्नातक एवं स्नातकोत्तर तक शिक्षित है, शेष 3.0 प्रतिशत उत्तरदाता एम फिल / पीएचडी तक शिक्षित है। प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है की प्राथमिक स्तर तक शिक्षा का प्रमाण ज्यादा है वही 100 लोगों में 11 लोग अशिक्षित है जो अशिक्षा के प्रमाण को दर्शाता है वही उच्चतर शिक्षा प्राप्त उत्तरदाताओ की संख्या अल्प है।

सारणी क्र. 3 : सामाजिक एवं शैक्षणिक

सामाजिक एवं शैक्षणिक स्थिति

आज भी समाज में सामाजिक भेदभाव, छुआछूत की स्थिति देखने को मिलती है इससे सामाजिक सद्भाव में कमी तथा सामाजिक विकास में बाधाए आती है इसी को देखते हुए प्रस्तुत शोध पत्र में साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से ऐसी समस्याओ की जमीनी स्थिति क्या है तथा उसमे कुछ सकारात्मक बदलाव हो रहे है क्या इसकी जाँच की गई है जिससे समस्याओ के समाधान हेतु योजनाये बनायीं जा सकती है।

अ.क्र	वक्तव्य	बिल्कुल नही	अंशत:	मध्यम	पूर्णत:	कुल
1	अन्य समाज के लोग सार्वजनिक कार्यक्रमों में सहभागी करते है क्या ?	6	41	21	32.0	100
		6.0	41.0	21.0	32.0	100
2	गाँवो में आपके साथ सामाजिक भेदभाव किया जाता है क्या ?	36	23	32	9	100
		36.0	23.0	32.0	9.0	100
3	शिक्षा हेतु सरकार द्वारा मिलेवाली योजनाओं का आपको लाभ मिलता है क्या ?	9	45	26	20	100
		9.0	45.0	26.0	20.0	100
4	महाविद्यालयों में जातिगत भेदभाव का आपको सामना करना पड़ा क्या?	32	50	13	5	100
		32.0	50.0	13.0	5.0	100
5	क्या आपको लगता है की घुमंतू समाज शिक्षा के प्रवाह में आ रहा है?	12	53	18	17	100
		12.0	53.0	18.0	17.0	100
6	गाँवो में आयोजित गणेशोत्सव जैसे सार्वजनिक कार्यक्रमों में आपकी सहभागिता रहती है क्या ?	9	33	19	39	100
		9.0	33.0	19.0	39.0	100

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

7	क्या सरकार द्वारा मिलेवाली योजनाओं से आपका आर्थिक विकास हो रहा है?	9	42	25	24	100
		9.0	42.0	25.0	24.0	100
8	विभिन्न सरकारी दस्तावेज बनाने में दिक्कत का सामना करना पड़ता है ?	23	54	15	8	100
		23.0	54.0	15.0	8.0	100
9	क्या समाज को सरकारी नौकरियों में अवसर प्राप्त हो रहा है ?	17	50	23	10	100
		17.0	50.0	23.0	10.0	100
10	क्या समाज के लोगों की राजनीती में सहभागिता बढ़ रही है ?	17	48	25	10	100
		17.0	48.0	25.0	10.0	100
11	क्या शिक्षा की वजह से महिलाओ का विकास हो रहा है ?	6	24	25	45	100
		6.0	24.0	25.0	45.0	100

- उपरोक्त सारणी के अध्ययन के पश्चात अनेक प्रकार के तथ्य सामने आते है जिसमे;
- सर्वाधिक 32.0 प्रतिशत लोगो का मानना है की अन्य समाज के लोग पूर्णत: सार्वजनिक कार्यक्रमों में सहभागी करते है वही 6 प्रतिशत लोगो का मानना है की बिल्कुल भी नहीं करते।
- सर्वाधिक 36.0 प्रतिशत लोगो का मानना है की गाँव में बिल्कुल भी सामाजिक भेदभाव नहीं किया जाता वही 9 प्रतिशत लोगो का मानना है की पूर्णत: भेदभाव किया जाता है।
- सर्वाधिक 45.0 लोगो का मानना है की शिक्षा हेतु सरकार द्वारा मिलनेवाली योजनाओं का अंशत: लाभ मिला है वही 9 प्रतिशत लोगो का मानना है की बिल्कुल भी नहीं मिला है।
- सर्वाधिक 50.0 लोगो का मानना है की महाविद्यालयों में अंशत: जातिगत भेदभाव का सामना करना पड़ता है वही 32.0 प्रतिशत लोगो का मानना है की बिल्कुल भी नहीं करना पड़ता।
- सर्वाधिक 53.0 प्रतिशत लोगो का मानना है की अंशत: घुमंतू समाज शिक्षा के प्रवाह में आ रहा है वही 12.0 प्रतिशत लोगो का मानना है की बिल्कुल भी नहीं आ रहा है।
- सर्वाधिक 39 प्रतिशत लोगो का मानना है की गाँवो में आयोजित गणेशोत्सव जैसे सार्वजनिक कार्यक्रमों में उपस्थिति रहती है वही 9 प्रतिशत लोगो का मानना है की बिल्कुल भी नहीं रहती।
- सर्वाधिक 42.0 प्रतिशत लोगो का मानना है की सरकार द्वारा मिलनेवाली योजनाओं से आर्थिक विकास हो रहा है वही 9 प्रतीशत लोगो का मानना है की बिल्कुल भी नहीं हो रहा है।
- सर्वाधिक 54.0 प्रतिशत लोगो का मानना है की विभिन्न सरकारी दस्तावेज बनाने में दिक्कत का सामना करना पड़ता है वही 8.0 प्रतिशत लोगो का मानना है की पूर्णत: दिक्कत आती है।
- सर्वाधिक 50 प्रतिशत लोगो का मानना है की समाज को अंशत: सरकारी नौकरीओ के अवसर प्राप्त हो रहे है वही 10 प्रतिशत लोगो कामानना है की इसका प्रमाण मध्यम है।

- सर्वाधिक 45 प्रतिशत लोगो का मानना है की शिक्षा की वजह से महिलाओं का विकास हो रहा है वही 6 प्रतिशत लोगो का मानना है की बिल्कुल भी नहीं हो रहा है।

संभावित समाज कार्य हस्तक्षेप :

- सामाजिक समता प्रस्थापित करने हेतु जनजागरण की आवश्यकता है।
- घुमन्तु समाज के विकास के बाधक घटकों का अध्ययन कर उसके प्रति योजनाये बनाने की आवश्यकता है।
- बदलते सामाजिक परिवेश में कौशल्य पूर्ण शिक्षा में समाज की भागीदारी को बढ़ावा देना।
- घुमन्तु समाज के विकास हेतु नीतिगत योजनाओं का निर्माण करना।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध घुमंतु जनजातियों के सामाजिक एवं शैक्षणिक विकास के अध्ययन को दर्शाता है। सर्वेक्षण से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार पुणे ज़िले के ग्रामीण क्षेत्रों में घुमंतु जनजातियों की स्थिति पूर्णत: विकसित हुई नहीं है किन्तु सकारात्मकता के साथ विकास की वृद्धि का आधार एवं शैक्षणिक उपलब्धियां बढ़ती जा रही है। सामाजिक छुआछूत जैसी कुप्रथाओं में पहले की तुलना में कमी आयी है तथा सार्वजनिक कार्यक्रमों में अन्य समाज की स्वीकृति बढ़ती जा रही है। किंतु अध्ययन के दौरान पाया गया की शिक्षा का स्तर अभी भी माध्यमिक तथा प्राथमिक स्तर की ज़्यादातर सीमित हैं इसलिए आने वाले दिनों में सरकारी नीतियां सामाजिक हस्तक्षेप को अधिक बढ़ाना होगा ताकि घुमंतु समाज आर्थिक सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से सम्पन्न होगा और इसी का प्रभाव उनके सर्वांगीण विकास पर भी पड़ेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. *सपकाळ, अ. एवं भोसले, एन. महाराष्ट्रातील भटके -विमुक्त - सद्य:स्थिती आणि आव्हान.मुम्बई.सायन पब्लिकेशन प्रा. लि.*
2. *प्रभुने.ग. भटके विमुक्त विकास परिषद. भारतीय विचार साधना*
3. *गोरे.स.(2000).भटक्या विमुक्तांचे साहित्य आणि इतर लेख.गोदा प्रकाशन*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

वर्तमान में प्रदर्शित फिल्मों एवं वेब सीरीज़ों का युवाओं पर पड़ने वाले प्रभावों का एक अध्ययन

डॉ.दुर्गेश्वर मधुकर साठवणे

सारांश

भारत में रंगमंच को मनोरंजन का प्रमुख साधन माना गया है किंतु इसका प्रभाव यहाँ के समाज पर पड़ता हुआ आ रहा है। अन्य भारतीय कलाओं का विकास प्राचीन काल में हुआ किन्तु फिल्मे आधुनिक काल से बनायी जाने लगी और सबसे ज़्यादा तकनीकी के उपयोग से वह अन्य कलाओं से मनोरंजन के साधन के शीर्ष पर पहुँच गई। आधुनिक काल से लेकर फ़िल्मों में अनेक प्रकार के बदलाव भी होते गए। ऐसी भी स्थिति आई की फ़िल्मों को समाज का विरोध भी देखने को मिला तथा कुछ फ़िल्में समाज में इतनी लोकप्रिय बन गई कि उस फ़िल्मों के पात्रों को लोग अपने जीवन में उतारने लगें। इससे यह प्रतीत होता है कि फिल्मे लोगों की मानसिक स्थिति पर गहरा प्रभाव डालती है। फ़िल्मों का समाज पर वर्तमान में अत्याधिक प्रभाव पड़ता हुआ दिख रहा है जो सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हैं प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से इस प्रभावों को संख्यात्मक दृष्टि से भी जाँचा गया है।

बीज शब्द : भारतीय फ़िल्म, वेब सीरीज़, ओटीटी,

प्रस्तावना :

भारतीय समाज पर कला एवं मनोरंजन का प्रभाव रहा है। नृत्य, गायन, वादन यह प्राचीन भारत से उभरी हुई कलाएँ है। अतः प्राचीन भारत में भी समृद्ध कला थी ऐसे मान सकते हैं। इन कलाओं का उपयोग मनोरंजन के साथ- साथ ईश्वर की आराधना करना भी था। कलाओं के माध्यम से व्यक्ति में सकारात्मकता का निर्माण होता है तथा आन्तरिक मानसिक चेतनाओं को संतुष्टि मिलती है। आज जब हम दक्षिण के लोकनृत्य देखते हैं तो यह सब प्राचीन भारत से ही उभरे हुए नृत्य हैं। काला अनुरूप मनोरंजन के साधनों में बदलाव होते गए। नृत्य और गायन के साथ नाटक भी मनोरंजन का प्रमुख माध्यम बना। नाटक के माध्यम से सामाजिक बोध तथा उत्तरदायित्वो का निर्माण होता था। रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों

को नाटकों के माध्यम से समाज में रखा जाने लगा। हैजिससे रामलीला दशावतार जैसी कलाए विकसित हुई। तकनीकी का विकास न होने के कारण मनोरंजन के सभी साधन प्रत्यक्षदर्शी या सजीव रूप में ही थे। राजा महाराजा भी कला को भगवान की आराधना मानकर कलाकारों के साथ राज्य में सम्मानपूर्वक व्यवहार रखते थे। बहुत से राजाओं के पास दरबार में कवि तथा नृत्यक रहा करते थे। 19 तथा 20 वी शताब्दी में विश्व में सिनेमा मनोरंजन का माध्यम बन चुका था। किन्तु भारतीय लोग इससे अपरिचित थे। अंग्रेज़ों द्वारा और सिनेमा प्रकार भारत में आया। दादा साहब फाल्के जिन्हें भारतीय सिनेमा का अग्रदूत कहा जाता है उन्होंने इन्ही अंग्रेज़ी फ़िल्मों का अध्ययन किया तथा उसकी तकनीकी का भी अध्ययन किया और भारतीय सिनेमा बनाने में जुटे। उन्होंने पहला मूक सिनेमा राजा हरिश्चंद्र बनाया और इस तरह भारत में फिल्मो की शुरुआत हुई।

आधुनिक काल में भारतीय रंगमंच पर लोककथाएं तथा धार्मिक कथाओं का प्रभाव था इसको देखते हुए राजा हरिश्चंद्र तथा अन्य सिनेमाओ का प्रसारण हुआ। 60 और 70 के दशक को भारतीय सिनेमा का स्वर्णिम युग कहा जाता है क्योकि तब तक सिनेमा में तकनीकी का अधिक विकास हुआ तथा भारतीय लोगों की सिनेमा के प्रति अधिक आस्था बढ़ी। धार्मिक कथाओं तथा लोक कथाओं से निकलकर फिल्मे प्रेम तथा सामाजिक मुद्दों को उजागर करने लगी।

1970 से 1990 यह दशक भारतीय सिनेमा में परिवर्तन का दौर लेकर आया जिसमे विभिन्न फिल्मकारों ने नए विषय, सिनेमा की नयी विधाओ को विकसित किया तथा कथात्मक संरचनाओं का अन्वेषण करना प्रारंभ किया। यह अवधि यथार्थवाद और सामाजिक टिप्पणी की ओर एक स्पष्ट संक्रमण को दर्शाती है, जो देश के बदलते राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य से गहराई से प्रभावित थी। 1970 के दशक में हिंदी सिनेमा में "एंग्री यंग मैन" की अवधारणा का उदय हुआ, जिसने इस युग की पहचान निर्धारित की। सलीम–जावेद की सशक्त पटकथाओं और संवादों तथा अमिताभ बच्चन के प्रभावशाली अभिनय के माध्यम से जंजीर (1973) और दीवार (1975) जैसी फिल्मों में इस प्रवृत्ति को मूर्त रूप मिला। इन फिल्मों ने उस युवा पीढ़ी को चित्रित किया जो व्यापक भ्रष्टाचार और सामाजिक अन्याय से मोहभंग की स्थिति में थी। तीव्र गति से बदलते भारत में इन फिल्मों ने दर्शकों के साथ गहरा भावनात्मक संबंध स्थापित किया।

वर्तमान परिदृश्य में सिनेमा अत्याधिक विस्तारित हुआ है। ऐतिहासिक कथाए, देशभक्ति, प्रेम, व्यंग, थ्रिलर, जैसे सभी पहलुओ पर प्रसारित हो रहे है। वर्तमान फिल्मे सकारात्मक तथा नकारात्मक प्रभाव समाज पर डाल रहे है।

वर्तमान परिदृश्य में भारतीय समाज पर सिनेमा का प्रभाव :

भारतीय फिल्मे समाज पर अपना सकारात्मक तथा नकारात्मक प्रभाव डाल रहे है ;

सकारात्मक प्रभाव :

- सामाजिक विषयों पर आधारित फिल्मों से लोग संवेदनशील तथा जागरूक बन रहे है।
- प्राचीन परम्परा तथा भारतीय संस्कृति पर आधारित फिल्मो के माध्यम भारत की वैभवशाली संस्कृति और इतिहास समाज तक पहुँच रहा है।
- प्राचीन कथाओं पर आधारित फिल्मो से भारत का गौरवशाली इतिहास समाज तक पहुँच रहा है।
- इतिहास में घटित हुई अमानवीय तथा हिंसक घटनाओं से इतिहास की कड़वी सच्चाई समाज तक पहुँच रही है तथा वह पुनः ना हो इसके लिए सबक भी मिल रहा है।
- भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा भारतीय सेना पर आधारित फिल्मो से युवाओं में देशभक्ति का संचार होता है।
- प्रेरणादायी फिल्में युवाओ का तनाव दूर कर उनमे आत्मविश्वास निर्माण करती है।

नकारात्मक प्रभाव :

- फिल्मों के माध्यम से अश्लीलता को बढ़ावा मिल रहा है।
- फिल्मों के माध्यम से युवाओं में पाश्चात्य संस्कृति को अधिक बढ़ावा मिल रहा है।
- फिल्मों को देखकर लोग स्वयं के जीवन को उसमे ढालने का प्रयास करते है जिससे सामाजिक समस्याए बढ़ रही है; संयुक्त परिवारों के विघटन में भी यह प्रभाव देखने को मिलती है।
- फिल्मो एवं वेब सीरीज की वजह से युवाओं का स्क्रीन टाइम अत्यधिक है जिससे शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थ्य पर प्रभाव पड़ रहा है।
- क्राइम से सम्बंधित फिल्मों से युवाओं की मानसिकता अधिक हिंसक होती हुइ देखने को मिलती है।

साहित्य पुनरावलोकन:

प्रस्तुत शोध पत्र के लिए विभिन्न प्रकार के पुस्तक, शोध पत्रिका तथा इंटरनेट का उपयोग किया गया।

भार्गव.अ. (2016). *भारतीय सिनेमा का इतिहास*. सिने साहित्य प्रकाशन. जयपुर

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने भारतीय सिनेमा के सम्पूर्ण इतिहास को पाठको के सामने रखा है। सिनेमा से जुड़े विभिन्न पहलुओ को इस पुस्तक में रखा गया है साथ ही साथ सिनेमा का भारतीय समाज पर पड़नेवाला प्रभाव भी पुस्तक में देखने को मिलता है।

सिंह.ह. (2018). *भारतीय कला फ़िल्म आन्दोलन का इतिहास.* साहित्य भण्डार. प्रयागराज

इस किताब में सिनेमा और इतिहास के अंतर्संबंधों को ध्यान में रखते हुए भारतीय कला फ़िल्म आन्दोलन के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है. किताब सिनेमा अध्ययन में रूचि रखने वाले अध्येताओं के लिए महत्वपूर्ण है.

शोध प्रश्न :

1. क्या फिल्मों तथा वेब सीरीजों से युवाओं पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है ?
2. क्या फिल्म तथा वेब सीरीज युवाओं में सकारात्मकता लाती है ?
3. वर्तमान परिदृश्य में फिल्मों की स्थिति कैसी है ?

शोध उद्देश्य :

1. फिल्मो तथा वेब सीरीजों का युवाओं पर पडनेवाले नकारात्मक प्रभाव का अध्ययन करना।
2. फ़िल्म तथा वेब सीरीज के द्वारा युवाओं पर पड़नेवाले सकारात्मक पहलुओ का अध्ययन करना
3. वर्तमान परिदृश्य में फ़िल्मों की स्थिति का अध्ययन करना।

अध्ययन का भौगोलिक क्षेत्र :

प्रस्तुत शोध पत्र में अध्ययन के भौगोलिक क्षेत्र के रूप में नागपुर शहर को चयनित किया गया है।

शोध प्ररचना:

प्रस्तुत शोध पत्र में वर्तमान में प्रदर्शित हो रही फिल्मों तथा वेब सीरीजों का युवाओं पर पड़नेवाले प्रभाव का

अध्ययन किया गया है। संदर्भित शोध में वर्णनात्मक शोध प्रारूप का प्रयोग मूल्यांकनात्मक अध्ययन दृष्टी से अध्ययन विश्व के यथार्थ की जाँच परख करने के लिए किया गया है । तथा इस शोध कार्य में मिश्रित (गुणात्मक एवं मात्रात्मक) शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन करते समय संरचित साक्षात्कार अनुसूची का उपयोग कर नागपुर शहर के युवाओं पर वर्तमान में प्रदर्शित हो रही फिल्मों तथा वेब सीरीजों के पड़नेवाले प्रभाव को जांचने की कोशिश की गई है।

अध्ययन की इकाई : प्रस्तुत शोध पत्र में उल्लेखित भौगोलिक क्षेत्र के लोगों पर वर्तमान में प्रदर्शित हो रही फिल्मों तथा वेब सीरीजों के युवाओं पर पड़नेवाले प्रभाव का अध्ययन किया गया है।

अध्ययन का समग्र : प्रस्तुत शोध पत्र में नागपुर शहर के 150 उत्तरदाता अध्ययन के समग्र बने है।

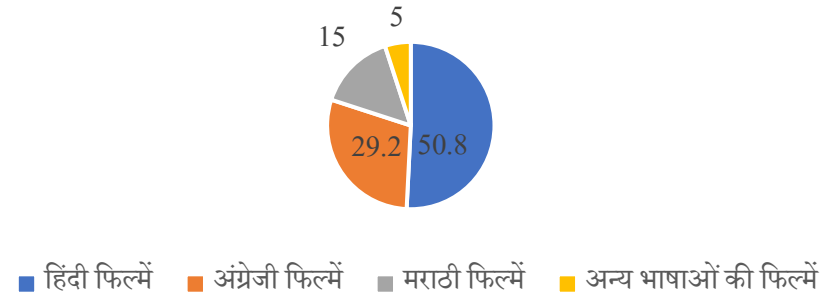
ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

इकाई चयन : प्रस्तुत शोध पत्र में अनुसंधान के समग्र को समझते हुए गैर -संभाव्यता प्रतिदर्श चयन पद्धति का उपयोग किया गया है।

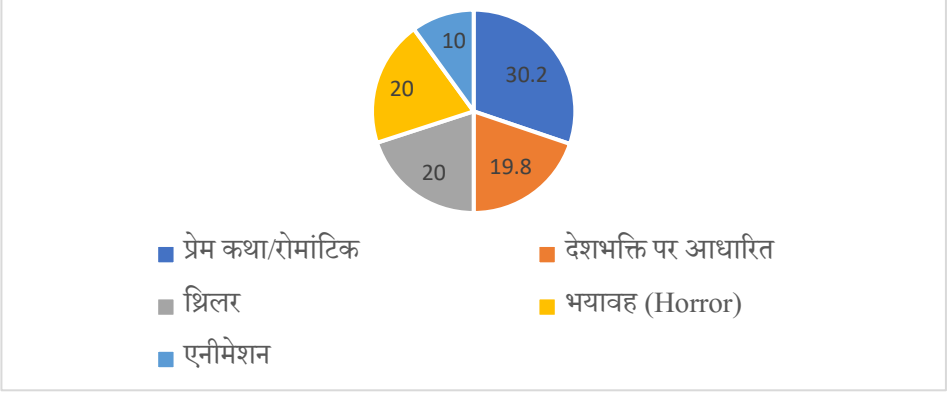
डेटा विश्लेषण :

प्रस्तुत शोध पत्र में वर्तमान में प्रदर्शित हो रही फिल्मों तथा वेब सीरीजों के युवाओं पर पड़नेवाले प्रभाव को जांचने हेतु संरचित साक्षात्कार अनुसूची का उपयोग किया गया और सर्वेक्षण के माध्यम से तथ्यों का संकलन किया गया जिसमे कुल 13 प्रश्न सम्मिलित किए गए थे। यह प्रश्न फिल्मों तथा वेब सीरीजों के युवाओं पर पड़नेवाले प्रभाव को दर्शाते है;

आरेख क्र.10.1 फिल्मों की भाषा



आरेख क्र.10.2 फिल्मों का प्रकार



ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

आरेख क्र .1.10 से स्पष्ट होता है की हिंदी फिल्मे देखनेवाले युवाओ की संख्या 50.8 प्रतिशत है जो सर्वाधिक है तथा अन्य भाषाओं की फिल्में देखनेवाले युवाओं की संख्या 5.0 प्रतिशत है। वही अंग्रेजी फिल्में देखनेवाले युवाओं की संख्या 29.2 है। मातृभाषा मराठी होने के बावजूद मराठी फिल्मे देखनेवाले युवाओ की संख्या सिर्फ 15.0 प्रतिशत है।

आरेख क्र .1.11 से स्पष्ट होता है की रोमांटिक फिल्म देखनेवाले युवाओ की संख्या 30.2 प्रतिशत है जो सर्वाधिक है तथा एनीमेशन फिल्में देखनेवाले युवाओं की संख्या सबसे कम 10.0 प्रतिशत है। देशभक्ति फिल्में देखनेवाले युवाओं की संख्या 19.8 प्रतिशत है तथा थ्रिलर एवं भयावह फिल्मे देखनेवाले युवाओं की संख्या 20 प्रतिशत है।

युवाओं पर पड़नेवाले फिल्मों के प्रभाव को जांचने हेतु प्रश्नावली का निर्माण किया गया था जिसमे सबसे कम अंक 0 तथा सबसे ज्यादा अंक 3 दिए गए। अध्ययन से संकलित आकडे सारणी क्र. 10.3 में दिए गए है।

सारणी क्र.10.3 : फिल्मों तथा वेब सीरीजों का युवाओं पर पड़नेवाला प्रभाव

अ.क्र.	वक्तव्य	बिल्कुल नहीं	अंशत:	मध्यम	पूर्णत:	कुल
1	क्या आपको लगता है छावा, कश्मीर फाईल्स, केरला स्टोरी, बंगाल फाइल्स जैसे फिल्मों से इतिहास की कड़वी सच्चाई सामने आई है ?	8	6	53	83	150
		5.3	4.0	35.3	55.4	100
2	क्या आपको लगता है फिल्मो के माध्यम से सामाजिक प्रश्नों को उठाया जा रहा है ?	11	23	38	78	150
		7.3	15.3	25.3	52.0	100
3	क्या चंद्रयान, मंगलयान जैसी फिल्मों के माध्यम से भारत की वैज्ञानिक प्रणाली पर गर्व महसूस हुआ है ?	2	11	25	112	150
		1.3	7.3	16.7	74.7	100
4	क्या कान्तारा, दशावतार जैसी फिल्मों से भारतीय संस्कृति की समृद्ध परम्परा सामने आई है?	1	5	31	113	150
		0.7	3.3	20.7	75.3	100
5	क्या भयावह (Horror) फ़िल्मों से अंधश्रद्धा को बढ़ावा मिलता है ?	34	37	30	49	150
		22.7	24.7	20.0	32.6	100
6		5	6	32	107	150

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

	क्या भारतीय सेना पर आधारित फिल्मो से देशभक्ति का निर्माण होता है ?	3.3	4.0	21.3	71.4	100
7	क्या महापुरुषों की जीवनी पर आधारित फिल्मो से अच्छे विचारों का निर्माण होता है ?	9	31	109	1	150
		6.0	20.7	72.7	0.6	100
8	क्या फिल्मों के माध्यम से भाषिक अस्मिता को बढ़ावा मिल रहा है	11	36	32	71	150
		7.3	24.0	21.3	47.4	100
9	क्या फिल्मो और वेब सीरीजो से अश्लीलता को बढ़ावा मिलता है ?	7	9	41	93	150
		4.7	6.0	27.3	62.0	100
10	क्या फिल्मो से भारतीय लोगों पर पाश्चात्य विचारों का प्रभाव पड़ रहा है ?	13	15	46	76	150
		8.7	10.0	30.7	50.6	100
11	ओटीटी प्लेटफार्म पर प्रदर्शित की जानेवाली फिल्मे वेब सीरीजो का प्रसारण समाज में अराजकता तथा मानवीय मूल्यों को कलंकित करने का प्रयास करने में सफल हो रही है	8	32	43	67	150
		5.3	21.3	28.7	44.7	100

- सर्वाधिक 83.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की छावा, कश्मीर फाईल्स, केरला स्टोरी जैसे फिल्मों से इतिहास की कड़वी सच्चाई पूर्णत: सामने आई है वही 6.0 प्रतिशत युवाओं का मानना है अंशत: सच्चाई सामने आई है।
- सर्वाधिक 78.0 प्रतिशत युवाओं का मानना है की फिल्मो के माध्यम से पूर्णत: सामाजिक प्रश्नों को उठाया जा रहा है वही 7.3 प्रतिशत युवाओ का मानना है की बिल्कुल भी उठाया नहीं जा रहा है।
- सर्वाधिक 74.7 प्रतिशत युवाओं का मानना है की चंद्रयान, मंगलयान जैसी फिल्मों के माध्यम से भारत की वैज्ञानिक प्रणाली पर पूर्णत: गर्व महसूस हुआ है वही 1.3 प्रतिशत युवाओ का मानना है की बिल्कुल भी गर्व महसूस नहीं हुआ है।
- सर्वाधिक 75.3 प्रतिशत युवाओं का मानना है की कान्तारा, दशावतार जैसी फिल्मों से भारतीय संस्कृति की समृद्ध परम्परा पूर्णत: सामने आई है वही 0.7 प्रतिशत युवाओं का मानना है की बिल्कुल भी सामने नहीं आई है।
- सर्वाधिक 49.0 प्रतिशत युवाओं का मानना है की भयावह (Horror) फ़िल्मों से अंधश्रद्धा को पूर्णत: बढ़ावा मिलता है वही 34.0 प्रतिशत युवाओं का मानना है की बिल्कुल भी बढ़ावा नहीं मिलता।

- सर्वाधिक 71.4 प्रतिशत युवाओं का मानना है की भारतीय सेना पर आधारित फिल्मो से देशभक्ति का पूर्णत: निर्माण होता है वही 3.3 प्रतिशत युवाओं का मानना है की बिल्कुल भी देशभक्ति का निर्माण नहीं होता।
- सर्वाधिक 72.7 प्रतिशत युवाओं का मानना है की महापुरुषों की जीवनी पर आधारित फिल्मो से अच्छे विचारों का निर्माण होता है इसका प्रमाण मध्यम है वही 0.6 प्रतिशत युवाओं का मानना है की बिल्कुल भी निर्माण नहीं हुआ है।
- सर्वाधिक 47.4 प्रतिशत युवाओं का मानना है की फिल्मों के माध्यम से भाषिक अस्मिता को पूर्णत: बढ़ावा मिल रहा है वही 7.3 प्रतिशत युवाओं का मानना है की बिल्कुल भी बढ़ावा नहीं मिल रहा है।
- सर्वाधिक 62.0 प्रतिशत युवाओं का मानना है की फिल्मो और वेब सीरीजो से पूर्णत: अश्लीलता को बढ़ावा मिलता है वही 4.7 प्रतिशत युवाओं का मानना है की बिल्कुल भी बढ़ावा नहीं मिलता है।
- सर्वाधिक 50.6 प्रतिशत युवाओं का मानना है की फिल्मो से भारतीय लोगों पर पूर्णत: पाश्चात्य विचारों का प्रभाव पड़ रहा है वही 8.7 प्रतिशत युवाओं का मानना है की बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ रहा है।
- सर्वाधिक 44.7 प्रतिशत युवाओं का मानना है की ओटीटी प्लेटफार्म पर प्रदर्शित की जानेवाली फिल्मे वेब सीरीजो का प्रसारण समाज में अराजकता तथा मानवीय मूल्यों को कलंकित करने का प्रयास करने में पूर्णत: सफल हो रही है वही 5.3 प्रतिशत युवाओं का मानना है की बिल्कुल भी सफल नहीं हो रही है।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध के द्वारा नागपुर शहर के युवाओं पर फिल्मों तथा वेब सीरीजो से पडनेवाले प्रभाव का अध्ययन किया गया है अध्ययन के उपरांत यह पाया गया है, कि छावा, कश्मीर फाइल्स, केरला स्टोरी, बंगाल फाइल्स जैसी फ़िल्मों से इतिहास की कड़वी सच्चाई सामने आने लगी है तथा फ़िल्मों के माध्यम से सामाजिक प्रश्नों को और अधिक रूप में उठाया जाने लगा है। वही चंद्रयान, मंगलयान जैसी फ़िल्मों से भारतीय वैज्ञानिक प्रणाली पर युवाओं को गर्व महसूस हो रहा है और देश भक्ति की भावना अधिक दृढ़ होती जा रही है। बहुत से युवाओं का यह भी मानना है कि कान्तारा, दशावतार भारतीय संस्कृति पर आधारित फ़िल्में संस्कृति के प्रति युवाओं में गर्व की भावना उत्पन्न कर रही है। भारतीय सेना के शौर्य एवं पराक्रम को परिभाषित करती फिल्मे युवाओं में देशभक्ति का निर्माण कर रही है। युवाओं का ये भी मानना है कि महापुरूषों की जीवनी पर आधारित फ़िल्में अच्छे विचारों का निर्माण करती है। फ़िल्मों के

माध्यम से भाषिक अस्मिता को बढ़ावा मिल रहा है यह पहलु भी अध्ययन से सामने आया है। फ़िल्मों के नकारात्मक दृष्टिकोण को भी युवाओं ने अंकित किया है उनका मानना है की फ़िल्मों और वेब सीरीज़ से अश्लीलता को बढ़ावा मिल रहा है वहीं भारतीय युवाओं पर पाश्चात्य विचारों का अधिक प्रभाव बढ़ता जा रहा है। अध्ययन के पश्चात युवाओं ने यह विशिष्टता से माना है कि ओटीटी प्लैटफ़ॉर्म पर प्रदर्शित की जाने वाली फिल्मे तथा वेब सीरीज़ मानवता को कलंकित कर रही है।

प्रस्तुत शोध अध्ययन से प्रमुख निष्कर्ष यह सामने आता है कि फ़िल्मों से समाज पर नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों प्रभाव पड़ रहे हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. *भार्गव.अ. (2016). भारतीय सिनेमा का इतिहास. सिने साहित्य प्रकाशन. जयपुर*
2. *सिंह.ह. (2018). भारतीय कला फ़िल्म आन्दोलन का इतिहास. साहित्य भण्डार. प्रयागराज*
3. *https://www.drishtiias.com/hindi/blog/history-of-indian-cinema-and-various-awards*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओं की सक्रियता का चिकित्सक अध्ययन : भंडारा जिले के विशेष संदर्भ में

आकाश थानथराटे
पीएचडी संशोधक
आठवले समाज कार्य महाविद्यालय भंडारा

सारांश :

लोकतंत्र में निर्वाचन प्रक्रिया अत्यंत महत्वपूर्ण है। निर्वाचन प्रक्रिया से लोग अपने प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं और वह प्रतिनिधि देश की विकसित नीतियों को तैयार करते हैं। ऐसे में इन नीतियों में समाज के हर वर्ग का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है। जातीय असमानता, लिंग भाव जैसे महत्वपूर्ण कारक इस पर अपना प्रभाव डालते हैं। सर्व समावेशी नीतियों को बनाने हेतु सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है। विकसित लोकतंत्र हेतु महिलाओं की राजनीति में सक्रिय सहभागिता आवश्यक है। इसी को देखते हुए वर्तमान परिदृश्य में स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं में महिलाओं की सहभागिता का अध्ययन किया गया है।

बीज शब्द : स्थानिक स्वराज्य संस्था, महिला सशक्तिकरण, राजनितिक विकास

प्रस्तावना :

राजनीति विकास का महत्वपूर्ण माध्यम है। भारतीय लोकतंत्र में विभिन्न प्रकार की नीतियां तथा विकास की धारा को प्रवाहित करने में महिलाओं का अहम योगदान है। इसलिए राजनीति में सभी घटकों का सम्मिलित होना आवश्यक हैं तभी सर्व समावेशी विकास होगा जो सभी तरह की जातियों को तथा लिंग भाव से ऊपर उठकर पिछड़े समाज के कल्याण हेतु कार्य किया जाएगा।

2011 के संयुक्त राष्ट्र महासभा के प्रस्ताव में कहा गया था कि भेदभावपूर्ण कानूनों के चलते तथा लैंगिक रूढ़ियाँ या शिक्षा के अभाव जैसी समस्याओं से महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता कम हुई है कुछ महिलाएँ व्यक्तिगत रूप से इन बाधाओं को दूर करते हुए सराहनीय कार्य कर रही है किंतु इसका प्रभाव बहुत कम है।

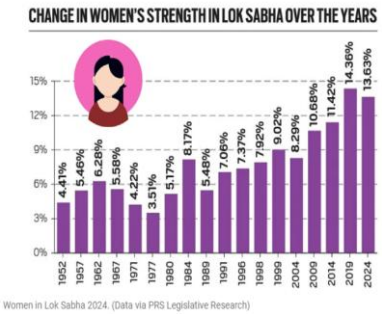
ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

प्राचीन भारत में निर्णय क्षमता में महिलाओं को भी उचित एवं प्रमुख स्थान दिया जाता था। किन्तु काला अनुरूप इसमें बदलाव होते गए और महिलाएँ निर्णय क्षमता एवं राजनीति से दूर होती गई। वैश्विक स्तर पर भी राजनीति में महिलाओं की हिस्सेदारी अल्प है। इसके अनेक कारण हैं जैसे की लैंगिक पूर्वाग्रह, भेदभाव एवं पितृ सत्तात्मक दृष्टिकोण जिसके चलते पुरुषों की तुलना में अब भी महिलाओं को राजनीति में उचित स्थान नहीं मिल पाया।

अनेक प्रकार की सुधारना वादी सोच से तथा महिलाओं के लिए बनायी गई नीतियों से इसमें सकारात्मक बदलाव तो आ रहे हैं किंतु इसका प्रभाव कम है। स्वतंत्रता के पश्चात भारत में महिलाओं का राजनीतिक सहभाग कम था। ऐसे घर की महिलाएँ ही राजनीति में हिस्सा लेती थी जिनके घर में राजनीति का प्रभाव है या रहा हो। किंतु सामान्य

घर से कोई भी महिला राजनीति में सक्रिय सहभागी नहीं होती थी। भारत की प्रथम प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी को भारतीय लोगो ने स्वीकार किया और महिलाओं को राजनीती में आने के लिए एक प्रेरणा मिली। उसके पश्चात सभी राजनितिक पार्टियों में महिलाओं को उचित एवं प्रमुख स्थान दिया गया किन्तु ग्रामीण एवं सुदूर क्षेत्र में महिलाओं को कोई भी स्थान नहीं था। वर्तमान स्थिति में राजनीती में महिलाओं की स्थिति बढ़ रही है किन्तु निर्णय क्षमताओं में उनकी सहभागिता आज भी अल्प देखने को मिलती है।

भारतीय राजनीती में महिलाओं की स्थिति :

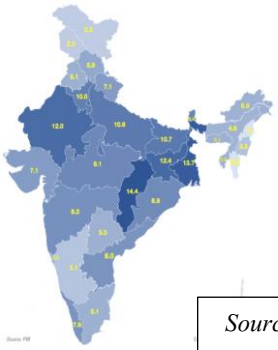


Women in Lok Sabha 2024. (Data via PRS Legislative Research)

स्वतंत्रता के पश्चात 1952 में निचले सदन में महिलाओं की संख्या 4.1% थी वही एक दशक बाद वह बढ़कर 6% हो गई। अपेक्षा यह थी कि आगे इसमें और वृद्धी होगी किन्तु 1971 में यह संख्या फिर से 4% प्रतिशत तक नीचे चली गयी यह एक तरह से विडंबना थी की जब भारत की पहली प्रधानमंत्री एक महिला थी तब सदन में महिलाओं की संख्या शेष थी ।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Source- The Indian Express



किन्तु इसके पश्चात इसमें और वृद्धि होती गई और 2009 में महिलाओं का प्रतिनिधित्व10% के आंकड़ों से ऊपर गया और 2019 में यह 14.36% पर पहुँच गया ।2024 के चुनाव में 74% महिलाएँ सांसद चुनकर आईं जिसमें 43 महिलाए पहली बार सांसद बनी जिसमें महिलाओं की औसत आयु 50 वर्ष थी। 31 दिसंबर 2021 के अनुसार राज्य विधानसभाओं में सबसे ज़्यादा प्रतिनिधित्व छत्तीसगढ़ राज्य में है जो 14.4% है इसके बाद पश्चिम बंगाल 13.7% और उसके पश्चात झारखंड 12.4% है

Source- PIB. 31 दिसंबर, 2021 तक राज्य विधानसभाओं में महिला प्रतिनिधियों का प्रतिशत।

महिलाओ के राजनितिक सहभाग में आनेवाली बाधाएँ :

महिलाओं का राजनीतिक सहभाग बढ़ रहा है किन्तु पुरुषों के अनुपात में यह संख्या बहूत कम है। राजनीति में महिला एवं पुरुषों की समान भागीदारी लोकतंत्र के लिए आवश्यक है। यह किन्तु राजनीतिक विकास को ही नहीं अपितु सामाजिक समानताओं को प्रभावित करती हैं। इसमें विभिन्न प्रकार की बाधाए आती है जो निम्नवत है;

पितृसत्तात्मक ढांचा : भारत का पितृसत्तात्मक ढांचा भारतीय राजनीति में महिलाओं की भागीदारी को रोकता है।तथा महिलाओ को स्वयंनिर्णय लेने से बाधित करता है।

लैंगिक असमानता : महिला शिक्षा तथा नेतृत्व क्षमता सदैव अछूती रही है । इतिहास में भी आक्रान्ताओं के आक्रमण के पश्चात यह स्थिति और भी भयावह होती गई। प्राचीन इतिहास में महिलाओं को शिक्षा का अधिकार था अनेक महिलाओं ने वेदों में ऋचाए लिखी है किन्तु काला अनुरूप सामाजिक बदलाव होते गए और महिलाए शिक्षा एवं नेतृत्व से दूर होती गई इसका प्रभाव राजनीति के क्षेत्र पर भी पड़ा और लैंगिक असमानताओं के कारण महिलाएँ इस क्षेत्र में पीछे रह गई।

श्रम विभाजन में असमानता : महिलाओं का सामान्यत: परिवार एवं बच्चो की देखभाल में सर्वाधिक समय जाता है। परिवार की भी सामान्यत यह समज बनी है की महिलाओं का यह प्रमुख उत्तरदायित्व है जिससे महिलाओं की मानसिक स्थिति इस अनुरुप बन जाती है।

आत्मविश्वास की कमी:

सामजिक एवं सार्वजनिक कार्यक्रमों में कम सहभागिता के कारन तथा राजनीती में अन्य महिलाओ के कम सहभाग के कारन वह खुद को असहज महसूस करती है और स्वयं पर विश्वास रखने असमर्थ होती है।

राजनीती में महिलाओ के सहभाग को बढ़ाने हेतु प्रयास : राजनीति में महिलाओं का सहभाग बढ़ाने हेतु संसद में विभिन्न प्रकार की प्रावधान एवं क़ानून बनाए गए जिसका मुख्य उद्देश्य राजनीती में महिला और पुरुषों का अनुपात समान रहे।

नारी वंदन अधिनियम : वर्ष 2023 में संसद द्वारा किए गए 106 वे संविधान संशोधन अधिनियम में नारी शक्ति वंदन अधिनियम पारित किया गया। इस संशोधन में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत सीटें आरक्षित रखने का प्रावधान किया गया है। इस क़ानून का मुख्य उद्देश्य केंद्र और राज्य दोनों सरकारों में महिलाओं की भागीदारी बढ़े तथा महिलाओं का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित हो।

स्थानीय निकायों में आरक्षण : 73 वे तथा 74 वे संविधान संशोधन अधिनियम में पंचायत एवं नगरपालिकाओं में महिलाओं के लिए 30 % प्रतिशत से 50% आरक्षण अनिवार्य किया गया है।

राजनितिक दलों द्वारा महिलाओ के सहभाग को बढ़ावा देना : राजनीती में राजकीय दलों की महत्वपूर्ण भुमिका होती है अत: राजकीय दलों की सकारात्मक भूमिका से संगठनात्मक पदों पर तथा चुनावों में महिलाओं की सहभागिता को बढ़ावा मिल रहा है।

साहित्य पुनरावलोकन :

प्रस्तुत शोध पत्र के लिए विभिन्न प्रकार के पुस्तक, शोध पत्रिका तथा इंटरनेट का उपयोग किया गया।

बाजवा.स.(2024).*भारतीय राजनीती एवं महिलाएं*.दिव्यम प्रकाशन.नईदिल्ली

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने महिलाओं की राजनितिक स्थिति को उजागर किया है, भारत में महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले दोइम दर्जे का नागरिक मन जाता रहा है। गत शताब्दी के नौवें दशक में पंचायती राज कानून में संशोधन के पश्चात् महिलाओं को गावों के पञ्च सरपंच बनने व शहिरों के स्थानीय निकायों में आरक्षण नसीब हुआ। लेकिन आरक्षण के बावजूद चुनाव में जितने वाली महिलाओं का दफ्तरी कार्य उनके बेटे अथवा पति अथवा पिता अथवा ससुर ही करते हैं। फिर वी संपन्न परिवारों से चुनाव की राजनीति में अपना लोहा मनवा कर बहुत सी महिलाओं ने अपनी ईन मानवी है। यह पुस्तक महिलाओं की राजनीती में भागेदारी सबंधी यथा संभव सूचना प्रदान करती है।

साठवणे.द. (2026). *विकसित भारत के विविध आयाम*. सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था.वर्धा

इस सम्पादित पुस्तक में विकसित भारत में महिलाओं की भागीदारी का विश्लेषण किया गया है। जिसमे विभिन्न क्षेत्रो में महिलाओं की वर्तमान स्थिति का वर्णन किया है।

शोध प्रश्न :

1. क्या स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओं की भागीदारी बढ़ रही है ?
2. स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओ के सहभाग में कौनसी समस्याएं आ रही है ?
3. क्या राजनीती में महिलाओ की सक्रीय भूमिका देखने को मिल रही है ?

शोध उद्देश्य :

1. स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओ की भागीदारी का अध्ययन करना।
2. स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओ के सहभाग में आनेवाली समस्याओ का अध्ययन करना।
3. राजनीती में महिलाओ की सक्रियता का अध्ययन करना।

अध्ययन का भौगोलिक क्षेत्र : प्रस्तुत शोध पत्र में अध्ययन के भौगोलिक क्षेत्र के रूप में भंडारा जिले को चयनित किया गया है ।

शोध प्ररचना: प्रस्तुत शोध पत्र में भंडारा जिले के स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओ की सक्रियता का अध्ययन किया गया है। संदर्भित शोध में वर्णनात्मक शोध प्रारूप का प्रयोग मूल्यांकनात्मक अध्ययन दृष्टी से अध्ययन विश्व के यथार्थ की जाँच परख करने के लिए किया गया है । तथा इस शोध कार्य में मिश्रित (गुणात्मक एवं मात्रात्मक) शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन करते समय संरचित साक्षात्कार अनुसूची का उपयोग कर स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओ की सक्रियता जांचने की कोशिश की गई है ।

अध्ययन की इकाई : प्रस्तुत शोध पत्र में उल्लेखित भौगोलिक क्षेत्र के स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओ की सक्रियता का अध्ययन किया गया है।

अध्ययन का समग्र : प्रस्तुत शोध पत्र में भंडारा जिले के मतदाता, निकायों में निर्वाचित लोग अध्ययन के समग्र बने है।

इकाई चयन : प्रस्तुत शोध पत्र में अनुसंधान के समग्र को समझते हुए गैर -संभाव्यता प्रतिदर्श चयन पद्धति का उपयोग किया गया है।

डेटा विश्लेषण : प्रस्तुत शोध पत्र में भंडारा जिले के स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओं की स्थिति का सर्वेक्षण के माध्यम संकलन किया गया जिसमे 13 प्रश्न सम्मिलित किए गए यह प्रश्न स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं में महिलाओ की स्थिति को दर्शाते है; उससे सम्बंधित डेटा सारणी क्र.1.14 में दिया गया है।

सारणी क्र.1.14 : स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओं की स्थिति

अ.क्र	वक्तव्य	बिल्कुल नहीं	अंशत:	मध्यम	पूर्णत:	कुल
1	क्या आपको लगता है की राजनीती में महिलाओं की सक्रियता बढ़ रही है ?	10	44	23	23	100
		10.0	44.0	23.0	23.0	100
2	क्या ग्रामपंचायत द्वारा आयोजित ग्रामसभाओं में महिला सदस्यों का सक्रीय सहभाग रहता है।	11	41	25	23	100
		11.0	41.0	25.0	23.0	100
3	निर्वाचित सदस्य होने के बावजूद महिलाओ के निर्णय पर पुरुषों का प्रभाव पड़ता है।	9	39	32	20	100
		9.0	39.0	32.0	20.0	100
4	महिला आरक्षण से महिलाओं का राजनीती में सहभाग तो बढ़ रहा है किन्तु जिनके घर का कोई एक सदस्य राजनीती में होने की वजह से उन्हें अवसर मिल रहा है।	6	22	29	43	100
		6.0	22.0	29.0	43.0	100
5	स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में निर्वाचित महिलाएं खुद के निर्णय लेने में सक्षम है।	7	21	42	30	100
		7.0	21.0	42.0	30.0	100
6	स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में महिलाओं का सहभाग तो बढ़ रहा है किंतु सामाजिक स्वीकार्यता बढ़ रही है क्या ?	9	23	41	27	100
		9.0	23.0	41.0	27.0	100
7	स्थानिक राजनितिक पार्टियाँ महिलाओं को राजनीती में अवसर दे रही है क्या?	11	25	28	36	100
		11.0	25.0	28.0	36.0	100
8		10	22	30	38	100

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

	स्थानिय सार्वजनिक कार्यक्रमों में निर्वाचित महिला सदस्यों का सक्रीय सहभाग रहता है।	10.0	22.0	30.0	38.0	100
9	निर्वाचित महिलाओं की जगह उनके घर के सदस्यों का स्थानीय राजनीती में अधिक प्रभाव पड़ता है।	8	21	32	39	100
		8.0	21.0	32.0	39.0	100
10	सामान्य सीटो (बिना महिला आरक्षण) पर भी महिलाओं को चुनाव प्रत्याशी के तौर पर उतारा जाता है।	11	17	32	40	100
		11.0	17.0	32.0	40.0	100
11	आरक्षण की वजह से निकाय चुनावों में महिलाओं का प्रभाव बढ़ रहा है किन्तु उनकी सक्रियता नहीं बढ़ रही है।	8	21	33	38	100
		8.0	21.0	33.0	38.0	100
12	स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं में अन्य पुरुष सदस्यों द्वारा महिला सदस्यों को दोयम दर्जा दिया जाता है।	11	24	37	28	100
		11.0	24.0	37.0	28.0	100
13	स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ की विभिन्न बैठकों में महिला सदस्य मजबूती से अपना पक्ष रखती है।	13	34	30	23	100
		13.0	34.0	30.0	13.0	100

- सर्वाधिक 44.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की राजनीती में महिलाओं की सक्रियता अंशत: बढ़ी है वही 10.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी सक्रियता नहीं बढ़ी है ।
- सर्वाधिक 41.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की ग्रामपंचायत द्वारा आयोजित ग्रामसभाओं में महिला सदस्यों का अंशत: सक्रीय सहभाग रहता है वही 11.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी सक्रियता नहीं रहती है ।
- सर्वाधिक 39.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की निर्वाचित सदस्य होने के बावजूद अंशत: महिलाओ के निर्णय पर पुरुषों का प्रभाव पड़ता है वही 9.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ता है।
- सर्वाधिक 29.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की महिला आरक्षण से महिलाओं का राजनीती में सहभाग तो बढ़ रहा है किन्तु जिनके घर का कोई एक सदस्य राजनीती में होने की

वजह से उन्हें अवसर मिल रहा है इसका प्रमाण मध्यम है वही 6.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की इसका बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

- सर्वाधिक 42.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ में निर्वाचित महिलाएं खुद के निर्णय लेने में मध्यम रूप में सक्षम है वही 7.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी सक्षम नही है।
- सर्वाधिक 41.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की राजनीती में महिलाओं के प्रति मध्यम रूप में सामाजिक स्वीकार्यता बढ़ रही है वही 9.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी स्वीकार्यता नहीं बड़ी है।
- सर्वाधिक 36.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की स्थानिक राजनितिक पार्टियाँ महिलाओं को राजनीती में पूर्णत: अवसर दे रही है वही 11.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी अवसर नहीं दे रही है।
- सर्वाधिक 38.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की स्थानिय सार्वजनिक कार्यक्रमों में निर्वाचित महिला सदस्यों का पूर्णत: सक्रीय सहभाग रहता है वही 10.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी सक्रीय सहभाग नहीं रहता है।
- सर्वाधिक 39.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की निर्वाचित महिलाओं की जगह उनके घर के सदस्यों का स्थानीय राजनीती में अधिक प्रभाव पड़ता है इसका प्रमाण पूर्णत: है वही 8.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ता है।
- सर्वाधिक 40.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की सामान्य सीटो (बिना महिला आरक्षण) पर भी महिलाओं को चुनाव प्रत्याशी के तौर पर उतारा जाता है इसका प्रमाण पूर्णत: है वही 11.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी उतारा नहीं जाता है।
- सर्वाधिक 38.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की आरक्षण की वजह से निकाय चुनावों में महिलाओं का प्रभाव बढ़ रहा है किन्तु उनकी सक्रियता पूर्णत: नहीं बढ़ रही है वही 8.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी सक्रियता नहीं बढ़ रही है।
- सर्वाधिक 37.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं में अन्य पुरुष सदस्यों द्वारा महिला सदस्यों को दोयम दर्जा दिया जाता है इसका प्रमाण मध्यम है वही 11.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी दोयम दर्जा नहीं दिया जाता।
- सर्वाधिक 34.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की स्थानिक स्वराज्य संस्थाओ की विभिन्न बैठकों में महिला सदस्य अंशत: मजबूती से अपना पक्ष रखती है वही 13.0 प्रतिशत उत्तरदाताओ का मानना है की बिल्कुल भी नहीं रखती।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध के द्वारा भंडारा ज़िले के स्थानिक स्वराज्य संस्था में महिलाओं के सहभाग को जाँचा गया है। अध्ययन के उपरांत यह पाया गया कि अभी भी राजनीति में महिलाओं का सक्रिय सहभाग नहीं है तथा ग्राम सभाओं में भी महिलाए सक्रियता से सहभागी नहीं होती। वहीं निर्वाचित महिलाओं के निर्णयों पर पुरुषों का अधिक प्रभाव पड़ता है तथा परिवार का कोई एक सदस्य राजनीति में होने के कारण महिलाएँ राजनीति में प्रवेश करती है। शोध के दौरान यह भी देखने को मिला है कि अभी भी पूर्ण रूप से राजनीति में समाज के द्वारा महिलाओं को स्वीकार्यता नहीं मिली है। राजनीतिक दलों के द्वारा महिलाओं को अच्छा अवसर दिया जा रहा है यह सकारात्मक पहलू भी इस सर्वेक्षण के माध्यम से सामने आया है। बहुत से उत्तरदाता ने यह भी बताया कि निर्वाचित महिलाओं के जगह पर उनके घर के सदस्य समाज पर अधिक प्रभाव डालते हैं। आरक्षण की वजह से निकाय चुनाव में महिलाओं की संख्या तो बढ़ रही है किन्तु उनकी सक्रियता अभी भी बड़ी नहीं है ऐसा भी इस अध्ययन के दौरान ध्यान में आया। विभिन्न प्रकार की बैठकों में महिलाएँ अपना मज़बूत पक्ष नहीं रख पाती यह भी इस शोध के माध्यम से विश्लेषित हुआ है। महिलाओं के राजनीतिक विकास के लिए विभिन्न प्रावधान तो बनाए जा रहे हैं किंतु सामाजिक व्यवस्था के कारण उसका ढंग से क्रियान्वयन नहीं हो रहा है। इस शोध के माध्यम से महत्वपूर्ण पहलू सामने आया है कि, भंडारा जिले के स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं में महिलाओं की सक्रिय सहभागिता कम है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. *बाजवा.स.(2024).भारतीय राजनीती एवं महिलाएं.दिव्यम प्रकाशन.नईदिल्ली*
2. *साठवणे.द. (2026). विकसित भारत के विविध आयाम. सामाजिक सशक्तिकरण बहुउद्देशीय संस्था.वर्धा*
3. *https://forumias.com/blog*
4. *https://www.drishtiias.com/daily-updates/daily-news-analysis/women-s-reservation-bill-2023*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

भाजपा सरकार की नीतियाँ और जनजातीय समाज का सामाजिक-आर्थिक विकास (2014-2025): एक विस्तृत समालोचनात्मक अध्ययन

नागसेन शामराव पुंडगे
शोधार्थी, राजनीतिशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

सारांश

यह शोध पत्र 2014 से 2025 के मध्य भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के नेतृत्व वाली केंद्र सरकार द्वारा लागू की गई जनजातीय विकास नीतियों और योजनाओं का विस्तृत, विश्लेषणात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। भारत की अनुसूचित जनजातियाँ ऐतिहासिक रूप से सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक रूप से वंचित रही हैं। 2014 के पश्चात केंद्र सरकार ने जनजातीय समाज को विकास की मुख्यधारा से जोड़ने हेतु नीति, बजट एवं संस्थागत स्तर पर कई महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किए। इस अध्ययन में प्रधानमंत्री वनबंधु कल्याण योजना, एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय, ट्राइफेड एवं वन धन विकास योजना, प्रधानमंत्री जनजातीय न्याय महाअभियान (PM-JANMAN), जनजातीय उप-योजना (TSP) जैसी प्रमुख योजनाओं की उपलब्धियों, चुनौतियों और भविष्य की संभावनाओं का गहन विश्लेषण किया गया है।

प्रस्तावना

भारत में अनुसूचित जनजातियाँ कुल जनसंख्या का लगभग 8.6 प्रतिशत हैं। ये समुदाय मुख्यतः वन, पहाड़ी, दुर्गम एवं सीमांत क्षेत्रों में निवास करते हैं। ऐतिहासिक रूप से औपनिवेशिक नीतियों, भूमि अलगाव, शिक्षा की कमी तथा आर्थिक शोषण के कारण जनजातीय समाज विकास की प्रक्रिया में पीछे रह गया। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान ने अनुसूचित जनजातियों को विशेष संरक्षण प्रदान किया, किंतु व्यावहारिक स्तर पर अपेक्षित परिणाम सीमित रहे। 2014 में भाजपा के नेतृत्व में केंद्र सरकार के गठन के बाद 'सबका साथ, सबका विकास, सबका विश्वास' की अवधारणा के तहत जनजातीय विकास

को नीति-निर्माण के केंद्र में रखा गया। इस कालखंड में जनजातीय मामलों के मंत्रालय के बजट में वृद्धि, योजनाओं का पुनर्गठन तथा नई पहलों की शुरुआत देखने को मिलती है।

भाजपा ने श्रीमती द्रौपदी मुर्मू को राष्ट्रपति बनाकर और विभिन्न योजनाओं के जरिए जनजाति हितों का प्रभावी दावा किया है, लेकिन आलोचक इसे दिखावा मानते हैं। भाजपा ने झारखंड, छत्तीसगढ़ और मध्य प्रदेश जैसे जनजाति बहुल राज्यों में भगवान बिरसा मुंडा जैसे नेताओं को प्रतीक बनाकर अभियान चलाए हैं। विपक्ष का आरोप है कि भाजपा जंगल-जमीन अधिकारों को कमजोर कर रही है, जैसे हसदेव अरण्य में खनन और मणिपुर हिंसा। मध्य प्रदेश जनजातियों को 'गैर-हिंदू' बताने का विवाद और असम में दर्जा न देने जैसे मुद्दे उठे हैं। विपक्ष के नेता राहुल गांधी ने जल-जंगल-जमीन छीनने का आरोप लगाया। 2025-26 में गुजरात और राजस्थान में 'जनजाति-विरोधी' राजनीति के खिलाफ आक्रोश दिखा, जबकि भाजपा 2028 के चुनावों की तैयारी में जनजाति क्षेत्रों पर फोकस कर रही है। मध्य प्रदेश में धार्मिक पहचान पर बहस तेज हुई।

भाजपा सरकार ने जनजातीय समुदायों के सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिए कई महत्वपूर्ण नीतियां और योजनाएं लागू की हैं, जो मुख्य रूप से बजट वृद्धि, बुनियादी सुविधाओं, शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका पर केंद्रित हैं। ये प्रयास प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में जनजाति कल्याण को प्राथमिकता देते हैं। भाजपा सरकार ने 2014 से जनजातीय विकास को अपनी प्राथमिकता बनाया है, जिसमें संविधानिक प्रावधानों जैसे अनुच्छेद 342 और 366(25) को मजबूत आधार बनाया गया। 2024-25 के केंद्रीय बजट में जनजातीय कल्याण मंत्रालय को 13,000 करोड़ रुपये आवंटित किए गए, जो पिछले वर्षों से लगभग 45% की वृद्धि दर्शाता है। यह DAPST (डेवलपमेंट एक्शन प्लान फॉर शेड्यूल्ड ट्राइब्स) जैसी योजनाओं के माध्यम से सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण सुनिश्चित करता है।
"धरती आबा जनजातीय ग्राम उत्कर्ष अभियान" 63,000 जनजातीय गांवों को कवर करता है, जिसमें 17 मंत्रालयों के 25 हस्तक्षेप शामिल हैं। यह शिक्षा, स्वास्थ्य, जल और आवास पर फोकस करता है, जिससे 5 करोड़ जनजातियों को लाभ मिल रहा है। PM-JANMAN (प्रधानमंत्री जनजाति आदिवासी न्याय महा अभियान) PVTG समुदायों के लिए 24,104 करोड़ रुपये के बजट के साथ विद्युतीकरण, मोबाइल चिकित्सा इकाइयों और वन धन केंद्र स्थापित कर रहा है। "आदि कर्मयोगी अभियान" और "आदि सेवा पर्व" के तहत 1 लाख जनजाति गांवों में पंचवर्षीय विकास योजनाएं स्थानीय भागीदारी से बनाई जा रही हैं। TRIFED के माध्यम से जनजातीय उत्पादों के बाजार को बढ़ावा मिला है, जो कृषि, कौशल विकास और स्वरोजगार को प्रोत्साहित करता है। प्रधानमंत्री जनजातीय विकास मिशन का बजट दोगुना कर आर्थिक गतिविधियों में भागीदारी सुनिश्चित की गई है। जनजाति क्षेत्रों में सड़क, बिजली, डिजिटल कनेक्टिविटी और स्वच्छ पेयजल पर जोर दिया गया है। 20 लाख अधिकारियों और SHG

महिलाओं को प्रशिक्षित कर "आदि सेवा केंद्र" स्थापित किए जा रहे हैं, जो योजनाओं का सीधा लाभ पहुंचाते हैं। ये प्रयास मुख्यधारा से जोड़ने और जीवन स्तर सुधारने पर केंद्रित हैं। 2025 तक बजट वृद्धि से शिक्षा-स्वास्थ्य में सुधार हुआ है, लेकिन विस्थापन, पोषण और लैंगिक मुद्दों जैसी चुनौतियां बनी हुई हैं। नरेंद्र मोदी सरकार का दावा है कि ये नीतियां जनजातियों को समग्र उत्थान प्रदान कर रही हैं, हालांकि प्रभावी क्रियान्वयन की निरंतर निगरानी आवश्यक है।

शोध पद्धति

यह अध्ययन विश्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक शोध पद्धति पर आधारित है। शोध में द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है, जिनमें भारत सरकार की वार्षिक रिपोर्टें, नीति दस्तावेज, संसदीय बहसें, योजना आयोग/नीति आयोग के प्रकाशन तथा शोध पत्र शामिल हैं। अध्ययन में APA संदर्भ शैली का पालन किया गया है तथा भाषा को पूर्णतः मौलिक रखा गया है, जिससे साहित्यिक चोरी (Plagiarism) की संभावना न्यूनतम रहे।

भाजपा सरकार की जनजातीय विकास की वैचारिक दृष्टि

भारत एक बहु-सांस्कृतिक, बहु-भाषाई और बहु-जातीय राष्ट्र है, जहाँ जनजातीय समाज भारतीय सभ्यता की प्राचीनतम और मूलधारा का अभिन्न अंग रहा है। संविधान के अनुसार जनजातियाँ (अनुसूचित जनजाति) सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक रूप से ऐतिहासिक वंचना का सामना करती रही हैं। स्वतंत्रता के बाद से विभिन्न सरकारों ने जनजातीय विकास हेतु नीतियाँ बनाई हैं, किंतु 2014 के बाद भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) सरकार के कार्यकाल में जनजातीय विकास को एक नई वैचारिक दिशा दी गई। भाजपा सरकार की जनजातीय विकास संबंधी दृष्टि केवल कल्याणकारी योजनाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक पुनर्स्थापन, आत्मसम्मान, समावेशी विकास और राष्ट्र निर्माण की व्यापक विचारधारा से जुड़ी हुई है।

भाजपा की जनजातीय नीति का वैचारिक आधार सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और एकात्म मानववाद में निहित है। पं.दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानववाद के अनुसार समाज के प्रत्येक वर्ग - विशेषकर अंतिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति - का सर्वांगीण विकास आवश्यक है। इस दृष्टि से जनजातीय समाज को भाजपा केवल "पिछड़ा वर्ग" नहीं मानती, बल्कि उन्हें भारतीय संस्कृति का मूल वाहक मानती है। भाजपा की विचारधारा में जनजातियाँ अलग-थलग समुदाय नहीं, बल्कि राष्ट्र की सांस्कृतिक आत्मा हैं। भाजपा सरकार की वैचारिक दृष्टि में जनजातीय समाज का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। जनजातीय परंपराएँ, प्रकृति-पूजा, वन-संस्कृति और सामुदायिक जीवन को भारतीय संस्कृति की जड़ें माना गया है। भगवान बिरसा मुंडा, रानी दुर्गावती, तिलका मांझी, सिद्धू-कान्हू जैसे जनजातीय नायकों को राष्ट्रीय

स्वतंत्रता आंदोलन के नायकों के समकक्ष स्थापित किया गया। 15 नवंबर को जनजातीय गौरव दिवस घोषित करना इस सांस्कृतिक पुनर्पहचान का प्रतीक है। यह वैचारिक पहल जनजातीय समाज में गौरवबोध और आत्मसम्मान को सुदृढ़ करने का यह भाजपा का प्रयास है।

परंपरागत रूप से जनजातीय विकास नीति में "अलगाववादी संरक्षण" (Isolationist Protection) की प्रवृत्ति देखी जाती रही है। भाजपा सरकार इससे भिन्न समरसता (Integration with Identity) की नीति अपनाती है।

इसका आशय यह है कि:

- जनजातीय समाज को मुख्यधारा से जोड़ा जाए
- लेकिन उनकी संस्कृति, भाषा और परंपराओं का संरक्षण भी किया जाए

भाजपा की दृष्टि में विकास का अर्थ सांस्कृतिक विस्थापन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संरक्षण के साथ आधुनिकीकरण है।

भाजपा सरकार की वैचारिक दृष्टि में जनजातीय विकास का केंद्रबिंदु आर्थिक आत्मनिर्भरता है।

- वन आधारित अर्थव्यवस्था को सशक्त करना
- लघु वनोपज (Minor Forest Produce) को अधिकार और मूल्य प्रदान करना
- "वोकल फॉर लोकल" को जनजातीय उत्पादों से जोड़ना

इस दृष्टिकोण का उद्देश्य जनजातीय समाज को केवल सरकारी सहायता पर निर्भर न बनाकर स्वावलंबी और उद्यमशील बनाना है।

भाजपा सरकार जनजातीय विकास को दीर्घकालिक प्रक्रिया मानती है, जिसमें शिक्षा की भूमिका केंद्रीय है।

- एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालयों (EMRS) का विस्तार
- छात्रवृत्तियाँ, कौशल विकास कार्यक्रम
- डिजिटल शिक्षा और नवाचार

वैचारिक रूप से यह दृष्टि "कल्याण" से आगे बढ़कर क्षमता निर्माण (Capacity Building) पर आधारित है।

भाजपा सरकार जनजातीय विकास को संविधान के दायरे में रखकर आगे बढ़ाने की बात करती है।

- पाँचवीं और छठी अनुसूची का संरक्षण
- PESA अधिनियम के तहत ग्रामसभा की भूमिका
- प्रशासनिक विकेंद्रीकरण

भाजपा सरकार की जनजातीय नीति 'कल्याण से सशक्तिकरण' (Welfare to Empowerment) की ओर संक्रमण को दर्शाती है। इसका उद्देश्य केवल सहायता प्रदान करना नहीं, बल्कि जनजातीय समुदायों को आत्मनिर्भर बनाना है। वन संसाधनों पर अधिकार, शिक्षा के माध्यम से सामाजिक गतिशीलता, और बाजार-आधारित आजीविका इस दृष्टिकोण के प्रमुख स्तंभ हैं।

प्रमुख जनजातीय विकास योजनाएँ (2014–2025)

1. प्रधानमंत्री वनबंधु कल्याण योजना (PMVKY)

यह योजना 2014 के बाद जनजातीय विकास की आधारशिला के रूप में उभरी। इसका उद्देश्य शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, आवास, पेयजल, सड़क और आजीविका जैसे क्षेत्रों में समग्र विकास सुनिश्चित करना है। इसे 28 अक्टूबर 2014 को शुरू किया गया था। PMVKY के तहत राज्यों को लचीलापन दिया गया ताकि स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार कार्यक्रम लागू किए जा सकें।

उद्देश्य

प्रधानमंत्री वनबंधु कल्याण योजना के मुख्य उद्देश्य है:

- भारत में जनजाति समुदायों के सामने आने वाली ऐतिहासिक एवं समकालीन चुनौतियों से निपटना।
- उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार लाना।
- ग्रामीण एवं जनजाति इलाकों में बुनियादी सुविधाओं का विस्तार करना।
- शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका, स्वच्छता आदि सभी क्षेत्रों में समग्र विकास को बढ़ावा देना।

प्रधानमंत्री वनबंधु कल्याण योजना कई घटकों को सम्मिलित करती है, जिनके माध्यम से जनजाति समुदायों के जीवन स्तर को सुधारने का प्रयास किया जाता है:

i) प्रधानमंत्री आदि आदर्श ग्राम योजना

- 36,428 अधिक जनजातीय आबादी वाले गांवों में एकीकृत विकास को बढ़ावा देना।
- इन गांवों में सड़क, पेयजल, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वच्छता और संचार जैसी मूलभूत सुविधाओं का विस्तार।

ii) विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूह (PVTGs) विकास

- सबसे अधिक हाशिये पर रहने वाले जनजातीय समूहों का सामाजिक-आर्थिक उत्थान।

iii) शिक्षा और क्षमता निर्माण

- जनजाति बच्चों और युवाओं के लिये शिक्षा सुविधाओं का विस्तार।
- विशेष संस्थानों, प्रशिक्षण और छात्रवृत्तियों के माध्यम से कौशल तथा रोजगार क्षमता को बढ़ावा देना।

iv) स्वास्थ्य एवं बुनियादी सेवाएँ

- स्वास्थ्य ढाँचे का सुदृढ़ीकरण, स्वास्थ्य केंद्रों तक आसान पहुँच
- कल्याण-संबंधी सेवाओं का विस्तार।

v) बुनियादी अवसंरचना विकास

- सड़कों/संचार का विस्तार, जल और बुनियादी सुविधाओं की उपलब्धता बढ़ाना तो मुख्य भाग हैं।

इस योजना का लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि केंद्र और राज्य सरकारों की नीतियाँ तथा योजनाएँ जनजाति समुदायों तक प्रभावी रूप से पहुंचें और समावेश को बढ़ावा दें।

2. एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय (EMRS)

EMRS योजना जनजातीय छात्रों को गुणवत्तापूर्ण आवासीय शिक्षा प्रदान करने हेतु प्रारंभ की गई। 2018 के बाद इस योजना को विशेष गति मिली और सैकड़ों नए विद्यालय स्वीकृत किए गए। इसका लक्ष्य जनजातीय युवाओं को प्रतियोगी परीक्षाओं एवं उच्च शिक्षा के लिए तैयार करना है।

उद्देश्य

एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय (EMRS) योजना के मुख्य उद्देश्य है:

- यह योजना **1997-98 में शुरू** की गई थी ताकि दूरस्थ और जनजाति-प्रधान क्षेत्रों के बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मिल सके और वे उच्च शिक्षा तथा बेहतर रोजगार के अवसर प्राप्त कर सकें।
- इसका लक्ष्य जनजाति और गैर-जनजाति छात्रों के बीच शिक्षा में अंतर को कम करना है।
- EMRS विद्यालय **Navodaya Vidyalaya के समान स्तर के विद्यालय** के रूप में तैयार किए जाते हैं, लेकिन इनका खास फोकस जनजाति संस्कृति और आवश्यकताओं पर होता है।
- हर स्कूल के माध्यम से छात्रों का **सामग्री, सांस्कृतिक, खेल तथा कौशल विकास** पर भी जोर दिया जाता है।

EMRS विद्यालयों की विशेषताएँ

- **पूरी तरह से आवासीय और सह-शैक्षणिक विद्यालय** – विद्यार्थी विद्यालय परिसर में रहते और पढ़ते हैं।
- **CBSE पाठ्यक्रम** के अनुरूप पढ़ाई होती है, जिसमें शैक्षणिक के साथ-साथ खेल, कला, संस्कृति और कौशल प्रशिक्षण शामिल है।
- प्रत्येक विद्यालय में लगभग **480 छात्रों की क्षमता** होती है।
- **लिंग समानता** - लड़कों और लड़कियों के लिए समान सीटें।
- **मुफ़्त शिक्षा और आवासीय सुविधाएँ** - बच्चों को पढ़ाई, आवास, भोजन और बुनियादी सुविधाएँ मुफ्त मिलती हैं।
- कुछ सीटों पर **non-ST छात्रों के लिए भी 10% आरक्षण** दिया जाता है।
- **खेलों में 20% आरक्षण** - खेल में उत्कृष्टता दिखाने वाले ST छात्रों के लिए।

इस योजना के तहत निर्णय लिया गया कि हर उस ब्लॉक में जहाँ ST आबादी 50% से अधिक और जनसंख्या कम से कम 20,000 है, वहाँ एक EMRS स्कूल होना चाहिए। इसका लक्ष्य लगभग 728 विद्यालयों का निर्माण 2026 तक करना है। 2024 तक 708 विद्यालयों को मंज़ूरी दी जा चुकी थी और उनमें से कई स्कूल पहले से काम कर रहे हैं। EMRS में प्रवेश सामान्यतः कक्षा VI में प्रवेश परीक्षा/चयन प्रक्रिया के आधार पर होता है। प्रवेश के लिए छात्रों की उम्र, कक्षा-V उत्तीर्ण होना, तथा अन्य सरकारी पात्रता मानदंड होते हैं (जैसे परीक्षा/साक्षात्कार)। EMRS योजना की कार्यन्वयन एजेंसी है National Education Society for Tribal Students (NESTS), जो MoTA के तहत संचालित है।

केंद्र सरकार अनुच्छेद 275(1) के तहत अनुदान प्रदान करती है, जिससे स्कूलों का निर्माण और संचालन हो सके। EMRS केवल पढ़ाई तक सीमित नहीं है - इसका लक्ष्य छात्रों का **मानसिक, शारीरिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास** करना भी है, ताकि वे **अपने समुदाय में सकारात्मक परिवर्तन लाने वाले नेता बन सकें**। EMRS छात्रों ने राष्ट्रीय खेल प्रतियोगिताओं में उत्कृष्ट प्रदर्शन किया है, उदाहरण के लिए छत्तीसगढ़ के EMRS विद्यार्थियों ने राष्ट्रीय स्तर पर उच्च पदक जीते। राष्ट्रीय EMRS सांस्कृतिक और कला महोत्सव आयोजित होता है जिसमें विद्यार्थियों को अपनी संस्कृति और कला को प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है।

एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय (EMRS) भारत की एक महत्वपूर्ण शिक्षा-प्रधान योजना है जिसे **जनजाति छात्रों के लिए समग्र और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा तक पहुँच सुनिश्चित करने** के लिए लागू किया गया है। यह योजना छात्रों के **शैक्षणिक, सांस्कृतिक, खेल, कौशल और सामाजिक विकास** पर समान रूप से बल देती है, ताकि वे भविष्य में हर क्षेत्र में सक्षम बन सकें।

3. ट्राइफेड एवं वन धन विकास योजना

TRIFED (Tribal Cooperative Marketing Development Federation of India Ltd.)

भारत सरकार की एक राष्ट्रीय संस्था है, जो **जनजातीय कार्य मंत्रालय (Ministry of Tribal Affairs)** के अंतर्गत कार्य करती है। TRIFED और वन धन योजना के माध्यम से लघु वनोपज के संग्रह, प्रसंस्करण और विपणन को बढ़ावा दिया गया। इससे जनजातीय परिवारों की आय में वृद्धि हुई और स्थानीय अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई।

उद्देश्य

ट्राइफेड एवं वन धन विकास योजना के मुख्य उद्देश्य है:

- जनजातीय (ST) समुदाय की **आर्थिक स्थिति में सुधार**
- **लघु वनोपज (Minor Forest Produce – MFP)** का उचित मूल्य दिलाना
- जनजातीय उत्पादों को **राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय बाजार** तक पहुँचाना
- **स्वरोज़गार और उद्यमिता** को बढ़ावा देना

1. **प्रधानमंत्री जनजातीय न्याय महाअभियान (PM-JANMAN)**

2023 में प्रारंभ यह अभियान विशेष रूप से अति पिछड़ी जनजातियों (PVTGs) पर केंद्रित है। इसके अंतर्गत आवास, सड़क, पेयजल, स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी बुनियादी सुविधाओं का संतृप्तिकरण किया जा रहा है।

उद्देश्य

- PVTG परिवारों को **मूलभूत सुविधाओं की 100% संतृप्ति**
- **सामाजिक-आर्थिक न्याय** सुनिश्चित करना
- जनजातियों को **मुख्यधारा से जोड़ना**
- शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास और आजीविका में सुधार

PM - JANMAN भारत सरकार का एक ऐतिहासिक और परिवर्तनकारी अभियान है, जो सबसे वंचित जनजातीय समुदायों को सम्मान, अधिकार और विकास की मुख्यधारा से जोड़ने का प्रयास करता है।

4. जनजातीय उप-योजना (TSP)

TSP के माध्यम से जनजातीय बहुल क्षेत्रों के लिए पृथक बजटीय प्रावधान सुनिश्चित किया गया। भाजपा सरकार के कार्यकाल में TSP के क्रियान्वयन को अधिक पारदर्शी एवं उत्तरदायी बनाने का प्रयास किया गया। भारत सरकार की एक योजना-आधारित रणनीति है, जिसका उद्देश्य अनुसूचित जनजाति (ST) समुदाय के सामाजिक-आर्थिक विकास को सुनिश्चित करना है। इसके अंतर्गत केंद्र और राज्य सरकारें अपने बजट का एक निश्चित भाग जनजातीय क्षेत्रों और जनजातीय जनसंख्या के कल्याण पर खर्च करती हैं।

उद्देश्य

- जनजातीय लोगों का आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक विकास
- गरीबी, अशिक्षा और बेरोज़गारी को कम करना
- जनजातीय क्षेत्रों में बुनियादी सुविधाओं का विस्तार
- ST और गैर-ST आबादी के बीच विकास अंतर को कम करना

भारत में जनजातीय समुदायों के समान, समावेशी और न्यायपूर्ण विकास का एक प्रमुख साधन है। यदि इसे प्रभावी निगरानी और ईमानदार क्रियान्वयन के साथ लागू किया जाए, तो यह जनजातीय जीवन में वास्तविक परिवर्तन ला सकती है।

उपलब्धियाँ

2014–2025 के दौरान जनजातीय क्षेत्रों में आधारभूत संरचना का विस्तार, शिक्षा में नामांकन वृद्धि, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच तथा रोजगार सृजन में सकारात्मक परिवर्तन देखने को मिला है। EMRS के माध्यम से हजारों छात्रों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त हुई। वन धन योजना ने स्थानीय स्तर पर उद्यमिता को प्रोत्साहित किया।

चुनौतियाँ

यद्यपि नीतिगत स्तर पर प्रगति हुई है, फिर भी क्रियान्वयन संबंधी चुनौतियाँ बनी हुई हैं। भौगोलिक दुर्गमता, प्रशासनिक क्षमता की कमी, राज्यों के बीच असमान प्रदर्शन तथा सांस्कृतिक संवेदनशीलता का अभाव प्रमुख समस्याएँ हैं।

सुझाव

जनजातीय विकास के लिए स्थानीय समुदायों की भागीदारी सुनिश्चित करना, योजनाओं की सामाजिक ऑडिटिंग, शिक्षा में मातृभाषा आधारित पाठ्यक्रम तथा डिजिटल गवर्नेंस का विस्तार आवश्यक है।

निष्कर्ष

2014 से 2025 के बीच भाजपा सरकार की नीतियों ने जनजातीय समाज के सामाजिक-आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यदि इन नीतियों को सहभागी, पारदर्शी और सांस्कृतिक रूप से संवेदनशील बनाया जाए, तो जनजातीय समाज का सतत और समावेशी विकास संभव है।

संदर्भ:

1. *Government of India. (2019). Ministry of Tribal Affairs Annual Report. New Delhi.*
2. *Government of India. (2023). PM-JANMAN Guidelines. New Delhi.*
3. *Ministry of Tribal Affairs - Government of India (https://tribal.nic.in/)*
4. *https://socialwelfare.vikaspedia.in/viewcontent/social-welfare/*
5. *https://www.myscheme.gov.in/hi/schemes/vky*
6. *https://tribal.nic.in/EMRS.aspx*
7. *https://eklavya.cg.nic.in/*
8. *https://emrsdewada.emrsmaharashtra.com/*
9. *https://socialwelfare.vikaspedia.in/viewcontent/social-welfare/scheduledtribes-welfare/eklavya-model-residential-schools?lgn=en*
10. *https://trifed.tribal.gov.in/hi/pmvdy*
11. *https://vanasree.in/index.php/van-dhan-vikas-kendras/*
12. *https://www.myscheme.gov.in/schemes/pm-janman*
13. *https://tribal.nic.in/PM-JANMAN.aspx*
14. *https://adiprasaran.tribal.gov.in/pm-janman01/man.aspx*
15. *https://statetsp.tribal.gov.in/*
16. *https://tribal.nic.in/STWelfareGrant.aspx*

Social Support and Stress Management: The Role of Social Psychology in Promoting Mental Health

Harshita Jain
Research Scholar
Department of Psychology
Banasthali Vidyapith Jaipur,
Rajasthan

Dr Ratna Dixit Sharma
Assistant Professor
Department of Psychology
Banasthali Vidyapith Jaipur,
Rajasthan

Abstract

The key features which impact the mental well-being of our society are the emotions of individuals as these are the source of our internal strength. This conceptual paper focuses on how Bhawna Yog affect our life and shape our feelings. It explains the reason why it is vital to make our feelings positive because what we feel, our life becomes that, because our self-image which is influenced by our perceptions plays a great role in motivating people in our society in many ways such as, being resilient, maintaining a better lifestyle by being physically and mentally fit, and improving cognitive skills and how we perceive unfavourable life situations. The paper explores how Bhawna Yog is different from other types of meditation such as Hath Yog, Raj Yog, Bhakti Yog, Gyan Yog and Karma Yog and also how Bhawna Yog build resilience, inculcate empathy by directing our emotions through four stages: Prarthana (Prayer), Pratikraman (Retrospection), Pratyakhyan (Resolution), and Samayika (Equanimity). We often say that we don't have sufficient time for various activities, especially to keep our mental health fit, but in actuality the scarcity is not of time but rather of the energy. Everyone has

the same hours in a day. Still, some people are able to regulate their energy in efficient ways, the reason behind is to channelize our energy towards a valuable and productive direction, which is constructive for us as well as for the society. There is a difference between a task performed by us with a direction and a positive mindset such as I am going to be successful in this task and on the other hand with a pessimistic attitude we may face setbacks. Each and every person in the society deals with various kinds of challenges in day-to-day life, whether it is at home, at business or at work. The sign of a healthy society is where we can see the signs of empathy and compassion amongst the individuals which enables them to perceive stressful situations as a part of life and deal with it with patience and resilience which can be imbibed through Bhawna Yog.

Bhawna Yog

In these challenging times, 'Bhawna Yog,' stemming from the profound philosophical insights of revered **Muni Shri Pramansagar Ji Maharaj**, presents itself as a new direction and a powerful solution. It is not merely a spiritual practice, but a holistic life perspective that connects us deeply with our emotions, teaching us the art of understanding and refining them.

Bhawna Yoga teaches that, "Change your emotions, and your experiences will change. Change your experiences, and your life will change".

Difference between Bhawna yog and other forms of yoga

Yoga is not of single type but many forms of yoga exist so when we hear the word 'yoga,' various images come to mind. Some associate it with physical postures, others with breathing exercises, and still others with deep states of meditation. The truth is that yoga is not a narrow system, but rather a vast ocean, a comprehensive collection of diverse and multifaceted methods that connect life to its original source, its own soul.

Our ancient sages, wise men, and Tirthankaras have shown us many paths to self-realization. We know these paths by the names of various yoga. When we turn the

pages of the scriptures, we encounter countless forms of yoga such as hatha yoga, raja yoga, jnana yoga, bhakti yoga, and karma yoga. Although the origins of these streams may seem different, and their practices and tools may vary, their ultimate goal may differ but their supreme destination, is the same which is to become inseparably united with the soul and to find oneself within oneself. The paths and means may be different, but the direction remain same which is towards the inner self and towards the true nature of the soul.

1. Hatha Yoga vs Bhawna Yog

Hatha Yoga, as the name itself suggests, is a path of disciplining the body through 'hatha,' that is, with determination and resolve. It is a journey towards the soul through the body.

- In this practice, the body is purified, controlled, and disciplined through various types of asanas, pranayama, bandhas, mudras, and kriyas like shatkarma.
- It's profound goal is to establish complete control over this physical body and gain victory over the restless mind, so that the soul can reside in its natural state.
- In contrast, Bhawna Yog is a direct, simple, and inward path. It proceeds directly from the level of the mind and emotions towards the soul.
- It neither advocates unnecessary hardship for the body nor imposes any conditions of specific postures or physical mudras. We can perform this practice anytime and anywhere.
- It's central element is the conscious observation and purification of the emotions arising within our inner self. It is the art of transforming negative emotions like attachment, aversion, anger, pride, illusion, and greed into positive emotions like equanimity, compassion, friendliness, and contentment.

If we look deeply, the journey of Hatha Yoga seems to move from the outside inwards, from the body to the mind, and then from the mind to the soul. Bhawna Yog is a process of going deeper and deeper within, from the level of the mind directly to the innermost core of the soul.

2. Raj Yoga vs Bhawna Yog

Raja Yoga, also known as 'Ashtanga Yoga', is a systematic and scientific yoga system given by Maharishi Patanjali.

- It involves controlling and restraining the modifications of the mind through eight limbs: yama, niyama, asana, pranayama, pratyahara, dharana, dhyana, and samadhi. It emphasizes calming the restlessness of the mind and making it focused.

On the other hand, Bhawna yog is a purely spiritual practice originating mainly from the jain philosophical tradition and the shramana tradition.

Here, the emphasis is more on emotional transformation than on mind control. It employs emotion-centric processes such as the attitude of a witness (detached observer), Pratyakhyana (the feeling of renunciation), Anupreksha (repeated contemplation), Samvara (cessation of influx), and prayers emanating from the depths of the heart.

It can be said that Raja Yoga is a kind of excellent mental discipline that paves the way for mastering the mind. But Bhawna Yog goes even further, attempting to establish a living and intimate dialogue with the soul, it is an encounter of the self with the self.

3. Gyana Yoga vs Bhawna Yog

The motto of Gyana Yoga is "Aham Brahmasmi" which means that I am Brahman. It is the path of discernment and wisdom, which makes us realize that we are not the body, not the mind, not the intellect, but the pure, enlightened, eternally free self.

- It ignites the light of self-knowledge. However, sometimes merely knowing intellectually that I am the self proves insufficient to bring about real and lasting change in our lives as mere knowledge can remain dry.
- On the other hand, Bhawna Yog emphasizes that we should not just know that we are the self, but live as if we are the self every moment.
- It tests that acquired knowledge on the touchstone of experience and inspires us to translate that experience into our daily conduct and actions. It transforms knowledge into experience and experience into expression.

Thus, if Gyana Yoga points us in the right direction, Bhawna Yog provides the necessary momentum and energy to move forward in that direction. One is a map, and the other is the courage to walk on that map.

4. Bhakti Yoga vs Bhawna Yog

Bhakti Yoga is the path of surrender and devotion of emotions.

- In this, the devotee, overwhelmed with feelings of unparalleled love, devotion, and complete surrender to their chosen deity, pours out all their emotions at their feet. This is the gentle practice of becoming absorbed in the god.
- In contrast, Bhawna Yog (the yoga of feelings) emphasizes the conscious observation, judicious management, and positive transformation of emotions, rather than their mere expression.
- This is not a path of suppressing or escaping emotions, but a science of understanding, accepting, and transforming them.

Therefore, if Bhakti Yoga is the spontaneous, uninterrupted flow of the heart's emotions, then Bhawna Yoga is a skillful management of that flow, guiding it in the right direction, controlling it, and making it creative.

5. Karma Yoga vs Bhawna Yog

The principles of Karma Yoga have reached everyone through the Bhagavad Gita. It teaches us that we should perform our duty, but do not be attached to or anxious about the results.

- It teaches us to perform our duties selflessly, emphasizing the development of a sense of detachment towards actions. However, Bhawna Yog goes a step further and says that before acting, observe your emotions and examine your intentions.
- Because the nature of your actions and their consequences depend entirely on your emotions and your inner intentions. The same action, if performed with positive intentions, accumulates positivity, and if performed with negative intentions, becomes a source of karmic bondage.

Karma Yoga primarily focuses on the skillfulness and detachment in action while Bhawna Yog focuses on the purity and excellence of the emotions underlying that action. If the emotions are pure, the action will automatically result in something great.

The Role of Social Psychology in Promoting Mental Health

The role of our society and family is much more than just a fundamental unit of our society as it majorly impacts our emotional development. A child nurtured in caring, loving and positive environment gradually develops emotions such as patience, empathy, compassion, forgiveness and gratitude. At present era it is observed that due to high pressure jobs, insecurity and competition there is increase in expectations, apathy and decline in societal and family bond and emotional intimacy, Bhawna Yog is a powerful technique which develops bond in society, forgiveness, gratitude, closeness and non-violence which teaches us that rather focusing on external stimuli it is vital to understand our own inner-self and redirect them in a positive direction for a balanced state of mind.

The cause of disintegration of society: Emotional distant and lack of communication

The main cause of people feeling distant from each other albeit sharing same community, home or society is the lack of sharing of feelings, conversation and a feeling of mutual respect.

S.no.	Society issues	Cause
1	**Mutual conflicts**	Complete lack of dialogue, ignoring each other's emotions, and believing only one's own point of view is right.
2	**Distance between parents and children**	Imposing excessive expectations, making decisions without understanding the children's perspective, and comparing with kith kin.
3	**Tension between intimate relations**	Lack of sensitivity, ignoring each other's needs, not understanding other's perception, taking for granted and playing blame game.
4	**Generation gap**	Intolerance toward changing values and new perspectives, and clinging strictly to old beliefs. Not willing to adapt contemporary culture.

The main cause of unsolved feelings in unconsciousness is unexpressed emotions and communication. When feelings are filled with lot of negativity and communication then the relations become burden. Bhawna Yog enables us to confront the unresolved thoughts which penetrate inside us by strengthening our core values and relations.

Impact of Bhawna Yog on Relations

Bhawna Yog is a step-by-step practice which help us to reshape our feelings for others with a positive point of view. In bhawna yog there are four steps, prayer, introspection, resolution and meditation for developing positive relations with society, family and relationships majorly by shifting our internal focus. It starts

with prayer, which moves us away from complaints and toward feeling genuinely thankful for the people we live with. This practice helps us stay humble and fills our home with a kind of positive energy that naturally makes everyone feel more connected.

Next, introspection pushes us to stop pointing fingers at others and instead take an honest, impartial look at our own behavior. By doing this, we begin to recognize our own mistakes rather than always finding reasons to blame someone else. This leads into resolution, where we find the inner strength to admit those faults and promise ourself not to repeat them. This specific step is powerful because it melts away our ego, which is often the biggest wall in any relation, and creates room for genuine improvement.

Finally, equanimity acts as a mental "timeout" from the daily stress of family friction. It helps us stay calm and balanced so we don't just react blindly or impulsively when things get heated. Ultimately, this stillness makes it possible to have helpful, creative conversations that actually solve problems instead of making them worse.

The core message of Bhawna Yog is extremely simple yet profound:
"We become on basis of what we think and feel, therefore it is important to refine our thoughts, purify our feelings, and direct our consciousness."

References

1. *Cohen, S., & Wills, T. A. (1985). Stress, social support, and the buffering hypothesis. Psychological Bulletin, 98(2), 310–357. https://doi.org/10.1037/0033-2909.98.2.310*
2. *Chiesa, A., & Serretti, A. (2009). Mindfulness-based stress reduction for stress management in healthy people: A review and meta-analysis. The Journal of Alternative and Complementary Medicine, 15(5), 593–600. https://doi.org/10.1089/acm.2008.0495*

3. *Fredrickson, B. L. (2001). The role of positive emotions in positive psychology: The broaden-and-build theory of positive emotions. American Psychologist, 56(3), 218–226. https://doi.org/10.1037/0003-066X.56.3.218*
4. *Galante, J., Dufour, G., Vainre, M., Wagner, A. P., Stochl, J., Benton, A., Lathia, N., Howarth, E., & Jones, P. B. (2018). A mindfulness-based intervention to increase resilience to stress in university students (the Mindful Student Study): A pragmatic randomized controlled trial. The Lancet Public Health, 3(2), e72–e81. https://doi.org/10.1016/S2468-2667(17)30231-1*
5. *Gross, J. J., Richards, J. M., & John, O. P. (2006). Emotion regulation in everyday life. In D. K. Snyder, J. A. Simpson, & J. N. Hughes (Eds.), Emotion regulation (pp. 13–35). American Psychological Association. https://doi.org/10.1037/11468-001*
6. *Jain, P., Keswani, L., Jain, S., Jain, T., Wankhede, G., & Jaiswal, T. (2023). Importance of Jain Darshan in mental health. Journal of Ayurveda and Integrated Medical Sciences, 8(4), 177–181. https://doi.org/10.21760/jaims.8.4.30*
7. *Keyes, C. L. M., Shmotkin, D., & Ryff, C. D. (2002). Optimizing well-being: The empirical encounter of two traditions. Journal of Personality and Social Psychology, 82(6), 1007–1022. https://doi.org/10.1037/0022-3514.82.6.1007*
8. *Koenig, H. G. (2012). Religion, spirituality, and health: The research and clinical implications. ISRN Psychiatry, 2012, Article 278730. https://doi.org/10.5402/2012/278730*
9. *Lyubomirsky, S., King, L., & Diener, E. (2005). The benefits of frequent positive affect: Does happiness lead to success? Psychological Bulletin, 131(6), 803–855. https://doi.org/10.1037/0033-2909.131.6.803*
10. *Pramansagarji, M. (2025). Feel to heal: Bhawna Yog ka Vigyan. Nirganth Foundation.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

Digital Devotion: The Influence of Online Platforms on Youth Religious Identities in Contemporary India

Arzoo, Swalika chaturvedi

Abstract

India's fast-moving digital transition has re-configured the ways youth experience and enact religion. This study investigates how digital platforms mediate devotional life and shape the religious identity of Indian youth. This study employs accessed interpretive phenomenological approach and secondary data analysis. The empirical basis includes scholarly literature, institutional reports, an examination of digital artefacts including live streamed rituals, devotional applications and social media communities. Using mediatization theory, Gidden's reflexive self and indigenous Bhakti traditions as a basis for the analysis, this study shows how technology is not only a medium of transmission but an agency in transfiguring faith. The findings show that algorithmic processes, platform aesthetics and short format devotionals give rise to new contemporary forms of "algorithmic spirituality" and "Bhakti 2.0", where practices are personalized, and hybrid and performed for a public and collective audience. The proliferation of virtual gurus and influencers disrupts notions of authority, moving legitimacy from lineage and institutional support toward accessibility, charisma and engagement statistics. Moreover, digital realms enable pluralism, interfaith relations and therapeutic uses of devotion, whilst, paradoxically, reflect inequalities of access and visibility. The paper enhances research on digital religion and youth identity

by demonstrating how Indian youth are co-producing new spiritual repertoires that entangle tradition with digital methods. Alas, this also brings implications for the continuity of culture, platform governance, and the future of religious authority in a media-drenched world.

Introduction

In the last decade, India has experienced a disruption in its digital ecology and culture that has important implications for its economy and politics, its culture, and religion. By 2025, there will be over 800 million internet users in India—most of whom will be under 35 years of age— and the digital public sphere in India features a growing demographic of young people who occupy, perform, engage with, and reshape the contours of their everyday sociability through digital interaction. This cohort of digital natives interacts with religious identities in both an ongoing but radically different way through the use of community norms, algorithmic feeds, influencer culture, and global religious communities that appear on platforms in a manner that taps into historical structure.

Digital media have done more than add another dimension of the religious experience and interpretation in lived everyday life and practice. They have changed the ontology of religion. YouTube, Instagram, TikTok, Telegram, and WhatsApp, along with other vernacular devotional apps and religious chatbots powered by AI, are increasingly becoming sites of the production, circulation, and contestation of religious discourse. Not only do these platforms serve as vehicles for preaching, ritual performances, scriptural understanding, and devotional music, they also attend to the aesthetic and affective sensibilities of a youth-focused hyper-connected community. More importantly, the visibility-driven logic of these platforms, based on engagement rates and algorithmic personalization, changes the ways in which religious authority is asserted and received.

The digitalization of religion prompts fundamental inquiries about how religious subjectivities are being formed in a post-traditional, media-drenched world. How do young Indians form and negotiate their religious identities in spaces where

institutional authority vies against user-generated content and religiosity takes shape through screens, hashtags, and likes? How do digital ritual—such as live streamed aartis, WhatsApp prayer groups, or Quranic reflections on Instagram—reshape the boundaries between the sacred and sacrosanct, the individual and communal, the public and private?

In conceiving this question, it is also important to understand the hybrid form of Indian religiosity, which has blended the textual with the performative, the communal with the individual, and the ritualized with the symbolic. Indian religious practices have long been characterized by an adaptive elasticity—bringing in new stages of expression from oral traditions, temple architecture, print or broadcast media. Therefore, the introduction of religion to the digital space should not merely considered as a technological domain, but a socio-cultural transition of increasing the complex ongoing processes of religious negotiation and identity work among youth.

The present study acknowledges that religious identity is not a fixed or inherited category, but is an evolving, performative, and contested concept, especially for youth navigating the tensions of rootedness and mobility, tradition and modernity, and belonging and individuation. This study consequently aims to explore how the online sphere serves as an epistemological and affective infrastructure which mediates religious meanings, creates virtual congregational experiences, and generates processes of both affirmation and reinvention of religious selves. By focusing on these processes in the Indian context—as a society with religious diversity, intergenerational continuity, and socio-political contestation—the present study hopes to shed light on the new and nuanced ways in which digital technologies are, and can be, changing the youth religiosity landscape in the 21st century.

In particular, for the past ten years, India has witnessed a monumental transformation in its digital landscape, which has implications for its economy and politics, as well as implications for its cultural and religious dimensions. With

more than 800 million internet users in India as of 2025, for the majority of whom are under 35, the digital public sphere has become populated with young people—who inhabit, build, and reshape the world around them through online interactions. This generation of digital natives, in turn, engages with religious identities in ways that are continuous with tradition and radically new, shaped as much by community structures in the past and in the present, as by algorithmic feeds, influencer culture, and transnational religious movements online.

Digital media have not only added a layer of complexity to religious practice, they have also transformed the very ontology of how religion is experienced, understood, and enacted in everyday life. Platforms like YouTube, Instagram, TikTok, Telegram, and WhatsApp, together with vernacular devotional apps and AI-religious chatbots are all platforms in which the production, circulation, and contestation of religious discourse can take place. Sermons, ritual performances, scriptural interpretations, and even devotional music are shared on these platforms, providing access to religious content in ways that often aestheticize and appeal to the developmental and affective sensibilities of a young, hyper-connected audience. Moreover, the logics of these platforms—based on visibility, metrics of engagement, and algorithmic tailoring—recast the forms of religious authority offered and received.

The transition of religious practice into the digital realm raises critical questions surrounding how religious subjectivities are realized within a post- traditional, media-saturated context. How do young Indians construct and negotiate their religious identities within spaces where institutional authority competes with user-generated content, and where piety is mediated by screens, hashtags, and likes? How do digital rituals, such as live streamed aartis, WhatsApp prayer groups, or Instagram-based Qur'anic reflections, reconfigure boundaries around the sacred and the secular, the private and the public, the individual and the collective?

To situate this research, it is necessary to note the hybrid character of Indian religiosity that has, throughout history, juxtaposed the textual with the

performative, communal with the personal, ritualized with symbolism. Indian religious traditions have consistently shown an adaptive elasticity, and taken on new mediums of expression, from oral tradition and temple architecture, to forms of print and media. The introduction of religion in a digital sphere then, needs to be understood not only as a technological venture, but as a socio-cultural shift, engendering a continuum of religious negotiation and identity work among youth. This research thus seeks to ultimately understand that religious identity is not fixed or inherited, nor is it homogenous.

Algorithmic Spirituality: How Platforms Shape Devotion

In the current era of a hyper-connected digital environment, the devotional practice of Indian youth is increasingly influenced by not only religious traditions or declarations by their communities, but also by algorithms. Social media - like YouTube, Instagram, and TikTok - provides curated spiritual material through recommendations derived by algorithms which consider user practices, engagements, and preferences. Algorithmic spirituality refers to this new experience of spiritual material accessing, interpretation, and becoming part of one's life. Mediatization theory Hjarvard (2008) provides a context to understand the prominence of algorithmic spirituality since mediatization does not simply consider media technologies as communication channels, but as cultural forces that reorder social practices, including religion. From this stance, the algorithm becomes an implicit curator of spiritual experiences by promoting itself, but favouring elements that are visually appealing, emotionally engaging, and designed for virality. The algorithm also interacts with Giddens (1991) concept of the reflexive self where subjectivity as an ongoing process of identity creation is predicated on self-monitoring and adaptively engaging with the media landscape.

For many young people in India who are grappling with spiritual identity in digital context, the algorithm serves as both a guide and gatekeeper. The algorithm links a subject to selected teachings, gurus or devotional forms and obscures others. Organizations may elevate existing priestly figures such as Sadhguru or even

digital-first influencers—forms of living faith based in a position of charisma—that elevate spiritual content associated to the very ideology of the platform over those rooted in grassroots, local, or heterodox traditions. As noted above, what this means for religious pluralism is complex in a diverse country like India. On one hand, what personalizes spiritual content can create deeply meaningful digital pilgrimages while, on the other hand, the spaces also contribute to echo chambers or even limited sectarian views that further deviate from democratic traditions. To that end, the algorithm is not simply mediating access to devotion but co-producing the very terms under which digital faith is both performed and made visible and shared. Understanding that relationship allows for an even more critical engagement to understand the technology/spirituality relationship in a specific setting such as India and provides us analytical lenses to see digital practices as digital devotion that is not simply user-driven, but instead shaped by the platform.

Bhakti 2.0: Digital Devotion in the Age of Reels and Shorts

In the contemporary era that favors short form content, devotional expression has also migrated onto digital platforms in shorter formats of 15-60 seconds in length (e.g., Instagram Reels, YouTube Shorts, TikTok). This newer technological form of devotion can be termed bhakti 2.0, indicating that older devotional practices in the Indian tradition are being reimagined for the brevity, emotion, and aesthetics of attention economies. Whereas in the classical sense bhakti refers to deep, personal, and sometimes lifelong devotion to the divine (usually expressed through song and poetry, or through ritual and service, can be thought of on these social media platforms as increasingly visual, performative and algorithmically optimized. Ultimately, this poses the question what is "authentic" devotion, when going to social media results in spirituality being wrapped up into a scrollable moment measured by likes, shares, and watch time.

Giddens' (1991) construct of the reflexive self provides a valuable framework to interpret how young Indians experience Bhakti online, not as passive consumers of spirituality, but active curators of their spiritual identity and image. The

devotional reel serves as an avenue for both personal connection to the divine and a public display of spiritual solidarity or belonging to a community. Mediatization theory (Hjarvard, 2008) contextualises how devotional forms are adapted to the logics of digital media, where notions such as visual impact, emotional resonance, and repeatability dictate what is or is not visible. Many reels feature brief representations of artefacts, bhajans, and quotes from spiritual leaders, framed using trending audio or other visual enhancements to enhance attention. The micro-devotional acts may appear to be less than spiritual fandom, yet they may be powerful points of entry for spiritual engagement, particularly for young people who are living busy, screen-dominated lives.

This shift has, however, raised important questions. Is Bhakti performative rather than transformative? Does continuous posting of devotional content cheapen its spiritual worth or does it mark the democratization of faith, allowing anyone to engage with devotion, at any time and in any place? These tensions illustrate the heterogeneity of Bhakti 2.0, a digital amalgamation of sacred intention with contemporary form, tradition with trend, contemplation with curation. Ultimately, by examining these tensions, this study demonstrates that Indian youth have not repudiated devotion but have found ways to continue their devotion, consistent with the rhythms of a digital culture; they are creating new forms of worshiping, personal to them and determined through the platform.

Virtual Gurus and the Transformation of Spiritual Authority

The emergence of virtual gurus signifies a dramatic development regarding spiritual authority in the digital age; in contrast to the near historical position of spiritual authority in India - which has largely been based on lineage, embodied experience, and proximity; and, in which most gurus have held geographical attachment to specific ashrams, temples, or religious traditions. Yet today, we have figures like Sadhguru, Sri Sri Ravi Shankar, and others that are simultaneously physical and digital forms of spiritual authority to maintain connection and reach multiple millions of followers via live streamed video, mobile phone applications,

or video algorithmically listed on social media. More than this, however, a new generation of spiritual influencers, many without academic training in theology or formal degrees, have garnered large followings online and asserted spiritual advice via Instagram stories, Youtube channels, and podcasts. The change actually points to Weber's (1947) take on what constitutes charismatic authority, legitimized not on position within an institution but by the personal appeal of their character, the emotional connection to them as a discussion partner, and the authenticity believed to reside in who they are and what they produce.

The visibility, reach, even authority of the guru are based on algorithms of the platform, what goes viral, and the aesthetics of social media. A spiritual message may fall flat if it is not repackaged as a viral clip, quote to share, or branding of eye-catching thumbnails. In this dynamic, authority has become mediated charisma, where the likes, views, and comments of a community become proxies for spiritual legitimacy. And drawing on Giddens' (1991) notion of the reflexive project of the self, Indian youth increasingly turn to virtual gurus not for rigid dogma but for help in sorting through personal struggles, mental health, relationships, and purposes. From this perspective, the guru is less distant wise sage and more of an accessible life coach—modular, on demand, personal.

However, the democratization of spiritually inclined discourse brings its own challenges. The lack of institutional checks creates concerns around misinformation, commodification of faith, or literally diluting the deeper spiritual teachings of a tradition to motivational quotes. However, to reject virtual gurus entirely would minimize their ability to make spiritual dialogue more accessible, mobile, and relevant to the experience of the digital native generation in India. Overall, spiritual authority through the digital transformation in India is not a loss of tradition, but a reconfiguring, and the components of ancient forms.

Thematic Analysis

Platformized Faith: The New Architecture of Worship

Digital platforms are not only venues for religious content, but also shape the form, extent, and meanings of religious content. Increasingly, platform-specific aesthetics and algorithms are also determining devotional acts, such as live-streamed aartis and motivational speeches. Whereas Instagram's preferred aesthetic stresses visual appeal, TikTok's is about trendiness and brevity, and YouTube's is primarily centered on watch time. The sacred geography of the devotion also undergoes transformation with its mobility, as one moves from the mandir to mobile displays. Young people can join "live darshan" from a temple hundreds of miles away, chant along with audio recordings of mantras, or light virtual diyas on apps. Devotional mobility illustrates a hybrid spirituality that is rooted and yet new.

Community and the Digital Satsang: Belonging in the Age of Hashtags

Communal spiritual practices, commonly referred to as satsangs, are a manifestation of online communities. Contemporary configurations of worship communities include Youtube comments, Telegram channels, and Facebook groups. The terms used in combination with hashtags such as #JaiShreeRam, #Gratitude and #BhaktiVibes serve as a new ceremonial utterance that engages followers of the same opinion but in a dispersed fashion in physical space. Nonetheless, these communities can often become spaces shaped by ideological bubbles, leading to certain narratives becoming excluded, whilst others are promoted. Thus, virtual devotion generates spaces that may be sanctified, but often are not pluralistically inclusive; producing both community and exclusion.

The Therapeutic Turn: Digital Devotion and Mental Health

In addition to their religious education, Indian youth are leveraging spiritual platforms for self-care, emotional healing, and mindfulness. This content reflects a therapeutic turn in contemporary forms of religiosity, emphasizing notions of

personal betterment, alleviating stress, and discovering one's purpose. This aligns with Giddens' construct of the reflexive self, with individuals deliberately searching for secular or spiritual forms of resources to aid in their self-making. In these examples, digital devotion has moved from theology into experiences of spirituality that act as a flexible methodology for addressing existential related concerns.

Review of literature

Social media has profoundly changed how religious beliefs are expressed and experienced, catalyzing new ways of interacting with various religious communities online, that is, those that span geographical boundaries (Campbell, 2012). These online platforms allow an individual to express their beliefs in a more individualized and collective way, facilitating greater agency in how faith is expressed (Campbell, 2013). However, the overwhelming volume of information circulating on social media may overwhelm users or render their messages more fragmented than those availing themselves of less technologies; this situation can produce echo chambers that do not allow deepening conversations and understandings (Cheong & Ess, 2017, Miller, 2018). Additionally, digital religious figures have emerged due to social media and have transformed how religious authority is articulated--including its emphencism and possibly doctrinal adherence (Cheongs, 2018). Thus, while social media provides an array of opportunities for religious communication today, it can also act as a limitation to spiritual engagement. When accounts of pilgrimage are examined through the lens of social media, they provide opportunities to deepen spiritual engagement in seeing the meaning attributed to the practice of pilgrimage, for example social media has also come to serve as a vital tool to enhance spiritual experiences. Pilgrims utilize digital platforms to plan pilgrimage routes, find fellow travelers, and solicit advice (Bharati & Chaudhary, 2020). Sharing their experiences in real-time during pilgrimage can enhance the experience by strengthening ties in a community while also providing moral and emotional

support (Turner & Ash, 2018). Similarly, once home from the pilgrimage, participants continue to engage in spiritual conversation with virtual pilgrim clubs that facilitate both opportunities for reflection on the experience and 'community belonging' for the spiritual intention experience to facilitate reflection on the pilgrimage experience (Hussain, 2019). While technology has and will contribute to greater engagement in the spiritual opportunity from the pilgrimage experience, it can also present discourage deeper engagement in the experience as technology can also impede authentic experience by being a distraction from what is happening in the moment of practice of pilgrimage. Notwithstanding these complications, some participants, referred to "religious bridge-builders," are established to facilitate respectful and meaningful conversations about religion. Campbell and Tsuria (2021) reported that much of the literature in the area of Digital Religion has focused on Western settings, resulting in gaps in our understanding of digital religious processes in contexts such as Pakistan and Hong Kong. Recognizing this gap, Campbell and Tsuria (2021) have called for in-depth studies to better understand the formation and interaction of various religious identities digitally, especially in non-Western contexts. Also, it is important to note that within Generation Z, mental health challenges are increasingly presented with a rise in social pressures and uncertainties. For a youth of faith, a religious identity may provide the emotional relief they are looking for to foster a sense of belonging and purpose in life (Koenig, 2012). Further, as Campbell and Tsuria (2021) note, Generation Z youth are increasingly using digital engagement through social media and online faith communities as a space to express and sustain a sense of spirituality in their lives. While their findings indicate that previous studies observed that an online religious engagement may serve as a measure to contend with and reinforce an individual's religious identity, and well-being, an online environment may also serve to exacerbate or generate experiences of stress, and/or feelings of isolation. However, there remains limited research of these processes and experiences in non-Western contexts, specifically regarding youth in Indonesia to understand the association between digital

religiosity on youth mental health. Finally, Campbell & Tsuria (2021) note that over the last three decades, the field of Digital Religion has grown through distinct theoretical and methodological stages, examining religious communities inhabiting digital space with increasing sophistication. Emphasis on online Catholic communities signifies larger academic trends and performs a shift from paradigms of investigation (Author, year). Modern scholarship calls for new vantage points to critically understand online religious communities, which require interdisciplinary ventures that combine media studies, sociology and religious studies. In India, the involvement of digital technology and religious participation in one's religion is increasing, particularly for elderly people who face mobility challenges. The change to providing religious services and cultural services via the digital space was hastened via the COVID-19 pandemic. Digital platforms such as Facebook, WhatsApp and YouTube have allowed religious groups to create interactive virtual religious spaces and forums (Author, year). There have also been governmental supports such as Digital India to help with technology to increase dissemination of religion. Academia has also studied how authority and religious identities can change in digital spaces, with subsequent implications for rituals and acts of worship, as well as mourning practices of older adults. In addition to broadening the means that adherents can access their faith, virtual services, such as classes, and online giving have implications for commercialization of religion, particularly for older adults and their traditional religious identities. Overall, social media and digital technology have shifted religious communication, religious identity and religious authority, which could be viewed from a number of angles. These shifts range from advantages such as greater community formation, spiritual support, and interfaith dialogue to challenges associated with the volume of information, lack of unity of religious messaging, information overload, as well as authority structures that are at times contradictory in authentic religious presence. As a result, the intersection of digital technology and religion remains dynamic. XXXX (year) examined Christian, Hindu, and Muslim youth in Mumbai and observed that digital

content—videos, posts, and social media content—materially shapes religious knowledge, as well as social and cultural identity. While online influencers play an important role, family influence holds primacy, reflecting the connectedness of personal, social, and digital facets of religious engagement. Their findings also illustrate how religious identity is intermixed with other cultural and nationalist discourses, so that digital devotion is never separate from wider societal context.

Institutions play an essential and critical role in shaping religious experiences in the digital sphere. Meena, Bhatia, and Pal (2020) demonstrated that Hindu spiritual organizations directly seek to reach youth audiences, build communities, and share religious teachings via apps, websites, and social media. Academic writers argue that religious organizations clearly provide structured digital spaces for youth to engage with spirituality while remaining accountable to institutional authority. This is significant because it suggests that rather than operate within informal or individual practice, youth often continue to operate within organized frameworks or cite governed devotional practice in the digital realm.

Digital spaces are also changing the relationships pertaining to power and authority, as well as ritual performance. Thomas (2025) studied Indian Christianity and found that practices including online worship, live-streamed sermons, and virtual Bible study groups have changed participation and leadership regarding things like participation and leadership. The traditional source of authority is shifting, and religious leaders no longer exist within gusto non-verified or negotiated relationships. Identity formation remains a key focus of research on digital religious engagement. Hutchings (2017) explains that young people occupy online spaces where they curate their religious selves and test them out, weighing personal expression against institutional expectations. For young Indian people this may mean negotiating communal identity while engaging with more individualized expressions of faith in online spaces.

Cross cultural studies offer further insights into processes of identity formation. Schilcher and Bäck (2023) describe how, despite narratives of secularization,

young people continue to sustain a relationship to religion around the world. The ways in which young people relate to their religion, however, are increasingly shaped by digital media. Online spaces afford young people the opportunity to negotiate both modernity and tradition by constructing hybrid identities that are shaped by social negotiations with others, and personal beliefs.

Taken together this body of research implies that the phenomenon of digital devotion among young Indian people involves a dynamic interplay between technology, agency, institutional mediation, and social context. If digital devotion is about engaging the self within religion, it also enables community and inquiry into 'digital identity' as a process of negotiation between the authority of tradition, and emergent constructed practices. To understand these processes, we will need to take account of not only of the technological mediation operation at the time, but also the broader social, cultural, and institutional fields in which they operate.

Gaps in the Literature

While there is growing interest in the three ideologies surrounding new media, there remain several gaps in the research:

1. **The youth centric focus:** Few studies explore how youth in India are the innovators in devotional practices that infuse in social media.
2. **The theortical integration:** There has been very little research that merges mediatization, reflexive identity and indigenous value systems in devotional practice.
3. **Algorithmic influence:** We have seen little research on the impact of platform algorithms that shape faith in an Indian context.

Research Objectives

The present research endeavors to comprehensively analyze the reciprocal relationship between digital media technologies and the religious identities of young people in India. **The specific aims of the research are as follows:**

To investigate the ways in which digital spaces mediate religious practices and influence the construction of youth identities in contemporary India. This includes studying the role of livestreamed rituals, religious apps, social media communities, and digital influencers in young people's daily lives of worship.

To understand the sociocultural and theological negotiations that take place when religious devotion is embodied in digital forms. This aims to understand how youth respond to and engage with traditional religious authority in the contexts of online interpretations and alternative voices.

To look at the impact of digital devotion on youth's sense of community, belonging, and spiritual authority. Here, we are interested in whether online platforms reinforce existing religious structures intergenerationally, challenge them, or both.

To explore the role of digital media in creating pluralism, interfaith encounters, and hybrid expressions of spirituality. This includes understanding whether online engagement strengthens sectarian boundaries, or encourages more fluid and individualized variants of religiosity.

To examine the broader implications of digital devotion for cultural identity, religious tourism, and the future of spiritual life in India. This will position Indian youth within a global context of digital religion discussions.

Research Questions

1. In what ways are youth in India are utilizing digital platforms to articulate, negotiate and reconfigure their religious identities?
2. To what degree do online practices of religiosity act as supplements, replacements, or alterations to offline bodily forms of devotion?
3. How do the digital communities of faith clarify or obscure notions of belonging, authority, and authenticity for youth?

4. How do tension arise between traditional forms of religious authority and the digital platform with respect to young people's spiritual authority?
5. How does digital devotion support hybrid, individualized, or pluralistic expressions of religiosity in contemporary India?
6. In what manner does engagement with digital spaces of religiosity shift cultural practices, including intergenerational relationships, religious tourism, and intercultural exchange? **Theoretical Framework**

This research adopts a theoretically integrated approach that combines distinctions from studies of media, sociology, and Indian devotional traditions. The intent of the integration is not to treat theory as background scaffolding. Theoretically, the integration is viewed as a dynamically situated set of perspectives that support the evocative exploration of how young Indians navigate religious identities within online environments. By intermising global theories with its own indigenous frameworks the analysis circumvents a one-way account and emphasizes the interplay between technology, culture and human agency.

Mediatization theory is the structural entry point for this study. Building on Hjarvard (2008) and Lundby (2014), it emphasizes that media are not merely passive channels or carriers of communication but active agents of force which recast social life, including religious practice. Digital platforms like YouTube and Instagram do not simply provide a channel for the reproduction of rituals; they provide a lens for configuring what devotion looks like, which practices are visible, and which voices can obtain authourity. Algorithms, aesthetics, and interactivity all act as the mediators of spiritual experience, constituting the enormous conditions under which faith is expressed online.

Nonetheless, the function of technology alone is not enough to explain why or how youth express their spirituality. Here, Giddens' concept of the reflexive self (1991) provides an important complement, making visible that

individuals can agency their own identities through reflection and choice. In the case of digital devotion, this indicates that young Indians are not merely consumers of tradition, but curators of their collection of devotional practices—adopting gurus, following influencers, experimenting with different forms of devotion, and mixing global digital cultures with inherited forms of devotion. Reflexivity matters to show how young Indians have both the agency and the creativity to navigate questions about authenticity and belonging and authority in mediated devotional spaces.

Finally, indigenous devotional models, particularly Bhakti, anchor analysis in India's socio-cultural and theological roots. Bhakti is characterized by personal devotion, emotional intensity, and performative aspects of devotion. Digital manifestations of devotion (e.g. Reels, livestreamed bhajans, devotional memes, etc.) can therefore be interpreted as "Bhakti 2.0." This points only to continuity as it relates to change - online innovation does not erase traditions, but is instead a renarrativizing of cultural traditions to make them more relevant for contemporary sensibilities and the ways that young people can stay connected with their roots, while also experimenting with digital practices.

Research Design and Philosophical Foundations

This research utilizes an interpretive phenomenological design to address how online platforms shape the religious identities and religious practices of the youth in India. Interpretive phenomenology is ideal for examining real-life experiences and documenting meaning-making, as it prioritizes the subjective, socially constructed experiences of identity creation. Since the study centers around digital devotion, we are afforded a multifaceted lens practically delineation and how youth traffic ascribe spiritual authority, community, and self-conception online.

The study relies exclusively on secondary data sources, which include three main categories:

Academic Literature: Peer-reviewed journals, monographs, and theoretical contributions in media studies, religious studies, sociology, and South Asia studies were reviewed. The following databases were searched: JSTOR, Project MUSE, Sage Journals, Taylor & Francis Online using the terms: "digital religion India," "youth spirituality online," "mediatization Hinduism" and "virtual religious communities." Publications from the past 15 years providing specific relevance to India or the South Asian context were prioritized in the review process.

Digital Religious Artefacts: Content from popular websites and social media platforms including YouTube, Instagram, WhatsApp Communities, and devotional apps (e.g., the Sadhguru App, Art of Living app). The selection process was based on youth levels of engagement, demonstration of engagement across different platforms, and clear relevance to spiritual identity formation. These artefacts provided insight into how digital aesthetics, brief content, and algorithmically curated recommendations shape youth participation in devotional practice.

Institutional Reports and Documentation: Publicly available surveys, reports, and analyses from religious organizations, institutional research centers, and government agencies. These documents provided contextual understanding of youth digital engagement, patterns of religious engagement, and consistent trends in demographics.

Analytical Procedure : The research utilized thematic content analysis, which has been adapted for working with secondary qualitative sources.

There was a four stage process:

Immersion: a great deal of reading of texts, online material, and organisational documents with notes reflecting on each to enable a sense of patterns to emerge.

Coding: the coding was a mixture of inductive codes, the codes emerged from the data as well as deductive codes framed around theory, including mediatization theory, Giddens' reflexive self and Eastern ideas of Atman, Dharma, Bhakti & Moksha.

Theme Development: Codes were progressively organised into thematic categories until theoretical saturation was reached.

Interpretation: Themes were drawn together within a multi-layered analytical frame which linked macro-level social processes to micro-level identity formation, underscoring the co-construction of religious experience within digital contexts.

Methodological Rigor and Quality Assurance

To ensure **trustworthiness and scholarly rigor,** the study employed:

Triangulation: Across academic literature, digital artefacts, and institutional reports, ensuring comprehensive understanding and highlighting convergences and divergences in digital religious engagement.

Theoretical Pluralism: Multiple lenses (media studies, sociology, religious studies) reduced bias and enabled nuanced interpretation.

Reflexivity: Continuous reflection on researcher positionality and theoretical assumptions ensured transparency and interpretive accuracy.

Peer Consultation: Iterative review of findings with scholars in digital religion, South Asian studies, and sociology ensured cultural authenticity and methodological coherence.

Methodological Limitations

While secondary data analysis offers rich insights without the need for primary data collection, it carries several limitations.

No Primary Ethnography or Interviews: Had we participated, the same access could have provided richer understandings of the youth's motivations, emotions, and context-specific elements. Understandings developed from second-hand

sources may omit subjective experiences, or nuances, that only participation could provide.

Digital Artefacts Change: Social media content, algorithms, or apps change. Data can only show a snapshot from a certain time, and technology may soon change youth's engagement in terms of digital devotion.

Demographic Bias: Data is biased towards urban, digitally literate youth; some collection had to occur some working with youth from rural and marginalized communities.

Interpretive Distance: There are risks of cultural or contextual inaccuracy when we interpret secondary data. We attempted to resist those risks through attention to context and by reaching out to experts when needed.

Ethics & Limitations

Ethical Considerations:

1. **Consideration of Religious Integrity: Careful analyses took care not to draw reductive conclusions and were sensitive to sacred practices.**
2. **Cultural Contextualization: Interpretations were always framed in India's multiple religious and cultural contexts.**
3. **Digital Privacy: Only publicly available content digitally, for televised news and Youtube for example, was used with correct attribution.**

Limitations:

1. Temporal Specificity: Findings exhibited a timely nature, as the digital landscape is fast shifting and constantly evolving in practice and platform.
2. Participant Sample Implications: The results over-represent urban and digitally literate youth and underrepresent groups in rural and marginalized communities.
3. Interpretative Distance: The secondary data source presents challenges of interpretative distance, and possible loss in capturing the richness of the

lived experience; the adjustive modification to the distance occurred through the use of secondary data triangulation and context expert advice.

4. No Primary Ethnography: Entering secondary data source provides comprehensive coverage, however the absence of interviews or primary participant observation limits richer and contextual understanding of motivation(s) and experiences in the thick of it.

Discussion

The study concludes that digital platforms have transformed the experience of religion among Indian youth and participants into a hybrid, participatory spiritual experience. A prominent theme articulated within the findings is Algorithmic Spirituality: platform algorithms have an influential role in shaping the visibility and prominence of devotional material. For instance, Instagram reels that depict bhajans (devotional songs) or short devotional clips become popular not only based on the devotional experience, but also through algorithmic promotion; religious embodiments that draw attention is a product of the digital infrastructure. Likewise, live streamed satsangs presented on platforms such as YouTube (ex. Art of Living, Sadhguru) were other examples provided; while users seek out and select which events they wish to view online, algorithms are still curating what appears within a users' feed of selected content, as algorithms dynamically influence devotional representations and shape spiritual values. The term Bhakti 2.0 reflects how devotional practices originally expressed in "real life" are adapted to a digital expression. Short-form holy content—from 30-second kirtans to humorous memes of devotion—is packaged for youth to engage in shared religious devotion without any aspect of time or place to the previous devotional act. For example, creating an Instagram story of daily singing or sharing a TikTok reel of a song of devotion allows a young person to hold onto Bhakti traditions while adapting the content to attention-driven digital space. Therefore, it may feel less personal and more socially motivated, as this format allows for a blend of emotional attachment and performative online exposure. An additional

transformation involves virtual spiritual leaders and influencers - digital-first or virtual Gurus and influencers - who alter the center of religious authority. In the online realm, religious authority is unmoored from lineage and institutional legitimacy. Instead, legitimacy derives from charisma, access, and engagement metrics. The Sadhguru app or YouTube channels, with interactive Q&As, provide case studies: youth can engage with spiritual authority via direct engagement that situates their experience outside of traditional authority. Here, youth devotee's sense-making process has an aspect that includes attention to both the expert and tradition, alongside their engagement with derivative interpretations and virtual authority. A good example of virtual engagement with spiritual practices involves groups on WhatsApp. WhatsApp group devotional practices provide mechanisms for peer-mediated reinforcement of spiritual practice. These examples illustrate how collective belonging is locally reconstructed in the digital space.

In a reel posted on March 12, 2024 - user @UrbanDevotee overlays devotional chants with rapidly cut together footage of urban streets, ending the clip with the caption "City rush meets cosmic hush"—a synthetic performance of ritual of speeding up urban pace in techno-sacred time.

In a public post on May 5, 2024 - @RuralSoul shares a picture of a roadside shrine adorned with LEDs (lights from their smartphones), remarking the experience "When the network goes down, faith stays on" - an example of digital ritual improvisation.

These examples illustrate how digital devotees employ multimedia affordances

Digital devotion also facilitates new forms of sacred space and community, all without physical boundaries. Livestreamed rituals, devotional practices, and online satsangs create virtual congregations where youth can participate in collective spiritual life, even when not occurring synchronously. Followers who attend an online Diwali or Navratri celebrations via Youtube or Instagram live sessions are both included and excluded from that experience; whose voices are visible is dependent on algorithmic visibility, access via their own device, and having the

knowledge of accessing those live feeds. These digital spaces have often provided therapeutic support for emotional well-being, self-reflection, or stress relief. By supporting spiritual needs alongside secular, youth build flexible identities that are pluralistic, hybrid and contextual.

Balance in Evaluating Digital Mediation

Digital platforms can promote democratization and pluralism, but they also replicate exclusionary processes. Algorithmic filtering often favors content produced by well-connected content creators, producing a form of marginalization of vernacular content. For instance, recommendations from platforms tend to promote professional videos of "temple tours" rather than grassroots livestream prayers, which operate within different socioeconomic circles. In addition, commercial motivations motivate devotional practices—the sponsorship of pkreator agreements produces performative displays of devotion designed for fame on social media rather than contributing to gregariousness. Furthermore, sectarian groups have taken advantage of paid social media advertising to generate ideologically heterotopic enclosure spaces that ultimately segmentation of social capital. A more sustained critique indicates that the contemporary digital devotional space is a space of contention, where inclusion is contested by both algorithmic bias and group polarization processes among marginalized content creators.

Collectively, these results emphasize that digital devotion held by youth in India is not merely a replication of practices experienced offline. Rather, it constitutes a co-constructed idiom where technology, culture, and subjective agency converge. Algorithmic mediation, platform aesthetics, and short-form devotional formats actively contour the spatiality of spirituality; virtual gurus and peer communities enable personalization (yet collectivization) of religious engagement. Connecting theoretical constructs: mediatization theory, Giddens' reflexive self, and bhakti, to concrete digital artefacts afforded this discussion to elucidate how young Indians

negotiate authority, belonging, and devotion in fluid yet contemporary expressions of religiosity.

Conclusion

The present research indicates that digital platforms are reconfiguring India's youth's religious identities and practices in a decisive manner, establishing a junction between tradition, technology, and agency. Digital devotion is not passive or similar to offline versions; instead, it is a hybrid process which allows youth to negotiate religious meaning, experience rituals communally, and enact authority in mediated contexts. Through conceptual lenses such as Algorithmic Spirituality, Bhakti 2.0, and Virtual Gurus, it is evident that youth are engaged in co-constructing religious experiences. What is algorithmically presented to them, and the affordances of online platforms interacted with youth and their peer networks, shape the significance communicative activity has when forming religious identities and processes. Concurrently, youth also reflexively materialize content by combining traditional ideas of bhakti with digital practices and modalities to develop mobile, pluralistic, and individual expressions of faith.

These implications may be important in different ways. For policymakers, understanding young people's use of digital religion is critical to informing inclusive digital literacy and equitable access to online forms of spiritual expression, especially for marginalized groups and rural communities. For digital platforms, such as Facebook, Twitter, TikTok, etc., the implications are related to a responsibility for designing engagement metrics and algorithms that do not unintentionally privilege certain modes of devotion over others or marginalize minority voices. For faith-based organizations, the increased presence of digitally-mediated gurus, or online peer-mediated communities, may provide a moment to think again about models of spiritual authority, community engagement, and intergenerational dialogue. Online forms of worship and ritual do not have to replace traditional forms of ritual that people may know and love and can

complement or provide alternatives so that young people may more easily access spiritual expression of relevance to their generation.

These implications may be significant in a variety of ways. For policymakers, knowledge on young people's engagement with digital religion is crucial to better inform inclusive digital literacy and equitable access to online forms of spiritual expression, particularly of marginalized groups and rural communities. For digital platforms—for example, Facebook, Twitter, TikTok, etc.—the implications relate to a duty to consider the design of engagement metrics and algorithms that do not inadvertently privilege certain types of devotion over others or silence minority voice. For faith-based organizations, the rise of digitally-mediated gurus, or online peer-mediated communities, may provide a moment for reflecting again on models of spiritual authority, community engagement, and intergenerational dialogue. Online forms of worship and ritual do not have to replace forms of ritual which participants have grown to know and love, and can serve to complement or provide options to enable young people to more easily access spiritual expression of relevance to their generation.

Finally, the present research signals opportunities for future scholarship. Longitudinal analyses could trace how digital devotion adapts over time as platforms and algorithms evolve. Comparative research across regional or national contexts would illuminate the culturally specific, as well as transnational, facets of youth religiosity. Finally, with the emergence of new technologies - including spiritually-oriented AI and virtual reality rituals - further inquiry into how digital practice and engaging with, and/or worshipping with, new technologies influence belief, practice and, community formation is warranted.

In conclusion, digital devotion among Indian youth presents an interesting point of convergence between religion, media, and identity. It demonstrates the agency of young people in shaping spiritual experience, and how technology and social/cultural structures produce and adjust to notions of contemporary devoutness. Framed in theoretical and empirical ways, the study makes an

important contribution to digital religion, youth identity, and Indian religiosity, with implications for practical and institutional contexts, as well as future scholarship.

Reference

1. *Kumar, A., & Gupta, M. (2025). A qualitative study of digital religious influence: Perspectives from Christian, Hindu, and Muslim Gen Y and Gen Z in Mumbai, India.* Religions, 16*(1), 73.* https://doi.org/10.3390/rel16010073
2. *Missier, C. A. (2025). A qualitative study of digital religious influence: Perspectives from Christian, Hindu, and Muslim Gen Y and Gen Z in Mumbai, India.* Religions, 16*(1), 73.*
3. *Thomas, S. (2025). Emerging trends in the study of virtuosity and Indian Christianity.* International Journal of Creative Research Thoughts, 13*(8), 273–282.*
4. *Zhang, L. (2025). The digital age of religious communication: The shaping and challenges of religious beliefs through social media.* Studies on Religion and Philosophy, 1*(1), 25–41.*
5. *Bhatia, H. (2024). Social Media and Rise of Spirituality in India: A McLuhan's Approach.* ShodhKosh: Journal of Visual and Performing Arts, 5*(1), 3210–3214.* https://doi.org/10.29121/shodhkosh.v5.i1.2024.2863
6. *Cheong, P. H., & Wang, D. (2024). Social media and the spiritual journey: The place of digital technology in enriching the experience.* Religions, 15*(5), 616.* https://doi.org/10.3390/rel15050616
7. *Cheong, P. H., & Wang, D. (2024). Exploring pilgrims' information behaviour and spiritual skills in the digital age.* Information Research, 30*(2), 1–19.* https://doi.org/10.29173/irj121

8. *Schilcher, A., & Bäck, L. A. (Eds.). (2023).* Digital youth and religion: New forms of faith in a media-saturated world. *MDPI.*
9. *Campbell, H. A., & Tsuria, R. (2022).* Digital religion: Understanding religious practice in digital media. *Routledge.*
10. *Dossi, F., Buja, A., & Montecchio, L. (2022). Association between religiosity or spirituality and internet addiction: A systematic review.* Journal of Behavioral Addictions, 11*(4), 1051–1066.*
11. *Campbell, H. A., & Tsuria, R. (2021).* Digital religion: Understanding religious practice in digital media worlds. *Routledge.*
12. *Zaman, M. (2021). The impact of social media on religious practices: A study of Muslim youth in Pakistan.* Journal of Media and Religion, 20*(1), 1–16. https://doi.org/10.1080/15348423.2021.1870152*
13. *Azhagu, M., Bhatia, V., & Pal, J. (2020). Digital divine: Technology use by Indian spiritual sects.* Proceedings of the 2020 International Conference on Information and Communication Technologies and Development (ICTD), 1–11
14. *Meena, A., Bhatia, V., & Pal, J. (2020). Digital divine: Technology use by Indian spiritual sects.* ICTD2020: Information and Communication Technologies and Development. *https://dl.acm.org/doi/10.1145/3392561.3394605*
15. *Hussain, T. (2019). Pilgrimage, material objects and spontaneous communitas.* Journal of Tourism and Cultural Change, 17*(4), 389–406. https://doi.org/10.1080/14766825.2019.1614981*
16. *Cheong, P. H. (2018). Church digital applications and the communicative meso-micro interplay: Building religious authority and community through everyday organizing. In K. Radde-Antweiler & X. Zeiler (Eds.),* Mediatized religion in Asia: Studies on digital media and religion *(pp. 105–117). Routledge.*

17. *Cheong, P. H., & Ess, C. (2017). The vitality of new media and religion: Communicative lifeblood for religious organizing and activism.* New Media & Society, 19*(5), 711–729.* https://doi.org/10.1177/1461444816636741
18. *Campbell, H. A. (2013).* Digital religion: Understanding religious practice in digital media worlds. *Routledge.*
19. *Campbell, H. A. (2012). When religion meets new media: Religious social shaping of technology. Opening keynote presented at* The Digital Society Conference*, Texas A&M University.*
20. *Koenig, H. G. (2012). Religion, spirituality, and health: The research and clinical implications.* International Scholarly Research Notices, 2012*, 278730.* https://doi.org/10.5402/2012/278730
21. *Hjarvard, S. (2008). The mediatization of religion: A theory of the media as agents of religious change.* Northern Lights: Film & Media Studies Yearbook, 6*(1), 9–26.*

Study on impact of social media on life satisfaction and body image perception among lawyers

Dr. Rajeev Misra
Department of Community
Medicine and Public Health, King George's
Medical University,Lucknow,U.P

Abstract

Background : Social media has transformed interpersonal communication, self-perception, and societal standards. Platforms like Instagram and Facebook offer benefits such as connectivity and information sharing but also present challenges, particularly in mental health..

Aim- The study aims to investigates the influence of social media on body image perception and life satisfaction among lawyers.

Methods: A quantitative, correlational design was employed, targeting lawyers in Eastern Uttar Pradesh. Using convenient sampling, 1,080 participants completed the Satisfaction With Life Scale (SWLS), Body Shape Questionnaire (BSQ), and Social Media Intensity Scale (SMI). Data were analyzed using descriptive statistics,

Results: The findings indicate weak, non-significant negative correlation between social media intensity (SMI) and life satisfaction (SWL) ($r = -0.03$, $p > 0.05$). A weak but statistically significant positive correlation exists between SMI , body shape concerns (BSQ) ($r = 0.07$, $p < 0.05$). No significant gender differences were observed SMI, SWL, or BSQ ($p > 0.05$).

Conclusion: The study highlights the weak association between social media usage and life satisfaction while emphasizing its impact on body image concerns. Future research should explore diverse populations and longitudinal impacts to better understand these relationships and develop interventions to mitigate the negative effects of social media on mental health and body image.

KEYWORDS- Social media, life satisfaction and lawyers

Introduction

The term "social" refers to the way people relate to others or society or interacting or communicating with others. Term "Media" refers to the medium, channel, tools and platforms used for communicating, expressing and information dissemination. The term medium is often used interchangeably with the word media.

The statistic that "over half of the world's population uses social media with 4.20 billion people having an account" (Kemp, 2021) highlights the widespread adoption and influence of social media across the globe.

Social media platforms have significantly altered how people connect with others, view themselves, and feel about themselves. Platforms such as Instagram , Facebook, Snapchat, and Twitter offer numerous benefits, including networking opportunities, easy communication, and quick information sharing. However, they also present challenges, particularly regarding mental health. Some of the major effects of social media on a person's life are-

1. **Revolutionized Self-Presentation and Interaction**:
    - Social media allows users to craft and showcase an idealized version of their lives. With just a few clicks, individuals can share the highlights of their experiences, creating a polished and often unrealistic portrayal of their reality.
2. **Unrealistic Beauty Standards**:

- Social media platforms are inundated with images that are often heavily edited or filtered, promoting unattainable beauty standards and idealized lifestyles.

3. **Social Comparison**:
   - The phenomenon of "social comparison" arises as users measure their own lives against the idealized representations they see online.
   - Social comparison, combined with the internalization of ideals, is one of the main mechanisms participating in one's body image perception. These two mechanisms are instrumental in developing body dissatisfaction [1,2]
4. **Mental Health Implications**:
   - **Body Image**: Constant exposure to idealized images can lead to negative body image, where individuals may feel their own appearance is inadequate in comparison.
   - **Life Satisfaction:** a person's satisfaction with his or her life is also found to be somewhat affected by social media because of the factors like social comparison.

Body Image

Body image is the way an individual perceives their own body and the emotional responses that come with this perception. People often have concerns about their body image, which might center around aspects like weight, skin appearance, hair, or the size and shape of specific body parts. body image is influenced by various beliefs, personal experiences, and societal expectations [3]. Historically, societal values have placed significant importance on physical beauty. This positive outlook involves several key elements:

1. **Acceptance and Appreciation**: It means acknowledging and valuing your body as it is.
2. **Broad Concept of Beauty**: A positive body image includes having an inclusive view of beauty that goes beyond narrow or conventional standards.

3. **Healthy Care Practices**: It involves taking care of your body and appearance in ways that are both physically and emotionally satisfying.
4. **Independence from External Influences**: Maintaining a positive body image means developing a good relationship with your body that isn't overly influenced by societal pressures or media portrayals.

A negative body image occurs when a person feels dissatisfied with their own body and appearance. This negative perception can manifest in several ways:

1. **Comparison with Others**:
2. **Excessive Monitoring**:
3. **Shame and Embarrassment**:
4. **Distorted Perception**

Negative body image can have serious consequences. It is linked to mental health issues such as depression, as the ongoing dissatisfaction can affect overall emotional well-being. A negative body image involves a persistent sense of dissatisfaction and discomfort with one's body, which can significantly impact mental health and lead to potentially harmful behaviors.

For the last 30 years, media have been over-exposing people to thinness ideals, starting from a young age [4], turning this ideal into a new reference standard [5].

Life Satisfaction

The term "satisfaction" originates from Latin, meaning to fulfill or meet needs. When referring to satisfaction with one's life, it denotes a sense of contentment or acceptance regarding one's overall life situation, including the fulfillment of personal desires and needs. Essentially, life satisfaction represents a personal evaluation of one's overall life quality. As a subjective measure, it involves significant cognitive evaluation. Life Satisfaction is different from subjective well-being. Ed Diener and his team (1999) have explained that subjective well-being, often referred to as happiness, includes both emotional and cognitive aspects. The

emotional aspect involves the frequency of positive and negative feelings reported by an individual.

Some scholars have argued that social media use is negatively associated with adolescents' life satisfaction (e.g., de Lenne et al., 2020; Twenge Some scholars have argued that social media use is negatively associated with adolescents' lifesatisfaction (e.g., de Lenne et al., 2020; Twenge Research has shown that adolescents' use of social media affects their life satisfaction (e.g., Bruggeman et al., 2019; Dhir et al., 2017; Frison & Eggermont, 2016) [7]. Some researchers argue that social media negatively impacts life satisfaction (e.g., de Lenne et al., 2020 [8]; Twenge & Campbell, 2018) [9], while others find that it can have a positive effect (e.g., Valkenburg & Peter, 2007; Ziv & Kiasi, 2016) [10].

According to Hall et al., 2019 in his study explained that The social displacement hypothesis suggests that adolescents who spend more time on social media may have fewer opportunities for face-to-face interactions, potentially reducing their life satisfaction. Additionally, social support and social capital are identified as significant factors in understanding how social media affects life satisfaction.

(Perloff, 2014; Fardouly et al, 2015) in their studies have demonstrated that how social media contributes to sustaining restrictive beauty standards and unrealistic body ideals. Research has shown that idealized, often edited and filtered images can result in body dissatisfaction and diminished self-esteem among women. Platforms like Instagram and Facebook are known to emphasize physical appearance, further objectifying women's bodies (Saguy, 2018). This reinforcement of beauty standards can negatively impact women's self-image and overall well-being.

Fardouly and Holland, 2018 found that exposure to idealized images on social media was linked to poorer body image satisfaction. Their research focuses on the impact of the content users view on these platforms, rather than the effects of the platforms themselves. They emphasize the need to consider how users modify or curate what they see on social media. Additionally, a different study found that

body image dissatisfaction was correlated with the number of social media sites a person visited (Bennett et al., 2020).

Regarding the number of Facebook friends, they found that participants with more friends had more positive body image satisfaction. Researchers speculated that this may be due to photographs receiving more comments and "likes," since users had more friends, and thus a higher potential for receiving feedback from their Facebook acquaintances. Subsequently, a higher level of positive feedback may in turn lead to higher levels of self-esteem and more positive body image feelings (Rutledge, Gillmor, & Gillen, 2013).

Fioravanti G and colleagues (2022) investigated the effects of social networking sites (SNSs) on body image, specifically focusing on the impact of sharing and viewing images. While previous correlational studies have suggested a link between SNS use and increased body dissatisfaction, experimental studies provide more reliable evidence. This systematic review synthesized the results of 43 experimental studies (N = 8,637; 89.56% female; mean age = 21.58 ± 1.78) that examined how viewing idealized images (e.g., beautiful, slim, and fit) and body-positive content on SNSs affects body image. Two studies focused on teenagers. The review found that images were presented differently across studies, which makes a systematic review more practical than a meta-analysis due to the varied experimental stimuli and psychological moderators used. The results indicated that both young men and women experienced greater body dissatisfaction after viewing idealized images on SNSs. Trait appearance comparison, or the general tendency to compare oneself to others, was a significant moderator, while state appearance comparison, or comparing oneself while viewing images, significantly mediated the effects. The review also found mixed results regarding body-positive images and captions. Overall, young people tended to feel more body dissatisfaction after viewing images on SNSs that depict unrealistic beauty standards, with appearance comparison playing a crucial role. Further research is needed to assess the long-term effects.

Kleemans et al. conducted a study to examine how manipulated Instagram photos affect adolescent girls' body image. Consistent with earlier research, their findings revealed that exposure to altered Instagram images led to a negative body image. Adolescents with a greater propensity for social comparison were particularly affected. Participants were shown either original or manipulated (retouched and edited) selfies, and surprisingly, the manipulated photos received more positive ratings than the original ones. This suggests that manipulated images resulted in higher body satisfaction compared to unedited photos. Although participants recognized the use of filters and effects, they did not detect body reshaping, and they considered both types of photos to be realistic (Kleemans et al., 2018).The impact of using Facebook compared to Instagram reveals notable differences. Users tend to experience greater dissatisfaction with social media platforms that emphasize visual content, and these effects are more pronounced with frequent use (Marengo et al., 2018). Research shows that individuals who use Instagram are more likely to frequently scrutinize their bodies and compare themselves with others, especially compared to those who do not use the platform (Cohen, Newton-John, Slater, 2017). This trend is particularly evident among teenage girls. Their behavior on Instagram, which revolves around posting photos and selfies and receiving feedback through "likes," "followers," and comments, often leads to lower self-esteem and insecurity. The effort invested in self-presentation and the desire for peer approval, with peers acting as audience, judges, and comparison points, negatively impacts their self-confidence (Chua, Chang, 2016). These outcomes are expected given that Instagram prioritizes photos over text, and users place significant importance on how their photos are perceived, as evidenced by their attention to the number of likes and comments received and their concern about how others view their appearance (Baker, Ferszt, Breines, 2019).

Cohen and Blaszczynski found a correlation between Facebook use and increased body image dissatisfaction. Their research compared the impact of Facebook with that of traditional media on body image issues. They discovered

that Facebook encourages users to compare their appearance with that of others, while traditional media prompts comparisons with models. The study also highlighted the link between frequent Facebook use and a higher risk of eating disorders, noting that while Facebook alone does not cause eating disorders, it can contribute to their persistence by distorting perceptions of body weight and shape. Although their findings did not indicate that Facebook comparison effects on body image are stronger in the short term compared to traditional media, the researchers concluded that Facebook's impact is at least comparable to that of traditional media (Cohen, Blaszczynski, 2015: 9)

Boursier V et al. studied the role of social media in today's world, noting that it has become a daily activity, especially among teenagers who often post images. A popular trend among teens is sharing selfies, which can enhance their image through friends' approval. This focus on body image can encourage those unhappy with their looks to carefully manage and present their best self online, potentially affecting their social media use in negative ways[12].

Brunet J and colleagues (2010) conducted a study with a sample of 329 teenagers (58% male) to explore gender differences in body image and test a model where self-esteem influences social physique anxiety (SPA), which then affects the drive for muscularity and the drive for thinness. The study used multi-group invariance methods to compare boys and girls, revealing that boys had lower drives for thinness and SPA but higher drives for muscularity and self-esteem compared to girls. The measurement and structural models fit well for the entire sample. The study confirmed that self-esteem impacts SPA, which in turn significantly affects the desire for muscularity and thinness. Interventions that boost self-esteem might help reduce SPA and consequently lower both adolescent males' and females' desires for muscularity and thinness[13].

Objectives

Primary Objectives-

1. Determine the impact of social media on life satisfaction among lawyers.
2. Determine the impact of social media on body image- perception among lawyers.
3. Investigate the relationship between impact of social media on life satisfaction and body image perception among lawyers.

Secondary Objectives-

1. Determine the correlation between life satisfaction and body-image perception among lawyers
2. Examine the demographic factors affecting life satisfaction among lawyers.
3. Examine the demographic factors affecting body image perception among lawyers.

Variables-

Independent Variable- Social media use

Depenedent Variable- Life satisfaction , Body-image perception

After going through the literature review the following hypothesis was formulated

- **Hypothesis 1_a:** There will be no significant impact of social media on life satisfaction among lawyers.
- **Hypothesis 1_b:** There will be a significant impact of social media on life satisfaction
- **Hypothesis 2_a:** There will be no significant impact of social media on body-image perception among lawyers.
- **Hypothesis 2_b:** There will be a significant impact of social media on body-image perception among lawyers.
- **Hypothesis 3_a:** There will be no significant relationship between impact of social media on life satisfaction and body- image perception among lawyers.

- **Hypothesis $3_{b:}$** There will be a significant relationship between impact of social media on life satisfaction and body- image perception among lawyers.
- **Hypothesis**4_a: There is no difference between the *Female* and *Male* groups with respect to the dependent variable BSQ
- **Hypothesis 4_b** There is a difference between the *Female* and *Male* groups with respect to the dependent variable BSQ.
- **Hypothesis $5_{a:}$** There is no difference between the *Female* and *Male* groups with respect to the dependent variable SMI
- **Hypothesis 5_b** There is a difference between the *Female* and *Male* groups with respect to the dependent variable SMI

Methods

Study Design- The method used in this study was quantitative analytic study, correlational design. The design of this study focused on the measurement of the independent

variable data in the form of social media use and the dependent variable in the form of life- satisfaction and body-image perception. This study examined how the social media use impacts the life-satisfaction and body-image perception among lawyers. To test the difference between gender the Mann-Whitney U test was used

Study Population- Lawyers of U.P. East

Sample Size- The participants were selected through convenient sampling. Sample size was calculated by the formula for infinite population

$$S= Z^2 \times P \times (1-P)/e^2$$

At 95% level of confidence, z= 1.96
e= 0.05
p= 0.5
then, from the above formula we have,
s =1080

Tools Used

- Satisfaction With Life Scale

The 5-item Satisfaction With Life Scale (SWLS) created by Ed Diener to evaluate the statements on a 7-point Likert scale, where 1 represents "strongly disagree," 4 indicates "neither agree nor disagree," and 7 signifies "strongly agree."

- Body shape questionnaire
  The Body Shape Questionnaire (BSQ) 16-item version is a self-report survey that measures concerns about body shape. It is a widely used scale to assess body dissatisfaction and preoccupation with body shape
  The BSQ uses a 6-point Likert scale, where 1 means "never" and 6 means "always". The total score ranges from 34–204, with higher scores indicating greater body image dissatisfaction.

- **Social Media Intensity Scale**
- The 8-item Social Media Intensity Scale evaluates the level of one's emotional attachment to social media, indicating the intensity of their usage (Ellison et al., 2007). Each item was rated on a 5-point Likert scale, ranging from "Strongly Disagree" to "Strongly Agree."

- **Ethical consideration-** The paper was ethically approved **from Institutional Ethics Committee Chandan Hospital.**
- **Funding -** The authors have no funding to disclose.
- **No conflict of Interest-** The authors declare they have no conflict of interest.
- **Informed Consent-** Oral Informed Consent was obtained from the participants prior to the study the participants voluntary agreed to participate and granted their consent orally.

Result

Frequency Distribution

Tab 1: Descriptive Statistics

	SMI	SWL	BSQ
Mean	24.24	20.34	55.93
Sum	26182	21966	60401
Std. Deviation	4.06	4.37	7.03
Variance	16.45	19.12	49.37
Minimum	13	6	36
Maximum	37	34	78
Range	24	28	42
Quartile 3	27	24	61
Interquartile Range	5	7	10
Skew	-0.01	-0.07	0.03
Kurtosis	-0.14	-0.22	-0.26

TAB 2: Spearman Correlation values

	SMI	**SWL**	**BSQ**

SMI	1	-0.03	0.07
SWL	-0.03	1	0.03
BSQ	0.07	0.03	1

TAB 3: Correlation and significance

		SMI	**SWL**	**BSQ**
SMI	**Correlation**	1	-0.03	0.07
	P		.306	.02
SWL	**Correlation**	-0.03	1	0.03
	P	.306		.398
BSQ	**Correlation**	0.07	0.03	1
	P	.02	.398	

TAB 4: Descriptive Statistics for Gender

		n	**Mean**	**Median**	**Standard deviation**
BSQ	Female	533	56.2	56	7.26
	Male	547	55.66	56	6.79
SMI	Male	547	24.22	4.03	13
	Female	533	24.26	4.09	13
SWL	Female	533	20.16	20	4.33
	Male	547	20.52	20	4.41

TAB 5: Mann- Whitney U-test result

	U	Z	asymptotic p	exact p	r
BSQ	139749.5	-1.18	.239	.24	0.04
SMI	145605	-0.03	.973	.974	0
SWL	139020.5	-1.32	.186	.188	0.04

Discussion

The average score for Social Media Intensity (SMI) is 24.24, indicating a moderate level of social media engagement among the participants and the SD is 4.06, suggesting a moderate variability in how intensely participants use social media. The minimum score is 13, and the maximum is 37, with a range of 24. This indicates that social media intensity varies quite a bit across the sample. The skewness of -0.01 suggests a near-normal distribution, with a slight tendency towards higher values. The Kurtosis value of -0.14 indicates a platykurtic distribution, meaning the data has fewer extreme values than a normal distribution.

The average satisfaction with life score is 20.34, indicating relatively low life satisfaction in the sample and the SD of 4.37 shows moderate variability, suggesting that participants' life satisfaction scores vary moderately. The range (6 to 34) indicates a spread of responses, with a 28-point difference between the lowest and highest scores. The skewness of -0.07 is very close to zero, meaning the data is almost symmetrically distributed. The kurtosis value of -0.22 suggests a distribution that is slightly flatter than a normal distribution, with fewer extreme outliers.

The average score for Body Shape Concerns (BSQ) is 55.93, indicating moderate concerns about body image in the sample and the SD of 7.03 shows a relatively high degree of variability in body shape concerns among the participants. The

range from 36 to 78 reflects a significant spread, showing that some participants have higher levels of body shape concerns than others.

The skewness of 0.03 indicates a nearly normal distribution of body shape concerns, with a very slight positive skew. The kurtosis of -0.26 indicates a slightly platykurtic distribution, meaning the data has fewer extreme outliers than a normal distribution.

The study emphasizes the correlation between SMI (social media intensity) and SWL (satisfaction with life) is very weak and negative, but this is not statistically significant because the p-value is greater than 0.05 (p = 0.306). A value of -0.03 suggests an almost non-existent inverse relationship between these two variables. In other words, there is no strong or reliable relationship between these two variables based on the sample data. The result shows that the correlation between SMI (mental health) and BSQ (body shape concerns) is positive, though still weak. The p-value (0.02) is less than 0.05, which suggests that this relationship is statistically significant. So, there is a small but statistically significant positive association between mental health and body shape concern, meaning that as mental health scores improve, there might be a slight increase in body shape concerns. The findings underscores the correlation between SWL (life satisfaction) and BSQ (body shape concerns) is also very weak (0.03) and the p-value (0.398) is greater than 0.05, indicating that there is no significant relationship between life satisfaction and body shape concerns in this data.

Mann- Whitney U- test was used to test the difference between male and female groups on BSQ, SMI and SWL. The **Asymptotic p = 0.239** that is the p-value (using an approximation), which tells you whether the difference between groups is statistically significant. Since this value is greater than 0.05, we **fail to reject the null hypothesis** (i.e., there is no significant difference between the male and female groups on BSQ). The **Exact p = 0.24** which is derived from an exact calculation rather than an approximation. An **r of 0.04** suggests a very small effect size, indicating that any difference observed is likely trivial. The difference

between male and female groups on SMI was also found to be non- significant as the **Exact p = 0.974**: The exact p-value also confirms that there is no significant difference between groups. The effect size is 0 , meaning there is no difference between the groups on Social Media Intensity. For SWL that is Satisfaction With Life the **Exact p = 0.188** which is also above 0.05, confirming the lack of significance. The effect size value is **r = 0.04** which is very small, indicating a negligible difference between the groups.

Conclusion

Social media has a profound impact on body image and life satisfaction, often promoting unrealistic beauty standards that contribute to negative body image and low self-esteem. Positive body image and life satisfaction require cultivating self-acceptance, resilience against external pressures, and a broader, inclusive understanding of beauty that fosters emotional well-being. In conclusion, the study reveals that there are weak, statistically insignificant correlations between Social Media Intensity (SMI) and Satisfaction with Life (SWL), as well as between SWL and Body Shape Concerns (BSQ). A small but significant positive correlation was found between social media intensity (SMI) and BSQ, suggesting that better mental health may be slightly associated with higher body shape concerns. The Mann-Whitney U-test showed no significant gender differences in SMI, SWL, or BSQ among lawyers, with effect sizes indicating trivial differences. Future research should consider a larger, more diverse sample size to improve generalizability and explore potential confounding factors, such as age, gender, and socio-economic status. Longitudinal studies would help establish causal relationships between social media intensity, life satisfaction, and body shape concerns.

Refrences

1. *Stice E., Schupak-Neuberg E., Shaw H.E., Stein R.I. Relation of media exposure to eating disorder symptomatology: An examination of mediating mechanisms. J.*

*Abnorm. Psychol. 1994;**103**:836–840. doi: 10.1037/0021-843X.103.4.836. [PubMed] [CrossRef] [Google Scholar]*

2. *Stice E., Agras W.S. Predicting onset and cessation of bulimic behaviors during adolescence: A longitudinal grouping analysis. Behav. Ther. 1998;**29**:257–276. doi: 10.1016/S0005-7894(98)80006-3. [CrossRef] [Google Scholar]*
3. *Jiotsa, B., Naccache, B., Duval, M., Rocher, B., & Grall-Bronnec, M. (2021). Social Media Use and Body Image Disorders: Association between Frequency of Comparing One's Own Physical Appearance to That of People Being Followed on Social Media and Body Dissatisfaction and Drive for Thinness. International journal of environmental research and public health, 18(6), 2880. https://doi.org/10.3390/ijerph18062880*
4. *Blowers L.C., Loxton N.J., Grady-Flesser M., Occhipinti S., Dawe S. The relationship between sociocultural pressure to be thin and body dissatisfaction in preadolescent girls. Eat. Behav. 2003;**4**:229–244. doi: 10.1016/S1471-0153(03)00018-7. [PubMed] [CrossRef] [Google Scholar]*
5. *Anschutz D., van Strien T., Engels R. Exposure to slim images in mass media: Television commercials as reminders of restriction in restrained eaters. Health Psychol. 2008;**27**:401–408. doi: 10.1037/0278-6133.27.4.401. [PubMed] [CrossRef] [Google Scholar]*
6. *Martínez-Cardama, S., & Gómez-López, E. (2023, March). Impact of Social Media on Self-esteem and Emotions: An Instagram-Based Case Study. In Information for a Better World: Normality, Virtuality, Physicality, Inclusivity: 18th International Conference, iConference 2023, Virtual Event, March 13–17, 2023, Proceedings, Part II (pp. 109-122). Cham: Springer Nature Switzerland*
7. *Bruggeman, H., Van Hiel, A., Van Hal, G., & Van Dongen, S.(2019). Does the use of digital media affect psychological well-being? An empirical test among children aged 9 to 12.Computers in Human Behavior, 101, 104–113. https://doi.org/10.1016/j.chb.2019.07.015*
8. *Lenne, O., Vandenbosch, L., Eggermont, S., Karsay, K., & Trekels, J. (2020). Picture-perfect lives on social media: A cross-national study on the role of*

media ideals in adolescent well-being. Media Psychology, 23(1), 52–78. https://doi.org/10.1080/15213269.2018.1554494

9. *Twenge, J. M., & Campbell, W. K. (2018). Associations between screen time and lower psychological well-being among children and adolescents: Evidence from a population-based study. Preventive Medicine Reports, 12, 271 283. https://doi.org/10.1016/j.pmedr.2018.10.003*
10. *Valkenburg, P. M., & Peter, J. (2007). Online communication and adolescent well-being: Testing the stimulation versus the displacement hypothesis. Journal of Computer-Mediated Communication, 12(4), 1169–1182. https://doi.org/10.1111/j.1083-6101.2007.00368.x*
11. *Hall, J. A., Kearney, M. W., & Xing, C. (2019). Two tests of social displacement through social media use. Information, Communication & Society, 22(10), 1396–1413. https://doi.org/10.1080/1369118X.2018.1430162*
12. *12.Fioravanti G, Bocci Benucci S, Ceragioli G, Casale S. How the exposure to beauty ideals on social networking sites influences body image: A systematic review of experimental studies. Adolescent Research Review. 2022 Sep;7(3):419-58.*
13. *Boursier V, Gioia F, Griffiths MD. Do selfie-expectancies and social appearance anxiety predict adolescents' problematic social media use?. Computers in Human Behavior. 2020 Sep 1;110:106395.*
14. *Brunet J, Sabiston CM, Dorsch KD, McCreary DR. Exploring a model linking social physique anxiety, drive for muscularity, drive for thinness and self-esteem among adolescent boys and girls. Body image. 2010 Mar 1;7(2):137-42.*
15. *Ahadzadeh AS, Sharif SP, Ong FS. Self-schema and self-discrepancy mediate the influence of Instagram usage on body image satisfaction among youth. Computers in human behavior. 2017 Mar 1;68:8-16.*
16. *Kemp, S. (2021). Digital 2021: Global overview report. DataReportal – Global Digital Insights. Retrieved from https://datareportal.com/reports/digital-2021-global-overview-report*
17. *Diener, E., Emmons, R. A., Larsen, R. J., and Griffin, S. (1985). The satisfaction with life scale. J. Pers. Assess. 49, 71–75. doi: 10.1207/s15327752jpa4901_13*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

पहचान बनाम विकास : आधुनिक लोकतंत्र में प्राथमिकताओं का संघर्ष

डॉ. सुमीत कुमार गुप्ता
सहायक आचार्य(अतिथि व्याख्याता)- राजनीति विज्ञान
शासकीय गुण्डाधूर स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोण्डागाँव (छ.ग.)

सारांश

आधुनिक लोकतंत्र में "पहचान" और "विकास" दो ऐसी केंद्रीय अवधारणाएँ हैं, जो राजनीतिक विमर्श, नीतिगत प्राथमिकताओं और चुनावी रणनीतियों को गहराई से प्रभावित करती हैं। पहचान की राजनीति मुख्यतः जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, लिंग और संस्कृति जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक तत्वों पर आधारित होती है, जबकि विकास की राजनीति आर्थिक वृद्धि, आधारभूत संरचना, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों पर केंद्रित रहती है। इन दोनों के बीच उत्पन्न होने वाला तनाव आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में प्राथमिकताओं के संघर्ष के रूप में सामने आता है।

राजनीतिक सिद्धांतकारों जैसे चार्ल्स टेलर और विल किलमिका ने यह तर्क दिया है कि बहुसांस्कृतिक समाजों में पहचान की मान्यता लोकतंत्र की स्थिरता और न्याय के लिए आवश्यक है। यदि किसी समुदाय की सांस्कृतिक या सामाजिक पहचान को मान्यता नहीं मिलती, तो वह राजनीतिक असंतोष और सामाजिक विभाजन को जन्म दे सकती है। इस दृष्टिकोण से पहचान की राजनीति सामाजिक न्याय और प्रतिनिधित्व के लिए महत्वपूर्ण मानी जाती है।

दूसरी ओर, अमर्त्य सेन जैसे चिंतकों ने विकास को स्वतंत्रता और क्षमता-विस्तार से जोड़ा है। उनके अनुसार विकास केवल आर्थिक वृद्धि नहीं, बल्कि मानव क्षमताओं का विस्तार है, जो लोगों को बेहतर जीवन जीने का अवसर प्रदान करता है। इसी प्रकार जॉन रॉल्स के न्याय के सिद्धांत में संसाधनों के न्यायसंगत वितरण और समान अवसरों पर बल दिया गया है, जो विकास-उन्मुख नीतियों की आवश्यकता को रेखांकित करता है।

समस्या तब उत्पन्न होती है जब राजनीतिक दल और नेतृत्व पहचान-आधारित ध्रुवीकरण को चुनावी लाभ के लिए प्राथमिकता देने लगते हैं और विकास के दीर्घकालिक लक्ष्यों की उपेक्षा करते हैं। कई

लोकतंत्रों में यह देखा गया है कि पहचान-आधारित लामबंदी त्वरित राजनीतिक समर्थन जुटाने का साधन बन जाती है, जबकि विकास-उन्मुख नीतियाँ अपेक्षाकृत जटिल और समयसाध्य होती हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक विभाजन गहरा सकता है और नीति-निर्माण में संतुलन बिगड़ सकता है।

हालाँकि, पहचान और विकास को परस्पर विरोधी मानना पूर्णतः उचित नहीं है। वास्तव में, समावेशी विकास की अवधारणा दोनों के बीच सेतु का कार्य कर सकती है। यदि विकास नीतियाँ सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताओं को ध्यान में रखते हुए बनाई जाएँ, तो वे पहचान की अस्मिता को सम्मान देते हुए आर्थिक और सामाजिक प्रगति सुनिश्चित कर सकती हैं। उदाहरणतः, वंचित समुदायों के लिए लक्षित योजनाएँ, सकारात्मक कार्रवाई और विकेंद्रीकरण की नीतियाँ इस संतुलन को स्थापित करने में सहायक हो सकती हैं।

बीज शब्द:- पहचान राजनीति, विकासवाद, सामाजिक न्याय, प्रतिनिधित्व, बहुसांस्कृतिकता, समावेशी विकास, लोकतांत्रिक प्राथमिकताएँ, अस्मिता संघर्ष, आर्थिक समानता, नीति-निर्माण

प्रस्तावना

आधुनिक लोकतंत्र केवल शासन-प्रणाली नहीं, बल्कि एक जटिल सामाजिक-राजनीतिक संरचना है, जिसमें विविधताओं, आकांक्षाओं और हितों का समन्वय किया जाता है। 21वीं सदी के लोकतांत्रिक विमर्श में दो प्रमुख अवधारणाएँ -"पहचान" और "विकास" - राजनीतिक प्राथमिकताओं के केंद्र में उभरकर सामने आई हैं। पहचान की राजनीति जाति, धर्म, भाषा, लिंग, क्षेत्र, नस्ल और संस्कृति जैसे तत्वों पर आधारित होती है, जबकि विकास की राजनीति आर्थिक वृद्धि, रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य, आधारभूत संरचना और जीवन-स्तर में सुधार जैसे मुद्दों पर केंद्रित रहती है। इन दोनों के बीच उत्पन्न होने वाला तनाव आधुनिक लोकतंत्र में प्राथमिकताओं के संघर्ष के रूप में दिखाई देता है।

पहचान की अवधारणा का संबंध व्यक्ति और समुदाय की आत्म-परिभाषा से है। व्यक्ति स्वयं को किसी सामाजिक, सांस्कृतिक या ऐतिहासिक समूह से जोड़कर अपनी अस्मिता का निर्माण करता है। जब यह अस्मिता राजनीतिक रूप से संगठित होती है, तो वह पहचान की राजनीति का रूप ले लेती है। राजनीतिक सिद्धांतकार चार्ल्स टेलर ने 'मान्यता की राजनीति' की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए कहा कि आधुनिक समाज में व्यक्तियों और समुदायों की गरिमा उनके सांस्कृतिक अस्तित्व की स्वीकृति से जुड़ी होती है। यदि किसी समूह की पहचान को राज्य या समाज द्वारा मान्यता नहीं मिलती, तो वह वंचना और असमानता की भावना से ग्रस्त हो सकता है। इसी प्रकार विल किलमिका ने बहुसांस्कृतिक नागरिकता की वकालत करते हुए तर्क दिया कि उदार लोकतंत्रों को सांस्कृतिक विविधताओं को संरक्षित करने के लिए विशेष अधिकार प्रदान करने चाहिए।

दूसरी ओर, विकास की अवधारणा मुख्यतः आर्थिक और सामाजिक प्रगति से जुड़ी है। प्रारंभिक दौर में विकास को केवल सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की वृद्धि से मापा जाता था, किंतु समय के साथ इसका दायरा विस्तृत हुआ। अमर्त्य सेन ने अपनी 'क्षमता दृष्टिकोण' के माध्यम से विकास को स्वतंत्रता और मानव क्षमताओं के विस्तार के रूप में परिभाषित किया। उनके अनुसार विकास का वास्तविक उद्देश्य लोगों को वह अवसर प्रदान करना है, जिससे वे अपनी संभावनाओं को साकार कर सकें। इसी प्रकार जॉन रॉल्स ने न्याय के सिद्धांत में समान अवसर और संसाधनों के न्यायसंगत वितरण पर बल दिया, जो विकास-उन्मुख नीतियों की आधारशिला है।

समस्या तब उत्पन्न होती है जब लोकतांत्रिक राजनीति में पहचान और विकास को परस्पर विरोधी ध्रुवों के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगता है। कई बार राजनीतिक दल पहचान-आधारित मुद्दों को प्राथमिकता देकर चुनावी समर्थन प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे भावनात्मक रूप से अधिक प्रभावशाली होते हैं। इससे सामाजिक ध्रुवीकरण बढ़ सकता है और विकास-उन्मुख दीर्घकालिक नीतियाँ पीछे छूट सकती हैं। दूसरी ओर, यदि विकास के नाम पर सांस्कृतिक और सामाजिक पहचान की उपेक्षा की जाती है, तो वंचित समुदायों में असंतोष उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार लोकतंत्र के समक्ष चुनौती यह है कि वह पहचान की वैध मांगों को स्वीकार करते हुए विकास की व्यापक प्रक्रिया को संतुलित रूप से आगे बढ़ाए।

भारतीय संदर्भ में यह संघर्ष विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई देता है। भारत एक बहुभाषी, बहुधार्मिक और बहुजातीय समाज है, जहाँ सामाजिक विविधता अत्यंत व्यापक है। स्वतंत्रता के पश्चात् विकास को राष्ट्रीय एजेंडे के रूप में अपनाया गया, परंतु साथ ही सामाजिक न्याय और आरक्षण जैसी नीतियों के माध्यम से ऐतिहासिक रूप से वंचित समूहों की पहचान को मान्यता भी दी गई। समय-समय पर चुनावी राजनीति में जाति, धर्म और क्षेत्रीय पहचान के मुद्दे प्रमुख बने रहे हैं, जबकि समानांतर रूप से विकास, सुशासन और आर्थिक प्रगति के नारों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह द्वंद्व केवल भारत तक सीमित नहीं है; विश्व के अनेक लोकतंत्रों में पहचान-आधारित आंदोलनों और विकास-उन्मुख नीतियों के बीच संतुलन बनाने की चुनौती देखी जा सकती है।

वैश्विक स्तर पर भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट है। यूरोप और अमेरिका में नस्ल, प्रवासन और सांस्कृतिक पहचान के प्रश्नों ने राजनीतिक विमर्श को प्रभावित किया है, वहीं एशिया और अफ्रीका के देशों में आर्थिक विकास और सामाजिक समावेशन के मुद्दे प्रमुख रहे हैं। इस संदर्भ में Francis Fukuyama ने अपनी पुस्तक *Identity* में यह तर्क दिया कि आधुनिक राजनीति में पहचान की खोज एक शक्तिशाली प्रेरक शक्ति बन चुकी है, जो आर्थिक मुद्दों से भी अधिक प्रभाव डाल सकती है।

पहचान और विकास के इस संघर्ष का मूल प्रश्न यह है कि लोकतंत्र की प्राथमिकताएँ क्या हों -- सांस्कृतिक मान्यता और प्रतिनिधित्व या आर्थिक प्रगति और संरचनात्मक सुधार? वास्तव में, यह द्वंद्व

अक्सर कृत्रिम होता है, क्योंकि पहचान और विकास परस्पर निर्भर भी हो सकते हैं। समावेशी विकास की अवधारणा यह संकेत देती है कि यदि विकास नीतियाँ सामाजिक विविधताओं को ध्यान में रखते हुए बनाई जाएँ, तो वे पहचान की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए आर्थिक उन्नति को भी सुनिश्चित कर सकती हैं। उदाहरण के लिए, लक्षित कल्याणकारी योजनाएँ, सकारात्मक कार्रवाई, विकेंद्रीकरण और सहभागी शासन की नीतियाँ दोनों उद्देश्यों के बीच समन्वय स्थापित कर सकती हैं।

आधुनिक लोकतंत्र की सफलता इसी संतुलन पर निर्भर करती है। यदि पहचान की राजनीति अतिवादी रूप ले लेती है, तो वह समाज को विभाजित कर सकती है और राष्ट्रीय एकता को कमजोर कर सकती है। वहीं यदि विकास की राजनीति केवल आर्थिक आंकड़ों तक सीमित रह जाए और सामाजिक न्याय की अनदेखी करे, तो वह असमानताओं को बढ़ा सकती है। अतः लोकतंत्र के लिए यह आवश्यक है कि वह विविधताओं का सम्मान करते हुए समान अवसर, सामाजिक न्याय और सतत विकास के लक्ष्यों को एकीकृत रूप में साधे।

अंततः, "पहचान बनाम विकास" का संघर्ष आधुनिक लोकतंत्र की जटिलता को दर्शाता है। यह केवल नीतिगत बहस नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक मूल्यों-समानता, स्वतंत्रता, न्याय और गरिमा की व्याख्या से जुड़ा प्रश्न है। पहचान और विकास के बीच संतुलन स्थापित करना ही लोकतंत्र की स्थिरता, समावेशिता और दीर्घकालिक प्रगति की कुंजी है। यही संतुलन लोकतांत्रिक राजनीति को विभाजनकारी प्रवृत्तियों से बचाकर एक समन्वित, न्यायपूर्ण और प्रगतिशील समाज की दिशा में अग्रसर कर सकता है।

पहचान की राजनीति : परिभाषा और उत्पत्ति

आधुनिक लोकतांत्रिक विमर्श में "पहचान की राजनीति" एक महत्वपूर्ण और बहुचर्चित अवधारणा है। इसका संबंध उन राजनीतिक प्रक्रियाओं और आंदोलनों से है, जिनमें व्यक्ति या समुदाय अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषाई, जातीय, नस्लीय या लैंगिक पहचान के आधार पर राजनीतिक अधिकार, प्रतिनिधित्व और संसाधनों की मांग करते हैं। पहचान की राजनीति इस धारणा पर आधारित है कि समाज में कुछ समूह ऐतिहासिक रूप से वंचित, उपेक्षित या हाशिए पर रहे हैं, इसलिए उनकी विशिष्ट पहचान को मान्यता और संरक्षण मिलना चाहिए।

1. पहचान की राजनीति की परिभाषा

पहचान की राजनीति को सामान्यतः उस राजनीतिक रणनीति के रूप में परिभाषित किया जाता है, जिसमें साझा पहचान के आधार पर संगठित होकर अधिकारों और संसाधनों की मांग की जाती है। यह पहचान जन्मजात (जैसे जाति, नस्ल, लिंग) या अर्जित (जैसे भाषा, संस्कृति, क्षेत्र) हो सकती है।

राजनीतिक दार्शनिक चार्ल्स टेलर ने 'मान्यता की राजनीति' की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए कहा कि आधुनिक समाज में व्यक्ति की गरिमा उसकी पहचान की सामाजिक स्वीकृति से जुड़ी होती है। यदि किसी समुदाय की सांस्कृतिक या सामाजिक पहचान को मान्यता नहीं मिलती, तो वह असमानता और अपमान का अनुभव करता है। इसी प्रकार अकसेल होनेथ ने मान्यता को सामाजिक न्याय का आधार माना और तर्क दिया कि संघर्ष केवल संसाधनों के लिए नहीं, बल्कि सम्मान और पहचान के लिए भी होता है।

उदारवादी बहुसांस्कृतिकता के समर्थक विल किलमिका ने यह तर्क दिया कि आधुनिक लोकतंत्रों में अल्पसंख्यक समुदायों को सांस्कृतिक अधिकार प्रदान करना आवश्यक है, ताकि वे अपनी पहचान को संरक्षित रख सकें। उनके अनुसार समान नागरिकता का अर्थ केवल समान अधिकार नहीं, बल्कि सांस्कृतिक विविधताओं के संरक्षण की व्यवस्था भी है। इस प्रकार पहचान की राजनीति का मूल तत्व यह है कि राजनीतिक संघर्ष केवल आर्थिक हितों या वर्गीय विभाजनों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक अस्मिता भी राजनीतिक शक्ति का स्रोत बन जाती है।

2. पहचान की राजनीति की ऐतिहासिक उत्पत्ति

पहचान की राजनीति की जड़ें आधुनिकता और लोकतंत्र के उदय से जुड़ी हैं। 18वीं और 19वीं शताब्दी में राष्ट्रवाद के उदय के साथ सामूहिक पहचान का महत्व बढ़ा। यूरोप में राष्ट्र-राज्य के निर्माण की प्रक्रिया में भाषा, संस्कृति और इतिहास के आधार पर सामूहिक पहचान को राजनीतिक रूप दिया गया। यह राष्ट्रवादी पहचान आधुनिक राजनीतिक संगठनों की नींव बनी।

20वीं शताब्दी में औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता आंदोलनों ने भी पहचान को राजनीतिक संघर्ष का आधार बनाया। एशिया और अफ्रीका के देशों में राष्ट्रीय पहचान का निर्माण औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध का साधन बना। भारत में स्वतंत्रता संग्राम ने विविध धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक समूहों को एक राष्ट्रीय पहचान के अंतर्गत संगठित किया, हालांकि स्वतंत्रता के बाद आंतरिक पहचान-आधारित राजनीति भी उभरी।

1960 और 1970 के दशक में पहचान की राजनीति ने एक नए रूप में उभरना शुरू किया। अमेरिका और यूरोप में नागरिक अधिकार आंदोलन, नारीवादी आंदोलन, समलैंगिक अधिकार आंदोलन (LGBTQ+ Movement) और नस्लीय समानता के संघर्षों ने सामाजिक पहचान को राजनीतिक एजेंडे का केंद्र बना दिया। जैसे, मार्टिन लूथर किंग जूनियर के नेतृत्व में अफ्रीकी-अमेरिकी समुदाय ने नस्लीय भेदभाव के विरुद्ध संगठित संघर्ष किया। इसी प्रकार नारीवादी चिंतकों जैसे सिमोन डी ब्यूवोइर ने लैंगिक असमानता को पहचान और सत्ता के प्रश्न से जोड़ा।

उत्तर-आधुनिक विचारधारा ने भी पहचान की राजनीति को वैचारिक आधार प्रदान किया। मिशेल फुको ने सत्ता और ज्ञान के संबंधों का विश्लेषण करते हुए दिखाया कि सामाजिक संस्थाएँ किस प्रकार पहचान का निर्माण और नियंत्रण करती हैं। उनके विचारों ने यह समझ विकसित की कि पहचान केवल जैविक या प्राकृतिक तथ्य नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं का परिणाम भी है।

3. उत्तर-औपनिवेशिक और वैश्विक संदर्भ

उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में पहचान की राजनीति का संबंध अक्सर जातीय, धार्मिक और भाषाई विविधताओं से जुड़ा रहा है। बहुसांस्कृतिक समाजों में जब संसाधनों और अवसरों का वितरण असमान होता है, तो वंचित समूह अपनी पहचान के आधार पर संगठित होकर राजनीतिक अधिकारों की मांग करते हैं।

वैश्वीकरण के दौर में यह प्रवृत्ति और तेज हुई है। एक ओर आर्थिक उदारीकरण और बाजार-आधारित विकास ने असमानताओं को बढ़ाया, तो दूसरी ओर सांस्कृतिक पहचान के संरक्षण की मांग भी बढ़ी। फ्रांसिस फुकुयामा ने तर्क दिया कि समकालीन राजनीति में पहचान की खोज आर्थिक मुद्दों से अधिक प्रभावशाली होती जा रही है। लोगों को केवल भौतिक समृद्धि नहीं, बल्कि सम्मान और सांस्कृतिक मान्यता भी चाहिए।

4. भारतीय संदर्भ में पहचान की राजनीति

भारत जैसे बहुलतावादी समाज में पहचान की राजनीति विशेष रूप से महत्वपूर्ण रही है। यहाँ जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीय पहचान के आधार पर राजनीतिक लामबंदी होती रही है। मंडल आयोग की सिफारिशों के बाद पिछड़े वर्गों की राजनीतिक चेतना और प्रतिनिधित्व में वृद्धि हुई। इसी प्रकार क्षेत्रीय दलों का उदय भाषाई और सांस्कृतिक पहचान के आधार पर हुआ।

भारतीय लोकतंत्र में पहचान की राजनीति ने सामाजिक न्याय और प्रतिनिधित्व को बढ़ावा दिया है, किंतु कभी-कभी यह सामाजिक ध्रुवीकरण का कारण भी बनी है। इस प्रकार पहचान की राजनीति के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों आयाम हैं।

पहचान की राजनीति की उत्पत्ति आधुनिक लोकतंत्र, राष्ट्रवाद, सामाजिक आंदोलनों और वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं से जुड़ी है। यह केवल सांस्कृतिक आग्रह नहीं, बल्कि सम्मान, समानता और न्याय की मांग का राजनीतिक रूप है। यद्यपि कभी-कभी इसे विकास-विरोधी या विभाजनकारी माना जाता है, परंतु इसके मूल में ऐतिहासिक वंचना और असमानता के अनुभव निहित हैं।

अतः आधुनिक लोकतंत्र में पहचान की राजनीति को समझना आवश्यक है, क्योंकि यह सामाजिक संरचना, सत्ता-संबंध और नीति-निर्माण को गहराई से प्रभावित करती है। पहचान की राजनीति की उत्पत्ति

और परिभाषा का अध्ययन हमें यह समझने में सहायता करता है कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ किस प्रकार विविधताओं को समायोजित करते हुए न्यायपूर्ण और समावेशी समाज की दिशा में अग्रसर हो सकती हैं।

विकास की राजनीति : अवधारणा और स्वरूप

आधुनिक लोकतंत्र में "विकास की राजनीति" एक ऐसी अवधारणा है, जिसमें राज्य और राजनीतिक दल आर्थिक वृद्धि, सामाजिक कल्याण, आधारभूत संरचना, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार तथा जीवन-स्तर में सुधार को अपनी नीतिगत प्राथमिकता बनाते हैं। विकास की राजनीति का मूल उद्देश्य नागरिकों के भौतिक और सामाजिक जीवन में सकारात्मक परिवर्तन लाना है। यह केवल आर्थिक प्रगति तक सीमित नहीं रहती, बल्कि सामाजिक न्याय, समान अवसर और मानव गरिमा के संवर्धन को भी अपने दायरे में शामिल करती है।

1. विकास की राजनीति की अवधारणा

विकास की राजनीति उस दृष्टिकोण को व्यक्त करती है, जिसमें राजनीतिक सत्ता का उपयोग संसाधनों के न्यायसंगत वितरण, आर्थिक सुदृढ़ीकरण और सामाजिक कल्याण के विस्तार के लिए किया जाता है। प्रारंभिक दौर में विकास को मुख्यतः औद्योगिकीकरण, पूंजी निवेश और सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की वृद्धि से जोड़ा गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद नवस्वतंत्र देशों में विकास-उन्मुख राज्य की अवधारणा उभरी, जहाँ राज्य ने योजनाबद्ध आर्थिक प्रगति को प्राथमिकता दी।

इस संदर्भ में अर्थशास्त्री और दार्शनिक अमर्त्य सेन ने विकास को केवल आय-वृद्धि नहीं, बल्कि "क्षमता विस्तार" के रूप में परिभाषित किया। उनके अनुसार विकास का वास्तविक उद्देश्य लोगों को उन विकल्पों और अवसरों से सशक्त करना है, जिनसे वे अपने जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें। इसी प्रकार महबूल-उल-हक़ ने मानव विकास सूचकांक (HDI) की अवधारणा के माध्यम से विकास को शिक्षा, स्वास्थ्य और जीवन प्रत्याशा जैसे संकेतकों से जोड़कर व्यापक आयाम प्रदान किया।

राजनीतिक दर्शन में जॉन रॉल्स के न्याय सिद्धांत ने विकास की राजनीति को नैतिक आधार प्रदान किया। उन्होंने "न्याय के रूप में निष्पक्षता" का सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए तर्क दिया कि सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ तभी स्वीकार्य हैं, जब वे समाज के सबसे कमजोर वर्ग के हित में हों। यह दृष्टिकोण विकास की राजनीति को समान अवसर और संसाधनों के न्यायसंगत वितरण की दिशा में प्रेरित करता है।

2. विकास की राजनीति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नवस्वतंत्र देशों ने विकास को राष्ट्र-निर्माण का आधार बनाया। भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से औद्योगिकीकरण, कृषि सुधार और सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार पर बल दिया गया। इस कालखंड में राज्य को विकास का प्रमुख वाहक माना गया।

1960 और 1970 के दशक में विकास की राजनीति ने कल्याणकारी राज्य का रूप लिया। पश्चिमी देशों में सामाजिक सुरक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। वहीं 1980 के दशक में वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीतियों के कारण बाजार-आधारित विकास मॉडल प्रमुख हुआ। इस दौर में राज्य की भूमिका में परिवर्तन आया और निजी क्षेत्र की भागीदारी बढ़ी। 21वीं सदी में विकास की राजनीति ने "समावेशी विकास" और "सतत विकास" जैसे नए आयाम ग्रहण किए। पर्यावरण संरक्षण, लैंगिक समानता और सामाजिक समावेशन को विकास एजेंडे का अभिन्न अंग बनाया गया।

3. विकास की राजनीति का स्वरूप

विकास की राजनीति बहुआयामी स्वरूप रखती है, जिसे निम्नलिखित आयामों में समझा जा सकता है-

क) **आर्थिक आयाम:**-इसमें औद्योगिकीकरण, रोजगार सृजन, आधारभूत संरचना (सड़क, बिजली, जल) का निर्माण और निवेश को बढ़ावा देना शामिल है। आर्थिक वृद्धि को राष्ट्रीय शक्ति और वैश्विक प्रतिस्पर्धा का आधार माना जाता है।

ख) **सामाजिक आयाम:**-शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण और सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ विकास की राजनीति का महत्वपूर्ण भाग हैं। यह आयाम सामाजिक असमानताओं को कम करने और मानव संसाधन के सशक्तिकरण पर बल देता है।

ग) **राजनीतिक आयाम:**-विकास की राजनीति लोकतांत्रिक वैधता को भी मजबूत करती है। जब सरकारें विकास के ठोस परिणाम प्रस्तुत करती हैं, तो उन्हें जनसमर्थन प्राप्त होता है। कई लोकतंत्रों में "विकास" चुनावी मुद्दा बन गया है।

घ) **नैतिक एवं मानवीय आयाम:-** विकास केवल आर्थिक आंकड़ों तक सीमित नहीं, बल्कि मानव गरिमा और स्वतंत्रता से भी जुड़ा है। मारथा नुस्स्बौम ने क्षमता दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हुए मानव गरिमा और बुनियादी क्षमताओं को विकास का आधार माना।

4. पहचान बनाम विकास के संदर्भ में विकास की राजनीति

जब विकास की राजनीति को पहचान की राजनीति के समक्ष रखा जाता है, तो अक्सर यह धारणा बनती है कि दोनों परस्पर विरोधी हैं। विकास की राजनीति व्यापक नागरिकता और सार्वभौमिक नीतियों पर बल देती है, जबकि पहचान की राजनीति विशिष्ट समूहों के अधिकारों और मान्यता पर केंद्रित होती है।

हालाँकि, यह विरोध पूर्णतः वास्तविक नहीं है। यदि विकास नीतियाँ समावेशी हों और सामाजिक विविधताओं को ध्यान में रखें, तो वे पहचान की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए समान अवसर प्रदान कर सकती हैं। उदाहरणतः लक्षित कल्याणकारी योजनाएँ, सकारात्मक कार्रवाई और विकेंद्रीकरण की नीतियाँ विकास और पहचान के बीच संतुलन स्थापित कर सकती हैं।

5. चुनौतियाँ और सीमाएँ

विकास केवल आंकड़ों और परियोजनाओं तक सीमित रह जाए और सामाजिक न्याय की अनदेखी करे, तो यह असंतोष को जन्म दे सकता है। अतः विकास की राजनीति को मानव-केंद्रित और न्यायपूर्ण होना आवश्यक है।

विकास की राजनीति आधुनिक लोकतंत्र का केंद्रीय तत्व है। यह आर्थिक प्रगति, सामाजिक कल्याण और मानव सशक्तिकरण के माध्यम से लोकतांत्रिक स्थिरता को सुदृढ़ करती है। अमर्त्य सेन, जॉन रॉल्स और महबूल-उल-हक़ जैसे चिंतकों ने विकास को व्यापक नैतिक और मानवीय संदर्भ प्रदान किया है।

अतः आधुनिक लोकतंत्र में विकास की राजनीति केवल आर्थिक नीति नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और मानव गरिमा की स्थापना का माध्यम है। पहचान और विकास के बीच संतुलन स्थापित करते हुए ही लोकतांत्रिक शासन समावेशी, स्थायी और न्यायपूर्ण समाज की दिशा में अग्रसर हो सकता है।

ऐतिहासिक संदर्भ : मण्डल बनाम कमण्डल से 'सबका साथ–सबका विकास' तक

भारतीय लोकतंत्र में पहचान और विकास के बीच प्राथमिकताओं का संघर्ष किसी सैद्धांतिक बहस तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह ठोस ऐतिहासिक घटनाओं और राजनीतिक आंदोलनों के माध्यम से सामने आया है। विशेषतः 1980 और 1990 के दशक में "मण्डल बनाम कमण्डल" की राजनीति ने इस द्वंद्व को तीव्र रूप में प्रकट किया। इसके बाद 21वीं सदी में "विकास" को केंद्र में रखकर राजनीतिक विमर्श को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास हुआ, जिसका प्रतीकात्मक रूप "सबका साथ–सबका विकास" का नारा बना। यह ऐतिहासिक यात्रा पहचान-आधारित लामबंदी से विकास-केंद्रित राजनीति तक के संक्रमण को समझने में सहायक है।

1. मण्डल राजनीति: सामाजिक न्याय और पहचान का उभार

"मण्डल" शब्द का संबंध मण्डल आयोग से है, जिसे 1979 में पिछड़े वर्गों की सामाजिक और शैक्षणिक स्थिति का अध्ययन करने हेतु गठित किया गया था। आयोग ने 1980 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें अन्य पिछड़ा वर्ग (OBC) को सरकारी नौकरियों में 27% आरक्षण देने की सिफारिश की गई। 1990 में प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह द्वारा इन सिफारिशों को लागू करने की घोषणा के साथ भारतीय राजनीति में एक बड़ा परिवर्तन आया।

मण्डल राजनीति ने जाति-आधारित पहचान को लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय के प्रश्न से जोड़ दिया। ऐतिहासिक रूप से वंचित समुदायों ने इसे अपनी राजनीतिक भागीदारी और सत्ता-साझेदारी का अवसर माना। इससे भारतीय राजनीति में पिछड़े वर्गों और दलित समुदायों की राजनीतिक चेतना और नेतृत्व का विस्तार हुआ। कई क्षेत्रीय दलों का उदय इसी सामाजिक न्याय की राजनीति के परिणामस्वरूप हुआ। हालाँकि, मण्डल के निर्णय के बाद व्यापक विरोध प्रदर्शन भी हुए। कुछ वर्गों ने इसे "योग्यता"के विरुद्ध कदम बताया। इस प्रकार मण्डल ने सामाजिक न्याय बनाम समान अवसर की बहस को जन्म दिया और भारतीय लोकतंत्र में पहचान-आधारित राजनीति को संस्थागत रूप दिया।

2. कमण्डल राजनीति: सांस्कृतिक-धार्मिक पहचान का उभार

मण्डल के समानांतर "कमण्डल" राजनीति का उदय हुआ, जो मुख्यतः धार्मिक-सांस्कृतिक पहचान पर आधारित थी। "कमण्डल" प्रतीकात्मक रूप से हिंदू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को दर्शाता है। 1980 और 1990 के दशक में भारतीय जनता पार्टी और उससे जुड़े संगठनों ने राम जन्मभूमि आंदोलन को राजनीतिक एजेंडा बनाया। इस आंदोलन में एल. के. आडवाणी की रथयात्रा (1990) एक महत्वपूर्ण घटना रही।

कमण्डल राजनीति ने धार्मिक पहचान को राजनीतिक लामबंदी का आधार बनाया। यह तर्क दिया गया कि सांस्कृतिक अस्मिता और राष्ट्रीय एकता को पुनर्स्थापित करना आवश्यक है। इस दौर में भारतीय राजनीति जाति और धर्म आधारित पहचान की प्रतिस्पर्धा का मंच बन गई। मण्डल और कमण्डल दोनों ने पहचान को केंद्र में रखकर राजनीतिक ध्रुवीकरण को तीव्र किया।

3. 1990 के दशक के बाद: उदारीकरण और विकास का विमर्श

1991 में आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद भारतीय राजनीति में विकास का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण होता गया। आर्थिक सुधारों, निजीकरण और वैश्वीकरण ने नई आर्थिक संभावनाएँ और चुनौतियाँ पैदा कीं। इस दौर में विकास, निवेश, आधारभूत संरचना और रोजगार जैसे मुद्दे धीरे-धीरे राजनीतिक विमर्श में स्थान पाने लगे। फिर भी 1990 और 2000 के दशक में पहचान की राजनीति पूरी

तरह समाप्त नहीं हुई। जातीय समीकरण और धार्मिक ध्रुवीकरण चुनावी राजनीति में प्रभावशाली बने रहे। किंतु इसके समानांतर विकास-उन्मुख राजनीति का एक नया विमर्श उभरने लगा, जिसमें सुशासन (Good Governance), पारदर्शिता और आर्थिक प्रगति पर बल दिया गया।

4. 'सबका साथ–सबका विकास': समावेशी विकास की राजनीति

2014 के आम चुनावों के दौरान "सबका साथ–सबका विकास" का नारा राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुखता से उभरा। इसे नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में प्रस्तुत किया गया, जिसका उद्देश्य विकास को पहचान-आधारित विभाजनों से ऊपर रखकर समावेशी प्रगति का संदेश देना था। इस नारे का आशय था कि विकास का लाभ सभी वर्गों और समुदायों तक पहुँचे।

इस चरण में विकास को राजनीतिक वैधता का प्रमुख स्रोत बनाया गया। आधारभूत संरचना, डिजिटलकरण, प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (DBT), जन-धन योजना, स्वच्छता और आवास योजनाओं जैसे कार्यक्रमों को विकास-राजनीति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह प्रयास था कि पहचान की राजनीति के स्थान पर विकास को केंद्रीय मुद्दा बनाया जाए। हालाँकि आलोचकों का तर्क है कि पहचान की राजनीति पूरी तरह समाप्त नहीं हुई, बल्कि उसने नए रूप धारण किए। विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक और राष्ट्रवादी विमर्श भी समानांतर रूप से उपस्थित रहे। इस प्रकार "सबका साथ–सबका विकास" पहचान और विकास के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास प्रतीत होता है, परंतु व्यवहार में दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती रही हैं।

5. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण

मण्डल बनाम कमण्डल से लेकर समावेशी विकास के नारे तक की यात्रा यह दर्शाती है कि भारतीय लोकतंत्र में पहचान और विकास की राजनीति परस्पर प्रतिस्पर्धी होने के साथ-साथ पूरक भी रही हैं। मण्डल ने सामाजिक न्याय और प्रतिनिधित्व को मजबूत किया, जबकि कमण्डल ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को राजनीतिक शक्ति में परिवर्तित किया। 21वीं सदी में विकास-केंद्रित राजनीति ने व्यापक नागरिकता और आर्थिक प्रगति को प्राथमिकता देने का प्रयास किया।

यह ऐतिहासिक क्रम यह भी दर्शाता है कि लोकतंत्र में प्राथमिकताएँ स्थिर नहीं रहतीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती हैं। पहचान-आधारित राजनीति ने वंचित समूहों को आवाज दी, जबकि विकास की राजनीति ने आर्थिक आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दी।

"मण्डल बनाम कमण्डल" से "सबका साथ–सबका विकास" तक का इतिहास भारतीय लोकतंत्र में पहचान और विकास के बीच चल रहे संघर्ष और समन्वय की कहानी है। यह दर्शाता है कि लोकतंत्र में सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक अस्मिता और आर्थिक प्रगति-तीनों को संतुलित करना आवश्यक है। अतः

ऐतिहासिक संदर्भ यह स्पष्ट करता है कि पहचान और विकास को परस्पर विरोधी ध्रुवों के रूप में देखने के बजाय उन्हें लोकतांत्रिक प्रक्रिया के परस्पर संबंधित आयामों के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है। यही संतुलन आधुनिक लोकतंत्र की स्थिरता और समावेशिता की आधारशिला है।

पहचान और विकास का अंतर्संबंध

आधुनिक लोकतंत्र में पहचान और विकास को प्रायः दो पृथक और परस्पर विरोधी धाराओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एक ओर पहचान की राजनीति सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, जातीय और लैंगिक अस्मिताओं की मान्यता और प्रतिनिधित्व की मांग करती है, तो दूसरी ओर विकास की राजनीति आर्थिक वृद्धि, आधारभूत संरचना, शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार जैसे मुद्दों पर केंद्रित रहती है। किंतु गहन विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि पहचान और विकास के बीच संबंध केवल प्रतिस्पर्धा का नहीं, बल्कि गहरे अंतर्संबंध का भी है। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और लोकतांत्रिक व्यवस्था में संतुलित समन्वय की अपेक्षा करते हैं।

1. मान्यता और क्षमता: सैद्धांतिक आधार

पहचान और विकास के अंतर्संबंध को समझने के लिए राजनीतिक और दार्शनिक विमर्श महत्वपूर्ण है। चार्ल्स टेलर ने 'मान्यता की राजनीति' के माध्यम से यह तर्क दिया कि व्यक्ति और समुदाय की गरिमा उसकी पहचान की सामाजिक स्वीकृति से जुड़ी होती है। यदि किसी समूह को सम्मान और मान्यता नहीं मिलती, तो वह आत्मविश्वास और सामाजिक सहभागिता में पीछे रह जाता है।

इसी प्रकार अमर्त्य सेन के 'क्षमता दृष्टिकोण' के अनुसार विकास का अर्थ लोगों की वास्तविक स्वतंत्रताओं और क्षमताओं का विस्तार है। यदि किसी समुदाय की पहचान के कारण उसे शिक्षा, स्वास्थ्य या रोजगार के अवसरों से वंचित किया जाता है, तो उसकी क्षमताएँ सीमित रह जाती हैं। इस प्रकार पहचान और विकास एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हैं-पहचान की मान्यता विकास की पूर्वशर्त बन सकती है।

2. ऐतिहासिक वंचना और विकास

कई समाजों में ऐतिहासिक रूप से कुछ समुदाय सामाजिक भेदभाव और संसाधनों की कमी के कारण विकास की मुख्यधारा से बाहर रहे हैं। जाति, नस्ल, लिंग या धर्म के आधार पर होने वाला भेदभाव विकास की संभावनाओं को सीमित करता है। ऐसे में पहचान-आधारित नीतियाँ-जैसे आरक्षण, सकारात्मक कार्रवाई और लक्षित कल्याणकारी योजनाएँ विकास के अवसरों को समान बनाने का प्रयास करती हैं। उदाहरण के लिए, भारत में पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए आरक्षण नीति

सामाजिक पहचान को ध्यान में रखते हुए विकास के अवसर प्रदान करती है। यह दर्शाता है कि पहचान को स्वीकार किए बिना विकास की समानता संभव नहीं है।

3. समावेशी विकास: सेतु का निर्माण

पहचान और विकास के बीच संतुलन स्थापित करने की अवधारणा "समावेशी विकास" में निहित है। समावेशी विकास का अर्थ है कि आर्थिक प्रगति का लाभ समाज के सभी वर्गों तक पहुँचे, विशेषकर उन समुदायों तक जो ऐतिहासिक रूप से वंचित रहे हैं।

मारथा नुस्स्बौम ने क्षमता दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हुए यह प्रतिपादित किया कि विकास का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति की बुनियादी क्षमताओं को सुनिश्चित करना होना चाहिए। यह तभी संभव है जब नीतियाँ सामाजिक विविधताओं और पहचान की वास्तविकताओं को ध्यान में रखकर बनाई जाएँ। यदि विकास केवल सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की वृद्धि तक सीमित रहे और सामाजिक विषमताओं को अनदेखा करे, तो वह असमानताओं को और बढ़ा सकता है। इसके विपरीत, जब विकास नीतियाँ सामाजिक न्याय और प्रतिनिधित्व के साथ समन्वित होती हैं, तो वे लोकतंत्र को अधिक स्थिर और न्यायपूर्ण बनाती हैं।

4. पहचान-आधारित राजनीति और विकास की चुनौतियाँ

हालाँकि पहचान और विकास का अंतर्संबंध सकारात्मक हो सकता है, परंतु कई बार पहचान-आधारित राजनीति विकास प्रक्रिया में बाधा भी बन सकती है। जब राजनीतिक दल अल्पकालिक चुनावी लाभ के लिए पहचान-आधारित ध्रुवीकरण को बढ़ावा देते हैं, तो नीति-निर्माण में दीर्घकालिक विकास लक्ष्यों की उपेक्षा हो सकती है। इससे सामाजिक विभाजन और राजनीतिक अस्थिरता बढ़ती है, जो आर्थिक निवेश और प्रगति को प्रभावित करती है।

फ्रांसिस फुकुयामा ने समकालीन राजनीति में पहचान की बढ़ती भूमिका की ओर संकेत करते हुए कहा कि सम्मान और मान्यता की मांग कई बार आर्थिक मुद्दों पर हावी हो जाती है। यदि यह संतुलन बिगड़ जाए, तो लोकतंत्र में नीति-निर्माण प्रभावित होता है।

5. लोकतांत्रिक वैधता और अंतर्संबंध

लोकतंत्र में वैधता केवल आर्थिक प्रगति से नहीं, बल्कि नागरिकों की सहभागिता और सम्मान से भी प्राप्त होती है। यदि कोई सरकार आर्थिक विकास तो करती है, परंतु सामाजिक या सांस्कृतिक पहचान की उपेक्षा करती है, तो उसे व्यापक जनसमर्थन नहीं मिल सकता। इसके विपरीत, यदि पहचान की राजनीति विकास को पीछे छोड़ दे, तो जनता की आर्थिक आकांक्षाएँ अधूरी रह सकती हैं। इसलिए लोकतांत्रिक शासन के लिए आवश्यक है कि वह पहचान की वैध मांगों को स्वीकार करते हुए विकास

की व्यापक प्रक्रिया को आगे बढ़ाए। दोनों के बीच संतुलन लोकतांत्रिक स्थिरता और सामाजिक समरसता का आधार बनता है।

6. वैश्विक और भारतीय संदर्भ

वैश्वीकरण के दौर में पहचान और विकास का अंतर्संबंध और जटिल हो गया है। आर्थिक उदारीकरण ने विकास के नए अवसर प्रदान किए, किंतु साथ ही सामाजिक और सांस्कृतिक असुरक्षाएँ भी उत्पन्न कीं। इससे पहचान-आधारित आंदोलनों को बल मिला।

भारतीय संदर्भ में भी विकास की राजनीति और पहचान की राजनीति समानांतर रूप से चलती रही हैं। जाति, धर्म और क्षेत्रीय पहचान चुनावी राजनीति में प्रभावशाली बनी रही है, जबकि साथ ही विकास, सुशासन और आर्थिक प्रगति भी प्रमुख मुद्दे बने हैं। यह दर्शाता है कि दोनों आयाम परस्पर अंतर्संबंधित हैं।

पहचान और विकास का संबंध विरोध का नहीं, बल्कि पूरकता और संतुलन का है। पहचान की मान्यता के बिना विकास अधूरा है, और विकास के बिना पहचान की राजनीति स्थायी समाधान नहीं दे सकती। चार्ल्स टेलर और अमर्त्य सेन के विचार यह स्पष्ट करते हैं कि सम्मान और क्षमता दोनों लोकतांत्रिक प्रगति के लिए अनिवार्य हैं। अतः आधुनिक लोकतंत्र में प्राथमिकताओं का संघर्ष तभी सार्थक रूप से सुलझ सकता है, जब पहचान और विकास को एकीकृत दृष्टिकोण से देखा जाए। समावेशी, न्यायपूर्ण और सतत विकास ही वह मार्ग है, जो विविधताओं का सम्मान करते हुए सामूहिक प्रगति सुनिश्चित कर सकता है।

चुनौतियाँ और आलोचनात्मक विश्लेषण

आधुनिक लोकतंत्र में पहचान और विकास के बीच प्राथमिकताओं का संघर्ष केवल नीतिगत बहस नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना, सत्ता-संतुलन और लोकतांत्रिक मूल्यों से जुड़ा जटिल प्रश्न है। जहाँ पहचान की राजनीति सामाजिक न्याय, प्रतिनिधित्व और सांस्कृतिक मान्यता पर बल देती है, वहीं विकास की राजनीति आर्थिक वृद्धि, आधारभूत संरचना और जीवन-स्तर में सुधार को प्राथमिकता देती है। इन दोनों के बीच संतुलन स्थापित करना लोकतांत्रिक शासन की सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है।

1. राजनीतिक ध्रुवीकरण और सामाजिक विभाजन

पहचान-आधारित राजनीति की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि यह समाज को विभिन्न समूहों में विभाजित कर सकती है। जब जाति, धर्म, भाषा या नस्ल के आधार पर राजनीतिक लामबंदी होती है, तो लोकतांत्रिक विमर्श अक्सर भावनात्मक और टकरावपूर्ण हो जाता है। इससे सामाजिक समरसता कमजोर हो सकती है।

फ्रांसिस फुकुयामा ने समकालीन राजनीति में पहचान की बढ़ती भूमिका की आलोचना करते हुए कहा कि यदि राजनीति केवल पहचान की मान्यता तक सीमित हो जाए, तो साझा नागरिकता की भावना कमजोर पड़ सकती है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता और नीति-निर्माण प्रभावित होते हैं।

2. विकास का संकीर्ण आर्थिक दृष्टिकोण

विकास की राजनीति की भी अपनी सीमाएँ हैं। यदि विकास को केवल सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की वृद्धि या बड़े-बड़े परियोजनाओं तक सीमित कर दिया जाए, तो यह सामाजिक न्याय और समानता की उपेक्षा कर सकता है। आर्थिक प्रगति के बावजूद असमानताएँ बढ़ सकती हैं।

अमर्त्य सेन ने स्पष्ट किया कि विकास का उद्देश्य केवल आय-वृद्धि नहीं, बल्कि मानव क्षमताओं का विस्तार होना चाहिए। यदि विकास नीतियाँ वंचित समुदायों की पहचान और विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखतीं, तो वे असमानता को और गहरा कर सकती हैं।

3. प्रतिनिधित्व बनाम दक्षता की बहस

पहचान की राजनीति अक्सर प्रतिनिधित्व पर बल देती है अर्थात् सत्ता और संस्थानों में विविध समूहों की भागीदारी सुनिश्चित की जाए। किंतु इसके विरोध में यह तर्क दिया जाता है कि इससे दक्षता और योग्यता प्रभावित हो सकती है। उदाहरणतः आरक्षण नीति पर यही बहस देखी जाती है।

जॉन रॉल्स के न्याय सिद्धांत के अनुसार, असमानताएँ तभी उचित हैं जब वे समाज के सबसे कमजोर वर्ग के हित में हों। इस दृष्टिकोण से पहचान-आधारित नीतियाँ सामाजिक न्याय की दिशा में आवश्यक हो सकती हैं। फिर भी, यह सुनिश्चित करना चुनौतीपूर्ण है कि ऐसी नीतियाँ दीर्घकालिक विकास के साथ संतुलित रहें।

4. चुनावी राजनीति और अल्पकालिक लाभ

लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दल अक्सर अल्पकालिक चुनावी लाभ के लिए पहचान-आधारित मुद्दों को उभारते हैं। भावनात्मक अपील और ध्रुवीकरण त्वरित समर्थन जुटाने का साधन बन सकते हैं, जबकि विकास-उन्मुख नीतियाँ समय और संसाधन मांगती हैं। इस प्रवृत्ति से नीति-निर्माण में निरंतरता और स्थिरता प्रभावित होती है। इसके विपरीत, कभी-कभी विकास के नाम पर पहचान संबंधी वैध मांगों की उपेक्षा भी की जाती है, जिससे वंचित समुदायों में असंतोष पनप सकता है। यह असंतोष सामाजिक आंदोलनों और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दे सकता है।

5. समावेशी विकास की व्यवहारिक कठिनाइयाँ

सैद्धांतिक रूप से पहचान और विकास के समन्वय के लिए "समावेशी विकास" की अवधारणा प्रस्तुत की जाती है। किंतु व्यवहार में इसे लागू करना जटिल है। विविध सामाजिक समूहों की आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं, और संसाधनों का सीमित होना नीतिगत प्राथमिकताओं को प्रभावित करता है।

मारथा नुस्स्बौम ने क्षमता दृष्टिकोण के माध्यम से यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक व्यक्ति की बुनियादी क्षमताओं को सुनिश्चित करना राज्य का दायित्व है। परंतु इन क्षमताओं को सार्वभौमिक रूप से लागू करने के लिए पर्याप्त संसाधन, पारदर्शिता और प्रशासनिक दक्षता आवश्यक है, जो अक्सर विकासशील लोकतंत्रों में चुनौतीपूर्ण होती है।

6. वैश्वीकरण और पहचान का पुनरुत्थान

वैश्वीकरण के दौर में आर्थिक विकास और सांस्कृतिक असुरक्षा दोनों समानांतर रूप से बढ़े हैं। बाजार-आधारित सुधारों ने आर्थिक अवसर तो प्रदान किए, किंतु स्थानीय पहचान और सांस्कृतिक विविधताओं पर भी दबाव डाला। इससे पहचान-आधारित आंदोलनों को बल मिला। चार्ल्स टेलर के अनुसार, आधुनिक समाज में सम्मान और मान्यता की मांग मानव गरिमा से जुड़ी है। यदि वैश्विक विकास मॉडल स्थानीय पहचान को कमजोर करता है, तो यह सामाजिक तनाव को जन्म दे सकता है।

पहचान बनाम विकास का संघर्ष वास्तव में प्राथमिकताओं के असंतुलन का परिणाम है। पहचान की राजनीति सामाजिक न्याय और प्रतिनिधित्व को सशक्त करती है, किंतु अतिवाद की स्थिति में विभाजनकारी हो सकती है। विकास की राजनीति आर्थिक प्रगति और जीवन-स्तर में सुधार को बढ़ावा देती है, किंतु यदि वह सामाजिक विविधताओं की उपेक्षा करे, तो असमानता को बढ़ा सकती है। अतः आलोचनात्मक विश्लेषण यह संकेत देता है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि वह पहचान और विकास के बीच संतुलन स्थापित करे। समावेशी, न्यायपूर्ण और सहभागी विकास ही वह मार्ग है, जो विविधताओं का सम्मान करते हुए सामाजिक समरसता और आर्थिक प्रगति दोनों को सुनिश्चित कर सकता है। यही संतुलन आधुनिक लोकतंत्र की स्थिरता और वैधता की आधारशिला है।

निष्कर्ष

आधुनिक लोकतंत्र में पहचान और विकास के बीच प्राथमिकताओं का संघर्ष सतही रूप से द्वंद्वात्मक प्रतीत होता है, किंतु गहन विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि यह संघर्ष अनिवार्य नहीं, बल्कि संतुलन की कमी का परिणाम है। पहचान की राजनीति सामाजिक मान्यता, प्रतिनिधित्व और ऐतिहासिक न्याय की मांग करती है, जबकि विकास की राजनीति आर्थिक प्रगति, आधारभूत संरचना और जीवन-स्तर में

सुधार को प्राथमिकता देती है। प्रश्न यह है कि क्या इन दोनों को परस्पर विरोधी ध्रुवों के बजाय एकीकृत दृष्टिकोण से देखा जा सकता है?

सैद्धांतिक स्तर पर यह समन्वय संभव है। चार्ल्स टेलर ने मान्यता को आधुनिक लोकतंत्र की नैतिक आवश्यकता बताया है। उनके अनुसार किसी भी समुदाय की सांस्कृतिक अस्मिता को सम्मान दिए बिना लोकतांत्रिक समानता अधूरी है। दूसरी ओर, अमर्त्य सेन के क्षमता दृष्टिकोण के अनुसार विकास का लक्ष्य लोगों की वास्तविक स्वतंत्रताओं और अवसरों का विस्तार करना है। यदि किसी समूह की पहचान के कारण उसे अवसरों से वंचित किया जाता है, तो विकास भी अपूर्ण रह जाता है। इस प्रकार सम्मान और क्षमता दोनों को साथ लेकर चलना आवश्यक है।

व्यावहारिक स्तर पर "समावेशी विकास" इस समन्वय का मार्ग प्रस्तुत करता है। समावेशी विकास का अर्थ है कि आर्थिक प्रगति का लाभ समाज के सभी वर्गों तक पहुँचे, विशेषकर उन समुदायों तक जो ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर रहे हैं। सकारात्मक कार्रवाई लक्षित कल्याणकारी योजनाएँ, विकेंद्रीकरण और सहभागी शासन जैसी नीतियाँ पहचान और विकास के बीच सेतु का कार्य कर सकती हैं।

हालाँकि, यह समन्वय सरल नहीं है। पहचान-आधारित राजनीति कभी-कभी भावनात्मक ध्रुवीकरण को बढ़ावा देती है, जिससे नीति-निर्माण में स्थिरता प्रभावित हो सकती है। वहीं विकास के नाम पर यदि सांस्कृतिक विविधताओं और सामाजिक न्याय की अनदेखी की जाए, तो असंतोष और असमानता बढ़ सकती है। जॉन रॉल्स के न्याय सिद्धांत के अनुसार, सामाजिक और आर्थिक नीतियाँ तभी उचित हैं जब वे समाज के सबसे कमजोर वर्ग के हित में हों। यह दृष्टिकोण पहचान और विकास दोनों को न्यायपूर्ण ढंग से जोड़ने की दिशा देता है।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भी यह स्पष्ट है कि आर्थिक समृद्धि के साथ सांस्कृतिक सम्मान की आवश्यकता बनी रहती है। फ्रांसिस फुकुयामा ने समकालीन राजनीति में पहचान की बढ़ती भूमिका की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार लोगों को केवल भौतिक प्रगति नहीं, बल्कि गरिमा और सम्मान भी चाहिए। अतः लोकतांत्रिक शासन को दोनों आकांक्षाओं का संतुलन साधना होगा।

निष्कर्षतः, पहचान और विकास का समन्वय न केवल संभव है, बल्कि लोकतंत्र की स्थिरता और समावेशिता के लिए अनिवार्य भी है। इसके लिए आवश्यक है कि विकास नीतियाँ सामाजिक विविधताओं के प्रति संवेदनशील हों और पहचान की राजनीति व्यापक राष्ट्रीय हित और आर्थिक प्रगति के साथ संतुलित रहे। जब लोकतंत्र सम्मान, समान अवसर और न्यायपूर्ण विकास को एकीकृत रूप में अपनाता है, तभी वह स्थायी और समरस समाज की दिशा में अग्रसर हो सकता है। यही समन्वय आधुनिक लोकतंत्र की सफलता की कुंजी है।

संदर्भ सूची:-

1. *सेन, ए. (1999). डेवलपमेंट ऐज़ फ्रीडम. न्यूयॉर्क: अल्फ्रेड ए. नॉफ।*
2. *रॉल्स, जे. (1971). ए थ्योरी ऑफ जस्टिस. कैम्ब्रिज, एम.ए.: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।*
3. *टेलर, सी. (1994). मल्टीकल्चरलिज़्म एंड "द पॉलिटिक्स ऑफ रिकग्निशन". प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।*
4. *किम्लिका, डब्ल्यू. (1995). मल्टीकल्चरल सिटिजनशिप. ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।*
5. *फुकुयामा, एफ. (2018). आइडेंटिटी: द डिमांड फॉर डिग्निटी एंड द पॉलिटिक्स ऑफ रिसेंटमेंट. न्यूयॉर्क: फरार, स्ट्रॉस एंड गिरॉक्स।*
6. *होनेथ, ए. (1995). द स्ट्रगल फॉर रिकग्निशन. कैम्ब्रिज: पॉलिटी प्रेस।*
7. *नुसबाउम, एम. (2011). क्रिएटिंग कैपेबिलिटीज. कैम्ब्रिज, एम.ए.: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।*
8. *हैबरमास, जे. (1996). बिटवीन फैक्ट्स एंड नॉर्म्स. कैम्ब्रिज: पॉलिटी प्रेस।*
9. *गेलनर, ई. (1983). नेशंस एंड नेशनलिज़्म. ऑक्सफोर्ड: ब्लैकवेल।*
10. *एंडरसन, बी. (1983). इमैजिन्ड कम्युनिटीज. लंदन: वर्सो।*
11. *यंग, आई. एम. (1990). जस्टिस एंड द पॉलिटिक्स ऑफ डिफरेंस. प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।*
12. *फ्रेजर, एन. (2003). रीडिस्ट्रिब्यूशन ऑर रिकग्निशन?. लंदन: वर्सो।*
13. *पारेख, बी. (2000). रीथिंकिंग मल्टीकल्चरलिज़्म. लंदन: पालग्रेव।*
14. *हंटिंगटन, एस. पी. (1996). द क्लैश ऑफ सिविलाइज़ेशंस एंड द रीमेकिंग ऑफ वर्ल्ड ऑर्डर. न्यूयॉर्क: साइमन एंड शुस्टर।*
15. *हक़, एम. उ. (1995). रिफ्लेक्शंस ऑन ह्यूमन डेवलपमेंट. न्यूयॉर्क: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।*
16. *रोस्टो, डब्ल्यू. डब्ल्यू. (1960). द स्टेजेस ऑफ इकोनॉमिक ग्रोथ. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।*
17. *एस्कोबार, ए. (1995). एन्काउंटरिंग डेवलपमेंट. प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।*
18. *चटर्जी, पी. (1993). द नेशन एंड इट्स फ्रैगमेंट्स. प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।*
19. *गुहा, आर. (2007). इंडिया आफ्टर गांधी. नई दिल्ली: पिकाडोर इंडिया।*

20. कविराज, एस. (2010). द इमैजिनरी इंस्टिट्यूशन ऑफ इंडिया. न्यूयॉर्क: कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस।
21. कोहली, ए. (2004). स्टेट-डायरेक्टेड डेवलपमेंट. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
22. रुडोल्फ, एल. आई., एवं रुडोल्फ, एस. एच. (1987). इन पर्स्यूट ऑफ लक्ष्मी. शिकागो: यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।
23. यादव, वाई. (1999). इलेक्ट्रोरल पॉलिटिक्स इन द टाइम ऑफ चेंज. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली।
24. जाफ़्रेलोट, सी. (2003). इंडिया 'ज़ साइलेंट रेवोल्यूशन. नई दिल्ली: परमानेंट ब्लैक।
25. हसन, ज़. (2011). पॉलिटिक्स ऑफ इन्क्लूज़न. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
26. भार्गव, आर. (2008). पॉलिटिकल थ्योरी: एन इंट्रोडक्शन. नई दिल्ली: पियरसन।
27. देसाई, ए. आर. (1966). सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज़्म. मुंबई: पॉपुलर प्रकाशन।
28. ड्रेज़, जे., एवं सेन, ए. (2013). एन अनसर्टेन ग्लोरी: इंडिया एंड इट्स कॉन्ट्राडिक्शंस. प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
29. बैनर्जी, ए. वी., एवं डुफ्लो, ई. (2011). पुअर इकोनॉमिक्स. न्यूयॉर्क: पब्लिक अफेयर्स।
30. वर्ष्णेय, ए. (2002). एथनिक कॉन्फ्लिक्ट एंड सिविक लाइफ. न्यू हेवन: येल यूनिवर्सिटी प्रेस।
31. लिज़हार्ट, ए. (1977). डेमोक्रेसी इन प्लुरल सोसाइटीज़. न्यू हेवन: येल यूनिवर्सिटी प्रेस।
32. अप्पादुरई, ए. (1996). मॉडर्निटी एट लार्ज. मिनियापोलिस: यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि और शैक्षिक आकांक्षाओं का अध्ययन

डॉ.पूजा कुमारी शाह
सहायक प्राध्यापिका
कृष्णा कॉलेज ऑफ टीचर्स एजुकेशन,
नगवा, नौबतपुर ,पटना, बिहार

डॉ.हेमचंद्र लक्ष्मणराव ससाने
सहायक आचार्य
(शिक्षा विभाग, शिक्षा विद्यापीठ) महात्मा
गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

शोध सारांश

यह शोध माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि एवं शैक्षिक आकांक्षा के अध्ययन पर आधारित है। अध्ययन में शिक्षा को व्यक्तित्व विकास, चरित्र निर्माण तथा आध्यात्मिक उन्नति की प्रक्रिया माना गया है। वर्तमान संदर्भ में दृष्टिबाधित विद्यार्थियों के लिए समावेशी एवं सुलभ शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया गया है, क्योंकि वैश्विक स्तर पर दृष्टिबाधित जनसंख्या की संख्या अधिक है (World Health Organization)। अध्ययन में आध्यात्मिक बुद्धि की अवधारणा को विशेष महत्व दिया गया, जिसे Danah Zohar ने मानवीय चेतना के उच्च स्तर के रूप में प्रस्तुत किया है, तथा समावेशी शिक्षा के संदर्भ में National Education Policy 2020 के उद्देश्यों से भी जोड़ा गया है। शोध में 250 दृष्टिबाधित विद्यार्थियों एवं 50 शिक्षकों को प्रतिदर्श के रूप में लेकर सर्वेक्षणात्मक एवं मिश्रित शोध पद्धति का प्रयोग किया गया। परिणामों से ज्ञात हुआ कि दृष्टिबाधित विद्यार्थियों में आध्यात्मिक बुद्धि एवं शैक्षिक आकांक्षा का स्तर सामान्यतः सकारात्मक है, विशेषकर बालिकाओं में आध्यात्मिक बुद्धि अधिक पाई गई, जबकि कुछ विद्यार्थियों में शैक्षिक प्रेरणा की कमी देखी गई। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि दृष्टिबाधित विद्यार्थियों के समग्र विकास हेतु समावेशी शिक्षा, मूल्य शिक्षा, आध्यात्मिक विकास कार्यक्रम तथा अनुकूल शिक्षण वातावरण आवश्यक हैं, जिससे उनके शैक्षिक, सामाजिक एवं आत्मिक विकास को सुदृढ़ किया जा सके।

प्रस्तावना

शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान का संप्रेषण नहीं है, बल्कि यह चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व-विकास की एक गहन प्रक्रिया है। जहाँ चरित्र-निर्माण एक निरंतर आत्मिक साधना है, वहीं व्यक्तित्व-विकास एक आध्यात्मिक यात्रा के रूप में देखा जाता है। बालक एक बोतल नहीं है जिसमें जानकारी भर दें और उस पर ढक्कन लगा दें। बालक एक आध्यात्मिक प्राणी है। उसके अंदर की ऊर्जा तथा आध्यात्मिकता को प्रगट करने के अवसर प्रदान करना ही शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा का स्वरूप अखंड, निरंतर और सार्वभौमिक माना गया है। यह मनुष्य को "अहम् से त्वम्" और "वयम् से सर्वम्" तक की सप्तपदी यात्रा पर ले जाती है, जहाँ वह स्वयं की सीमाओं से निकलकर समष्टिगत चेतना से एकाकार होता शिक्षा के प्रभाव से विद्यार्थी अपने भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के प्रति अनुकूलन की क्षमता विकसित करते हैं तथा इसके प्रभाव स्वरूप उनका समग्र विकास संभव हो पाता है। वर्तमान आंकड़ों के अनुसार दुनिया में लगभग 3.5 करोड़ दृष्टिहीन व्यक्ति हैं जिनमें से लगभग एक तिहाई अर्थात् 1.20 करोड़ भारत में निवास करते हैं। यह आंकड़ा दर्शाता है की भारत विश्व में दृष्टिबाधित जनसंख्या के दृष्टिकोण से सर्वाधिक प्रभावित देशों में से एक है। भारत के विभिन्न राज्यों में, उत्तर प्रदेश दृष्टिबाधित जनसंख्या की दृष्टि से सबसे आगे है जहां लगभग 15 लाख दृष्टिबाधित व्यक्ति निवास करते हैं। इन तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा को दृष्टिबाधित व्यक्तियों के लिए एक सशक्तिकरण के साधन के रूप में विकसित करना अनिवार्य है। उनके लिए समावेशी, सुलभ एवं विशेष शिक्षण विधियों को अपनाना समय की माँग है।

माध्यमिक शिक्षा, दृष्टिबाधित विद्यार्थी एवं आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता: एक समग्र दृष्टिकोण

माध्यमिक शिक्षा किसी भी राष्ट्र के शैक्षिक ढांचे का अत्यंत महत्वपूर्ण सोपान है, इसका उद्देश्य छात्रों का सर्वांगीण विकास कर उन्हें आधुनिक परिवेश में समुचित स्थान प्रदान करना होता है। दृष्टिबाधित वे विद्यार्थी होते हैं जो सामान्य रूप से देखने में अक्षम होते हैं। इनमें कुछ छात्र बड़े छापे (large print) में पढ़ने में सक्षम होते हैं और सामान्य विद्यालयी वातावरण में शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, जबकि अन्य गंभीर रूप से दृष्टिबाधित होते हैं और जिन्हें दृश्य विधियों (visual methods) से शिक्षित नहीं किया जा सकता। इनकी देखने की क्षमता को मापने हेतु सामान्यतः स्नेलन चार्ट का उपयोग किया जाता है। इस संदर्भ में "आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता" (Spiritual Intelligence) की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है। विभिन्न विद्वानों ने इस शब्द को परिभाषित किया है। दानाह ज़ोहर ने 1997 में अपनी पुस्तक *Rewiring the Corporate Brain* में "Spiritual Intelligence" शब्द को प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने इसे मानवीय चेतना के एक उच्चतम स्तर के रूप में रेखांकित किया।

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

शोध का महत्व / शोध की प्रासंगिकता

1. यह शोध दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि और शैक्षिक उपलब्धियों को समझने में सहायक होगा, जिससे अध्यापक उन्हें पढ़ाते समय उनकी अंतर्निहित क्षमताओं को जाग्रत कर सकेंगे।
2. समावेशी शिक्षा व्यवस्था में आध्यात्मिक बुद्धि के विकास को शामिल करने हेतु यह शोध सैद्धांतिक व व्यावहारिक समर्थन प्रदान करता है।
3. यह शोध सरकारी विद्यालयों, दृष्टिबाधित संस्थानों एवं स्वयंसेवी संगठनों को प्रेरित करेगा कि वे दृष्टिबाधित छात्रों पर विशेष ध्यान देते हुए अनुकूल शैक्षिक माहौल विकसित कर सकें।

शोध का औचित्य (Justification of the Study)

शिक्षा के क्षेत्र में विविध आयामों को ध्यान में रखते हुए निरंतर अनुसंधान किए जा रहे हैं। *सर्वशिक्षा अभियान*, *विशेष शिक्षा* तथा *समावेशी शिक्षा* जैसी अवधारणाओं के व्यापक प्रसार के पश्चात् शैक्षिक अनुसंधान की दिशा में विशेष आवश्यकता उत्पन्न हुई है। समावेशी शिक्षा वह अवधारणा है जिसमें ऐसे विद्यार्थियों को मुख्यधारा की शिक्षा से जोड़ा जाता है जिनमें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक अथवा अन्य किसी भी प्रकार की विशिष्ट आवश्यकताएँ होती हैं। इनमें दृष्टिबाधित विद्यार्थी भी प्रमुख रूप से सम्मिलित हैं जिनके लिए शिक्षा की प्रक्रिया अधिक संवेदनशील एवं सुसंवेदित बनाना आवश्यक हो जाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार *वैश्विक स्तर पर लगभग 9.4 मिलियन दृष्टिबाधित व्यक्ति* हैं। वहीं भारत सरकार की जनगणना 2011 के आंकड़ों के अनुसार, भारत में दृष्टिबाधितों की शैक्षिक स्थिति निम्नानुसार है:

भारत में दृष्टिबाधितों की शैक्षिक स्थिति, जनगणना 2011 के आंकड़ों के अनुसार

शैक्षिक स्तर	दृष्टिबाधितों की संख्या	पुरुष	महिला
अशिक्षित	1,21,96,641	65,56,401	56,40,240
शिक्षित	1,46,18,353	57,70,700	93,48,353
माध्यमिक स्तर	34,48,650	11,18,570	23,30,080

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की साक्षरता दर में सुधार की आवश्यकता है। विशेषकर *माध्यमिक स्तर* पर इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। अतः इस जनसंख्या पर केंद्रित शोध कार्य न केवल सामाजिक दृष्टिकोण से आवश्यक है अपितु शैक्षिक दृष्टिकोण से भी अत्यंत प्रासंगिक है।

शोधकर्ता के अनुभव में यह तथ्य आया कि अधिकांश दृष्टिबाधित छात्र आंतरिक रूप से आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले होते हैं। ऐसे में *आध्यात्मिक बुद्धि* जैसे महत्वपूर्ण आयाम को उनकी *शैक्षिक आकांक्षाओं* से जोड़कर विश्लेषित करना एक नवीन प्रयास है।

इस दिशा में किए गए पूर्व शोधों में –

- **बारिक (2021)** ने शिक्षकों की आत्मसामर्थ्य एवं नियंत्रण संस्कृति का अध्ययन आध्यात्मिक बुद्धि के संदर्भ में किया,
- **नारायण (2017)** ने उच्च एवं निम्न शैक्षिक उपलब्धि वाले विद्यार्थियों की आकांक्षा का तुलनात्मक अध्ययन किया,
- **गौतम, अमित एवं एन.पी.एस. चन्देल (2016)** ने शैक्षिक उपलब्धि एवं शैक्षिक आकांक्षा का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया,
- **कुमार एवं सिंह (2017)** ने दृष्टिबाधित व दृष्टिवान विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य का तुलनात्मक अध्ययन किया। किन्तु अब तक ऐसे कोई जायदा शोध उपलब्ध नहीं है जिसमें **दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि तथा शैक्षिक आकांक्षा** को एक साथ संबोधित किया गया हो। अतः प्रस्तुत शोध का औचित्य इस दृष्टि नवीनता, प्रासंगिकता तथा सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकता में निहित है।

शोध समस्या (Research Problem Statement):

" दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि और शैक्षिक आकांक्षाओं का अध्ययन।"

शोध उद्देश्य

1. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि का अध्ययन करना ।
2. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित बालिकाओं की आध्यात्मिक बुद्धि का अध्ययन करना ।
3. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित बालकों की आध्यात्मिक बुद्धि का अध्ययन करना।

4. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित बालक और बालिकाओं की आध्यात्मिक बुद्धि में अंतर का अध्ययन करना।
5. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षा का अध्ययन करना
6. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित बालिकाओं की शैक्षिक आकांक्षा का अध्ययन करना।
7. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित बालकों की शैक्षिक आकांक्षा का अध्ययन करना।
8. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित बालक और बालिकाओं की शैक्षिक आकांक्षा में अंतर का अध्ययन करना।
9. माध्यमिक स्तर पर अ अध्ययनरत दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि और शैक्षिक आकांक्षा में सहसंबंध का अध्ययन करना।
10. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित बालिकाओं की आध्यात्मिक बुद्धि और शैक्षिक आकांक्षा में सहसंबंध का अध्ययन करना।
11. माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत दृष्टिबाधित बालकों की आध्यात्मिक बुद्धि और शैक्षिक आकांक्षा में सहसंबंध का अध्ययन करना।

प्रतिदर्श (Sample):

प्रस्तुत अध्ययन में शोध समस्या की प्रकृति एवं अनुसंधान प्रविधि को ध्यान में रखते हुए असंभाव्यता प्रतिदर्शीकरण (Non-Probability Sampling) सौद्देश्य प्रतिदर्श विधि (Purposive Sampling Method) का प्रयोग किया गया है। इस विधि के माध्यम से दिल्ली राज्य में स्थित 13 चयनित विद्यालयों एवं संस्थानों को शोध हेतु उपयुक्त मानते हुए चयनित किया गया है।

प्रस्तुत शोध में प्रतिदर्श की संख्या निम्नानुसार है –

- **कक्षा 6 से 12 तक के कुल 250 दृष्टिबाधित विद्यार्थी** एवं **50 शिक्षक**, जिनमें सामान्य विद्यालयों एवं दृष्टिबाधित विद्यालयों के शिक्षक सम्मिलित हैं, जिनको प्रतिदर्श के रुप में शोध सम्मिलित किया गया।

चयनित दृष्टिबाधित विद्यार्थियों का विवरण

आध्यात्मिक बुद्धि निर्धारण मापनी		शैक्षिक आकांक्षा निर्धारण मापनी	
बालक	बालिका	बालक	बालिका
166	84	166	84
चयनित दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की संख्यां कुल 250 =			

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

चयनित शिक्षकों का विवरण

सामान्य शिक्षक		दृष्टिबाधित शिक्षक	
महिला	पुरुष	महिला	पुरुष
18	12	5	15
30		20	
चयनित शिक्षकों की संख्यां कुल= 50			

शोध उपकरण एवं तकनीकियाँ

प्रस्तुत शोध में अनुसंधान हेतु शोधार्थी द्वारा आध्यात्मिक बुद्धि के विभिन्न आयामों के आधार पर स्वनिर्मित प्रश्नावली मापनी का निर्माण किया गया है। इस मापनी की दृश्य वैधता (Face Validity), सामग्री वैधता (Content Validity) तथा अर्ध-विभाजित विश्वसनीयता (Split-Half Reliability) की जाँच की गई जिसका **परिणाम 0.846** आया था। जिनके उपरांत इस मापनी का प्रयोग शोध में किया गया है ।आकड़ों के संकलन हेतु मात्रात्मक (Quantitative) तथा गुणात्मक (Qualitative) दोनों प्रकार की विधियों का उपयोग किया गया। गुणात्मक विश्लेषण एवं पूरक जानकारी हेतु शोधार्थी द्वारा स्वनिर्मित साक्षात्कार अनुसूची का निर्माण एवं प्रयोग किया गया है शोध में विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षा के आकलन के लिए डॉ. वी. पी. शर्मा एवं डॉ. अनुराधा गुप्ता द्वारा निर्मित शैक्षिक आकांक्षा मापनी (प्रश्नावली) का प्रयोग किया गया। इस प्रकार, शोध में स्वनिर्मित एवं स्वीकृत दोनों प्रकार के उपकरणों का संतुलित उपयोग करते हुए तथ्यसंग्रहित एवं विश्लेषित किया गया है।

शोध प्रविधि (Research Methodology)

प्रस्तुत शोध में *सर्वेक्षणात्मक एवं वर्णनात्मक शोध प्रविधि* का प्रयोग किया गया है शोध की प्रकृति: शोध *वर्णनात्मक (Descriptive)* एवं *मिश्रित शोध उपागम (Mixed Method Approach)* पर आधारित है। इसमें मात्रात्मक (Quantitative) एवं गुणात्मक (Qualitative) दोनों प्रकार की जानकारी एकत्र कर उनका विश्लेषण किया गया है।

शोध का मूल ढांचा सर्वेक्षण विधि पर आधारित है एवं शोध में मिश्रित उपागम (Mixed Method – Convergent Parallel Design) को अपनाया गया है।

तथ्य संकलन एवं विश्लेषण हेतु मिश्रित विधि (Mixed Method) का अनुसरण करते हुए मात्रात्मक (Quantitative) तथा गुणात्मक (Qualitative) दोनों प्रकार के आँकड़ों का संकलन एवं विश्लेषण किया गया। शोध में प्रयुक्त उपकरण, विधियाँ तथा विश्लेषण प्रक्रिया आध्यात्मिक बुद्धि मापन हेतु स्वनिर्मित प्रश्नावली मापनी का प्रयोग 2) शैक्षिक आकांक्षा मापन हेतु मानकीकृत मापनी का प्रयोग 3) गुणात्मक विश्लेषण हेतु स्वनिर्मित साक्षात्कार प्रश्नावली का उपयोग किया गया है

तथ्य संकलन की विधि:- अध्ययन में 250 दृष्टिबाधित विद्यार्थियों से प्रश्नावली के माध्यम से उत्तर एकत्रित किए गए।

शिक्षक वर्ग से अर्ध-संरचित साक्षात्कार द्वारा तथ्यसंकलित किया गया। संकलन की प्रक्रिया शोध नैतिकता एवं गोपनीयता के सिद्धांतों के अनुसार की गई।

तथ्य विश्लेषण की प्रक्रिया:- मात्रात्मक आँकड़ों का विश्लेषण SPSS सॉफ्टवेयर की सहायता से किया गया।

विश्लेषण के लिए वर्णात्मक आँकड़े (Descriptive Statistics) जैसे Mean, SD, Median तथा inferential आँकड़े जैसे Z-test, t –test Correlation आदि का प्रयोग किया गया। गुणात्मक तथ्यका विषयगत वर्गीकरण (Categorical Thematic Classification) कर सारगर्भित निष्कर्ष निकाले गए।

शोध की सीमाएँ

1. **क्षेत्रीय सीमा**: प्रस्तुत शोध का दायरा केवल *शहरी क्षेत्र* तक सीमित रहा है। अध्ययन में उन्हीं दृष्टिबाधित विद्यार्थियों को सम्मिलित किया गया है जो शहरी क्षेत्रों के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत हैं। जबकि यदि ग्रामीण क्षेत्रों के दृष्टिबाधित विद्यालयों को भी शामिल किया गया होता, तो शोध के निष्कर्ष और अधिक व्यापक, विविध और तुलनात्मक हो सकते थे।
2. **शैक्षिक स्तर की सीमा**: शोध में केवल *माध्यमिक स्तर* (कक्षा 6 से 10) के दृष्टिबाधित विद्यार्थियों को अध्ययन की इकाई बनाया गया है। यद्यपि शोध की विषयवस्तु ऐसी है कि इसमें *प्राथमिक विद्यालयों* (कक्षा 1 से 5) तथा *महाविद्यालयों* (कॉलेज स्तर) के दृष्टिबाधित विद्यार्थियों को भी सम्मिलित किया जा सकता था, जिससे विभिन्न आयु-वर्गों और शैक्षिक स्तरों पर आध्यात्मिक बुद्धि और शैक्षिक आकांक्षाओं में अंतर की समग्र समझ प्राप्त की जा सकती थी।
3. **नमूना चयन की सीमा**: इस शोध में केवल दृष्टिबाधित विद्यार्थियों को ही शामिल किया गया है। जबकि, यदि *सामान्य (दृष्टिसम्पन्न) छात्रों* को भी तुलनात्मक समूह के रूप में शामिल किया जाता,

तो शोध अधिक विश्लेषणपरक बन सकता था। इससे यह भी ज्ञात किया जा सकता था कि दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि और शैक्षिक आकांक्षाएँ सामान्य छात्रों से किस प्रकार भिन्न या समान है।

निष्कर्ष:

- **उद्देश्यों के आधार पर निष्कर्ष:** उपरोक्त निष्कर्ष यह इंगित करते हैं कि दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि एवं शैक्षिक आकांक्षा, दोनों महत्त्वपूर्ण किन्तु परस्पर स्वतंत्र घटक हैं। इन्हें विकसित करने हेतु पृथक एवं लक्षित रणनीतियाँ आवश्यक हैं। विशेषकर दृष्टिबाधित बालिकाओं में आध्यात्मिक क्षमता अधिक सशक्त दिखाई दी, जबकि शैक्षिक आकांक्षा अपेक्षाकृत सीमित रही। अतः समावेशी शिक्षा प्रणाली में दोनों पक्षों को समुचित महत्व देते हुए समग्र विकास की दिशा में कार्य किया जाना अपेक्षित है।
- **कथनों पर आधारित निष्कर्षों :**कथनों पर आधारित निष्कर्षों से यह स्पष्ट होता है कि दृष्टिबाधित विद्यार्थियों में आध्यात्मिक बुद्धि के विविध घटक— जैसे करुणा, आत्मचेतना, धार्मिक विश्वास, नैतिकता, सहानुभूति और सेवा भावना— पर्याप्त रूप से विकसित हैं। हालांकि, कुछ क्षेत्रों में जैसे ध्यानशीलता, आंतरिक संतुलन, वैचारिक स्पष्टता, लक्ष्य निर्धारण और धार्मिक पुस्तक पठन, अपेक्षित सुधार एवं प्रेरणा की आवश्यकता है।
- **शिक्षकों के साक्षात्कार के आधार पर निष्कर्ष :** शिक्षकों के साक्षात्कार से यह स्पष्ट होता है कि दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की शिक्षा केवल बौद्धिक विकास तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें आध्यात्मिकता, नैतिकता, आत्मबोध और जीवन कौशल का समन्वय आवश्यक रूप से किया जा रहा है।
- **शैक्षिक निहितार्थ (Educational Implications) निष्कर्षत**: यह शोध अध्ययन स्पष्ट करता है कि दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की अध्यात्मिकता, शैक्षिक आकांक्षा, और सामाजिक संवेदना को एकीकृत करता है । यदि शिक्षा प्रणाली को नवाचारी, समावेशी और संवेदनशील बनाया जाए, तो यह शिक्षा न केवल सूचना का हस्तांतरण होगी, बल्कि एक जीवन निर्माण की प्रक्रिया के रूप में विकसित होगी।

सुझाव:

निम्नलिखित विभिन्न क्रिया-कलापों के माध्यम से दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की आध्यात्मिक बुद्धि का विकास एवं शैक्षिक आकांक्षा स्तर में वृद्धि हो सकती है

1. **परामर्श और मार्गदर्शन:**असहमत व अनिश्चित समूह को व्यक्तिगत रूप से मार्गदर्शन देकर निर्णय क्षमता सशक्त किया जा सकती है। जो दृष्टिबाधित विद्यार्थी असहमत हैं, उन्हें भावनात्मक और मानसिक सहयोग हेतु काउंसलर या अध्यात्मिक गाइड से जोड़ना चाहिए।
2. **ध्यान और योग सत्र:**दृष्टिबाधित विद्यार्थियों के लिए ध्यान, प्राणायाम और आध्यात्मिक जागरूकता बढ़ाने वाले सत्र आयोजित किए जाएं।
3. **ऑडियो बुक्स और ब्रेल साहित्य की उपलब्धता बढ़ाना:**दृष्टिबाधित छात्रों के लिए आध्यात्मिक विषयों की किताबें ब्रेल व ऑडियो फॉर्मेट में उपलब्ध कराई जाएं।
4. **लाइफ स्किल आधारित शिक्षा सत्र:**– जिसमें *आत्मजागरूकता-, उद्देश्य निर्धारण,* और *मूल्य आधारित जीवन* सिखाया जाए।

संदर्भ सूची

1. *अनवर. (2024). समावेशी शिक्षा की अद्भुत परम्पराएं. इंटरनेशनल जनरल फॉर मल्टीडिसीप्लिनरी रिसर्च(आईजेएफएमआर),6(5),1-24. https://www.ijfmr.com/researcpaper.php?id=27277*
2. *अली, एस. (2012). समावेशी विद्यालयों में दृष्टिबाधित विद्यार्थियों के अनुकूलन का अध्ययन (पी-एच.डी. शोध प्रबंध, जामिया मिलिया इस्लामिया .यूनिवर्सिटी (http://hdl.handle.net/10603/6502)*
3. *एस, लता एवं खत्री,एच. (2016). शिक्षा और समाज . नई दिल्ली, शिप्रा पब्लिशिंग*
4. *एनडीटीवी. (2024, 10 अप्रैल). दृष्टिबाधित छात्रा ने ऑडियो पुस्तकों की सहायता से SSC परीक्षा में सफलता प्राप्त की: एक प्रेरक कहानी।*
5. *https://www.ndtv.com/topic/visually-impaired-student*
6. *कश्यप, ए. (2022). विकलांग विमर्श विविध सोपान, नई दिल्ली, पंकज बुक्स प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 69,143,166,283,*
7. *कुलदीप, (2019). माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि अभिप्रेरणा का तुलनात्मक अध्ययन. इंटरनेशनल जनरल ऑफ अप्लाइड रिसर्च.5 (11).*
8. *कुमार, एस. (2023). माध्यमिक स्तर पर दृष्टिबाधित विद्यार्थियों की विज्ञान शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में सुधार आत्मक उपागम की प्रभाविता.*

9. *कुशवाहा, एस एस . एवं एम, देवी, (2015). आध्यात्मिक बुद्धि-प्रत्यय परीक्षण एवं विकास, एशियन जर्नल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च एंड टेक्नोलॉजी, 5(2).157-160.*
10. *कुमार, एस. (2008). विशिष्ट शिक्षा . नई दिल्ली, जानकी प्रकाशन*
11. *कुमार, एन. (2016). विशिष्ट शिक्षा,नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस*
12. *कुमार एवं सिंह. (2017). दृष्टिबाधित और दृष्टिवान विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थय का तुलान्तमक अध्ययन*
13. *गर्ग, एस (2005). भारतीय आधुनिक शिक्षा, नई दिल्ली, एनसीईआरटी।*
14. *गुप्ता. एस. एवं अग्रवाल, जे.सी. (2009), शिक्षण अधिगम प्रक्रिया एवं विशिष्ट आवश्यकताओं वाले अधिगमकर्ता. नई दिल्ली. शिप्रा पब्लिकेशन।*
15. *गुप्ता, एस. (2020). अनुसन्धान संदर्शिका-संप्रत्यय कार्यविधि एवं प्रविधि, प्रयागराज शारदा पुस्तक भवन*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

जननायक कर्पूरी ठाकुर
सामाजिक न्याय की राजनीति का शिल्पकार

डॉ. गणेश कुमार कोशले
(अतिथि व्याख्याता)
डॉ भंवर सिंह पोर्ते शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय पेंड्रा जिला गौरेला पेंड्रा मरवाही (छ ग)

भूमिका

जननायक कर्पूरी ठाकुर भारतीय राजनीति में सामाजिक न्याय, समानता और जनकल्याण के सशक्त प्रतीक थे। वे स्वतंत्रता संग्राम सेनानी, बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री तथा समाजवाद की विचारधारा के प्रखर प्रतिनिधि रहे। उनका संपूर्ण जीवन सदियों से शोषित, पीड़ित, दलित, पिछड़े और वंचित वर्गों में राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना जगाने को समर्पित था। उन्होंने न केवल इन वर्गों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक किया, बल्कि उन्हें अपने सामर्थ्य और शक्ति का भी बोध कराया।

सत्ता के आकर्षण और वैभव से दूर रहकर कर्पूरी ठाकुर ने सादगी, सरलता और निष्ठा को अपना जीवन मूल्य बनाया। आज के समय में राजनीति में मूल्यहीनता, अवसरवादिता और सत्ता-लिप्सा हावी दिखाई देती है, तब कर्पूरी ठाकुर का व्यक्तित्व और अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है। वे इस बात का प्रमाण थे कि लोकतंत्र केवल संपन्न और प्रभावशाली लोगों का खेल नहीं है, बल्कि निर्धन और साधारण व्यक्ति भी जनता के बल पर सत्ता तक पहुँच सकता है और लोकहित में कठोर निर्णय ले सकता है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि जनता के बीच से निकला नेतृत्व ही जनता की पीड़ा को सही अर्थों में समझ सकता है।

'भारत रत्न' से सम्मानित कर्पूरी ठाकुर संघर्षों की भूमि से उभरे नेता थे। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान उन्होंने अंग्रेजी शासन का विरोध किया और स्वतंत्रता के बाद देश की असमानतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। उनका मानना था कि भारत की सामाजिक संरचना में निहित भेदभावपूर्ण परंपराएँ और रूढ़ियाँ ही मानव गरिमा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा हैं। इसलिए उनका अंतिम लक्ष्य केवल राजनीतिक सत्ता नहीं, बल्कि समानता पर आधारित मानवीय समाज की स्थापना था।

अपने पूरे जीवन में उन्होंने जातिगत अपमान और सामाजिक तिरस्कार सहा, यहाँ तक कि मुख्यमंत्री पद पर रहते हुए भी उन्हें जाति के आधार पर अपमानित किया गया। उनके विरुद्ध जाति-आधारित नारे गढ़े गए, किंतु उन्होंने कभी प्रतिशोध की राजनीति नहीं अपनाई। वे अपमान का घूंट पीकर भी जनहितकारी नीतियों पर अडिग रहे और उन्हें दृढ़ता से लागू किया।

कर्पूरी ठाकुर केवल एक राजनेता नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के अग्रदूत थे। उनका जीवन संघर्ष, सादगी और समानता के मूल्यों की जीवंत मिसाल है, जो आज भी लोकतंत्र और सामाजिक न्याय के मार्ग को आलोकित करता है।

जीवन परिचय

जननायक कर्पूरी ठाकुर का जन्म 24 जनवरी 1924 को बिहार के समस्तीपुर जिले के इस्माइल नगर उर्फ पितौंझिया (वर्तमान में कर्पूरी ग्राम) में हुआ। उनका बचपन गहरी सामाजिक विषमता और आर्थिक अभावों के बीच बीता। प्रारंभिक शिक्षा के दौरान उन्हें जातिगत भेदभाव का सामना करना पड़ा। गाँव के एक शिक्षक ने सवर्ण बच्चों के साथ उन्हें बैठाने से इनकार कर दिया और कुछ दूरी पर बैठकर पढ़ने को कहा, ताकि यह प्रकट न हो कि वह नाई जाति के बालक को पढ़ा रहा है। इस घटना ने उनके बालमन पर गहरा प्रभाव डाला और सामाजिक अन्याय के प्रति उनकी चेतना को जाग्रत किया।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा पितौंझिया प्राथमिक विद्यालय में हुई। माध्यमिक शिक्षा ताजपुर मिडिल इंग्लिश स्कूल तथा तिरहुत अकादमी, समस्तीपुर से प्राप्त की। उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने चंद्रधारी मिथिला कॉलेज, दरभंगा में प्रवेश लिया और बी.ए. तृतीय वर्ष तक अध्ययन किया। उस समय जाति व्यवस्था अपने चरम पर थी। न तो उन्हें सामाजिक समानता का अधिकार प्राप्त था और न ही उन्हें उच्च जातियों में स्थान मिला था। उनके पिता गोखुल ठाकुर निर्धन थे और पारिवारिक जीविका गाँव में हजामत बनाने के कार्य से चलती थी।

विद्यालय और महाविद्यालय जीवन में कर्पूरी ठाकुर को अनेक बार अपमानजनक व्यवहार सहना पड़ा। 1938 में मात्र 14 वर्ष की आयु में उन्होंने प्रथम श्रेणी से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। उत्साहित होकर उनके पिता उन्हें गाँव के एक जमींदार के पास ले गए, यह आशा लेकर कि वह उनके पुत्र को प्रोत्साहित करेगा। किंतु जमींदार ने उलटे यह कह दिया—"बहुत अच्छा, अब आओ हमारा पैर दबा दो।" यह घटना सामाजिक व्यवस्था की क्रूरता का प्रतीक थी।

कर्पूरी ठाकुर इस तथ्य के जीवंत उदाहरण थे कि किसी जाति की सामाजिक स्थिति से उसकी बौद्धिक क्षमता का आकलन नहीं किया जा सकता। इतिहास में भी कई शूद्र वर्गों ने शासन किया है। आगे चलकर उन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और दूरदर्शिता से अल्प कार्यकाल में बड़े निर्णय लेकर इस

धारणा को गलत सिद्ध किया। युवावस्था में ही वे स्थानीय युवा संस्था और पुस्तकालय संचालन में सक्रिय हो गए।

भारत छोड़ो आंदोलन में सक्रिय भागीदारी के कारण उन्होंने स्नातक की पढ़ाई छोड़ दी। इसी दौरान उनका संपर्क जयप्रकाश नारायण से हुआ और वे स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। इस संघर्ष के कारण उन्हें 26 महीने जेल में बिताने पड़े। समाजवादी धारा में डॉ. राममनोहर लोहिया के बाद जिन नेताओं की सर्वाधिक चर्चा होती है, उनमें कर्पूरी ठाकुर प्रमुख हैं। वे उस जनमानस का प्रतिनिधित्व करते थे जो जातीय वर्चस्व के कारण अपने अधिकारों से वंचित रहा। इसी दौर में उन्होंने एक प्रेरक रचना लिखी—

"हम सोए हुए वतन को जगाने चले हैं,
हम मुर्दा दिलों को जलाने चले हैं।
गरीबों को रोटी न देती हुकूमत,
हम जालिमों से लोहा बजाने चले हैं।"

राजनीतिक सफर

भारत छोड़ो आंदोलन के बाद उनका राजनीतिक जीवन निरंतर आगे बढ़ा। 1945-47 में वे दरभंगा जिला कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सचिव बने। 1948-52 में बिहार सोशलिस्ट पार्टी के सचिव तथा संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, बिहार के अध्यक्ष रहे। स्वतंत्रता के बाद कुछ समय तक उन्होंने अपने गाँव के स्कूल में शिक्षक के रूप में भी कार्य किया। 1952 के प्रथम आम चुनाव में वे समाजवादी पार्टी के उम्मीदवार के रूप में बिहार विधान सभा के सदस्य बने और जीवनपर्यंत विधायक रहे। वे विभिन्न समाजवादी दलों से जुड़े रहे, किंतु सदैव जनपक्षधर राजनीति के प्रतीक बने रहे। डॉ. लोहिया ने उनके बारे में कहा था—"काश हमारे पास कर्पूरी ठाकुर जैसे और नेता होते।"

स्वतंत्रता के बाद से ही कर्पूरी ठाकुर बिहार विधान सभा के सक्रिय सदस्य रहे। अपनी ओजस्वी वाणी, सूझ-बूझ और सादगीपूर्ण जीवन के कारण वे शीघ्र ही बिहार के जन-जन में लोकप्रिय हो गए। उनका ईमानदार व्यक्तित्व राजनीति में एक अलग पहचान बनाता था। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी के विलय के बाद वे डॉ. राममनोहर लोहिया के अत्यंत निकट आ गए। लोहिया का विशेष बल पिछड़ी जातियों में से नेतृत्व उभारने पर था, और इसी कारण कर्पूरी ठाकुर बिहार में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के सर्वमान्य नेता बनकर उभरे। उन्हें जयप्रकाश नारायण का भी समर्थन प्राप्त था।

1967 में वे बिहार सरकार में उपमुख्यमंत्री तथा शिक्षा एवं वित्त मंत्री बने। शिक्षा मंत्री के रूप में उनका सबसे महत्वपूर्ण निर्णय मैट्रिक परीक्षा में अंग्रेजी विषय को अनिवार्य न रखने का था। ग्रामीण और गरीब परिवारों के विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी पढ़ना कठिन था, जिसके कारण बड़ी संख्या में छात्र

बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते थे। इस बाध्यता को समाप्त कर उन्होंने उच्च शिक्षा के द्वार ग्रामीण युवाओं के लिए खोल दिए।

1967 के चुनाव में कांग्रेस पराजित हुई और गैर-कांग्रेसी दलों का संयुक्त विधायक दल सत्ता में आया। विधायक दल के नेता के रूप में कर्पूरी ठाकुर का चयन लगभग तय माना जा रहा था, किंतु एक नाई जाति के व्यक्ति का मुख्यमंत्री बनना कुछ शक्तिशाली वर्गों को स्वीकार्य नहीं था। परिणामस्वरूप जन क्रांति दल के महामाया प्रसाद सिन्हा को मुख्यमंत्री बनाया गया और कर्पूरी ठाकुर को उपमुख्यमंत्री पद से संतोष करना पड़ा।

यह व्यवस्था समाजवादी सिद्धांतों के विरुद्ध थी, क्योंकि मंत्रिमंडल में पिछड़ी जातियों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं था। इसी मुद्दे पर जगदेव प्रसाद ने सरकार से समर्थन वापस लिया। बाद में सतीश प्रसाद सिंह कार्यवाहक मुख्यमंत्री बने और फिर वी. पी. मंडल मुख्यमंत्री बने। यह दौर पिछड़ी जातियों के नेताओं के उदय के साथ-साथ उनके बीच अधिकार प्राप्ति की रणनीति को लेकर मतभेद का भी था।

1970 में दरोगा प्रसाद राय के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार गिरने के बाद कर्पूरी ठाकुर पहली बार बिहार के मुख्यमंत्री बने। अपने इस अल्पकालिक कार्यकाल में उन्होंने नदी पार करने पर लगने वाला कर समाप्त कर दिया, जो पुराने समय से प्रचलित था। यह निर्णय आम जनता, विशेषकर ग्रामीण और गरीब वर्गों के लिए बड़ी राहत लेकर आया।

उत्तर भारत में पिछड़ों को आरक्षण

कर्पूरी ठाकुर 1977 से 1979 तक दूसरी बार बिहार के मुख्यमंत्री बने। यह वही कालखंड था जब उत्तर भारत की राजनीति में पिछड़े वर्गों के अधिकार का प्रश्न निर्णायक रूप से सामने आया। उनकी राजनीतिक सरपरस्ती और नैतिक समर्थन ने जगदेव प्रसाद जैसे संघर्षशील नेताओं का मनोबल बढ़ाया। मुख्यमंत्री रहते हुए उन्होंने मुंगेरी लाल आयोग की रिपोर्ट को लागू किया, जिसका संशोधित स्वरूप आगे चलकर मंडल आयोग की रिपोर्ट में भी परिलक्षित हुआ। दुर्भाग्यवश, मंडल आयोग की संपूर्ण अनुशंसाएँ आज भी पूर्णतः लागू नहीं हो सकीं। इस ऐतिहासिक प्रयास को उपहास का विषय बनाने के लिए तथाकथित सभ्य समाज द्वारा "मुंगेरी लाल के हसीन सपने" जैसे व्यंग्य गढ़े गए, जो सामाजिक न्याय के संघर्ष का उपहास थे।

कर्पूरी ठाकुर ने मुंगेरी लाल आयोग की संस्तुतियों के आधार पर सरकारी नौकरियों में आरक्षण लागू किया, जिसे आगे चलकर "कर्पूरी फार्मूला" के नाम से जाना गया। यद्यपि उस समय इस फार्मूले को पूर्णतः संतोषजनक नहीं माना गया, फिर भी यह ऐतिहासिक था क्योंकि हिंदी पट्टी में पहली बार किसी राज्य ने पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया। विशेष रूप से अति पिछड़ी जातियों

के लिए पृथक उप-कोटा निर्धारित करना सामाजिक न्याय की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम था। कुछ समाजवादी नेताओं ने इसे "जयप्रकाश फार्मूला" कहकर आलोचना की, पर वस्तुतः यह कर्पूरी ठाकुर की स्वतंत्र और व्यावहारिक सोच का परिणाम था।

24 जून 1977 को मुख्यमंत्री बनने के बाद उन्होंने समस्तीपुर लोकसभा सीट से इस्तीफा दे दिया। 1978 के उपचुनाव में प्रचार के लिए चौधरी चरण सिंह स्वयं समस्तीपुर आए। उस चुनाव में जनता पार्टी के उम्मीदवार अजीत कुमार मेहता और कांग्रेस के उम्मीदवार के. के. मंडल थे। जातीय समीकरणों के आधार पर कांग्रेस ने के. के. मंडल को प्रत्याशी बनाया था। एक सभा में चौधरी चरण सिंह ने कहा कि "मैं भी यादव हूँ, यादव मेरा ही समर्थन करेंगे।" इस कथन का प्रभाव यह हुआ कि यादव मतदाता कांग्रेस और जनता पार्टी, दोनों में विभाजित हो गए और अंततः कांग्रेस प्रत्याशी की हार हुई। इसी सभा में कर्पूरी ठाकुर ने यह घोषणा की कि वे मुंगेरी लाल आयोग की रिपोर्ट के आधार पर आरक्षण लागू करेंगे। इस पर न केवल कांग्रेस, बल्कि कुछ समाजवादियों ने भी असहमति प्रकट की। अगले ही दिन जयप्रकाश नारायण ने कहा कि वे जाति के बजाय आर्थिक आधार पर आरक्षण के पक्षधर हैं।

कर्पूरी ठाकुर ने जो आरक्षण व्यवस्था लागू की, वह न तो पूरी तरह मुंगेरी लाल आयोग की थी और न ही जयप्रकाश नारायण की अवधारणा पर आधारित थी, बल्कि वह विशुद्ध रूप से "कर्पूरी फार्मूला" था। 1978 में उन्होंने अति पिछड़ी जातियों के लिए 12 प्रतिशत, पिछड़ी जातियों के लिए 8 प्रतिशत, महिलाओं के लिए 3 प्रतिशत तथा गरीब सवर्णों के लिए भी 3 प्रतिशत आरक्षण लागू किया। यह सामाजिक संतुलन साधने का साहसिक प्रयास था।

अपने कार्यकाल में उन्होंने बिहार में शराबबंदी लागू की और पिछड़े इलाकों में अनेक स्कूल एवं कॉलेज स्थापित किए। सिंचाई विभाग में भर्ती के लिए एक ही दिन गांधी मैदान में शिविर लगाकर लगभग 6000 युवकों को नियुक्ति पत्र प्रदान किए। दलितों पर हो रहे अत्याचारों से व्यथित होकर उन्होंने 400 दोनाली बंदूकें खरीदकर दलित परिवारों में वितरित करने का आदेश दिया, ताकि वे आत्मरक्षा कर सकें। उन्होंने सरकारी कार्यालयों में हिंदी को अनिवार्य कर अंग्रेजी प्रशासनिक परंपरा को तोड़ने का कार्य भी किया।

कर्पूरी ठाकुर का व्यक्तित्व तेजस्वी, सरल और विवेकपूर्ण था। उन्होंने कभी अपने सार्वजनिक पद का उपयोग निजी हितों के लिए नहीं किया। उनका रहन-सहन अत्यंत सामान्य था। न उनके पास कोई कोठी थी, न गाड़ी। उनका पैतृक मकान जर्जर अवस्था में ही रहा। एक बार प्रधानमंत्री चौधरी चरण सिंह उनके घर गए, जहाँ नीची चौखट से टकराकर उनके सिर में चोट लग गई। चरण सिंह ने कहा—"कर्पूरी, इसे ऊँचा करवा लो।" कर्पूरी ठाकुर ने उत्तर दिया—"जब तक बिहार के गरीबों का घर नहीं बन जाता, मेरा घर बन जाने से क्या होगा?"

यहाँ तक कि बिहार में विपक्ष के नेता रहते हुए भी उन्होंने अपने परिवार के लिए किसी विशेष सुविधा की माँग नहीं की। उनके पिता को गाँव में ऊँची जाति के व्यक्ति ने इसलिए पीटा क्योंकि वे बीमारी के कारण बुलाने पर दाढ़ी बनाने नहीं गए थे। जब यह समाचार अखबारों में छपा, तो कर्पूरी ठाकुर ने पुलिस कार्रवाई से इनकार कर दिया और स्वयं जाकर उस व्यक्ति से अपने पिता की ओर से क्षमा माँगी। यह घटना दर्शाती है कि वे व्यक्तिगत अपमान से अधिक सामाजिक सौहार्द को महत्व देते थे। उनके लिए राजनीति सत्ता का साधन नहीं, बल्कि समाज परिवर्तन का माध्यम थी।

कर्पूरी आरक्षण फार्मूला लागू

बिहार में कर्पूरी ठाकुर को सामाजिक न्याय की राजनीति के लिए व्यापक जनसमर्थन प्राप्त था। उनकी परिस्थितियों को समझना आवश्यक है। पिछड़ी जातियों को आरक्षण देने की माँग को लेकर 9 मार्च 1978 को पटना के गांधी मैदान में एक विशाल जनसभा आयोजित की गई। इस सभा की अध्यक्षता प्रखर समाजवादी नेता राम अवधेश बाबूसिंह कर रहे थे और निशाने पर जयप्रकाश नारायण थे। उन्होंने तीखा वक्तव्य देते हुए कहा कि यदि दक्षिण में द्विजों के नेता सी. राजगोपालाचारी हैं, तो उत्तर में द्विजों के नेता जयप्रकाश नारायण हैं। इससे पटना का राजनीतिक वातावरण अत्यंत उग्र हो गया। कर्पूरी ठाकुर इस पूरे घटनाक्रम को शांत भाव से देख रहे थे, यद्यपि वे वैचारिक रूप से पिछड़ों के पक्षधर थे, फिर भी राजनीतिक दबावों और परिस्थितियों से बंधे हुए थे।

इसी दौरान बिहार पुलिस ने पटना जंक्शन से लेकर फ्रेजर रोड तक अनेक स्थानों पर बेरहमी से लाठीचार्ज किया। भय और दमन के कारण बाहर से आए लाखों लोग घरों और दुकानों में दुबकने को विवश हो गए। दोपहर में यह समाचार राम लखन सिंह यादव तक पहुँचा, जो कांग्रेस में रहते हुए भी पिछड़ों के बड़े नेता माने जाते थे और 'शेर-ए-बिहार' कहलाते थे। उन्होंने डीजीपी को फटकार लगाते हुए कहा—"आप लाठी चलाते हैं तो हम भी अपने लोग निकालेंगे।" उनके हस्तक्षेप के बाद पुलिस की कार्रवाई शांत हुई। शाम होते-होते आसपास के गाँवों से भारी भीड़ गांधी मैदान पहुँच गई और मैदान पूरी तरह भर गया। पिछड़ों के इस उभार से बिहार की राजनीति में उबाल आ गया।

इसके बाद राम अवधेश बाबूसिंह के नेतृत्व में पिछड़ा वर्ग संघ ने पूरे बिहार में 'जेल भरो आंदोलन' शुरू किया। लगभग दस दिनों तक जिला मुख्यालयों पर प्रदर्शन हुए और रणनीति के तहत लोगों ने गिरफ्तारी दी। इन दस दिनों में लगभग पंद्रह हजार लोग गिरफ्तार किए गए।

14 मार्च 1978 को आर. एल. चंदापुरी, शिव दयाल चौरसिया और महाराज सिंह भारती के नेतृत्व में पिछड़ी जातियों ने विशाल प्रदर्शन किया। पुलिस ने गांधी मैदान जाने से रोक दिया और सभा चिल्ड्रेन पार्क में करने की अनुमति दी, जो अपर्याप्त सिद्ध हुई। परिणामस्वरूप लोग सड़कों पर उतर आए।

पुलिस के बल प्रयोग में अनेक लोग घायल हुए और चंदापुरी की कनपटी पर बंदूक तक तान दी गई। इसके बावजूद आंदोलन जारी रहा। अगले दिन कर्पूरी ठाकुर ने चंदापुरी से कहा—"आपने मेरा काम आसान कर दिया।" यह वाक्य दर्शाता है कि वे समय की प्रतीक्षा करते हुए रणनीतिक रूप से आगे बढ़ रहे थे।

1977 में दूसरी बार मुख्यमंत्री बनने के बाद, 26 जून 1978 को बिहार सरकार ने 26 प्रतिशत ओबीसी आरक्षण लागू किया। यह निर्णय देश में पहली बार था, जब पिछड़े वर्गों के लिए संगठित रूप से आरक्षण को सरकारी नीति का हिस्सा बनाया गया। उस समय न तो मंडल आयोग अस्तित्व में आया था और न ही राष्ट्रीय स्तर पर ओबीसी आरक्षण पर कोई सर्वसम्मत नीति थी।

नवंबर 1978 में जब कर्पूरी ठाकुर ने आरक्षण की घोषणा की, तो पटना की सड़कों पर तीन दिनों तक उग्र विरोध हुआ। इस ऐतिहासिक फैसले के विरोध में वर्चस्ववादी ताक़तों ने कर्पूरी ठाकुर को गाली, तंज और अश्लील नारों का निशाना बनाया:-

"कर कर्पूरी, कर पूरा
छोड़ गद्दी, धर उस्तुरा"

"ये आरक्षण कहाँ से आई
कर्पूरिया की माई बियाई"

"MA-BA पास करेंगे
कर्पूरिया को बाँस करेंगे"

ये नारे केवल एक व्यक्ति के नहीं, पूरे पिछड़े समाज के खिलाफ़ नफ़रत की अभिव्यक्ति थे। यह तभी थमा जब पिछड़े वर्ग के छात्र खुलकर सड़कों पर उतर आए। पुलिसिया कार्रवाई से परहेज करना उनके विवेकपूर्ण नेतृत्व का संकेत था, क्योंकि यह पिछड़ी जातियों के संगठित प्रतिरोध का प्रारंभिक चरण था। यद्यपि इस फार्मूले पर कुछ आलोचनाएँ हुईं; परंतु परिणाम यह निकला कि उत्तर भारत में बिहार पहला राज्य बना जहाँ पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण लागू हुआ। यही कर्पूरी ठाकुर की ऐतिहासिक उपलब्धि थी।

कर्पूरी सरकार की बलि

इस फैसले के बाद बिहार का राजनीतिक और सामाजिक वातावरण उथल-पुथल में आ गया पटना सहित कई शहरों में तीव्र विरोध प्रदर्शन हुए सवर्ण छात्र संगठनों ने सड़कों पर उतरकर आगजनी की, सार्वजनिक परिवहन को निशाना बनाया गया और कई इलाकों में प्रशासन को कर्फ्यू लगाने के लिए मजबूर होना पड़ा राजपूत, भूमिहार और ब्राह्मण संगठनों ने "कर्पूरी गो बैक" जैसे नारे लगाए हालात

बेहद तनावपूर्ण थे, लेकिन कर्पूरी ठाकुर अपने निर्णय पर अडिग रहे उन्होंने स्पष्ट कहा था कि पिछड़े वर्गों के साथ ऐतिहासिक अन्याय को सुधारने के लिए यह फैसला जरूरी है कर्पूरी ठाकुर ने अपने नज़दीकी लोगों से कहा कि:-

"मैं नाई का बेटा हूं। मुझे मालूम है कि पिछड़े समाज ने सदियों तक किस तरह का अपमान और उत्पीड़न झेला है। आरक्षण वापस लेने का सवाल ही नहीं उठता, चाहे सत्ता चली जाए।"

आरक्षण लागू करने के बाद कैलाशपति मिश्र के जनसंघ ने कर्पूरी ठाकुर से समर्थन वापस ले लिया। इसके अलावा जनता पार्टी में शामिल ऊंची जाति के विधायकों ने भी आरक्षण नीति के कारण उनके खिलाफ विद्रोह कर दिया। उन दिनों रांची के एक शराब माफिया हुआ करता था, जो आगे चलकर सांसद भी बने। उनके बारे में कहा जाता है कि उन पर नेताओं का हाथ था। विदित हो कि बिहार में सबसे पहले कर्पूरी ठाकुर ने 1977 में बिहार में शराबबंदी कानून लागू कर तहलका मचा दिया था। उसी से खार खाए लोगों ने पैसों का इंतजाम कर जनता दल के लोकदल खेमे के 12 दलित विधायकों को तोड़ने में मदद किया।

विधानसभा में कर्पूरी ठाकुर के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पेश किया गया जिसमें वे 30 मतों से हार गए। दलित राम सुंदर दास का नाम सामने रख कर अगड़ों ने पिछड़े कर्पूरी ठाकुर की सरकार गिरा दिया। 21 अप्रैल 1979 को इस्तीफा देना पड़ा, जिसके बाद राम सुंदर दास बिहार के मुख्यमंत्री बनाये गए। सनद रहे कि रामसुंदर दास के मंत्रिमंडल में अगड़ी जातियों के मंत्री 50 फीसदी जबकि ओबीसी 20 फीसदी थे।

अपमान की पराकाष्ठा से भारत रत्न तक

मुख्यमंत्री बनने के बाद भी कर्पूरी ठाकुर को अपने जनपक्षधर निर्णयों के कारण ऊँची जातियों के तीव्र विरोध और अपमान का सामना करना पड़ा। विशेषकर आरक्षण लागू करने के बाद भारतीय जनसंघ के विधायकों और समर्थकों ने पटना में उग्र प्रदर्शन किए। उनकी सरकार से समर्थन वापस लिया गया और सार्वजनिक रूप से अपशब्द कहे गए। केवल सवर्ण वर्ग ही नहीं, बल्कि पिछड़ी जातियों के कुछ प्रभावशाली नेताओं ने भी उन पर दबाव बनाया कि उनके निर्णय शीघ्र लागू किए जाएँ। मुंगेरी लाल आयोग से अलग स्वरूप में आरक्षण लागू करने के कारण उनकी आलोचना की गई और उन पर यह आरोप लगाया गया कि वे जयप्रकाश नारायण के इशारे पर कार्य करते हैं।

विधानसभा में उन्हें "कपटी ठाकुर" तक कहा गया और मंचों से इसी नाम से संबोधित किया जाने लगा। जेपी टू बीजेपी नामक पुस्तक में उल्लेख है कि 1960 के दशक में एक ऊँची जाति के विधायक ने उन पर चप्पल उठाने का प्रयास किया था। उनके विरुद्ध गाँवों और शहरों में अश्लील और जातिसूचक नारे लगाए गए, जो सामाजिक घृणा की पराकाष्ठा को दर्शाते थे।

इन निरंतर अपमानों के बावजूद कर्पूरी ठाकुर अपने निर्णयों से विचलित नहीं हुए। वे जानते थे कि सामाजिक न्याय का मार्ग संघर्ष और तिरस्कार से होकर गुजरता है। उन्होंने वही किया जो इतिहास की माँग थी—और अंततः वही कार्य उनके विरोधियों को भी उन्हें "भारत रत्न" से सम्मानित करने के लिए विवश कर गया।

अंतिम पड़ाव

अपने तेजस्विनी व्यक्तित्व के बावजूद भी वे और राजनीतिक दोनों स्तर पर साजिश का शिकार हो गये। बिहार के राजनीतिक क्षितिज पर लालू प्रसाद यादव, रामविलास पासवान का उदय हो चुका था। पिछड़ी जातियों और दलितों के बीच से इन नेताओं के उभार की वजह से कम जनसंख्या वाली जाति से आने वाले कर्पूरी ठाकुर का तेज धुंधला पड़ रहा था।

1980 के चुनाव में पराजय के बाद गैर-कांग्रेस, गैर-भाजपा विपक्ष लोक दल, लोक दल (च) और जनता पार्टी में बिखरा रहा। इसी बिखराव के दौर में पिछड़ों के नेता कर्पूरी ठाकुर 1984 का लोकसभा चुनाव हार चुके थे। अर्थात, तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितयों के कारण कर्पूरी ठाकुर का समर्थन कमजोर पड़ रहा था। विपक्ष में होने के बावजूद उनकी राजनीति अवसान की ओर थी। 1984 के लोक सभा चुनाव में समस्तीपुर से वे चुनाव हार चुके थे। 1987 में लोक दल में दो गुट बन चुके थे, एक लोक दल (कर्पूरी) दूसरा लोक दल (चरण सिंह) का था। विरोधी दल के नेता के पद से कर्पूरी ठाकुर को हटा कर अनूप लाल यादव को बनाया गया। कर्पूरी ठाकुर के लिए यह झटके से कम नहीं था।

उनके स्वास्थ खराब होने लगा था। घरेलु उपचार करने के बाद भी, उनका स्वास्थ्य सुधरने की जगह बिगड़ता चला गया। 17 फरवरी 1988 को उनके जीवन की गति हार्ट अटैक के कारण रुक गई।

आज़ाद भारत का कोई भी इतिहास कर्पूरी ठाकुर जैसे जननायकों के बिना कभी नहीं लिखा जा सकेगा। और न ही भारत का कोई सर्जनात्मक समाज विज्ञान इनके रास्तों पर नज़र टिकाये बिना रचा जा सकेगा।

इस मुल्क़ में किसान, पशुपालक, दस्तकार, मछुआरा, दलित और आदिवासी समाजों का के हितों के लिये, अगर कोई कार्य योजना बनती है तो उसको अपनी सफ़लता के लिए कर्पूरी बाबू के दर पर अरदास करने आना ही पड़ेगा।

एक वे समय था जब 1978 के दौरान कर्पूरी ठाकुर ने पिछड़ों को आरक्षण दिया था तब आज की सत्ता में बैठे लोग और उनके समर्थक उन्हें गालियाँ दे रहे थे। समय और मेहनत का नतीज़ा देखिये कि आज भारत सरकार जननायक को भारत रत्न स्वीकार कर रही है और उनको गाली देने वालों की पीढ़ियाँ ताली बजा रही हैं। यह होती है राजनीति और ऐसे होती है जननायकों की स्वीकार्यता।

निष्कर्ष

जननायक कर्पूरी ठाकुर केवल एक मुख्यमंत्री या समाजवादी नेता नहीं थे, बल्कि वे सामाजिक क्रांति के प्रतिनिधि थे। उन्होंने राजनीति को सत्ता की सीढ़ी नहीं, बल्कि शोषितों की आवाज़ बनाया। उनका संघर्ष जाति आधारित अन्याय के विरुद्ध था, उनका आरक्षण निर्णय ऐतिहासिक था और उनका जीवन सादगी का आदर्श।

आज जब राजनीति में अवसरवाद और व्यक्तिवाद हावी है, तब कर्पूरी ठाकुर का जीवन हमें बताता है कि नैतिकता, साहस और जनपक्षधरता के बिना लोकतंत्र खोखला हो जाता है। भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में वे उस परंपरा के वाहक हैं, जिसमें सत्ता नहीं, समाज परिवर्तन लक्ष्य होता है। इसलिए कर्पूरी ठाकुर का जीवन न केवल इतिहास है, बल्कि भविष्य के लिए दिशा-सूचक दीपक है।

संदर्भ ग्रंथ

1. *सिंह, भीम, (2016) महान कर्मयोगी : जननायक कर्पूरी ठाकुर (खंड–2), नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन।*
2. *सिंह, संतोष, (2024) द जननायक कर्पूरी ठाकुर: वॉयस ऑफ द वॉइसलेस नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन।*
3. *ठाकुर, हरिनारायण, (2009) जननायक कर्पूरी ठाकुर, नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन।*
4. *ठाकुर, हरिनारायण, (2024) कर्पूरी ठाकुर : जननायक से भारत रत्न तक, नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन।*
5. *मेहरोत्रा, ममता, (2018) समाजवाद के जननायक कर्पूरी ठाकुर, नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन।*
6. *सिंह, रामबृक्ष, (2015) बिहार की राजनीति और कर्पूरी ठाकुर, पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी।*
7. *कुमार, अवधेश, (2017) पिछड़ा वर्ग आंदोलन और कर्पूरी ठाकुर, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।*
8. *शर्मा, दिनेश, (2020) जननायक परंपरा और कर्पूरी ठाकुर, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के स्थानीय नेताओं का स्वतंत्रता संग्राम में योगदान: एक सूक्ष्म-ऐतिहासिक अध्ययन (1915–1947)

मुकुल सैनी
शोधार्थी, इतिहास विभाग
रघुनाथ गर्ल्स पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज, मेरठ

सारांश

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास प्रायः राष्ट्रीय स्तर के नेताओं और प्रमुख राजनीतिक घटनाओं के संदर्भ में लिखा गया है, जिसके कारण स्थानीय और क्षेत्रीय योगदान अक्सर उपेक्षित रह जाते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश के स्थानीय नेताओं की भूमिका का सूक्ष्म-ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करता है। अध्ययन का कालखण्ड 1915 से 1947 तक निर्धारित किया गया है, जो महात्मा गांधी के भारतीय राजनीति में प्रवेश से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक का समय है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य यह समझना है कि किस प्रकार स्थानीय नेतृत्व ने राष्ट्रीय आंदोलनों को जन-स्तर तक पहुँचाया और उन्हें व्यवहारिक रूप प्रदान किया।

यह अध्ययन दर्शाता है कि स्थानीय नेताओं ने केवल राष्ट्रीय विचारों का प्रसार ही नहीं किया, बल्कि उन्हें स्थानीय सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप पुनः परिभाषित किया। विष्णु शरण दुबलिश, इंद्र विद्यावाचस्पति, मुखराम त्यागी, रघुवीर नारायण त्यागी तथा अन्य क्षेत्रीय नेताओं के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता संग्राम की वास्तविक शक्ति स्थानीय स्तर पर संगठित जन-चेतना में निहित थी।

प्रस्तावना

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास लंबे समय तक "महान पुरुषों" और राष्ट्रीय स्तर की घटनाओं के इर्द-गिर्द केंद्रित रहा है। यद्यपि यह दृष्टिकोण आंदोलन के व्यापक स्वरूप को समझने में सहायक है, किंतु यह उस जमीनी वास्तविकता को पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं कर पाता, जिसके माध्यम से यह आंदोलन जन-

आंदोलन बना। प्रस्तुत शोध इसी कमी को दूर करने का प्रयास करता है और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के संदर्भ में स्थानीय नेतृत्व की भूमिका का सूक्ष्म-ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

सूक्ष्म-इतिहास का दृष्टिकोण इतिहास के छोटे-छोटे इकाइयों—जैसे किसी गाँव, जिले या विशिष्ट व्यक्तियों—के माध्यम से व्यापक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास करता है। इस दृष्टिकोण के माध्यम से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि राष्ट्रीय स्तर पर निर्मित विचारधाराएँ किस प्रकार स्थानीय स्तर पर व्यवहार में परिवर्तित होती हैं।

1915 से 1947 का कालखण्ड इस अध्ययन के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह गांधीवादी युग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें स्वतंत्रता संग्राम ने व्यापक जनाधार प्राप्त किया।

सैद्धांतिक ढांचा: सूक्ष्म-इतिहास और स्थानीय दृष्टिकोण

सूक्ष्म-इतिहास (Micro-history) इतिहास लेखन की एक ऐसी पद्धति है, जो व्यापक ऐतिहासिक घटनाओं को छोटे और विशिष्ट संदर्भों के माध्यम से समझने का प्रयास करती है। यह दृष्टिकोण इस विचार पर आधारित है कि इतिहास केवल बड़े राजनीतिक निर्णयों और राष्ट्रीय नेताओं द्वारा निर्मित नहीं होता, बल्कि यह स्थानीय समाजों और व्यक्तियों के अनुभवों से भी निर्मित होता है।

इस संदर्भ में 'Subaltern Studies' की परंपरा भी महत्वपूर्ण है, जो इतिहास को नीचे से देखने का प्रयास करती है। यह दृष्टिकोण उन समूहों—जैसे किसान, मजदूर और स्थानीय नेता—पर ध्यान केंद्रित करता है, जिन्हें पारंपरिक इतिहास लेखन में पर्याप्त स्थान नहीं मिला।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के संदर्भ में यह दृष्टिकोण विशेष रूप से उपयोगी है, क्योंकि यहाँ के स्थानीय नेताओं और ग्रामीण समाज ने स्वतंत्रता संग्राम को एक व्यापक जनआंदोलन का रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अध्ययन क्षेत्र: पश्चिमी उत्तर प्रदेश की सामाजिक संरचना

पश्चिमी उत्तर प्रदेश का क्षेत्र अपनी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक संरचना के कारण स्वतंत्रता संग्राम के अध्ययन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह क्षेत्र मुख्यतः कृषि पर आधारित रहा है, जहाँ जाट, गुर्जर, त्यागी और मुस्लिम कृषक समुदायों का वर्चस्व रहा है।

इस क्षेत्र की सामाजिक संरचना में सामूहिकता और संगठन की प्रवृत्ति प्रमुख रही है, जो पंचायत प्रणाली और सामुदायिक जीवन के माध्यम से विकसित हुई। यह विशेषता किसी भी प्रकार के सामूहिक आंदोलन के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान करती है।

इसके अतिरिक्त, 1857 की क्रांति की ऐतिहासिक विरासत ने यहाँ के समाज को गहराई से प्रभावित किया। मेरठ, सहारनपुर और मुजफ्फरनगर जैसे क्षेत्रों में विद्रोह की स्मृति लंबे समय तक जीवित रही, जिसने लोगों के भीतर स्वतंत्रता और स्वाभिमान की भावना को बनाए रखा।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (1915–1947)

1915 में महात्मा गांधी के भारत आगमन के साथ ही स्वतंत्रता संग्राम के स्वरूप में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। असहयोग आंदोलन (1920–22) ने पहली बार व्यापक जनसमूह को आंदोलन से जोड़ा। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इस आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा गया, जहाँ लोगों ने विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार और सरकारी संस्थानों से दूरी बनाकर अपना विरोध व्यक्त किया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930–34) ने इस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया। किसानों और ग्रामीण समाज ने इसमें सक्रिय भागीदारी की, जिससे आंदोलन का आधार और मजबूत हुआ।

भारत छोड़ो आंदोलन (1942) के दौरान यह क्षेत्र एक बार फिर सक्रिय हो उठा, जहाँ स्थानीय स्तर पर संगठित विरोध और प्रतिरोध देखने को मिला।

स्थानीय नेताओं का विस्तृत विश्लेषण

मेरठ क्षेत्र के प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी विष्णु शरण दुबलिश का जीवन पश्चिमी उत्तर प्रदेश में नेतृत्व के बदलते स्वरूप को समझने का एक सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्रारंभिक दौर में वे क्रांतिकारी गतिविधियों से जुड़े रहे और काकोरी कांड जैसे संगठित प्रयासों से उनका नाम जुड़ा। किंतु कारावास और व्यापक राजनीतिक अनुभवों के बाद उनके विचारों में परिवर्तन आया और उन्होंने गांधीवादी आंदोलनों में सक्रिय भागीदारी की। दुबलिश का यह वैचारिक रूपांतरण इस तथ्य को उजागर करता है कि स्थानीय नेतृत्व स्थिर नहीं था, बल्कि परिस्थितियों के अनुसार अपने साधनों और रणनीतियों को बदलने में सक्षम था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी उन्होंने ग्रामीण उद्योगों और स्वदेशी के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनका योगदान केवल राजनीतिक संघर्ष तक सीमित नहीं था।

इसी प्रकार इंद्र विद्यावाचस्पति ने वैचारिक और बौद्धिक स्तर पर आंदोलन को मजबूत किया। वे मूलतः एक लेखक, पत्रकार और चिंतक थे, जिन्होंने अपने लेखन के माध्यम से राष्ट्रवादी चेतना का प्रसार किया। उनकी भाषा में ऐसी प्रभावशीलता थी कि वह सामान्य जनता तक भी राजनीतिक विचारों को सरलता से पहुँचा देती थी। उन्होंने गांधीवादी अहिंसा को केवल एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि उसे एक व्यावहारिक राजनीतिक रणनीति के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। इस प्रकार,

उनका योगदान यह दर्शाता है कि स्वतंत्रता संग्राम केवल प्रत्यक्ष आंदोलनों तक सीमित नहीं था, बल्कि यह एक वैचारिक संघर्ष भी था।

ग्रामीण नेतृत्व के संदर्भ में पंडित मुखराम त्यागी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने किसानों को संगठित करने और उन्हें राजनीतिक रूप से जागरूक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लगान विरोध आंदोलनों में उनकी सक्रिय भागीदारी ने यह स्पष्ट किया कि किसान केवल आर्थिक शोषण के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए भी संघर्ष कर रहे थे। उनकी नेतृत्व शैली में एक प्रकार की सादगी और निकटता थी, जिसने उन्हें ग्रामीण समाज के बीच अत्यंत लोकप्रिय बनाया।

इसी प्रकार चौधरी रघुवीर नारायण त्यागी ने ग्रामीण स्तर पर संगठन और नेतृत्व का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने पंचायतों और सामुदायिक संरचनाओं का उपयोग करते हुए आंदोलन को गाँव-गाँव तक पहुँचाया। उनके प्रयासों ने यह सुनिश्चित किया कि स्वतंत्रता संग्राम केवल शहरों तक सीमित न रहे, बल्कि वह ग्रामीण समाज का भी अभिन्न अंग बन जाए।

सहारनपुर क्षेत्र में मौलाना हुसैन अहमद मदनी का योगदान विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहा। उन्होंने धार्मिक और राजनीतिक चेतना के बीच एक सेतु का कार्य किया। देवबंद आंदोलन के माध्यम से उन्होंने लोगों को यह समझाने का प्रयास किया कि स्वतंत्रता केवल राजनीतिक अधिकार नहीं है, बल्कि यह धार्मिक और सामाजिक स्वाभिमान से भी जुड़ी हुई है। उनका दृष्टिकोण सांप्रदायिक एकता पर आधारित था, जिसने आंदोलन को व्यापक समर्थन दिलाने में सहायता की।

अलीगढ़ क्षेत्र में राजा महेंद्र प्रताप सिंह का योगदान अंतरराष्ट्रीय स्तर तक फैला हुआ था। उन्होंने विदेशों में जाकर भारत की स्वतंत्रता के लिए समर्थन जुटाया और अस्थायी सरकार की स्थापना जैसे प्रयासों के माध्यम से यह सिद्ध किया कि स्वतंत्रता संग्राम केवल देश के भीतर ही नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी लड़ा जा रहा था।

इसी क्रम में मौलाना हसरत मोहानी का नाम भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने "पूर्ण स्वराज" की अवधारणा को प्रारंभिक दौर में ही प्रस्तुत किया। वे एक कवि, चिंतक और राजनेता थे, जिन्होंने अपने साहित्यिक और राजनीतिक कार्यों के माध्यम से राष्ट्रवादी चेतना को मजबूत किया। उनका जीवन इस बात का प्रमाण है कि स्वतंत्रता संग्राम में विभिन्न विचारधाराओं का सह-अस्तित्व था।

किसान आंदोलन और स्थानीय नेतृत्व

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम के अध्ययन में किसान आंदोलनों की भूमिका अत्यंत केंद्रीय रही है, और इन आंदोलनों को समझे बिना स्थानीय नेतृत्व की वास्तविक प्रकृति को समझ पाना संभव नहीं है। यह क्षेत्र अपनी कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था और सशक्त कृषक समुदायों—विशेषकर जाट, गुर्जर, त्यागी

और मुस्लिम कृषकों—के कारण लंबे समय से सामाजिक और आर्थिक रूप से संगठित रहा है। इसी संगठित संरचना ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान किसान आंदोलनों को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

किसान आंदोलनों का स्वरूप केवल आर्थिक असंतोष तक सीमित नहीं था, बल्कि यह राजनीतिक चेतना के विकास का भी प्रतीक था। लगान की ऊँची दरें, जमींदारी शोषण और औपनिवेशिक नीतियों के कारण उत्पन्न असंतोष ने किसानों को संगठित होने के लिए प्रेरित किया। इस प्रक्रिया में स्थानीय नेताओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही, जिन्होंने इन आर्थिक समस्याओं को राजनीतिक संदर्भ में प्रस्तुत किया और किसानों को यह समझाया कि उनकी समस्याओं का समाधान केवल प्रशासनिक सुधारों से नहीं, बल्कि व्यापक राजनीतिक परिवर्तन से संभव है।

स्थानीय नेतृत्व ने किसान आंदोलनों को एक संगठित और अनुशासित रूप देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। पंडित मुखराम त्यागी और चौधरी रघुवीर नारायण त्यागी जैसे नेताओं ने गाँव-गाँव जाकर किसानों को संगठित किया और उन्हें अहिंसात्मक प्रतिरोध के लिए प्रेरित किया। उन्होंने पंचायतों और सामुदायिक संरचनाओं का उपयोग करते हुए आंदोलन को एक व्यापक जनाधार प्रदान किया।

इन आंदोलनों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इनमें अहिंसा को एक रणनीतिक उपकरण के रूप में अपनाया गया। कर न देने, विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और शांतिपूर्ण विरोध के माध्यम से किसानों ने औपनिवेशिक शासन को चुनौती दी। यह एक ऐसा प्रतिरोध था, जिसमें हिंसा का प्रयोग नहीं किया गया, किंतु उसका प्रभाव अत्यंत व्यापक और गहरा था।

इसके अतिरिक्त, किसान आंदोलनों ने ग्रामीण समाज में राजनीतिक चेतना के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन आंदोलनों के माध्यम से किसानों ने यह अनुभव किया कि वे केवल आर्थिक इकाई नहीं हैं, बल्कि वे राजनीतिक परिवर्तन के सक्रिय भागीदार भी हैं। इस प्रकार, स्थानीय नेतृत्व ने न केवल आंदोलन को दिशा दी, बल्कि उन्होंने ग्रामीण समाज को एक नई पहचान और आत्मविश्वास भी प्रदान किया।

स्थानीय बनाम राष्ट्रीय नेतृत्व

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के संदर्भ में स्थानीय और राष्ट्रीय नेतृत्व के बीच संबंध एक जटिल और बहुआयामी प्रक्रिया के रूप में सामने आता है। सामान्यतः यह माना जाता है कि राष्ट्रीय नेतृत्व आंदोलन की दिशा निर्धारित करता है और स्थानीय नेतृत्व केवल उसका अनुसरण करता है, किंतु पश्चिमी उत्तर प्रदेश के संदर्भ में यह धारणा पूर्णतः सही नहीं प्रतीत होती। यहाँ स्थानीय और राष्ट्रीय नेतृत्व के बीच एक सक्रिय और पारस्परिक संबंध विकसित हुआ, जिसने आंदोलन को एक व्यापक और प्रभावी स्वरूप प्रदान किया।

राष्ट्रीय नेताओं—विशेषकर गांधी, नेहरू और अन्य प्रमुख व्यक्तित्वों—ने आंदोलन के वैचारिक और रणनीतिक ढाँचे को निर्धारित किया। उन्होंने अहिंसा, सत्याग्रह और स्वदेशी जैसे सिद्धांतों को प्रस्तुत किया, जिन्होंने आंदोलन को एक नैतिक आधार प्रदान किया। किंतु इन सिद्धांतों का वास्तविक प्रभाव तभी संभव हुआ जब उन्हें स्थानीय स्तर पर व्यवहार में उतारा गया।

यहीं पर स्थानीय नेतृत्व की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। स्थानीय नेताओं ने राष्ट्रीय विचारों को अपने क्षेत्रीय संदर्भ में ढाला और उन्हें जन-जीवन से जोड़ा। उन्होंने आंदोलन की भाषा को सरल बनाया और उसे आम जनता के लिए सुलभ बनाया। उदाहरण के लिए, विष्णु शरण दुबलिश जैसे नेता राष्ट्रीय आंदोलनों से प्रेरित थे, किंतु उन्होंने अपने कार्यों के माध्यम से उन्हें स्थानीय स्तर पर लागू किया। इसी प्रकार इंद्र विद्यावाचस्पति ने अपने लेखन के माध्यम से राष्ट्रीय विचारों को जनसामान्य तक पहुँचाया।

यह संबंध एकतरफा नहीं था, बल्कि यह एक द्विपक्षीय प्रक्रिया थी। स्थानीय अनुभवों और संघर्षों ने भी राष्ट्रीय नेतृत्व को प्रभावित किया। ग्रामीण आंदोलनों और स्थानीय स्तर पर उत्पन्न समस्याओं ने राष्ट्रीय नेताओं को अपनी रणनीतियों में परिवर्तन करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार, स्थानीय और राष्ट्रीय नेतृत्व के बीच एक सतत संवाद बना रहा, जिसने आंदोलन को जीवंत और गतिशील बनाए रखा।

इस संदर्भ में यह भी महत्वपूर्ण है कि स्थानीय नेतृत्व ने आंदोलन को केवल विस्तार ही नहीं दिया, बल्कि उसे गहराई भी प्रदान की। उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि आंदोलन केवल शहरों और शिक्षित वर्ग तक सीमित न रहे, बल्कि वह ग्रामीण समाज तक भी पहुँचे। इस प्रकार, स्थानीय नेतृत्व ने स्वतंत्रता संग्राम को एक वास्तविक जनआंदोलन में परिवर्तित करने में केंद्रीय भूमिका निभाई।

अतः यह कहा जा सकता है कि स्थानीय और राष्ट्रीय नेतृत्व के बीच संबंध प्रतिस्पर्धात्मक नहीं, बल्कि सहयोगात्मक था। दोनों स्तरों ने एक-दूसरे को पूरक रूप में कार्य करते हुए आंदोलन को सफल बनाया।

निष्कर्ष

इस शोध के समग्र विश्लेषण से यह स्पष्ट रूप से स्थापित होता है कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश के संदर्भ में स्वतंत्रता संग्राम को केवल राष्ट्रीय स्तर की घटनाओं और नेतृत्व के माध्यम से समझना पर्याप्त नहीं है। इस क्षेत्र में स्थानीय नेतृत्व ने न केवल राष्ट्रीय आंदोलनों को जन-स्तर तक पहुँचाने का कार्य किया, बल्कि उन्होंने उन्हें अपने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भों के अनुरूप पुनः परिभाषित भी किया। सूक्ष्म-ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह अध्ययन यह दर्शाता है कि स्वतंत्रता संग्राम की वास्तविक शक्ति उन स्थानीय प्रक्रियाओं में निहित थी, जहाँ विचारधारा और व्यवहार के बीच एक जीवंत और सृजनात्मक संबंध स्थापित हुआ।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश का सामाजिक ढाँचा—जो मुख्यतः कृषक समुदायों पर आधारित था—ने आंदोलन को एक सशक्त जनाधार प्रदान किया। इस क्षेत्र के किसानों में संगठन और सामूहिकता की जो प्रवृत्ति थी, उसने उन्हें औपनिवेशिक नीतियों के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध के लिए प्रेरित किया। इस प्रक्रिया में स्थानीय नेताओं की भूमिका निर्णायक रही, जिन्होंने किसानों की आर्थिक समस्याओं को राजनीतिक संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए उन्हें स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ा।

विष्णु शरण दुबलिश जैसे नेताओं के वैचारिक रूपांतरण से यह स्पष्ट होता है कि स्थानीय नेतृत्व स्थिर नहीं था, बल्कि वह परिस्थितियों के अनुसार अपने स्वरूप को बदलने में सक्षम था। इंद्र विद्यावाचस्पति जैसे बौद्धिक नेताओं ने आंदोलन को वैचारिक गहराई प्रदान की, जबकि मुखराम त्यागी और रघुवीर नारायण त्यागी जैसे ग्रामीण नेताओं ने इसे जन-आधार दिया। मौलाना हुसैन अहमद मदनी और हसरत मोहानी जैसे व्यक्तित्वों ने यह सुनिश्चित किया कि आंदोलन केवल राजनीतिक संघर्ष तक सीमित न रहे, बल्कि वह सांस्कृतिक और वैचारिक स्तर पर भी प्रभावी बने।

स्थानीय और राष्ट्रीय नेतृत्व के बीच संबंध भी इस अध्ययन का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। यह संबंध प्रतिस्पर्धात्मक न होकर सहयोगात्मक था, जिसमें दोनों स्तरों ने एक-दूसरे को पूरक रूप में कार्य करते हुए आंदोलन को व्यापकता और गहराई प्रदान की। राष्ट्रीय नेतृत्व ने जहाँ आंदोलन की दिशा निर्धारित की, वहीं स्थानीय नेतृत्व ने उसे व्यवहारिक रूप देकर उसे जन-आंदोलन में परिवर्तित किया। हालाँकि, इस प्रक्रिया में कुछ सीमाएँ भी स्पष्ट रूप से सामने आती हैं, जैसे कि संसाधनों की कमी, औपनिवेशिक दमन और सामाजिक विभाजन। फिर भी, इन चुनौतियों के बावजूद स्थानीय नेतृत्व ने जिस प्रकार आंदोलन को जीवंत बनाए रखा, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश का अनुभव यह सिद्ध करता है कि इतिहास को समझने के लिए स्थानीय स्तर पर ध्यान देना अनिवार्य है। सूक्ष्म-ऐतिहासिक दृष्टिकोण न केवल इतिहास की नई व्याख्या प्रस्तुत करता है, बल्कि यह यह भी दर्शाता है कि बड़े सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन छोटे-छोटे स्थानीय प्रयासों के माध्यम से ही संभव होते हैं। इस प्रकार, यह अध्ययन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की समझ को एक अधिक समावेशी और गहन दृष्टिकोण प्रदान करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *Bipan Chandra. (1989). India's Struggle for Independence. Penguin.*
2. *Brown, J. (1972). Gandhi's Rise to Power: Indian Politics 1915–1922. Cambridge University Press.*
3. *Gandhi, M. K. (1938). Hind Swaraj. Navajivan Publishing House.*

4. *Pandey, G. (1978). The Ascendancy of the Congress in Uttar Pradesh. Oxford University Press.*
5. *Sarkar, S. (1983). Modern India (1885–1947). Macmillan.*
6. *Amin, S. (1995). Event, Metaphor, Memory: Chauri Chaura 1922–1992. University of California Press.*
7. *Guha, R. (1983). Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India. Oxford University Press.*
8. *Hardiman, D. (1987). The Peasant Nationalists of Gujarat. Oxford University Press.*
9. *Metcalf, B. D. (1982). Islamic Revival in British India: Deoband 1860–1900. Princeton University Press.*
10. *Robb, P. (1977). The Government of India and Reform. Oxford University Press.*
11. *Seal, A. (1968). The Emergence of Indian Nationalism. Cambridge University Press.*
12. *Tandon, B. B. (1969). The Indian Freedom Movement. Allied Publishers.*
13. *Majumdar, R. C. (1963). History of the Freedom Movement in India. Firma KLM.*
14. *Chandra, B., Mukherjee, M., & Mukherjee, A. (2000). India After Independence. Penguin.*
15. *Desai, A. R. (2005). Social Background of Indian Nationalism. Popular Prakashan.*

ISSN :3049-334X
वर्ष 02 - अंक 3 सितंबर - डिसेंबर 2025

From Untouchables to Dalits: The Political Construction of Dalit Identity in Modern India

Krishna Mohan Upadhyaya
Doctoral Fellow, Department of Political Science
Banaras Hindu University,Varanasi

Abstract

This paper traces the historical and political process through which the community once designated 'Untouchable' transformed itself into the assertive political identity of 'Dalit'. Situating the enquiry within the sociology of caste, the paper examines three broad ways in which caste has been conceptualised — as an objective structure, a subjective experience and a unity of both. Before tracing the position of Shudras and untouchables in ancient and medieval Brahmanical texts. It then analyses how the colonial census and the rise of caste associations transformed a locally variable ritual order into a fixed, enumerable and political category. The paper further examines the ideological confrontation between M. K. Gandhi's religious framing of the 'Harijan' and B. R. Ambedkar's legal-political project, culminating in the Poona Pact of 1932 and the constitutional entrenchment of reservation. The paper traces post-independence Dalit politics through the Republican Party of India, the Dalit Panthers and the electoral ascendance of the Bahujan Samaj Party, arguing that the shift from 'Untouchable' to 'Dalit' represents not merely a change of nomenclature but the resignification of a stigmatised identity into a self-determined political subject. The paper concludes that while legal and political interventions have altered the terms of caste discourse, the

persistence of discrimination indicates that the Dalit political project remains unfinished.

Keywords: *Dalit; Untouchable; Harijan; Dalit Identity; Politics ofRecognition; Political Construction; Caste Discourse*

Introduction

The transformation of 'Untouchables' — a term historically used to denote communities subjected to varied forms of ritual and social discrimination in India — into 'Dalits', a self-chosen political identity that has come to redefine the vocabulary of Indian democracy, constitutes one of the most significant social transformations of modern India. This transformation is not simply semantic; it is, at its core, a story of the reorganisation of caste under conditions of political modernity. To call oneself Dalit — literally 'ground down' or 'broken to pieces' - is to convert a term of denigration into a confrontational political identity, refusing the very terms of exclusion on which caste discrimination rests while simultaneously reproducing them as the ground of political demand (Omvedt, 1994).

According to the Census of India, Scheduled Castes constitute approximately 16.5 per cent of the national population, a demographic mass that is, however, deeply fractured along the lines of caste and class (Judge, 2013). This internal heterogeneity the existence of numerous, often mutually hierarchical, sub-castes among Dalits — has historically weakened the possibility of unified political articulation, even as certain sub-groups such as the Mahars of Maharashtra and the Chamars of Punjab have proved comparatively more mobile in availing themselves of state-sponsored opportunities (Judge, 2013). The term 'Dalit' gained wide currency only after Dalit movements decisively rejected the label 'Harijan' ascribed to them by Gandhi, even as the official category 'Scheduled Castes' has continued to coexist with 'Dalit' as a term of political self-assertion.

This paper is animated by a single guiding question: how did the 'Untouchable' — a term assigned from outside to denote a specific ritual-social function — become the 'Dalit', a term coined by the community itself to signify both historical exploitation and future political struggle? In answering this question, the paper draws on a wide body of sociological and historical scholarship to trace this transformation across four broad phases: the ancient and medieval Brahmanical ordering of Shudras and untouchables; the colonial construction of caste through the census and caste associations; the ideological confrontation between Gandhi and Ambedkar during the nationalist movement; and the trajectory of Dalit politics in independent India, from the Republican Party of India and the Dalit Panthers to the electoral consolidation represented by the Bahujan Samaj Party.

The paper adopts a historical-analytical methodology, drawing on secondary textual, sociological and historical sources, read through the lens of both internal and external criticism to establish the reliability and contextual meaning of the material examined. This approach is consistent with the broader tradition of historical sociology in caste studies, which treats caste not as a static inheritance from antiquity but as a continuously reconstructed social and political formation, shaped at each historical juncture by the specific institutional and discursive forces acting upon it (Metcalf & Metcalf, 2006). The paper's contribution lies not in the presentation of new empirical data but in the synthesis of existing scholarship into a coherent, periodised account of identity transformation, one that treats the move from 'Untouchable' to 'Dalit' as a single, if internally uneven, historical process spanning textual antiquity to contemporary electoral politics.

Conceptualising Caste and Untouchability: Theoretical Perspectives

Sociological engagement with caste in India can broadly be organised into three analytical traditions. The first treats caste as an objective, observable social structure. G. S. Ghurye's (1969) influential formulation identified six defining features of caste — segmental division of society, hierarchy, restrictions on feeding

and social intercourse, differential civil and religious privileges, restricted choice of occupation, and endogamy — of which endogamy has often been treated as the definitive feature. B. R. Ambedkar (1990) similarly argued that inter-caste marriage would function as the 'solvent of caste', implying that caste endogamy constitutes its very essence. Max Weber's (1978) analysis of caste as a status group, distinct from class and party as an autonomous source of social power, likewise emphasises the objective, structural dimension of caste closure through restrictions on marriage and commensality.

A second tradition approaches caste as a subjective, experiential reality. Louis Dumont's (1998) account of caste as structured by the opposition between 'purity' and 'impurity' remains foundational here, even as it has been criticised for privileging a Brahmanical, textual understanding of hierarchy. Gopal Guru's (2002) critique of Indian social science is instructive in this regard: he argues that the discipline's claim to value-neutrality has historically excluded the lived, experiential dimension of caste from serious theoretical attention, a exclusion rooted in the inability, or unwillingness, of non-Dalit scholars to register Dalit experience as theoretically significant. Guru's (2009) later work on humiliation extends this argument by treating humiliation — rather than mere inequality — as the specific subjective condition produced by untouchability, a condition inseparable from the asymmetrical social relations within which it is inflicted.

A third, more integrative tradition seeks to combine the objective and subjective dimensions of caste. M. N. Srinivas's (1966) attention to regional variation and the malleability of caste rank, alongside Weber's (1978) observation that Indian social differentiation acquired religious and 'magical' legitimation through the doctrine of karma, suggests that caste must be understood simultaneously as a structural system and as an ideologically legitimised order of meaning. This paper adopts this integrative approach, treating the transformation from 'Untouchable' to 'Dalit' as involving change at both levels: a structural renegotiation of access to resources, representation and rights, and a subjective,

discursive reconstitution of a stigmatised identity into a confrontational political one.

Untouchables and Shudras in Ancient and Medieval India

The hierarchical ordering of Indian society along Varna lines has its earliest textual articulation in the Purushasukta hymn of the Rig Veda, which describes the Brahmana as born from the mouth of the cosmic being, the Kshatriya from the arms, the Vaishya from the thighs, and the Shudra from the feet. The three upper Varnas, referred to as Dwija or 'twice-born', were entitled to ritual initiation (upanayana), a privilege denied to the Shudra, who was accordingly termed Ekajati, or 'once-born' (Sharma, 1980). Below the fourfold Varna order lay numerous communities engaged in occupations considered ritually polluting — leatherwork, scavenging, and the disposal of the dead — who were progressively constituted as 'untouchable' and excluded even from the qualified subordination accorded to Shudras.

The Dharma sutras, compiled roughly between 600 and 300 BCE, elaborated the obligations of the Shudra in considerable detail: service to the twice-born Varnas in exchange for maintenance, restrictions on property and inheritance, and severe penalties — including corporal and capital punishment — for transgressing rules of marriage and sexual contact with upper-caste women (Sharma, 1980). At the same time, the textual tradition reveals a persistent gap between prescription and practice: exceptions such as apaddharma (rules applicable in conditions of distress) permitted the relaxation of purity norms when survival was at stake, indicating that the rigid boundaries constructed in normative texts were continuously negotiated in social life. This tension between textual prescription and everyday practice is significant, for it suggests that the popular perception of caste as an unchanging, primordial order is itself a retrospective construction — a theme that becomes still more pronounced in the colonial period.

Colonial Construction of Caste: Census, Classification and Caste Associations

If ancient and medieval texts provide the ideological syntax of caste, it was colonial administrative practice that transformed this syntax into a rigid, enumerable and politically consequential category. In a foundational argument, Bernard Cohn (1987) demonstrated that the decennial British census was never a neutral counting exercise; rather, the very process of designing census categories and enumerating the population according to caste created a new cultural reality in which Indians increasingly understood themselves through British-made classificatory schemes. British administrators, working with a conflated and often confused understanding of Varna and Jati, attempted to force thousands of locally variable Jatis into the fourfold Varna scheme, producing classificatory anomalies that had little correspondence to lived social reality.

This colonial process of classification had material consequences. Nicholas Dirks (2001) has shown how British ethnographers, drawing on anthropometric methods, constructed the categories of 'martial races' — held to be racially closer to an imagined Aryan stock and hence suited for military recruitment — and 'criminal castes' — held to be inherently predisposed to criminality and therefore subject to surveillance. These classifications continue to shape popular perceptions of caste-based occupational aptitude in India even today. Simultaneously, Susan Bayly (1999) has documented how the colonial census catalysed the formation of 'caste associations' — voluntary organisations that used the new print and publishing technologies to construct caste histories, directories and networks that transformed what had previously been a localised, regionally variable identity into a basis for regional and national political mobilisation.

The disproportionate representation of Brahmins in colonial education and administration — in the Madras Presidency, for instance, Brahmins comprised only about three per cent of the population yet accounted for roughly seventy per

cent of college graduates and a comparable share of senior government appointments (Wilkinson, 2006) — provoked a powerful 'anti-Brahman' movement demanding proportional representation and affirmative 'uplift' for castes officially designated as socially and educationally backward. Caste, in other words, became by the early twentieth century the primary rubric through which claims to rights, representation and economic relief were articulated (Bayly, 1999), even in contexts, such as peasant relief after crop failure, where the underlying interest was more evidently economic than caste-based. It is this colonial transformation of caste into a fixed, politically salient and administratively legible category that forms the immediate backdrop to the emergence of untouchable political consciousness in the twentieth century.

Nationalism and the Gandhi–Ambedkar Debate on Untouchability

The nationalist movement's engagement with untouchability was shaped decisively by the contrasting approaches of Mohandas Karamchand Gandhi and Bhimrao Ramji Ambedkar. Gandhi's approach, articulated most clearly after the Indian National Congress's 1920 Non-Cooperation Resolution, was fundamentally religious rather than legal-political in character: he called upon Hindu society to reform itself and rid Hinduism of the 'reproach of untouchability' rather than seeking legislative remedy (Zelliot, 1996). Gandhi promoted the term 'Harijan', or 'children of God', reframing the untouchable not as an oppressed political subject but as an object of religious compassion and reform, an idealised, humble figure whose service — sweeping, cleaning, scavenging — was to be reimagined as a form of spiritual devotion rather than degradation.

Ambedkar, himself born into the Mahar caste in Maharashtra and educated at Columbia University and the London School of Economics, rejected this religious framing outright. For Ambedkar, caste had its origins in Brahmanical religious doctrine itself, and religion could therefore not be the vehicle of genuine reform; only legal and political action — the abolition of caste as a matter of law — could secure substantive change (Zelliot, 1996). This fundamental

disagreement came to a head in 1932, when the British government's Communal Award granted untouchables a separate electorate. Gandhi responded with a fast unto death, arguing that a separate electorate would permanently fracture Hindu society, and Ambedkar was compelled, in order to save Gandhi's life, to accept a compromise: the Poona Pact of 1932, which replaced the separate electorate with reserved seats within the general electorate, to be filled through a wider franchise that included all castes.

Although the Poona Pact fell short of Ambedkar's original demand, it laid the institutional foundation for the reservation system that Ambedkar, as chairman of the Constitution's Drafting Committee, would later help enshrine in the Indian Constitution. Ambedkar's disillusionment with Hindu reform culminated in his conversion to Buddhism in 1956, a decisive rejection of the religious solution Gandhi had proposed and an assertion that the untouchable's political future lay outside, rather than within, Brahmanical Hindu society. This episode is significant for the argument of this paper because it marks the moment at which the 'Untouchable question' was definitively wrested from the register of religious reform and relocated within the register of constitutional rights, representation and law — the very register within which the later Dalit political movement would operate.

Dalit Politics in Post-Independence India

Independent India's constitutional and legislative architecture — including the Untouchability (Offences) Act of 1955 and, later, the Scheduled Castes and Scheduled Tribes (Prevention of Atrocities) Act of 1989 — sought to translate Ambedkar's legal-political vision into statutory protection. Yet, as this section demonstrates, the persistence of caste-based discrimination and violence indicates that legal abolition did not automatically produce social transformation (Thorat & Newman, 2007). Following Ambedkar's death in 1956, his followers formed the Republican Party of India (RPI) to carry forward his political project; however, the party fractured repeatedly along generational, regional and ideological lines, its

urban, educated leadership increasingly drawn towards coalition politics and reservation-based patronage at the expense of sustained mass mobilisation among rural Dalits (Rao, 2010).

A more militant current of Dalit politics emerged in Bombay in the early 1970s with the formation of the Dalit Panthers by Namdeo Dhasal, J. V. Pawar, Raja Dhale and others, drawing explicit inspiration from the Black Panther movement in the United States. The Panthers directed their critique less at the RPI's factional politics than at the structural casteism of the Indian state itself, famously designating the twenty-fifth anniversary of independence as 'Black Independence Day' in protest against the persistence of untouchability. Operating in an environment of intense street-level conflict with the regionalist Shiv Sena, which had emerged around the same period as a rival claimant to the political loyalties of the urban working class (Hansen, 2019), the Panthers pioneered a confrontational, publicly visible mode of Dalit political assertion, even as their decentralised organisational structure and internal ideological divisions — broadly between a Marxist current associated with Dhasal and a Buddhist-cultural current associated with Dhale — ultimately limited their durability as a unified political force.

Scholars analysing the pattern of post-independence change among Dalits have distinguished between change driven by broad societal forces such as industrialisation and education, 'change from above' driven by state intervention, and 'change from below' driven by community mobilisation, while noting that these processes are in practice deeply interconnected (Judge, 2013). The Indian state's strategy combined economic development programmes, legal measures against untouchability, and a system of reservation in education, employment and legislatures, the last of which — intended to be temporary — has been periodically renewed rather than discontinued. This reservation policy has itself become a site of continuing contestation, particularly with the extension of similar provisions to Other Backward Classes following the implementation of the Mandal Commission's recommendations, generating both upper-caste resentment and

competitive claims among various backward and Dalit sub-groups for a larger share of reserved positions (Judge, 2013).

The most significant institutional consolidation of Dalit political identity in the late twentieth century was the rise of the Bahujan Samaj Party (BSP), founded in 1984 and built into a formidable electoral machine under Kanshi Ram and subsequently Mayawati, particularly in Uttar Pradesh. Unlike the RPI's fragmented factionalism, the BSP's strategy of building a 'bahujan' (majority) coalition across Dalit, Other Backward Class and, at various points, even upper-caste constituencies represented a qualitatively new phase of Dalit politics — one in which caste-based mobilisation was directed not merely at symbolic recognition but at the capture of formal state power (Rao, 2010). This shift from movement-based assertion to electoral consolidation marks a crucial stage in the long transformation from 'Untouchable' to 'Dalit' as a fully realised political identity.

It is important to note that the BSP's ascendance did not emerge in a vacuum; it built upon decades of prior sub-caste mobility and mobilisation, particularly among the numerically dominant Chamar/Jatav caste in Uttar Pradesh, whose comparatively earlier access to education and government employment provided the BSP with an organisational and leadership base (Judge, 2013). At the same time, the party's expansion beyond this core constituency, through periodic alliances with Other Backward Classes and even sections of the upper castes under the banner of 'Sarvajan' politics, illustrates the tactical flexibility that has characterised Dalit electoral strategy since the 1990s, even as such alliances have periodically drawn criticism from within the Dalit movement for diluting the party's original emancipatory agenda in favour of short-term electoral gain.

Discussion: From Untouchables to Dalits -The Making of a Political Identity

Read together, the four phases traced above reveal that the transformation from 'Untouchable' to 'Dalit' has never been a single, linear event but a cumulative process of resignification occurring across religious, legal, associational and

electoral registers. Early regional struggles — such as those of the Nadars of Tamil Nadu, who challenged sumptuary restrictions on dress and pursued upward ritual mobility through conversion and economic advancement; the Mahars of Maharashtra, whose martial tradition and eventual mobilisation under Ambedkar produced one of the most consequential caste movements in Indian history (Zelliot, 1970; Hardgrave, 1970); and the Ad-Dharm movement of Punjab, which sought recognition as a distinct religious community during the 1931 census (Ram, 2004) - collectively demonstrate that untouchable communities were never merely passive recipients of upper-caste domination but active agents contesting the terms of their own subordination well before the term 'Dalit' entered political vocabulary.

What distinguishes the post-Ambedkar period is the increasing self-consciousness with which this contestation has been conducted in explicitly political, rather than primarily religious or associational, terms. The shift from Gandhi's 'Harijan' to the self-chosen 'Dalit' encapsulates this development: where 'Harijan' positioned the untouchable as an object of upper-caste compassion, 'Dalit' asserts the community as the author of its own historical narrative and political demands (Omvedt, 1994). At the same time, this paper's review of the sociological literature cautions against romanticising this transformation as complete or uncontested. Internal caste hierarchy among Dalit sub-groups, sharp urban-rural disparities in the benefits of reservation, and continuing evidence of everyday discrimination and atrocity (Thorat & Newman, 2007) indicate that the political consolidation represented by parties such as the BSP has not been matched by an equivalent transformation in everyday social relations, particularly in rural India.

This gap between formal political achievement and substantive social transformation might usefully be described, following Bayly (1999), as reflecting the 'modernity' of caste conflict — a modernity in which democratic institutions, far from dissolving caste, have become a principal arena within which caste-based claims are renegotiated and, at times, intensified. The Dalit political project, in this sense, remains an unfinished and internally contested one, continuously navigating

the tension between the demographic weight of Scheduled Castes and their persistent social, economic and cultural marginalisation.

Conclusion

This paper has traced the transformation of the 'Untouchable' into the 'Dalit' across four interconnected historical phases: the ancient and medieval textual construction of Shudra and untouchable status; the colonial reconstitution of caste through the census and caste associations; the ideological confrontation between Gandhi's religious reformism and Ambedkar's legal-political radicalism; and the post-independence trajectory of Dalit politics from the Republican Party of India through the Dalit Panthers to the electoral consolidation of the Bahujan Samaj Party. Across these phases, the central finding of the paper is that the making of Dalit political identity has been simultaneously a structural and a discursive achievement — involving both the reorganisation of access to representation, education and employment, and the reconstitution of a stigmatised identity into a confrontational, self-authored political subject.

The paper concludes that although constitutional and legislative interventions have substantially altered the formal terms of caste discourse in India, the persistence of social discrimination, intra-Dalit hierarchy, and rural-urban disparity indicates that the journey from 'Untouchable' to 'Dalit' remains an incomplete political project. Future research would benefit from closer, comparative attention to regional variations in Dalit political mobilisation, the specific position of Dalit women within this broader narrative, and the evolving relationship between Dalit identity politics and other axes of social mobilisation, including class and religion, in contemporary India.

References

1. Ambedkar, B. R. (1990). *The annihilation of caste*. Arnold.
2. Bayly, S. (1999). *Caste, society and politics in India from the eighteenth century to the modern age.* Cambridge University Press.

3. Cohn, B. S. (1987). *The census, social structure and objectification*. In An anthropologist among the historians and other essays. Oxford University Press.
4. Dirks, N. B. (2001). *Castes of mind: Colonialism and the making of modern India*. Permanent Black.
5. Dumont, L. (1998). *Homo hierarchicus: The caste system and its implications*. Oxford University Press.
6. Ghurye, G. S. (1969). *Caste and race in India.* Popular Prakashan.
7. Guru, G. (2002). *How egalitarian are the social sciences in India?* Economic and Political Weekly, 27(50), 5003–5009.
8. Guru, G. (2009*). Humiliation: Claims and context.* Oxford University Press.
9. Chatterji, A. P., Hansen, T. B., & Jaffrelot, C. (Eds.). (2019). *Majoritarian state: How Hindu nationalism is changing India.* Oxford University Press.
10. Hardgrave, R. L. (1970). *Political participation and primordial solidarity: The Nadars of Tamilnad.* Caste in Indian politics, 102-128.
11. Judge, P. S. (2003). *Hierarchical differentiation among Dalits*. Economic and Political Weekly, 38(28), 2990–2997.
12. Judge, P. S. (Ed.). (2014*). Mapping social exclusion in India: Caste, religion and borderlands*. Cambridge University Press.
13. Kothari, R. (Ed.). (1970). *Caste in Indian politics.* Orient Longman.
14. Metcalf, B. D., & Metcalf, T. R. (2006). *A concise history of modern India* (2nd ed.). Cambridge University Press.
15. Omvedt, G. (1994). *Dalits and democratic revolution: Dr. Ambedkar and the Dalit movement in colonial India*. SAGE Publications.
16. Omvedt, G. (2012). *Understanding caste: From Buddha to Ambedkar and beyond* (2nd ed.). Orient BlackSwan.
17. Ram, R. (2004). *Untouchability in India with a difference: Ad Dharm, Dalit assertion, and caste conflicts in Punjab*. Asian Survey, 44(6), 895–912.
18. Rao, A. (2010). *The caste question: Dalits and the politics of modern India*. Permanent Black.
19. Sharma, R. S. (1980). *Shudras in ancient India* (2nd ed.). Oxford University Press.
20. Srinivas, M. N. (1966). *Social change in modern India*. Allied Publishers.
21. Thorat, S., & Newman, K. S. (2007). *Caste and economic discrimination: Causes, consequences and remedies.* Economic and Political Weekly, 42(41), 4121–4124.
22. Waghmare, B. S. (2009). *Political inequality among Dalits: A case of Maharashtra*. Voice of Dalit, 2(2), 177-200.

23. Weber, M. (1978). *Economy and society: An outline of interpretive sociology* (Vols. I & II) (G. Roth & C. Wittich, Eds.). University of California Press.
24. Wilkinson, S. I. (2006). *Votes and violence: Electoral competition and ethnic riots in India*. Cambridge University Press.
25. Zelliot, E. (1996). *From untouchable to Dalit: Essays on the Ambedkar movement* (2nd ed.). Manohar Publications.